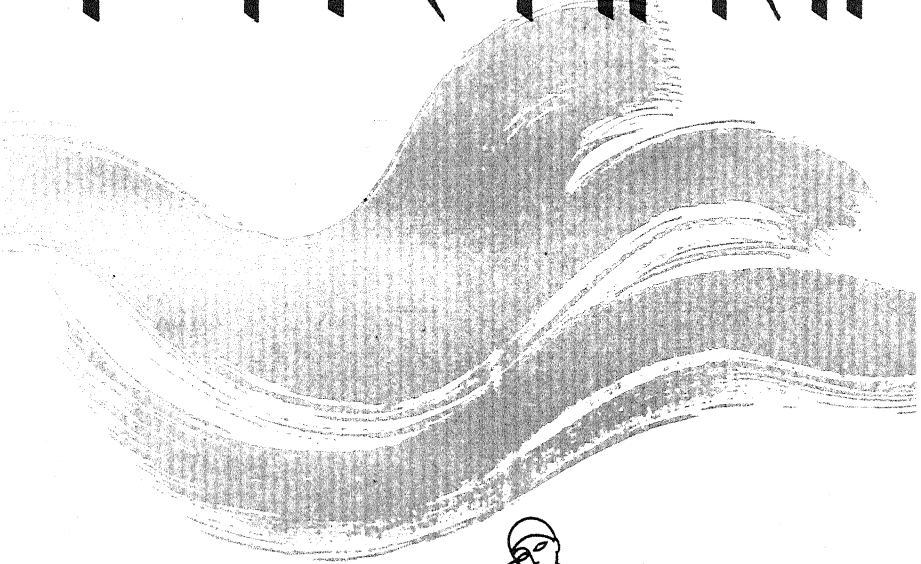
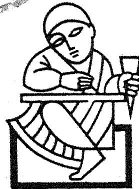
रचनावली ९

सम्पादक : अजित कुमार

9

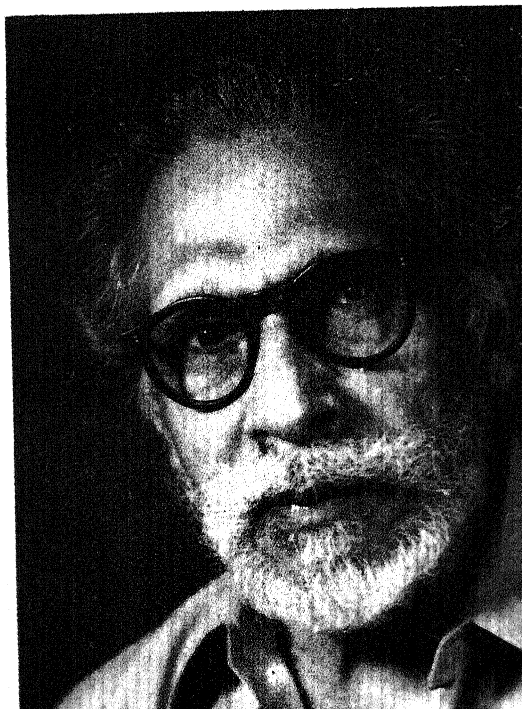
बच्चन रचनावली





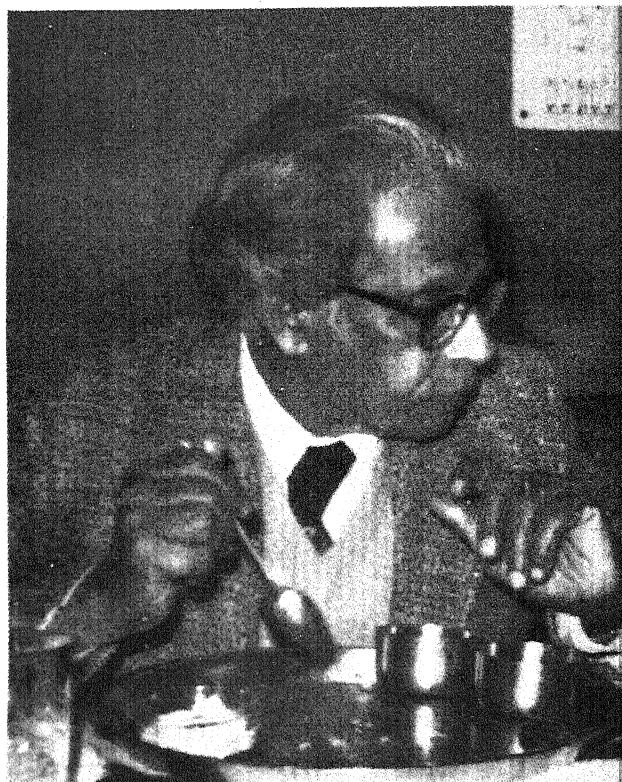
© डा. हरिवंश राय बच्चन मूल्य : प्रति खण्ड रु. 100/-; सम्पूर्ण सैट रु 900/-
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा लि, 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002
कलापक्ष : नरेन्द्र श्रीवास्तव आवरण-चित्र के छायाकार : अमिताभ बच्चन
मुद्रक : आवरण एवं प्रारम्भिक पृष्ठ – प्रभात ऑफसेट प्रेस, नयी दिल्ली - 110002
पाठ्य भाग – रुचिका प्रिन्टर्स, दिल्ली - 110032 प्रथम संस्करण : 1983

रघुनाथ गर्ल्स कालिज, मेरठ के दीक्षान्त समारोह में : मार्च 1968





कैम्ब्रिज : 1953





1977





मुरादाबाद : 1958



1948 : आकाशवाणी दिल्ली के युव वाणी कार्यक्रमके लिए साक्षात्कार के समय

'अतीत का गीत' के लिए लिखी गयी भूमिका का एक पृष्ठ

सूचना

बच्चन रचनावली के इस नवें, अन्तिम खण्ड में कुछ वार्त्ताओं, साक्षात्कारों और पुस्तक-समीक्षाओं के साथ कहानियाँ, बच्चों के लिए लिखी कविताएँ और पत्र—इसी क्रम में—संकलित हैं।

वार्त्ताओं, साक्षात्कारों और पुस्तक-समीक्षाओं से बच्चनजी की अनेक साहित्यिक मान्यताओं की जानकारी मिलेगी। यह सामग्री नवें खण्ड में दी जा रही है, पर विभिन्न खण्डों में बच्चनजी की अपनी पुस्तकों की जो भूमिकाएँ हैं, और पूरे छठे खण्ड में जो आलोचनात्मक लेखन है, उसके साथ इसका तारतम्य बिठाना उचित होगा। बच्चनजी के साहित्य-सम्बन्धी विचार अन्य लेखकों की पुस्तकों की उन भूमिकाओं में भी व्यक्त हुए हैं, जो समय-समय पर वे लिखते रहे हैं। लेकिन पुनरावृत्ति के भय से उन भूमिकाओं को हम **रचनावली** में नहीं दे रहे हैं। पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ भेंट और प्रश्न-चर्चाएँ तथा आकाशवाणी से प्रसारित वार्त्ताएँ—साक्षात्कार—भाषण आदि संकलित करके सर्वप्रथम **रचनावली** के इस नवें खण्ड में प्रस्तुत किये जा रहे हैं। माध्यम के अन्तर से लहजे में जो फर्क पड़ जाता है उसे आप महसूस कर सकें, इस विचार से यह सामग्री लगभग मूल रूप में ही दी गयी है।

बच्चों के लिए लिखी कविताएँ उस समय प्रकाश में आयीं जब गम्भीरतर लेखन से बच्चनजी ने एक तरह का संन्यास ले लिया था। जीवन के सहज-सरल-निश्छल स्रोतों की ओर कवि के इस रुझान में भी 'मधुशाला', 'हलाहल', 'प्रणयपत्रिका' की ही भाँति प्रतीकात्मक संकेत देखे जा सकते हैं।

बच्चों को सम्बोधित रचनाएँ यदि वयोवृद्ध कवि के स्नेह-वात्सल्य की अभिव्यक्तियाँ हैं तो कहानियाँ तरुण कवि के सोच-सरोकार को झलकाती हैं। ये कहानियाँ 'प्रारम्भिक रचनाएँ : भाग-3' के अन्तर्गत काफी पहले पुस्तकाकार छपी थीं, जो बच्चनजी के गद्य के आरम्भिक रूप से हमें परिचित कराती हैं।

नवें खण्ड में ही हैं थोड़े-से पत्र, जिनका समावेश **रचनावली** में विविधता लाने के विचार से नहीं किया जा रहा। वास्तव में, पत्र बच्चनजी के जीवन, लेखन तथा व्यक्तित्व का अन्तरंग भाव हैं। सम्प्रेषण या साझेदारी की जो उत्कट लालसा बच्चनजी को कवि-सम्मेलनों की ओर, पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में रचनाओं के नियमित प्रकाशन की ओर या निजी तौर पर सर्वसुलभ रहने की ओर ले गयी, उसी का

बुनियादी हिस्सा बच्चनजी का पत्र-व्यवहार भी रहा है। सभी जानते हैं कि वे अपने नाम आये हर खत का जवाब देते हैं और अपनी ओर से भी बहुतों को पत्र लिखते हैं। इस गुण में शिष्टता, सज्जनता या औपचारिकता से कहीं अधिक है—आत्मीयता और हार्दिकता। यह एक-तरफा भी नहीं रही। बच्चनजी ने अपने मन को जितना अधिक दिया, उतना ही औरों के मन को पाया भी है। **रचनावली** में कुछ पत्र भी जायेंगे यह सूचना मिलते ही इतने मन उमड़ पड़े कि हम विह्वल और अभिभूत हैं। कितने लम्बे समय से कितने अधिक व्यक्तियों के कितने अधिक विश्वास, प्रेम, निष्ठा और ममता के केन्द्र में बच्चनजी रहे हैं, यह जानना वस्तुतः बच्चनजी के लेखन को भी नये सन्दर्भ में जानने-जैसा होगा।

अफसोस तो यह है स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इने-गिने पत्र ही दे पा रहे हैं। दरअसल, छपनी चाहिए 'बच्चन पत्रावली' भी जो शायद **रचनावली** की ही आकार की बनेगी।

जिन महानुभावों के थोड़े-से पत्रों का उपयोग यहाँ हो पा रहा है और जिनके पत्र संभाव्य 'पत्रावली' के लिए मैंने सुरक्षित रखे हैं, उन सबके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हुए उन सब लोगों को धन्यवाद देता हूँ जिनके सहयोग से **बच्चन रचनावली** के प्रकाशन का यह आयोजन सफल हुआ।

अजित कुमार

हिन्दी विभाग
किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली-7

क्रम

वार्ताएँ

साक्षात्कार

समीक्षाएँ

वार्ताएँ

'कवि के मुख से : मधुशाला'*

मेरी सबसे पहली रचना 'तेरा हार' 1932 में प्रकाशित हुई थी। उसकी प्रशंसा मैंने पत्रों में पढ़ी थी और प्रसन्न हुआ था। हिन्दी पाठकों को यदि मेरी रचना का कुछ पता लगा होगा तो वह मेरी रचना से नहीं, बल्कि पत्रों की समालोचनाओं से। याद है किसी पत्र ने यह लिखा था कि यह किन्हीं 'बच्चन' जी की रचनाएँ हैं। सच में उस समय मेरी गिनती किन्हीं में थी। बिना पत्र-पत्रिकाओं-कवि-सम्मेलनों में नाम प्राप्त किये मैं एक पुस्तक प्रकाशित करा बैठा था।

परन्तु उस प्रकाशन के साल-भर बाद मैंने एक ऐसी रचना की कि मेरी गिनती किन्हीं में न रह गयी। यह रचना 'मधुशाला' थी। प्रकाशित होने के पूर्व मैंने इसको बहुत सुनाया और मधुशाला से मेरा नाम सदा के लिए सम्बद्ध हो गया। आज भी सम्भवतः मधुशाला नाम आने पर लोगों को मेरा नाम स्मरण हो आता है और मेरा नाम आने पर शायद लोगों को 'मधुशाला' याद हो आती है। 'मधुशाला' के 4 संस्करण हो चुके हैं, 7-8 वर्षों से मैं इसे भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न नगरों में सुना चुका हूँ, परन्तु आज भी लोग इसे सुनने से नहीं ऊबे, मेरी किताबों में सबसे अधिक यही प्रचलित है। कलकत्ते से लाहौर तक, शिमला से इन्दौर तक इसे सभी स्थानों पर मैंने रुचिपूर्वक सुनी जाते देखा है। कवि-सम्मेलनों में मेरे खड़े होते ही एक स्वर से लोग 'मधुशाला-मधुशाला' चिल्लाने लगते हैं। इधर दस वर्षों में, जहाँ तक मुझे मालूम है—'मधुशाला' जैसी लोकप्रिय रचना नहीं लिखी गयी।

'मधुशाला' के द्वारा जो कीर्ति मुझे मिली उसकी कीमत भी मुझे देनी पड़ी है। पहले तो लोगों ने इस पर व्यंग्य-काव्य लिखे। कम-से-कम 15 अन्य शालाओं के नाम से तो मैं परिचित हूँ—ताड़ीशाला, विजयाशाला, अफीमशाला, गजकशाला, दही-बड़ेशाला, चर्खाशाला, अमृतशाला, कविशाला, रणशाला, आदि-आदि। स्वयं मेरे छोटे भाई ने उसकी सर्वांगपूर्ण पैरोडी 'टी-शाला' के नाम से लिखी। इस पर कितनी ही समालोचनाएँ भी लिखी गयीं। बड़े समालोचकों ने तो इस पर मौन ही रखना ठीक समझा। छोटों ने समालोचना के नाम पर खुल्लमखुल्ला गालियाँ देना आरम्भ किया। यदि कभी किसी ने 1934 और 1935 के साप्ताहिकों को देखा तो उसे 'मधुशाला' पर लिखे गये ऐसे कितने ही लेख मिलेंगे। 'मधुशाला' के अनुकरण पर भी कई रचनाएँ हुईं। कम-से-कम तीन पुस्तकें मुझे ऐसी देखने में आयीं जिनके लेखकों ने 'मधुशाला' के नाम से ही अपनी रचना छपा डाली थी। मैं यह सब सुनता-देखता गया और चुप रहा। विरोधी समालोचनाओं, पैरोडियों और अनुकरण काव्यों के होते हुए भी मैं 'मधुशाला' सुनाता गया, लोग सुनते गये और

* आल इण्डिया रेडियो, लखनऊ, से प्रसारित, 1941

जो न सुन सके वह किताबें मँगवा-मँगवाकर इसका आनन्द लेते गये। मुझे अपनी विजय ही दिखायी पड़ी। मैंने 'मधुशाला' को सुनकर अपने प्रेमियों और अपने विरोधियों दोनों को साथ-साथ झूमते देखा है। इसमें कहाँ तक मेरी कविता सहायक थी और कहाँ तक मेरा स्वर इसे मैं नहीं कह सकता।

कविता में रुचि उत्पन्न होने पर कवि में रुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। बच्चन कौन है ? क्या करता है ? उसका चरित्र कैसा है ? शराब पीता है या नहीं ? आदि-आदि प्रश्न लोगों के मन में उठने लगे। इस परिचय के नाम पर लोगों को कुछ भी न मिला। हिन्दी का कवि, चाहे उसकी रचना सर्वप्रथम ही क्यों न हो अपना चित्र साथ में देने का बड़ा शौकीन होता है। यहाँ रचना के साथ चित्र भी न था। अब मेरे विषय में लोगों ने कल्पनाएँ आरम्भ कीं। बच्चन खूब शराब पीता होगा, बिना पिये ऐसे अनुभवों को भला कौन लिख सकता है, पीते तो देखा नहीं गया, चुपके-चुपके घर के अन्दर पीता होगा। कुछ लोगों ने कहना शुरू किया, मैं बच्चन को जानता हूँ, वह बड़ा शराबी है, अपने बाप की सारी जायदाद उसने शराब में उड़ा दी, दिन-रात पिये पड़ा रहता है, उसके माँ-बाप, घरवाले उससे परेशान हैं। ऐसी कहानियाँ बनानेवालों में प्राय: वे लोग थे जिनसे मेरा परिचय भी न था। एक ऐसे कहानी बनानेवाले से मेरी भेंट भी हुई थी पर सामने आने पर उन्हें लज्जा से अपना सिर नीचा करना पड़ा। मेरे अनेक हितु, मित्रों ने ऐसी किंवदन्तियाँ सुनीं और जहाँ कर सके उन्होंने इसका प्रतिवाद किया, पर मैंने इन कहानियों में अपनी कविता की सफलता देखी। सब होते हुए भी लोगों में मधुशाला के लिए प्यास बनी ही रही। मैं लोगों के लिए एक रहस्य बना हुआ हूँ —इसमें भी मेरा अभिमान कुछ-न-कुछ सन्तुष्ट होता रहा। नये स्थानों पर जाने पर कई व्यक्तियों ने मुझसे कहा —हम तो आपको बुज़ुर्ग-सा समझते थे, आप तो अभी बच्चन ही हैं।

आज भी लोगों के मन में यह प्रश्न है कि मेरे जीवन में शराब का क्या स्थान है ? पहले तो मैं यह कह देना चाहता हूँ कि 'मधुशाला' के पूर्व की मेरी सारी अप्रकाशित रचना में मदिरा का नाम तक नहीं है। बाद के भी तीन संग्रह 'मधुकलश', 'निशा निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' में मधु की चर्चा नहीं के बराबर है। मेरे उतने समय की रचनाओं में भी मधु सम्बन्धी रचनाओं का अनुपात इतना कम है कि उससे मेरे जीवन और मदिरा से कोई अनिवार्य सम्बन्ध की खोज करना व्यर्थ है। मैंने मधुपान का व्यसन डालकर उसका धर्म प्रचारित करने को मधुशाला नहीं लिखी है। लोगों के मानसिक कौतूहल को सन्तुष्ट करने को आज मैं पहली बार जनता के सामने यह बात रख रहा हूँ कि 'मधुशाला' लिखने के काल तक और उसके पाँच वर्ष बाद तक जबकि मैं 'मधुशाला' नगर-नगर में सुनाता फिरता था, मैंने मदिरा की एक बूँद भी न चखी थी, उसका रंग कैसा होता है, मुझे नहीं ज्ञात था, मैंने लोगों को शराब की बोतल खोलते और पीते भी नहीं देखा था। जब एक श्रेणी के समालोचकों ने मुझसे यह कहा था कि तुम्हारी कविता का यह प्रभाव हो रहा है कि लोगों में मदिरापान की रुचि बढ़ती जाती है तो मैंने यही उत्तर दिया था कि, 'मधुशाला' में ऐसी बात है तो इसका असर सबसे पहले मुझ पर होना चाहिए था और जब मैं 'मधुशाला' लिखकर, पढ़कर, सुनाकर मदिरा की ओर आकृष्ट नहीं हुआ तो मदिरा की ओर आकृष्ट होनेवालों की कोई और कमजोरी होगी, मेरी 'मधुशाला' नहीं। मैं ऐसे लोगों से कहा करता था कि मैंने तुम्हें कविता की मदिरा दी है, मदिरा की कविता नहीं !

'मधुशाला' लिखने के पूर्व मैं ख़ैयाम की रुबाइयों का अनुवाद कर चुका था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'मधुशाला' लिखने की प्रेरणा मुझे ख़ैयाम की रुबाइयों से ही मिली। ख़ैयाम का अनुवाद मैंने क्यों किया—इसके पीछे एक विशेष मनोवृत्ति थी। उसे समझने के लिए ख़ैयाम की भाव और विचारधारा से अपने को अवगत करना होगा। परन्तु अनुवाद करके ही वह विचारधारा सन्तुष्ट न हुई और मौलिक रुबाइयों के रूप में फूट पड़ी। 'मधुशाला' और उससे सम्बद्ध हाला, प्याला, मधुबाला को मैंने प्रतीक (Symbol) के रूप में प्रयोग किया है। 'मधुशाला' की कविता प्रतीकात्मक कविता है। उसके लिए यदि कोई वैज्ञानिक नाम दिया जा सकता था तो प्रतीकवाद हो सकता था, पर छिद्रान्वेषियों की कुरुचि और नासमझी ने उसे हालावाद का नाम दिया। कुछ पत्रों ने मुझे अन्य बाज़ियों की समता पर हाला बाज़ लिखा था, उससे दूसरा दर्जा हालावाद का था। हिन्दी में जो चल पड़ती है उसी का नाम गाड़ी होता है। मुझे 'हालावाद' का प्रवर्तक कह डाला गया। 'हाला' पर सर्वप्रथम जहाँ तक मुझे याद है, मैंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित कुछ दोहे किसी संकलन में पढ़े थे, उसके पश्चात सम्भवत: उर्दू कविता से प्रभावित होकर नवीनजी ने कई कविताएँ 'साक़ी' आदि लिखी थीं। जिन दिनों मैंने इस प्रतीक को अपनाया था उन दिनों अन्य कई कवि इस प्रतीक का प्रयोग कर रहे थे। यदि 'हालावाद' के प्रवर्तक बनाने की आवश्यकता ही हो तो यह श्रेय भारतेन्दुजी को देना चाहिए। पोषकों में नवीनजी का नाम सर्वप्रथम है। अगर आप यह कहना चाहें कि इसका सबसे अधिक प्रचार मैंने किया तो इस नेकनामी या बदनामी को स्वीकार करने में मुझे इनकार नहीं है। यह प्रतीक हिन्दी के लिए नये ही थे। उनका पूरा-पूरा अर्थ स्पष्ट करने को यह आवश्यक था कि पहले इनका प्रयोग इनके शुद्ध स्वरूप में किया जाय। मुझे 'मधुशाला' में इस प्रकार का बहुत-सा कार्य करना पड़ा है। यदि कोई सज्जन 'मधुशाला' की कुछ रुबाइयाँ मेरे सामने लाकर पूछें कि साहब इनके अर्थ शुद्ध मदिरा-पान के सिवा और क्या हैं, तो मेरा उत्तर यही होगा कि नये प्रतीक का अर्थ व्यापक करने को इनका लिखना जरूरी था। जैसे-जैसे मैं मधु सम्बन्धी कविताएँ लिखता गया मैं अधिक से अधिक अर्थों को इन प्रतीकों में भर सका—'प्याले का परिचय' और 'पाँच पुकार' शीर्षक कविताओं में ये प्रतीक अत्यन्त परिष्कृत हो उठे हैं।

समालोचक का काम फैसला देना नहीं, व्याख्या करना है, जज का नहीं, वकील का है। मैंने अपनी मनस्थिति को व्यक्त करने के लिए 'मधुशाला' का प्रतीक ही क्यों चुना इसे बताना समालोचक का काम है और आज तक हिन्दी के किसी समालोचक ने इस प्रश्न पर विचार करने की कृपा नहीं की। मैंने तो बिना किसी विचार के यह प्रतीक चुन लिया था, क्योंकि यही मेरी उस समय की मनोदशा को व्यक्त करने को पूर्णतया उपयुक्त था। ठीक कहूँ तो मैंने इसे नहीं चुना, उसने मुझे चुन लिया था, मुझ पर जादू-सा कर दिया था, मैं कोई दूसरा प्रतीक चुन ही नहीं सकता था।

मैंने पीछे कहा है कि उस समय मेरे अन्य समकालीन कवि भी इन प्रतीकों का प्रयोग कर रहे थे। 5-6 वर्षों के बीच ख़ैयाम के पाँच-छ: अनुवाद हुए। 'मधुशाला' और उससे सम्बद्ध प्रतीकों का बाहुल्य से प्रयोग हुआ। इससे कुछ मेरी अकेली मनोदशा नहीं, काल के वातावरण की भी सूचना मिलती है। देश और काल कुछ ऐसी मानसिक परिस्थिति में था कि कवियों ने उस प्रतीक के द्वारा ही अपने विचार कहे और लोगों ने समझे। जो समालोचक समय की इस नब्ज़ को पकड़ सकेगा,

वही इन कविताओं के मर्म को समझ सकेगा, फ़तवा देनेवाला और गाली सुनानेवाला नहीं।

अब आपका अधिक समय न लेकर मैं 'मधुशाला' की कुछ रुबाइयाँ सुनाऊँगा। मुझे आशा है कि मेरी इस वार्ता के नये प्रकाश में 'मधुशाला' कुछ नया रंग दिखायेगी।

पन्त-षष्टीपूर्ति पर व्याख्यान

संसार के इतिहास में बीसवीं सदी में जितनी भीतरी और बाहरी हलचलें हुईं उतनी शायद किसी पिछली सदी में नहीं हुई थीं। भारत ने तो पुरानी दुनिया से जैसे नयी दुनिया में पदार्पण किया। पुरानी दुनिया का बन्धन हमारे लिए कम न था, नयी दुनिया से बहुत-कुछ जो आ रहा था, वह आकर्षक था, परन्तु वह देखा-परखा न था। इसी समय को संक्रान्ति काल कहते हैं। ऐसे ही समय जातियों को ऐसे विचारकों और मनीषियों की आवश्यकता होती है जो पुराने में से सड़े-गले को निकाल फेंकें, पर उसके शाश्वत अंश को बचा लें, नये में से ऊपरी और दिखावटी को उधेड़ दें और उपयोगी और कल्याणकारी को स्वीकार करें। सौभाग्यवान हैं वे जातियाँ जिनको संक्रान्ति काल में ऐसे कवि मनीषी मिलते हैं। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ऐसे ही कवि मनीषियों में हैं। उन्होंने 16 वर्ष की अवस्था से लिखना आरम्भ कर दिया था। वे बड़ा आत्मविश्वास लेकर काव्य क्षेत्र में उतरे थे, उन्होंने कविता का एक विशेष लक्ष्य देखा था। इसी कारण वे उसके मार्ग के अनेकानेक प्रलोभनों से बचकर उसी की ओर प्रगति करते गये। पन्तजी ने अपनी कविता के द्वारा साहित्य को कई प्रकार के दान दिये हैं, कई तरह से प्रभावित किया है, पर मेरी समझ में उनका सबसे बड़ा दान यह है कि उन्होंने विचारों-आदर्शों के संघर्षों में एक ज्योतिर्मय मार्ग बनाया है जिस पर चलकर मानवता अपने उज्ज्वल भविष्य में आशावान और आस्थावान बनी रह सकती है।

कवि का सन्देश स्कूल मास्टर का सबक नहीं कि किताब खोलकर कह दिया कि यहाँ से यहाँ तक याद कर लाओ। उसके सन्देश को हमारी बुद्धि में, हमारे हृदय में, हमारे रक्त में उतरना है। इसी को हमारी नस-नाड़ी में उतारने का काम पन्तजी आज 45 वर्षों से कर रहे हैं और भगवान ने उन्हें जितनी आयु दी है उसमें वे यही करते रहेंगे। उनकी वाणी यह काम उससे भी अधिक समय करती रहेगी। उन्होंने स्वयं हमें आश्वासन दे रखा है :

> जग जीवन में रे अस्तोदय
> मैं मानस धर्मा अक्षयवय
> आओ तम का कूप पार कर
> नव स्वर्णोदय तुम्हें दिखाऊँ।

उनके 60 वें जन्मदिन पर हम यह शुभ-कामना करते हैं कि वे मन से ही नहीं—मन से तो वे हैं ही—तन से भी अक्षय वय, अक्षय यौवन हों।

सबके ऊपर देश*

आज जब मैं 'सबके ऊपर देश' विषय पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ तब मुझे बंगाल के प्रसिद्ध कवि चण्डीदास की एक पंक्ति बरबस याद हो आती है : 'सबार ऊपरे मानुष सत्य ताहार ऊपरे नाई' अर्थात् सबके ऊपर मानुष सत्य है और उसके ऊपर कोई और नहीं है। चण्डीदास ने बहुत बड़ी बात कही है, पर हमारी परम्परा, हमारी संस्कृति के लिए कोई नयी बात नहीं कही है। मुझे संस्कृत का एक श्लोक याद आता है :

अयं निजः परो वेत्ति गणानां लघुचेतसाम्
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्।

यह मेरा है, यह पराया है, ऐसा सोचना छोटे और ओछे दिमागवालों का काम है, जिनके स्वभाव में उदारता है, वे सारी पृथ्वी को ही अपने परिवार-सा समझते हैं। भारतीय संस्कृति की यही तो विशेषता है कि वह जिस बात को सत्य मानती है उसके उदात्त से उदात्त और चरम से चरम स्वरूप को अपनाती और उसका उद्घोष करती है। महाभारत में भी एकाधिक स्थलों पर भारत की उस परम उदात्त, निर्बन्ध और व्यापक दृष्टि के उदाहरण मिलेंगे। और हम जो आज सचेत अथवा अचेत रूप से अपनी परम्परा से जुड़े हैं, यह लिखते हुए कि···

विभाजित करती मानव जाति
धरा पर देशों की दीवार
ज़रा ऊपर तो उठकर देख
वही जीवन है इस उस पार

तो इसी उदार और उदात्त चरित्रवाले पूर्वजों की वाणी प्रतिध्वनित करते हैं।

अगर हम अपने पूर्वजों की आँखों से अपने को देखें तो देशों की दीवार बनाना भी संकीर्णता होगी। हम चाहें या न चाहें, कतिपय अनिवार्य ऐतिहासिक कारणों से देशों की दीवार तो बन ही गयी है, पर आज की स्वस्थ दृष्टि वही समझी जाती है जो अपने देश के साथ पड़ोसी देश, पराये देश, दूर के देश का भी अपने समान सम्मान करे। जो ऐसा नहीं समझते, वे अपने देश को भी ठीक समझ सकेंगे, इसमें सन्देह है। जो ऐसा नहीं समझते, वे अपने देश को भी विकृत करेंगे, कर रहे हैं। मेरे पास उदाहरण देने का समय नहीं है। ऐसी संकीर्ण दृष्टियों के जो परिणाम हो रहे हैं, उनसे भी आप निश्चित ही अवगत होंगे। ऊँचे आदर्शों से और समयसिद्ध मूल्यों से खिलवाड़ करना खतरनाक होता है। आप इतने भोले तो नहीं कि ऐसे खतरों से बेबूझ हों। जो उन खतरों को पूरी तरह समझते हैं वे दुनिया के महा-मनीषी हैं। उनका सारा प्रयत्न आज इस ओर है कि देशों की दीवार जितनी नीची हो सके, की जाये, जिससे कि हम मानव जीवन को उसकी एकता और समग्रता में देख सकें।

जहाँ एक ओर ऐसे प्रयत्न हो रहे हैं, वहाँ, सख़्त अफ़सोस होता है, यह देखकर कि देशों के अन्दर भी अपने को सीमित-संकुचित बनाने की प्रवृत्तियाँ ज़ोर पकड़ रही हैं। और दुर्भाग्यवश ऐसी प्रवृत्तियों का सबसे बड़ा शिकार अपना देश हो रहा है जिसे हम ध्रुव अतीत से एक देश 'भारत' के नाम से जानते आये हैं और सारी दुनिया भी मानती आयी है।

* आकाशवाणी, दिल्ली, से प्रसारित, 1983

ज़रा एशिया महाद्वीप का प्राकृतिक मानचित्र सामने रखकर देखें। उत्तर की हिम श्रेणियों से सुरक्षित और दक्षिण के सागर से परिपोषित इस भूभाग को प्रकृति ने एक देश बनाने को जैसे अपने हाथों से निरूपित किया था।

जिन्होंने इस देश को विभाजित करने की बात सोची, उन्होंने इस देश की प्रकृति, नियति और संस्कृति के साथ बड़ा भारी अत्याचार किया। उन्होंने वह बात कर डाली जो इस देश के हजारों बरसों के इतिहास में कभी कल्पित नहीं की गयी थी। उन्होंने इस देश की या संसार की कोई समस्या हल नहीं की बल्कि ऐसा करके बहुत-सी ऐसी समस्याएँ खड़ी कर दीं जिनका समाधान खोजने में आज हमारी बहुत-सी शक्ति बेकार जा रही है।

पर विभाजन का सबसे वीभत्स परिणाम यह हुआ है कि हमें विभाजन का संक्रामक रोग लग गया है। मनुष्य-जाति ने इतिहास क्यों बनाये हैं ? कि वह उससे अपने भविष्य के लिए कुछ सीखे। खेद की बात है कि हम संसार के इतिहास से, अपने देश के इतिहास से कुछ सबक सीखने की ओर से आँखें फेर रहे हैं। हमारे कतिपय स्वार्थों और प्रलोभनों ने हमें इतना अन्धा बना दिया है कि हम दूसरों का हित तो दूर, अपना भी दूरगामी हित या अहित देखने में असमर्थ हैं।

यथार्थ से इन्कार नहीं किया जा सकता। और यह यथार्थ है कि हम विविधता के एक बहुत बड़े आगार हैं, बारूदखाने जैसे ! और इनमें से किसी को भड़काकर विस्फोट किया जा सकता है, विध्वंस की भूमिका रची जा सकती है।

यह बात नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने यह विविधता देखी या पहचानी नहीं थी, उन्होंने खूब पहचानी थी। और इसको इकाई में, मेल-मिलाप में, सौहार्द में परिवर्तित करने के लिए उन्होंने हमें दो बीज मन्त्र दिये थे। एक था समन्वय और दूसरा था सहिष्णुता। समन्वय का अर्थ था—विविधताओं को एक-दूसरे के निकट लाने, एक-दूसरे से प्रभाव ग्रहण करने, एक-दूसरे से सीखने का प्रयत्न करना। सहिष्णुता का अर्थ था कि अगर एक-दूसरे से मिलन सम्भव न हो तो एक-दूसरे को समझना, एक-दूसरे के प्रति उदार होना सम्भव रहे। और इन दो बीज मन्त्रों के ऊपर एक तीसरा महामन्त्र था त्याग, स्वेच्छया त्याग। इससे आदमी कुछ खोता हुआ दिखायी भले ही दे, पर वह कुछ ऐसा पाता है अपने कद में, अपनी ऊँचाई में, अपने पद में, जिससे देवताओं को भी ईर्ष्या हो।

इन तीन महामन्त्रों के बल पर हमने हजारों बरसों तक अपनी हस्ती, मान से, शान से बना रखी है, और मैं विश्वासपूर्वक कहना चाहता हूँ कि अगर हम इन मन्त्रों को न भुलाएँ तो आज भी हम अपनी सौ समस्याएँ सरलता से शान्ति से हल कर सकते हैं। याद रखें, इस देश के लिए ये तीन मन्त्र बहुत ज़रूरी हैं।

समन्वय, सहिष्णुता, त्याग। आप हमें इतिहास दिखा सकते हैं, अशान्ति के सौ उदाहरण दे सकते हैं, मैं आँख नहीं मूँदूगा। ऊपर मैंने बारूदख़ाने के रूपक का प्रयोग किया है। ठीक, बिल्कुल ठीक, हमने अशान्ति भी जानी है पर वे इतिहास की फुलझड़ियाँ थीं। बारूद का एक प्रयोग यह भी है, पर विस्फोट से हम सदा बचे हैं अन्यथा हम नष्ट हो गये होते। हमने भारत के हित को, देश की एकता को सर्वोपरि रखकर विभाजनकारी विविधताओं को सदा दबाया है। और दबाकर रखने पर ही हमारा भविष्य, हमारा कल्याण निर्भर है। यदि हमने ऐसा नहीं किया तो दूसरे तो शायद बाद को, पर हम पहले ही अपना सर्वनाश कर लेंगे।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमन्त्रण*

चर्चा का आरम्भ करते हुए, मैंने बच्चनजी की रचना-प्रक्रिया जानने के उद्देश्य से पूछा, "रचना-प्रक्रिया के दौरान क्या आपको कभी ऐसा भी लगा है कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहले लगाये गये अर्थ फीके पड़ने लगे हैं, उनके स्थान पर नये आत्म-विस्मृतकारी अर्थ उभर रहे हैं और आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुँचने का आभास मिल रहा है ?"

प्रश्न की तह तक पहुँचते हुए बच्चनजी बोले, "रचना-प्रक्रिया के बीच प्रक्रिया का विश्लेषण सम्भव नहीं। बाद का विश्लेषण कुछ हद तक ठीक हो सकता है, पूर्णतया नहीं। कवि का यथार्थ वस्तुगत यथार्थ नहीं, अर्थात् वह वैज्ञानिक का यथार्थ नहीं, और यथार्थ का कवि वह उपयोग भी नहीं करता जो वैज्ञानिक करता है। कवि का यथार्थ उसकी दृष्टि का, उसकी मन:स्थिति का यथार्थ है। दृष्टि और मन:स्थिति जड़ नहीं है; परिवर्तनशील तो वे हैं ही; कवि में वे विकासशील होती हैं, या उन्हें होना चाहिए। तब यथार्थ का बदलते जाना स्वाभाविक ही जान पड़ेगा। लेकिन एक बात समझ लेनी चाहिए कि वैज्ञानिक का यथार्थ नये अर्थ लेता है तब वह पिछले अर्थों को झूठा कर देता है। कवि का यथार्थ नये अर्थ लेकर भी पिछले अर्थों को मान्यता देता है, क्योंकि यथार्थ अपने-आप में कवि के लिए साध्य नहीं। काँटे को फूल समझकर वह जो कहता है, वह उतना ही सत्य है जितना वह जो यह काँटे को काँटा समझकर कहता है। काँटे को फूल समझना और काँटे को काँटा समझना, ये काव्य-जगत् के समान सत्य हैं। काँटे को काँटा समझना भी, ज़रा गम्भीरता से सोचें तो, अन्तिम सत्य तो नहीं है। स्वल्प सत्य, अर्द्धसत्य, पूर्ण-सत्य—ये कवि की यात्रा की मंजिलें नहीं हैं। किस सत्य के साथ कवि का भ्रम—आप चाहें तो इसे कवि की तन्मयता भी कह सकते हैं—कितना अधूरा या पूरा रहा है, यह अधिक महत्त्व की वस्तु है और उसका निर्णय कवि से ज्यादा अच्छी तरह उसके पाठक कर सकते हैं।"

बच्चनजी के काव्य-संग्रहों के साथ इधर जो भारी-भरकम भूमिकाएँ आ रही हैं उनकी सार्थकता के प्रति अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए मैंने कहा, "अपनी कविता की आत्म-निर्भरता पर आपको सदा विश्वास रहा है और आपने अपने काव्य-संग्रहों को बिना किसी भूमिका के पाठकों के सम्मुख रखा है। पर इधर चार-पाँच वर्षों से आपकी रचनाओं के साथ लम्बी-लम्बी परिचयात्मक भूमिकाएँ निकलने लगी हैं—यहाँ तक कि जो काव्य-ग्रंथ पाँच-छ: संस्करणों तक बिना किसी भूमिका के पढ़े और समझे जाते रहे हैं, उनके नये संस्करणों के साथ भी आपने व्याख्यात्मक अग्रलेख जोड़ दिये हैं। क्या आपको ऐसा लगा है कि उनका कथ्य पाठकों तक अविकल रूप में नहीं पहुँचा है जो आपने अब अपनी ओर से व्याख्या

* रणवीर रांग्रा का साक्षात्कार, 1966

प्रस्तुत करने की आवश्यकता महसूस की है ?"

वे बोले, "मैं यह मानता हूँ कि कविता में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह अपने पाठकों के साथ सीधा सम्बन्ध बना सके। बीच में किसी वक्तव्य, व्याख्या, की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। मेरी कविताओं ने, जैसाकि आपने भी माना है, प्रायः अपने में यह क्षमता सिद्ध की है। बाद के संस्करणों में मेरी ओर से भूमिकाएँ न भी दी जातीं तो कविताओं के समझने में कोई बाधा न उपस्थित होती, ऐसा मैं मानता हूँ। परन्तु सौभाग्य या दुर्भाग्य से मेरे पाठक मेरी कविता में रुचि लेने के साथ मुझमें रुचि लेना आरम्भ कर देते हैं। बहुत-से मुझे व्यक्तिगत पत्र लिखते हैं। बहुतों की जिज्ञासाएँ कविता के विभिन्न पक्षों पर होती हैं। कभी-कभी मैंने ऐसा भी अनुभव किया कि कविताओं के विषय में बिल्कुल मौन रहकर मैंने अपने पाठकों की कल्पना पर ज़ोर डाला है—आखिर सभी पाठक तो एक ही श्रेणी के नहीं होते। जहाँ तक सम्भव होता है, मैं अपने पाठकों का समाधान करता हूँ, पत्रोत्तर देकर। अपने बाद के संस्करणों की भूमिकाओं में प्रायः मैंने उन्हीं प्रश्नों पर प्रकाश डाला है जिनके विषय में मेरे पाठकों की जिज्ञासाएँ रही हैं।

"एक बात और, पहले मैं अपने पाठकों के सम्पर्क में अधिक आता था। आपस में कही-सुनी बातें दूर-दूर तक पहुँच जाती थीं। अब वह सम्भव नहीं हो पाता। इस कारण मैं अपनी भूमिकाओं से 'अपने पाठकों से' कुछ बातें कर लेता हूँ, उन्हें ठीक परिवेश में रख देता हूँ, अब वे कविताएँ पढ़ें और समझें। अपनी भूमिकाओं में वक्तव्य या व्याख्या देने जैसा मैंने कोई काम नहीं किया है।"

'सतरंगिनी' बच्चनजी की काव्य-साधना में आये एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की रचना है। कवि का दूसरा विवाह सन् 1942 में हुआ और सन् 1943 में 'सतरंगिनी' प्रकाशित हो गयी। लगा, नूतन स्पर्श पाकर कवि घोर अवसाद से तो उबर आया, पर नये वातावरण में वह अभी अपने को अजनबी पाता है—अवसाद से पहले की दुखद अनुभूतियाँ उसे वर्तमान से खींचकर बार-बार अतीत में ले जाती हैं। कवि के इसी द्वैत की ओर संकेत करते हुए मैंने कहा, " 'सतरंगिनी' आपके जीवन में आये एक नये मोड़ को व्यक्त करती है। उसके कई गीतों से ध्वनित होता है कि उस मोड़ के प्रति आपके भीतर कहीं बहुत गहरे में कोई अपराध-भावना, या कहें अटक, काम कर रही है और आपका चेतन उस मोड़ को संगत ठहराने की बार-बार चेष्टा कर रहा है, वह पूरी तरह सफल नहीं हो पा रहा।

उदाहरणार्थ, यह पद उल्लेखनीय है :

> हाय वे साथी कि चुम्बक-लौह से जो पास आये,
> पास क्या आये, हृदय के बीच ही गोया समाये,
>   वे गये तो सोचकर यह, लौटनेवाले नहीं वे,
>   खोज मन का मीत कोई लौ लगाना कब मना है ?
> है अँधेरी रात, पर दीवा जलाना कब मना है ?

कृपया बतायें, इन कविताओं को पढ़कर क्या आपको भी कभी ऐसा लगा है।"

प्रश्न बेहद तीखा था। मेरी धारणा को झुठलाते हुए बच्चनजी बोले, " 'सतरंगिनी' मेरे काव्य-जीवन में एक नया मोड़ उपस्थित करती है, यहाँ तक तो आपका कहना ठीक है। पर उस मोड़ के प्रति मेरे मन में कोई अपराध-भावना काम कर रही है, उसे मैं नहीं मानता। मैं 'सतरंगिनी' के गीतों के द्वारा 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' की अन्धकार और अवसादपूर्ण परिस्थिति से ऊपर उठा हूँ। अपराध तो होता उस अवसाद-विषाद-निराशा में डूबे

तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमन्त्रण*

चर्चा का आरम्भ करते हुए, मैंने बच्चनजी की रचना-प्रक्रिया जानने के उद्देश्य से पूछा, "रचना-प्रक्रिया के दौरान क्या आपको कभी ऐसा भी लगा है कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहले लगाये गये अर्थ फीके पड़ने लगे हैं, उनके स्थान पर नये आत्म-विस्मृतकारी अर्थ उभर रहे हैं और आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुँचने का आभास मिल रहा है?"

प्रश्न की तह तक पहुँचते हुए बच्चनजी बोले, "रचना-प्रक्रिया के बीच प्रक्रिया का विश्लेषण सम्भव नहीं। बाद का विश्लेषण कुछ हद तक ठीक हो सकता है, पूर्णतया नहीं। कवि का यथार्थ वस्तुगत यथार्थ नहीं, अर्थात् वह वैज्ञानिक का यथार्थ नहीं, और यथार्थ का कवि वह उपयोग भी नहीं करता जो वैज्ञानिक करता है। कवि का यथार्थ उसकी दृष्टि का, उसकी मनःस्थिति का यथार्थ है। दृष्टि और मनःस्थिति जड़ नहीं है; परिवर्तनशील तो वे हैं ही; कवि में वे विकासशील होती हैं, या उन्हें होना चाहिए। तब यथार्थ का बदलते जाना स्वाभाविक ही जान पड़ेगा। लेकिन एक बात समझ लेनी चाहिए कि वैज्ञानिक का यथार्थ नये अर्थ लेता है तब वह पिछले अर्थों को झूठा कर देता है। कवि का यथार्थ नये अर्थ लेकर भी पिछले अर्थों को मान्यता देता है, क्योंकि यथार्थ अपने-आप में कवि के लिए साध्य नहीं। काँटे को फूल समझकर वह जो कहता है, वह उतना ही सत्य है जितना वह जो यह काँटे को काँटा समझकर कहता है। काँटे को फूल समझना और काँटे को काँटा समझना, ये काव्य-जगत् के समान सत्य हैं। काँटे को काँटा समझना भी, ज़रा गम्भीरता से सोचें तो, अन्तिम सत्य तो नहीं है। स्वल्प सत्य, अर्द्धसत्य, पूर्ण-सत्य—ये कवि की यात्रा की मंजिलें नहीं हैं। किस सत्य के साथ कवि का भ्रम—आप चाहें तो इसे कवि की तन्मयता भी कह सकते हैं—कितना अधूरा या पूरा रहा है, यह अधिक महत्त्व की वस्तु है और उसका निर्णय कवि से ज्यादा अच्छी तरह उसके पाठक कर सकते हैं।"

बच्चनजी के काव्य-संग्रहों के साथ इधर जो भारी-भरकम भूमिकाएँ आ रही हैं उनकी सार्थकता के प्रति अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए मैंने कहा, "अपनी कविता की आत्म-निर्भरता पर आपको सदा विश्वास रहा है और आपने अपने काव्य-संग्रहों को बिना किसी भूमिका के पाठकों के सम्मुख रखा है। पर इधर चार-पाँच वर्षों से आपकी रचनाओं के साथ लम्बी-लम्बी परिचयात्मक भूमिकाएँ निकलने लगी हैं—यहाँ तक कि जो काव्य-ग्रंथ पाँच-छः संस्करणों तक बिना किसी भूमिका के पढ़े और समझे जाते रहे हैं, उनके नये संस्करणों के साथ भी आपने व्याख्यात्मक अग्रलेख जोड़ दिये हैं। क्या आपको ऐसा लगा है कि उनका कथ्य पाठकों तक अविकल रूप में नहीं पहुँचा है जो आपने अब अपनी ओर से व्याख्या

* रणवीर रांग्रा का साक्षात्कार, 1966

प्रस्तुत करने की आवश्यकता महसूस की है ?"

वे बोले, "मैं यह मानता हूँ कि कविता में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह अपने पाठकों के साथ सीधा सम्बन्ध बना सके। बीच में किसी वक्तव्य, व्याख्या, की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। मेरी कविताओं ने, जैसाकि आपने भी माना है, प्राय: अपने में यह क्षमता सिद्ध की है। बाद के संस्करणों में मेरी ओर से भूमिकाएँ न भी दी जातीं तो कविताओं के समझने में कोई बाधा न उपस्थित होती, ऐसा मैं मानता हूँ। परन्तु सौभाग्य या दुर्भाग्य से मेरे पाठक मेरी कविता में रुचि लेने के साथ मुझमें रुचि लेना आरम्भ कर देते हैं। बहुत-से मुझे व्यक्तिगत पत्र लिखते हैं। बहुतों की जिज्ञासाएँ कविता के विभिन्न पक्षों पर होती हैं। कभी-कभी मैंने ऐसा भी अनुभव किया कि कविताओं के विषय में बिल्कुल मौन रहकर मैंने अपने पाठकों की कल्पना पर ज़ोर डाला है—आखिर सभी पाठक तो एक ही श्रेणी के नहीं होते। जहाँ तक सम्भव होता है, मैं अपने पाठकों का समाधान करता हूँ, पत्रोत्तर देकर। अपने बाद के संस्करणों की भूमिकाओं में प्राय: मैंने उन्हीं प्रश्नों पर प्रकाश डाला है जिनके विषय में मेरे पाठकों की जिज्ञासाएँ रही हैं।

"एक बात और, पहले मैं अपने पाठकों के सम्पर्क में अधिक आता था। आपस में कही-सुनी बातें दूर-दूर तक पहुँच जाती थीं। अब वह सम्भव नहीं हो पाता। इस कारण मैं अपनी भूमिकाओं से 'अपने पाठकों से' कुछ बातें कर लेता हूँ, उन्हें ठीक परिवेश में रख देता हूँ, अब वे कविताएँ पढ़ें और समझें। अपनी भूमिकाओं में वक्तव्य या व्याख्या देने जैसा मैंने कोई काम नहीं किया है।"

'सतरंगिनी' बच्चनजी की काव्य-साधना में आये एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की रचना है। कवि का दूसरा विवाह सन् 1942 में हुआ और सन् 1943 में 'सतरंगिनी' प्रकाशित हो गयी। लगा, नूतन स्पर्श पाकर कवि घोर अवसाद से तो उबर आया, पर नये वातावरण में वह अभी अपने को अजनबी पाता है— अवसाद से पहले की दुखद अनुभूतियाँ उसे वर्तमान से खींचकर बार-बार अतीत में ले जाती हैं। कवि के इसी द्वैत की ओर संकेत करते हुए मैंने कहा, " 'सतरंगिनी' आपके जीवन में आये एक नये मोड़ को व्यक्त करती है। उसके कई गीतों से ध्वनित होता है कि उस मोड़ के प्रति आपके भीतर कहीं बहुत गहरे में कोई अपराध-भावना, या कहें अटक, काम कर रही है और आपका चेतन उस मोड़ को संगत ठहराने की बार-बार चेष्टा कर रहा है, वह पूरी तरह सफल नहीं हो पा रहा।

उदाहरणार्थ, यह पद उल्लेखनीय है :

हाय वे साथी कि चुम्बक-लौह से जो पास आये,
पास क्या आये, हृदय के बीच ही गोया समाये,
वे गये तो सोचकर यह, लौटनेवाले नहीं वे,
खोज मन का मीत कोई लौ लगाना कब मना है ?
है अँधेरी रात, पर दीवा जलाना कब मना है ?

कृपया बतायें, इन कविताओं को पढ़कर क्या आपको भी कभी ऐसा लगा है।"

प्रश्न बेहद तीखा था। मेरी धारणा को झुठलाते हुए बच्चनजी बोले, " 'सतरंगिनी' मेरे काव्य-जीवन में एक नया मोड़ उपस्थित करती है, यहाँ तक तो आपका कहना ठीक है। पर उस मोड़ के प्रति मेरे मन में कोई अपराध-भावना काम कर रही है, उसे मैं नहीं मानता। मैं 'सतरंगिनी' के गीतों के द्वारा 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' की अन्धकार और अवसादपूर्ण परिस्थिति से ऊपर उठा हूँ। अपराध तो होता उस अवसाद-विषाद-निराशा में डूबे

रहना। अपने दुःख शोक की अभिव्यक्ति तक तो ठीक और शायद स्वाभाविक भी है, पर यदि मैं उन्हें दुलारने लगता, जिसका खतरा भी था, तो मेरी भावना आत्म-दया (सेल्फ-पिटी) में बदल जाती और आत्मदया को मैं सबसे बड़ा अपराध मानता हूँ :

> लेकिन एकाकी से एकाकी घड़ियों में,
> मैं कभी नहीं बनकर अपना मोहताज रहा।
>
> — **आरती और अंगारे**

'अपना मोहताज' में मैं ध्वनि, श्लेष, संकेत से इसी 'सेल्फ-पिटी' की ओर इशारा कर रहा हूँ।

"मैं समझता हूँ कि जब मेरी जिजीविषा अन्धकार से प्रकाश की ओर गयी, तब मेरे कवि ने 'सतरंगिनी' के गीतों में मुझे सँभाला, मुझे बल दिया, मुझे प्रोत्साहन दिया। मैं 'सतरंगिनी' के गीतों को अपने सबसे अधिक स्वस्थ गीतों में समझता हूँ। 'अपराध-भावना' आपने बहुत गलत शब्द इस्तेमाल किया है। मैं तो अपराध भी अपराध-भावना से नहीं करूँगा—उसे अपने तन-मन-प्राण की अनिवार्य आवश्यकता ही समझूँगा।"

चर्चा को बच्चनजी के काव्य में इधर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई बौद्धिकता की ओर मोड़ते हुए मैंने कहा, "गीत आपके काव्य का प्राण है। 'मधुबाला', 'मधुशाला' और 'मधुकलश' के गीतों का उल्लास तथा 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' के गीतों का अवसाद पाठक के मन और प्राण में बसता चला जाता है और वह आत्मविभोर हो उठता है। पर आपकी इधर की रचनाओं से लगता है कि आप गीत से दूर हटते जा रहे हैं। क्या यह परिवर्तन इस बात का द्योतक नहीं कि आपकी जीवन-सरिता चकरीली-पथरीली घाटियों से निकलकर अब उथल-पुथल-विहीन समतल भूमि में आकर शान्त हो गयी है और आपकी अनुभूति की नोक अब इतनी तीखी नहीं रही कि गीत के रूप में फूट निकले ? 'आकुल अन्तर' में आपने ही तो कहा था : 'भावनाओं का मधुर आधार साँसों से विनिर्मित। गीत कवि-उर का नहीं उपहार, उसकी विकलता है।' "

बड़े सहज-भाव से बच्चनजी बोले, "गीत भाव-जगत की वाणी है। मनुष्य की भावनाएँ जब तीव्र होती हैं तब वह लयमय हो जाता है। तीव्र भावनाओं को झेलना कठिन होता है। लय उसके झेलने में सहायक होती है। प्रकृति विचलित, व्याकुल, विक्षुब्ध मनुष्य को लय में रख देती है, जैसे माँ रोते बच्चे को पालने में डाल देती है—प्रकृति हमारी माँ है न ! वह एक लय में टहलने लगता है, एक लय में अपनी उँगलियाँ चलाने लगता है। भीतर एक ही प्रकार की बातें बार-बार उठने लगती हैं—वे ही लय में आती, चली जाती और फिर आती हैं। और उस लय से मनुष्य शान्त हो जाता है। यदि उसकी अभिव्यक्ति शब्द में की जाये तो वह स्वाभाविक ही गीत का रूप ले लेता है।

"मैंने अपनी तीव्रतम भावनाओं की अभिव्यक्ति गीतों में की है। पर अवस्था के साथ भावों का आवेश घटता है। यौवन में आदमी भावों के साथ जितना बहता है, उतना प्रौढ़ होने पर नहीं। कवि भी जीवन के क्रम को कैसे बदलेगा, उसे तो जीवन के क्रम को ही समझना है। ऐसा होता ही है। उस पर समालोचक और कवि को सिर धुनने से कोई लाभ न होगा। गीत ही लिखते जाने का आग्रह मेरा नहीं रहा। कभी वह सहसा मेरी चेतना से झड़ गया। मुझे जो कहना था, वह मैं दूसरी तरह कहने लगा, जीवन की कोई स्थिति-परिस्थिति मुझे फिर भावविह्वल

कर सके तो सम्भव है मैं फिर गीत लिखने लगूं।"

गीत की नयी धारा 'नवगीत' के बारे में बच्चनजी की प्रतिक्रिया जानने के उद्देश्य से मैंने पूछा, "नयी कविता और कहानी के अनुकरण में आज गीत को भी 'नव' विशेषण देकर उसे परम्परा से अलग करने और दिखाने के जो प्रयत्न हो रहे हैं उनके विषय में आपकी क्या राय है ?"

अनुकरण की प्रवृत्ति को हेय बताते हुए बच्चनजी ने कहा, " 'नवगीत' की चर्चा 'नयी कविता' के बाद आयी, उसमें शायद ही किसी को सन्देह हो। अनुकरण से कोई आन्दोलन नहीं चलता। 'अकविता' आयी तो 'अगीत' भी आ धमका। 'अकविता' नाम की एक पत्रिका निकली तो 'अगीत' नाम की एक पत्रिका निकाल दी गयी। ऐतिहासिक विकास के क्रम में युग अधिकाधिक बौद्धिक होता जा रहा है। 'नयी कविता' उसी बौद्धिकता की उपज है। गीत से जो काम लिया जाता था वह 'नयी कविता' से नहीं लिया जा सकता। 'नयी कविता' दूसरे ही प्रकार से पाठकों को प्रभावित करने का प्रयत्न करती है। 'नयी कविता' के नये उपकरणों का प्रयोग करके गीत अपना काम नहीं कर सकता।

"मेरी राय में, गीत के लिए पुराने उपकरण ही अधिक उपयोगी होते हैं। नये उपकरणों के साथ जब सन्दर्भ, राग, भावनाएँ जुड़ जाती हैं तभी वे गीतों में काम आ सकते हैं, तभी उनमें भावोद्‌बोधक शक्ति आती है। गीत का काम है तुरन्त भावों को उद्‌बुद्ध कर देना। नये उपकरणों का अर्थ लगाने में बुद्धि फँस गयी तो गीत गया, गीत का प्रभाव गया। प्रयोग करने को, गीतों के क्षेत्र में भी, कौन रोक सकता है। प्रयोग का कुछ अच्छा परिणाम भी हो सकता है। पर नये के आग्रह से प्रतीकों, बिम्बों, रूपकों की खोज करना गीत का काम नहीं है। नयी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में सहज ही जो नया आ जाये, उसका मैं विरोधी नहीं हूँ। परख यही होगी कि नये में भावों को उद्‌बुद्ध करने की शक्ति है या नहीं। नहीं है तो ऐसी अभिव्यक्ति को मैं सफल गीत नहीं मानूंगा। गीत को अपनी सीमाएँ समझ लेनी हैं। आज का बौद्धिक क्षेत्र कम-से-कम अभी इतना व्यापक नहीं हुआ कि वह गीत को सर्वथा निर्वासित कर दे। पूर्णतया कभी कर भी सकेगा, इसका भी मुझे विश्वास नहीं। गीत बौद्धिक होने के प्रयत्न में अपनी हत्या स्वयं कर सकता है।"

नयी पीढ़ी के प्रति बच्चनजी का दृष्टिकोण जानने की इच्छा से मैंने कहा, "आज का युवक कवि अपने को इस भरे-पूरे संसार में अकेला और बाकी सबसे कटा हुआ पाता है तो आपकी पीढ़ी को उसकी इस अनुभूति पर आश्चर्य होता है। पर 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' में आपके युवक कवि को जिस घोर एकाकीपन से जूझना पड़ा था, उसे देखते हुए आज के कवि का एकाकीपन कोई नया नहीं लगता। तो फिर, आज के युवक कवि से आप अपने युवक कवि को क्योंकर भिन्न मानते हैं ? अपने नये काव्य-संग्रह 'दो चट्टानों' में आपने हनुमान और सिसिफस के जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है वे कहीं आपकी पीढ़ी और आज की पीढ़ी के लिए तो प्रयुक्त नहीं हुए ?"

अकेलेपन की व्याख्या करते हुए बच्चनजी बोले, "अकेलापन भी कई तरह का होता है। इसे मैं व्यक्ति की सामाजिकता ही समझूंगा कि वह जड़, रूढ़िबद्ध, पिछड़े समाज से अलग होकर जीवन के मूल्यों को आत्मसात् करने की पीड़ा को झेलें। जीवन के मूल्यों से ही इन्कार करके समाज से जो अलगाव झेला जाता है—या जिसका शोर किया जाता है—वह कुछ दूसरी ही चीज है। पीड़ा तो व्यक्ति ही झेलता है। मूल्यों में आस्था रखने के लिए पीड़ा का मूल्य देना ही पड़ता

है। हनुमान का संजीवनी का पर्वत उठाये फिरना पीड़ाहीन हो, यह मैं नहीं मानता। पर यह शक्य, सम्भव और सहज, और सुखद भी इसलिए है कि यह पर्वत औरों को संजीवनी प्रदान करता है और संजीवनी प्रदान करना एक वांछित मूल्य है।

"पीड़ा सिसिफस को भी होती है। पर उसे जो चट्टान बार-बार ऊपर ले जानी पड़ती है, उससे किसी को कुछ नहीं पाना है। मैंने यह भी दिखाया है कि अभ्यास से सिसिफस को यह कर्म पीड़ाहीन भी हो सकता है, पर एक व्यर्थ कार्य करने की पीड़ा ही क्या कम है? मैंने मूल्यहीन श्रम और मूल्यवान श्रम की दो तस्वीरें खड़ी कर दी हैं—सिसिफस और हनुमान। मैंने उस कविता में अपनी पीढ़ी और आज की पीढ़ी की कहीं भी तुलना नहीं की। आपका ध्यान उस ओर जाता है तो उसे रोक भी कैसे सकता हूँ। ये प्रतीक जिन कारणों से और जिन परिस्थितियों में मेरे मन में उदय हुए, उनकी ओर मैं इस कविता की भूमिका में संकेत कर चुका हूँ। किसी प्रकार का स्पष्टीकरण प्रतीक को सीमित करता है। मैं अपने सिसिफस और हनुमान का प्रयोग किसी को गिराने अथवा किसी को उठाने के लिए नहीं करना चाहूँगा। उस विषय में आप अपनी ही कल्पना से काम लें।"

बच्चनजी से काव्य-चर्चा का, विशेषकर उनकी अपनी कृतियों पर, एक अपना ही आनन्द है जो आत्म-विभोर कर देता है। चर्चा के दौरान मुझे अनेक बार लगा कि वे वर्तमान से कटकर अतीत में पहुँच गये हैं और उसे फिर से जी रहे हैं—उनके चेहरे पर अवसाद की गहरी रेखाएँ उभर आयी हैं और अवसाद से उबरने के दृढ़ निश्चय में उनकी मुट्ठियाँ भिंच गयी हैं। इसी प्रकार, भावों की हिलोरों पर उठते-गिरते तीन घण्टे बीत गये। चर्चा को समेटते हुए मैंने एक प्रश्न और कर दिया—उनके जीवन में अभी-अभी आये एक नये मोड़ के बारे में : "यह पूछना तो मैं भूल ही गया कि राष्ट्रपति द्वारा डा. बच्चन के राज्य-सभा के सदस्य नामित किये जाने पर कवि बच्चन की क्या प्रतिक्रिया हुई थी।" प्रश्न सुनकर बच्चनजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले, "मैं नहीं समझता कि राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा के लिए नामित किये जाने से मैं राजनीतिज्ञ बन गया हूँ। मैं रहूँगा कवि ही—जिसका निर्माण मैंने पिछले साठ वर्षों में किया है। वही मेरा स्वधर्म है, उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? 'मोमिन' के शब्दों में—

उम्र सारी तो कटी इश्के बुताँ में 'मोमिन',
आखिरी वक्त में क्या खाक मुसलमाँ होंगे।

बच्चन : आमने-सामने*

बात सन् 1932 की है। मैं विश्वविद्यालय से निकला था। पाइनियर अखबार के सुयोग्य संपादक मि. डेसमण्ड यंग के कहने पर मैंने संवाददाता का कार्य स्वीकार किया। मैं जिलों में जाता था। वहाँ कचहरियों में जो दिलचस्प केस होते थे उनको अंग्रेजी में लिखकर भेजा करता था, इस कार्य में मुझे प्रायः वकील और जज सहायता देते थे। अपने नाम के प्रचार का प्रलोभन सभी को होता है। डेसमण्ड यंग

* दुर्गाप्रसाद नौटियाल, नवभारत टाइम्स, 27.11.69

स्वयं भी बहुत अच्छी अंग्रेजी लिखते थे। मेरी शैली से वे अत्यधिक प्रभावित थे। यंग महोदय ने रोमेल (हिटलर के जनरल) की जीवनी लिखी है। 'हाँ, मैंने हास्य रस का 'मदारी' नामक एक साप्ताहिक निकाला था। इस पत्र के लिए शुरू से आखीर तक मैं ही विभिन्न नामों से लिखा करता था।' ये विचार कविवर डा. हरिवंशराय बच्चन ने एक विशेष भेंट के अवसर पर व्यक्त किये।

प्रश्न : वर्तमान में हिन्दी कविता का रूप द्रुतगति से परिवर्तन को प्राप्त होता चला जा रहा है। क्या यह कविता के लिए शुभ है ?

उत्तर : हमें परिवर्तन को स्वीकार करना चाहिए। बात यह है कि पुराने-नयों पर अविश्वास के कारण जल्दी अपनी जगह छोड़ना नहीं चाहते हैं और नये आवश्यकता से अधिक उतावली करते हैं। इसीलिए रूढ़िवादी खयालों के लोग नयी पीढ़ी की उपेक्षा करते हैं। मैं समझता हूँ कि प्रतिभा किसी पीढ़ी के माथे बँधी हुई नहीं होती। उदाहरण के लिए कालिदास, भवभूति, अश्वघोष जैसे दिग्गजों की एक पीढ़ी थी। आगे चलकर ये पुराने पड़ गये। नये युग के लिए उनका महत्त्व घट गया। यही स्थिति आज भी है। परिवर्तन का तात्पर्य ही शुभ समझना चाहिए। पुराने सड़े-गले मूल्यों जिनसे कि सड़ाँध निकल रही हो, का परित्याग करना ही उचित एवं हितकर है। अस्तु, परिवर्तन की प्रक्रिया के दौरान जो तनाव उत्पन्न होता है वह स्वस्थ भी है। परिवर्तन से ही प्रगति होती है। परिवर्तन से लाभ ही होता है। निष्कर्ष यह है कि कविता के क्षेत्र में जो भी परिवर्तन हो रहा है वह सर्वथा एक शुभ लक्षण है।

प्रश्न : क्या कवि को राष्ट्र की राजनीति में सक्रिय भाग लेना चाहिए ?

उत्तर : यह प्रश्न एक बड़े प्रश्न के अन्तर्गत आता है। कवि भी सामाजिक प्राणी है। राजनीति समाज से सम्बद्ध है। इसलिए कवि राजनीति से अलग नहीं है। हाँ, जब कवि अपने को समाज से कटा हुआ महसूस करता है तो कवि अस्वस्थ हो जाता है। कवि का काम अच्छी कविता करने का है। मगर मैं समझता हूँ कि कवि को समाज की समस्याओं से उलझना चाहिए। यदि कोई जीवन्त कवि है, उसकी भाषा में जान है तो उसे समाज का 'सफरमैना' कहकर पुकारा जाना चाहिए।

कवि को प्रगतिशीलता के साथ होना चाहिए। उसे शोषितों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। तुलसीदास ने मानस में कहा है—'मूक होइ बाचाल' राम कृपा से,—पर वस्तुतः मूक को वाणी देनेवाला भी कवि अथवा लेखक ही है। सच्चे कवि की दृष्टि तो सदैव दरिद्र और दीन-दुखियों पर टिकनी चाहिए। अत्याचार और अन्याय के खिलाफ जो कलम न उठे वह कलम ही क्या है। राजनीतिज्ञ इसी शोषित वर्ग से तो राज करते हैं। इसलिए साहित्यकार तो वही है जो इस वर्ग को जागरूक बनाने में अपना श्रम लगाये। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्र की राजनीति से जुड़ा ही हुआ है। चाहे वह प्रत्यक्ष रूप में न भी हो।

प्रश्न : कवि कैसे वातावरण में अपने हृदय के उद्गारों की वास्तविक अभिव्यक्ति करने में पूर्ण समर्थ होता है ?

उत्तर : दुनिया को जानने का पैमाना अपने ही पास होता है। प्रायः जानने के दो रास्ते हैं : एक पढ़-सुनकर अर्थात् बुद्धि के माध्यम से और दूसरा भावनात्मक एकता के द्वारा। जो कवि अथवा लेखक निरे बौद्धिकपन से लिखेगा वह साहित्य दूसरे दर्जे का होगा। जब भावनात्मक तादात्म्य होगा तभी श्रोता अथवा पाठक उसे ग्रहण कर सकेगा। बौद्धिक से पत्रकारिता तो हो सकती है किन्तु कोई 'कला-

कार' कदापि नहीं बन सकता। कवि या लेखक के लिए अपने हृदय के उद्‌गारों की वास्तविक अभिव्यक्ति के लिए जाना हुआ सत्य नहीं वरन् भोगा हुआ सत्य अत्यावश्यक है। इसे ही वातावरण की संज्ञा दी जा सकती है।

प्रश्न : मनुष्य के लिए कविता की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : बात यह है कि कविता जिस लिए लिखी जाती है, पढ़ी भी उसी लिए जाती है। कवि के मन में जब भार इतना हो जाता है कि वह बर्दाश्त नहीं कर पाता तो उस भार को—चाहे वह वेदना का हो या असीम आनन्द का—शब्दों के द्वारा हल्का करता है। कवि अपनी बात कहता है। वह बात इस ढंग से कहता है कि उसकी एक उद्‌बोधन शक्ति होती है। अर्थात् जिस भाव से कवि ने कोई शब्द कहा दूसरे भी उससे ठीक वही भाव ग्रहण करते हैं। जिस भाव से आपने लिखा उससे फिर वही भाव जगे, सचमुच यह बड़ा कठिन काम है। यह कला अध्ययन, अनुभूति और अभ्यास पर निर्भर करती है।

फिर, हर व्यक्ति 'कविता की प्रजा' नहीं होता है। कविता का काम ऐसे लोगों को जो कि जड़, शुष्क, नीरस और काठ हैं, रसमय बनाना है, ताकि वे जीवन का वास्तविक आनन्द ले सकें।

बच्चन ! गीतों के राजकुमार*

मैंने पूछा, "जीवन-दर्शन ?"

> बच्चनजी बोले, "मनुष्य को मनुष्य के नाते समझना, उसके अहं को इतना छीलना कि वह दूसरे मनुष्य के साथ अपनी समता देख सके, और उसे इतना उदात्त बनाना कि मनुष्य के लिए कोई भी त्याग उसे सहज ही अपनी सत्ता की सबसे बड़ी उपलब्धि जान पड़े !"

सृजन का प्रथम क्षण

"सचेत सृजन का प्रथम क्षण, जैसे प्रायः सभी सर्जकों के लिए होता है, पीड़ा का क्षण था। किसी की विदा का,—जिसमें, एक फूल में जैसे हृदय ही रखकर समर्पित कर दिया था।"

प्रथम चर्चित रचना

"लिखता तो मैं नियमित रूप से सन् 29 से था, पर 1933 में—'मधुशाला' का गान जब मैंने किया, तो मुझे लगा कि मैंने उसको वाणी दी है, जिसे बहुत से लोग भीतर-भीतर अनुभव कर रहे थे। मेरी दृष्टि से पूछें, तो मैं अपनी किसी कृति से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं। मेरी जिस कृति से सबसे अधिक लोग सन्तुष्ट हुए हैं, वह 'मधुशाला' है—बुद्धिजीवी वर्ग सबसे अधिक 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' से सन्तुष्ट हुआ है।"

* शैवाल सत्यार्थी, नवभारत टाइम्स, बम्बई, 26.11.72

कल्पनाशीलता

"लड़कपन में जीवन के अप्रिय यथार्थ ने ही मुझे कल्पनाशील बना दिया होगा। आश्चर्य मुझे कल्पना पर उतना नहीं, जितना अप्रिय की अप्रिय अनुभूति पर। यों, नरक की कल्पना का नाम ही स्वर्ग है।"

सर्वाधिक प्रिय पंक्ति

"प्यार किसी को करना,
लेकिन कहकर उसे बताना क्या ?"

पलायन की प्रक्रिया

"पलायन जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जैसे संघर्ष, जीवन को परिपूर्णता में स्वीकार करनेवाले को दोनों ही स्थितियों से गुजरना पड़ सकता है, मैं कैसे कहूँ, मैं उनसे नहीं गुजरा हूँ।"

हालावाद का प्रवर्तक

"मैंने 'हालावाद' जैसा कोई वाद नहीं चलाया। हालावादी मुझे इसलिए कहा गया कि छायावाद मुझे अपनी परिधि में नहीं ले पाया था। यह तो औरों का काम है कि देखें कि मेरी रचना में क्या था, जो छायावाद से भिन्न था।"

प्रेरणा

मेरी प्रेरणा प्रायः मेरी अनुभूतियों से आती है—उसको मैं बहुत दिनों तक भीतर-ही-भीतर सेता रहता हूँ। प्रायः जब वह भीतर कोई कलात्मक रूप ले चुकती है, तभी मैं लिखता हूँ, लिखने का कोई समय विशेष नहीं। ऐसा समय अवश्य चाहता हूँ कि जब तक मैं अपनी कृति को पूरा न कर लूँ, कोई व्याघात न उपस्थित हो। प्रायः मैंने स्फुट कविताएँ ही लिखी हैं— लिख चुकने पर कभी तो अनुभव यह होता है कि जो मैं कहना चाहता हूँ, कह सका हूँ—कभी इसके विपरीत अनुभूति भी होती है, कभी-कभी सृजन के उपकरण सर्जक को अपने बल पर नचा देते हैं।"

प्रिय कवि

"मेरा अध्ययन व्यापक है। अंग्रेजी और हिन्दी के पुराने कवियों में—शेक्सपीयर और तुलसी मेरे प्रिय हैं। आधुनिकों में ईट्स और पन्त।"

जीवन-यापन

"विशुद्ध साहित्यिक रहकर जिया तो जा सकता है, पर कठिनता से। मेरा स्वयं का जीवन विशुद्ध साहित्यिक का नहीं रहा। और कुछ करते हुए मैंने साहित्य-सृजन किया है,—'भार सिर पर, कण्ठ में स्वर'— मेरे कवि की तस्वीर है।"

साहित्यकार और राज्याश्रय

"कवि के लिए आदर्श स्वतन्त्रता ही होनी चाहिए। प्रतिभा सब परिस्थितियों में अपना मार्ग बना लेती है, राज्याश्रय में भी।"

रुचि के अन्य कार्य

"मानव ही मेरी रुचि का चरम विषय है,—मानव-भीड़ में नहीं, समाज में नहीं,—बल्कि अपनी व्यक्तिगत इकाई के रूप में, अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों से जूझने, उनमें पलने और उनमें रस लेनेवाले व्यक्ति में, जीवन और साहित्य में भी, जो अपने अस्तित्व को जीते हैं,— वही मेरे प्रिय और निकटतम पात्र हैं। ऐसे लोग प्रायः एकाकी होते हैं, जो दुनिया से संवेदना की आशा छोड़ चुके होते हैं,—पर वे समझे जाने के लिए लालायित होते हैं। ऐसों से किसी कारण मेरा सहज नाता है।"

विचित्रता

"भोजन-दिनचर्या में किसी साधारण नागरिक से शायद ही भिन्न हूँ। जीवन की ऐसी क्या घटनाएँ होंगी, जिन्हें मैं विचित्र कह सकूँ—पर अनुभूतियाँ मेरी विचित्रता न सही, अपनापन लिये होती हैं।

प्रिय वस्तुएँ

"कोई विशेष नहीं। प्रकृति से मुझे कोई विशेष प्रेम नहीं। यह नहीं कि उसकी सुन्दरता से मैं प्रभावित नहीं होता, पर उससे किसी प्रकार का भीतरी आदान-प्रदान सम्भव नहीं हो पाता। रूमानी कवियों ने प्रकृति-प्रेम का एक पूरा दर्शन ही बना दिया है। वह सब मुझे 'अपील' नहीं करता। अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के उपादानों का उपयोग और बात है।"

साहित्यकार का दायित्व

"क्या योरोप के सारे साहित्यकार मिलकर प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध रोक सके? साहित्यकार को अपना क्षेत्र यानी स्वधर्म समझना होगा। मानव को अधिक मानवीय चेतना देना, क्योंकि आज के सारे संघर्ष-स्वार्थ के मूल में मानव है,—उसका परिष्कार करना, उसे उठाना, विध्वंस से उसे बचाना—इसी की ओर साहित्यकार को सचेत रहना है।"

"बस, या कुछ और?" बच्चनजी ने प्रश्न किया।

"नहीं, बस!" मैंने प्रणाम किया।

गीत-काव्य जनमानस के आइने में*

प्रश्न—कविता साहित्य का अत्यन्त सशक्त माध्यम होते हुए भी आज अपनी लोकप्रियता खोती जा रही है। क्या आपको ऐसा नहीं प्रतीत होता, तो ऐसा क्यों?

उत्तर—कविता निश्चय ही लोकप्रियता खोती जा रही है। क्योंकि (क) भाषा इस दर्जे पर अपनी काव्य सम्भावनाएँ समाप्त कर चुकी है, (ख) युग गद्य के विकास का है, बौद्धिकता का है, (ग) नये प्रयोग परिपक्वता तक नहीं पहुँच पाते।

* राधेश्याम 'बन्धु' द्वारा आयोजित परिचर्चा

प्रश्न—कविता जितनी ही गीतात्मकता से दूर होती गयी उतनी ही वह जन-मानस से कटती गयी और चन्द "एयर कण्डीशन्ड" कमरों में बैठे प्रबुद्ध लोगों के बुद्धिविलास की चीज़ बनकर रह गयी है। क्या आप ऐसा नहीं मानते ?

उत्तर—गीत कविता की एक विधा है, केवल उससे हटने से कविता का ह्रास नहीं हुआ। युग की स्थिति बड़े कवियों को उत्पन्न करने की भी नहीं है।

प्रश्न—क्या गीत के फ़ार्म में नये युग बोध को प्रकट नहीं किया जा सकता ?

उत्तर—गीत सीमित भाव-बोध की परिधि माँगता है; युगबोध के लिए अधिक विस्तार चाहिए।

प्रश्न—कुछ लोग गीत-विधा में होनेवाले प्रयोगों की मौखिक प्रशंसा तो करते हैं किन्तु खुलकर सामने आने में इसलिए कतराते हैं कि कहीं गीत का प्रशंसक होने के कारण उनके बोध को पुराना और बासी करार न दे दिया जाय। यह कहाँ तक न्यायसंगत है ?

उत्तर—विधाएँ जन-स्वीकृति पर निर्भर हैं, किसी की प्रशंसा पर नहीं।

प्रश्न—गीत कविता का सबसे मुश्किल माध्यम है। सबकुछ कह लेने के बाद कवि के मन में जो एक भाषातीत गूँज बच जाती है—गीत की शुरुआत ठीक वहीं से होती है और उसकी सफलता इसी में है कि उस भाषातीत गूँज को भाषा के सम्पर्क से कम-से-कम विकृत किया जाय। आप इससे कहाँ तक सहमत हैं ?

उत्तर—उसी को मैंने "भाव-बोध" कहा है पर भाषा भावों की हर गूँज को अभिव्यक्ति देने की चुनौती स्वीकार करती है।

प्रश्न—शिल्प की दृष्टि से कुछ लोगों का आग्रह है कि गीत की पंक्तियों का नपी-तुली, समचरणान्त होना या तुकान्त होना आवश्यक नहीं है और न टेक से बँधकर चलना ही ज़रूरी है। इसके पक्ष या विपक्ष में आपका क्या तर्क है ?

उत्तर—छन्द, तुक, लय, गीत के भावबोध को जीवन्त और उजागर करने में सहायक होते हैं। पर भावबोध दुर्बल हो तो वे उसे चलने की शक्ति नहीं देते—उसकी बैसाखी बन सकते हैं।

प्रश्न—युगीन परिवर्तन और बदले हुए राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश से समकालीन कविता की भाषा और शिल्प को कहाँ तक प्रभावित होना चाहिए ?

उत्तर—संसार की सभी प्रमुख हलचलों से भाषा प्रभावित होती है—भाषा के माध्यम का प्रयोग करनेवाला कवि इन प्रभावों से अपने को मुक्त नहीं रख सकता।

प्रश्न—"नवगीत" की तुलना में नयी कविता अपनी सम्प्रेषण-शक्ति खोती जा रही है। ऐसा क्यों ?

उत्तर—सम्प्रेषण के दर्जे पर मैं "नवगीत" और "नई कविता" को एक ही श्रेणी में रखता हूँ। उद्बोधन की कमी दोनों में है। नई कविता को अधिक प्रतिभाओं का सहयोग मिला है।

प्रश्न—'साठोत्तरी गीतकारों' की रचनाएँ तो नयी कविता के समानान्तर ही नहीं बल्कि अनेक अर्थों में उसके आगे की मंजिल का पता दे रही हैं। इससे आप कहाँ तक सहमत हैं ?

उत्तर—आपका निर्णय विवादास्पद है, नवगीत को प्रतिभाओं का सहयोग नहीं मिला।

प्रश्न—"कविसम्मेलनी" वाहवाही और लोकप्रियता ने गीत को विकृत और सतही बनाने में अभूतपूर्व सहयोग दिया है। क्या आप ऐसा नहीं मानते ?

उत्तर—कवि सम्मेलन की वाहवाही कविता का स्तर गिरा सकती है इसे मैं नहीं मानता। अच्छी कविता कवि सम्मेलन की जनता की रुचि को ऊपर उठा सकती है।

प्रश्न—आपकी दृष्टि में कौन-कौन गीतकार अच्छे हैं, और क्यों ?

उत्तर—गीतों के साथ नया प्रयोग करनेवालों में अभी तक उमाकान्त मालवीय तो मुझे रुचे हैं। कुछ और भी नये प्रगतिशील कवि अच्छे गीतकार के रूप में उभर रहे हैं।

बच्चन से बातचीत*

"बच्चनजी, आज मैं आपका 'इण्टरव्यू' लेना चाहता हूँ।"

"इण्टरव्यू ? पर मैंने तो कभी कुछ छिपाकर नहीं रखा। मेरा अन्दर-बाहर सबकुछ तो मेरी कविताओं में है, और अगर कुछ रह भी गया था तो वह अब आत्म-कथा में स्पष्ट हो रहा है।"

"लेकिन मुझे तो आपसे कुछ और ही पूछना है, जैसे कवि सम्मेलन के बारे में आप क्या सोचते हैं, नये कवि आपको कैसे लगते हैं, कविता की अब कोई ज़रूरत भी रह गयी हो या नहीं···"

"अच्छा तो यह बात है।"

और वे तकिये का सहारा लेकर आराम से बैठ गये। और मेरी ओर ऐसे देखने लगे जैसे मैं कोई रहस्योद्घाटन करनेवाला हूँ।

हाँ, यह बच्चन की विशेषता है। उनकी आँखें, उनके कान हर समय कुछ-न-कुछ नया देखने, सुनने-जानने के लिए बेचैन रहते हैं। शायद उन्हें लग रहा था कि मेरे पास से भी वे कुछ पा लेंगे।

और मैं यह सोच रहा था कि पहले क्या पूछूँ। उनकी जिज्ञासु निगाहों के सामने अधिक देर तक चुप रहना शायद सम्भव नहीं होता।

"बच्चनजी, आपने 'मधुशाला' भी लिखी है और 'दो चट्टानें' भी। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि आपकी इस कविता-यात्रा के इस छोर पर अब कविता की ज़रूरत नहीं रही ?"

"ज़रूरत नहीं रही, यह तो मैं नहीं कहूँगा, पर एक बात जरूर है कि यह युग भावनाओं का नहीं, बौद्धिकता का है और गद्य बौद्धिकता पर आधारित होता है, जब कि कविता भावनाओं पर। फिर एक बात और भी है। भाषा के विकास-क्रम में भी कविता के बाद गद्य का स्थान आता है।"

"तो आपका मतलब है, कविता अपरिपक्वता की भाषा है ?"

"नहीं, यह बात नहीं है। विश्व के किसी भी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रारम्भ कविता से हुआ है। खड़ी बोली भी एक नयी साहित्यिक भाषा के रूप में उभरी थी। खड़ी बोली के साथ ही नये प्रयोग प्रारम्भ हुए। सबसे पहले कविता ने ही लोगों का ध्यान आकर्षित किया, क्योंकि वास्तव में भाषा का निर्माण कविता के माध्यम से ही होता है। स्वाभाविक था कि

* साक्षात्कारकर्ता : विश्वनाथ और सतीश वर्मा

हमारी उपलब्धि कविता के क्षेत्र में ही होती।"

"जहाँ तक अब कविता की आवश्यकता का प्रश्न है, 20वीं शताब्दी विज्ञान और बौद्धिकता का युग है अतः स्वाभाविक है कि कविता की जगह हम गद्य की ओर आकर्षित हों।"

"लेकिन, बच्चनजी, साधारण आदमी का बौद्धिकता से क्या लेना-देना ?"

"क्यों ? माना कि साधारण आदमी उस माने में बौद्धिक नहीं है, जैसा कि समझा जाता है, लेकिन यह सोचना भी गलत है कि सामान्यतः कवि भावुक ही होता है। अपनी ही बात करूँ। जब मैं युवक था, या मेरी पीढ़ी के लोग युवा थे, तो आज से कहीं ज्यादा भावुक थे। वैसे हमारे जमाने में शायद साधारण आदमी से कवि कुछ ज्यादा भावुक भी था। अब तो हर आदमी बौद्धिक होने का प्रयास करता है।"

"तो आपका मतलब है, कवि सम्मेलन की परम्परा का एक बड़ा आधार आपके समय के साधारण व्यक्ति की भावुकता थी ?"

कवि सम्मेलन का नाम आते ही, बच्चनजी कुछ अधिक सजग हो गये और यह स्वाभाविक ही था। हिन्दी कवि सम्मेलनों के बारे में प्रामाणिकता के साथ कुछ कह सकने का अधिकार भी तो उन्हें ही है। लगभग तीन दशक तक 'मधुशाला' का यह गायक कवि सम्मेलनों का प्राण बना रहा था।

"पहली बात तो यह", उन्होंने कहना शुरू किया, "कि खड़ी बोली से पहले हिन्दी कवि सम्मेलन जैसी कोई परम्परा शायद ही थी। हिन्दी में तो कवि सम्मेलन 'मुशायरे' की नकल बनकर आया। मुझे याद है, उन दिनों मुशायरों में तो मुकर्रर इरशाद आदि कहा जाता था, पर हिन्दी वालों के पास ऐसा कुछ नहीं था। तो लोगों ने 'धन्य-धन्य' और 'साधुवाद' कहना शुरू किया। एक बात तो और भी मज़ेदार थी। उर्दू में लोग सुभान अल्लाह कहते हैं, पता है उन दिनों हिन्दी में इसकी जगह क्या कहते थे ?" और यह कहकर वे मुस्कराते हुए मेरी ओर देखने लगे।

"क्या कहते थे ?" मेरे पास बैठे सतीश वर्मा ने सवाल किया।

"जयशंकर", और कहकर बच्चनजी हँसने लग गये।

"पर धीरे-धीरे हिन्दी कवि सम्मेलन मुशायरे के प्रभाव से मुक्त होने लगा", उन्होंने कहना शुरू किया, "फिर तो यह लोकप्रिय भी खूब हुआ। स्कूलों, कालेजों में तो कोई भी उत्सव इनके बगैर नहीं होता था।"

"हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में ये कवि सम्मेलन कहाँ तक सहायक हुए हैं ?"

"इस सन्दर्भ में इनकी उपादेयता पर संशय नहीं किया जा सकता। मेरी तो यह मान्यता है कि यह समय की माँग थी। इन्होंने खड़ीबोली को लोकप्रिय बनाया। लेकिन, लोकप्रिय कैसे बनाया, यह और भी महत्त्वपूर्ण है। शुरू में हिन्दी कविता बहुत ज्यादा कृत्रिम थी, कवि जनता की भाषा को काम में लेते ही नहीं थे। उदाहरण के लिए छायावादी कविता को ही ले लो। जब यह शुरू हुई तो इसकी भाषा शब्दकोष की भाषा थी। पर कवि सम्मेलन में तो कवि को साधारण भाषा में पढ़ना आवश्यक था। घर में तो लोग शब्दकोष की सहायता से भी कविता समझ सकते हैं, पर कवि सम्मेलन में बैठकर तो यह नहीं हो सकता। इसलिए कवि को जनता की भाषा अपनानी पड़ी···"

"एक मिनट बच्चनजी", सतीश ने उन्हें टोका, "क्या आपको नहीं लगता कि जनता की भाषा के इस चक्कर में कवि सम्मेलन मनोरंजन-माँग बनकर रह गये?"

"हाँ, सो तो है ही, इसलिए हास्य-व्यंग्य के लेखक ज्यादा लोकप्रिय हो गये, गम्भीर कविता की अपनी शैली और भाषा होती है, और श्रोता इस भाषा को आसानी से नहीं समझ सकता, इसलिए या तो गम्भीर कविता लिखनेवाला कवि सम्मेलन में जाये नहीं, या जाय तो अपना स्तर नीचा करे, दुर्भाग्य से यह दूसरी बात ही ज्यादा हुई।"

"पर आजकल तो कवियों का एक वर्ग विशेष ही कवि सम्मेलनों में जाता है।"

"इसका भी कारण है। पहले श्रोता सब तरह के कवियों को सुन लिया करते थे, क्योंकि हिन्दी एक आन्दोलन के रूप में उठी थी, पर अब श्रोता मात्र उसी को सुनते हैं, जो उसे रुचता है।"

"आपका मतलब है कि पन्त, निराला आदि कवि तब जनता को अच्छे नहीं लगते थे ?"

"अच्छे न लगने जैसी बात तो नहीं है, पर यह सच है कि पन्त, निराला और महादेवी को उन दिनों भी श्रद्धा और आदर के कारण सुना जाता था, उनके व्यक्तित्व से लोग आतंकित थे, इसलिए उन्हें सुनते थे, अब ऐसी बात नहीं रही, भाषा के प्रति उतना सम्मान और मोह भी नहीं रहा, पन्त और निराला को लोगों ने नहीं समझा, तब भी सुना, पर अब लोग वही सुनना चाहते हैं, जो उन्हें समझ आये।"

"इस दृष्टि से तो कविता के माध्यम से बात कहने और समझाने का गौरव आपको ही मिलना चाहिए।"

"यह तो साहित्य का इतिहास लिखनेवाला ही आँकेगा। पर इतना जरूर सच है कि मेरी भाषा जनता की भाषा के अधिक निकट थी, मेरे विचारों से वह परिचित थी और मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि उसे इसकी आवश्यकता थी। मैंने अपने पाँव धरती पर रखकर जनता को वह बताया, जो वह अनुभव कर रही थी। मैंने उन भावों को शब्द दिये जो जनता व्यक्त करना चाहती थी, जबकि उस समय के बड़े कवि स्वयं को साधारण जनता से कुछ ऊँचा समझते थे।"

"आपका मतलब है, आपने जनता के लिए लिखा, अपने लिए नहीं···"

"अपने लिए तो लेखक लिखता ही है, पर एक सीमित अर्थ में। स्वान्तः सुखाय जैसी बात को मैं नहीं मानता। कवि अपने-आपमें जीता तो है, पर जब वह भाषा का माध्यम अपनाता है तो स्पष्ट ही वह एक ऐसा माध्यम अपनाता है, जो दूसरों का भी है, इसलिए स्वयं के लिए कविता लिखने की बात अपने-आपमें विरोधाभास है, जब हम शब्दों का सहारा लेते हैं तो हम चाहते हैं कि उसे पढ़ा या सुना जाय···"

"तो क्या कवि अपनी ही बात पढ़ाना या सुनाना चाहता है ?"

"कवि क्या चाहता है, यह व्यक्तिगत प्रश्न है। पर मैं स्वयं जनता की भावनाओं के माध्यम से खुद की भावनाओं को जाँचने का प्रयास करता हूँ, और जब भी मुझे लगा कि मेरी बात मेरे श्रोता नहीं समझ रहे तो मैंने अपने आपको ही दोषी ठहराया —मैं अपनी बात उन्हें समझा नहीं पा रहा था। क्योंकि कवि की शक्ति और सामर्थ्य की यही परख है। यही कविता का अनुशासन भी है।"

"कविता का अनुशासन ?"

"हाँ, सृजन का भी अपना अनुशासन होता है। मेरी कोई निश्चित भाषावली नहीं है। जब भी मुझे कुछ नया कहना होता है, मुझे नयी भाषा का सृजन करना

पड़ता है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि नयी बात के लिए नयी भाषा का सृजन ज़रूरी है। कवि कुछ क्षण जीता है और उन्हें अभिव्यक्ति दे देता है। न तो वे क्षण फिर लौटाये जा सकते हैं, और न ही उस अभिव्यक्ति को दुहराया जा सकता है…"

"आपका मतलब है 'मधुबाला' और 'मधुशाला' अब फिर नहीं लौट सकतीं?"

'मधुशाला' और 'मधुबाला' के उल्लेख मात्र से बच्चनजी के चेहरे के भाव बदल गये। एक क्षण तो लगा उनकी आँखों में अतीत झाँक रहा है। उदासी और सन्तोष की भावना का अजीब-सा मिश्रण उन आँखों में झलक रहा था।

"यह ठीक है, विश्वनाथ, कि 'मधुशाला' और 'मधुबाला' खूब लोकप्रिय हुईं, अब भी हैं। क्योंकि इनमें जनता के भाव हैं, जनता की भाषा है। मैंने उसी के धरातल पर खड़े होकर उसकी बात कही थी, इसलिए जनता ने उसे पसन्द किया। पर मैं अब जीवन के उस भोगे क्षण को दुहरा नहीं सकता। अब मेरे पास न वह भाव है, न वह भाषा और न ही वह कण्ठ। पर हाँ, मधुशाला को गुनगुनाना अब भी मुझे अच्छा लगता है। कभी-कभी आदमी अतीत भी जीना चाहता है न। तुम चाहो तो इसे पलायनवाद कह सकते हो।"

"एक बात बतायें बच्चनजी, यदि आपको यह लगे कि 'मधुशाला' जैसी चीज़ आप फिर लिख सकते हैं, तो क्या आप लिखेंगे?"

"मैं सोचता हूँ नहीं," उन्होंने निर्णय-सा देते हुए कहा।

"क्यों?" सतीश और मैं दोनों एक साथ ही कह बैठे।

"मैंने बताया न कि प्रश्न सिर्फ भावनाओं का ही नहीं है। भाषा की भी अपनी एक स्टेज होती है। कुछ भाषा और विचार तब शब्दों के लिए तड़प रहे थे। मैंने उन्हें शब्द दिये और साहित्य में जब कोई बात अच्छी तरह से कह दी जाती है, तो उसे दुहराया नहीं जा सकता। उसे दुहराने की आवश्यकता भी नहीं है। 'मधुशाला' को न तो अब मैं दुहरा सकता हूँ, नहीं कोई और। यह मात्र मेरे जीवन की एक स्टेज नहीं थी, यह साहित्य और जनता के जीवन की एक स्टेज थी।"

कुछ क्षण के लिए वे चुप हो गये। पर उनकी आँखें बता रही थीं कि वे अपने आप से कुछ कह रहे हैं। बच्चनजी की आँखें बहुत कुछ कह देती हैं।

"आप क्या सोचने लगे?" मैंने पूछा।

वे जैसे सोते से जगे हों।

"यही कि मेरा यौवन कितनी जल्दी मुझे छोड़ गया।"

उनके स्वर में थोड़ी-सी पीड़ा थी। पर तत्क्षण ही उनके चेहरे के भाव बदल गये।

"पर विकास तो जीवन और प्रकृति का नियम है", उन्होंने कहा, "मेरे जीवन में यौवन की भावुकतावाला दौर अब खत्म हो गया है। अब मैं जीवन को नये परिप्रेक्ष में देख रहा हूँ। जीवन का नंगा पल अब मेरे सामने है। मैं इस पर अब समय की चादर नहीं ओढ़ा सकता। इसलिए स्वाभाविक है कि पिछले कुछ काल में मैंने जो कुछ लिखा है, वह वास्तविकता और सच्चाई के अधिक निकट है। पर इस बात से भी मैं इन्कार नहीं करता कि सपनों और कल्पनाओं की भी अपनी सचाई होती है, अभिव्यक्ति के अपने तरीक़े होते हैं।"

"आपने जीवन की सचाई की बात की है। क्या आपको लगता है कि हमारे नये लेखक-कवि अपने जीवन की सचाइयों की अपेक्षा पश्चिम के आन्दोलनों और दर्शन से ज्यादा प्रभावित हो रहे हैं?"

मैंने जान-बूझकर विषय थोड़ा बदल दिया। नये के नाम पर जो कुछ हो रहा

है, उसे गलत कहने का फैशन-सा चल पड़ा है। मैं जानना चाहता था, पुरानी पीढ़ी का यह कवि, जो एक के बाद दूसरा प्रयोग करता रहा है, हिन्दी के युवा कवियों के बारे में क्या सोचता है।

बच्चनजी मेरी तथा सतीश की ओर देखकर मुस्कराये, मानों कह रहे हों, अगर युवा लोगों को गाली दूँ तो मार-पीट पर तो नहीं उतर आओगे।

"पहली बात तो यह कि मैं पाश्चात्य दर्शन और आन्दोलनों से प्रभावित होने को बुरा नहीं समझता। सचाई तो यह है कि हमारे ज़माने में यह प्रभाव ग्रहण करने के साधन या सुविधा ही नहीं थी। अब दुनिया काफी सिमट चुकी है। कोई किसी से पीछे नहीं रहना चाहता। यह स्वाभाविक भी है। प्रभाव से बचा भी नहीं जा सकता। हाँ, यह ज़रूर है कि पुरानी पीढ़ी कुछ सावधान ज्यादा थी। हमने चीज़ों को अपनी साहित्यिक परम्परा से जोड़ने का प्रयास किया और युवा लेखक विचारों और सृजन में एक क्रान्ति ला रहे हैं।"

"क्या आपको नहीं लगता कि हिन्दी के युवा कवि चोर दरवाजे से प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचना चाह रहे हैं?"

"मैं तो नहीं सोचता, बल्कि मुझे तो लगता है कि हिन्दी के युवा कवि एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहुत बड़ा खतरा मोल ले रहे हैं। वे पुरानी परम्परा से अलग हटना चाहते हैं, और इसीलिए नयी भाषा, नयी शैली, नये विचार, नयी तकनीक के प्रयोग कर रहे हैं। और यह जानते-बूझते कर रहे हैं कि ये सब लोकप्रिय नहीं है। नये मूल्यों के लिए ये युवा लेखक बड़ी भारी कीमत चुका रहे हैं, और इस साहस के लिए मैं तो उनकी प्रशंसा ही करूँगा।"

"यह तो ठीक है, पर हर रोज़ कविता का कोई नया झण्डा लेकर खड़ा होनेवाले कवियों को आप क्या कहेंगे?"

"सवाल यह है, ऐसे कवि हैं कितने? और फिर उनकी कविताओं के संकलनों के कितने संस्करण छप गये? सच तो यह है, कई प्रतिभावान कवियों की कविताओं का तो एक ही संकलन छपा है। मैं उनकी ईमानदारी की तारीफ़ करता हूँ। क्योंकि वे यह अनुभव करते हैं कि अब उनके पास कहने को नया कुछ नहीं है, अतः उन्होंने लिखना छोड़ दिया। इसके विपरीत मेरी पीढ़ी के लोग होते तो अपने आपको ही दुहराते रहते और कइयों ने दुहराया भी है। इसलिए भई, मैं तो युवा कवियों से निराश नहीं हूँ। सच तो यह है कि यदि इस अणु-युग या अन्तरिक्ष युग की कविता को कोई रूप लेना है, तो उसके लिए इन्हीं प्रयोगरत युवा कवियों को धन्यवाद दिया जायगा।"

बच्चनजी से यह सुनकर मुझे खुशी होनी स्वाभाविक थी। और शायद उन्होंने इस खुशी को मेरी आँखों में भाँप लिया था। वे भी मुस्कराने लगे। इस स्थिति से उबरने के लिए मैंने जल्दी से पूछा, "क्या आपको नहीं लगता कि नयी हिन्दी कविता जीवन की अपेक्षा बौद्धिकता से कहीं अधिक प्रभावित है?"

"नहीं ऐसा तो नहीं है। फिर बौद्धिकता कोई जीवन से अलग थोड़े ही है।"

"फिर कल्पना..."

"हाँ, कविता के लिए किसी-न-किसी तरह की कल्पना जरूरी है," उन्होंने मेरे प्रश्न को समझ लिया था।

"पन्तजी की कल्पना के बारे में आपका क्या ख्याल है?"

प्रश्न बहुत सीधा था, और मैं सोच रहा था, स्पष्ट उत्तर देते, बच्चनजी शायद थोड़ा हिचकेंगे। पर शायद गोलमाल बात करना उनकी आदत नहीं है। वे कुछ

सँभलकर बैठ गये और फिर नपे-तुले शब्दों में उन्होंने कहना शुरू किया—

"यदि पन्तजी की कल्पना की ही बात है तो मुझे कुछ कहना है। जहाँ तक मैं सोचता हूँ पन्तजी ने अपनी बाद की कविताओं को एक निश्चित विचारधारा पर आधारित कर लिया है। यह कल्पना नहीं है।"

वे एक क्षण को रुके।

"पर किसी दर्शन से प्रभावित होना तो बुरी बात नहीं है," मैंने पूछा।

"नहीं, बुरी तो नहीं है। पर एक निश्चित दर्शन और निश्चित भाषावली भी तो विकास को अवरुद्ध कर देती है। सच तो यह है कि कवि के विकास का पता उसकी भाषा के परिवर्तन से लगता है। जहाँ तक पन्तजी का सवाल है, पिछले 10-15 वर्ष में उनकी भाषा में कोई परिवर्तन नहीं आया। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' वाली भाषा वे आज भी लिख रहे हैं। मेरा तो, भई, निश्चित मत है कि चूँकि उनकी शैली नहीं बदली, इसलिए उनका विकास भी अवरुद्ध है।"

एक क्षण रुककर उन्होंने फिर बोलना शुरू कर दिया, "परिवर्तनशील जीवन ही कवि की प्रेरणा है और व्यापक अर्थों में कल्पना कविता के लिए जरूरी है।"

"इस बौद्धिक युग में भी?"

"हाँ, कविता के लिए ज़रूरी है। पर क्योंकि जीवन की वास्तविकताओं से हम आँख नहीं चुरा सकते, इसलिए कल्पना की दुनिया में जी भी नहीं सकते। इसलिए मैं कहता हूँ कि यह युग गद्य का है।"

"आपका मतलब है, कविता का युग समाप्त हो गया?"

"समाप्त हो जाने जैसी बात तो नहीं है, पर यह सच है कि गद्य का युग आ गया है। और अब हमारे अधिकांश भावों की अभिव्यक्ति स्पष्ट, तराशे हुए तथा सुविचारित गद्य में हो सकेगी।"

"तो क्या कविता की आवश्यकता नहीं रही?"

"आवश्यकता?···भई, कविता या गद्य दोनों अभिव्यक्ति का माध्यम हैं। यह भी सम्भव है कि अच्छे गद्य को ही कविता की गरिमा मिल जाय···"

"वैसे भी, बच्चनजी, कविता अब गद्य से अलग थोड़े ही रह गयी है?"

"हाँ, दिन-प्रतिदिन ये दोनों एक-दूसरे के नजदीक आते जा रहे हैं। हो सकता है एक दिन ये दोनों विधाएँ एक-दूसरे में मिल जायँ। शायद फिर जीवन में कोई परिवर्तन आये। शायद फिर इन दोनों विधाओं के 'फ्यूजन' से कविता की नयी विधा जगे।"

मुझे लगा उनकी आँखें सुदूर भविष्य में कुछ देख रही हैं। अब वे मेरी ओर नहीं देख रहे थे। सतीश की ओर भी नहीं। दूर कहीं देखते हुए वे बोले:

"प्रतिभा कटती हो तो उसका अर्थ यह भी होता है कि प्रतिभा बनती भी है। अगर आप किसी संगतराश से पूछें कि तुम क्या कर रहे हो, तो वह कहेगा कमल काट रहा हूँ। काटने का अर्थ है, बना भी रहा हूँ···"

···और तभी चाय आ गयी···

आकाशवाणी बम्बई से*

विश्वनाथ : कभी-कभी मैं प्रश्न करता हूँ, अपने आप से करता हूँ, शायद मेरी ही भाव संवेदना खत्म हो गयी है कि मैं नहीं समझ पाता। लेकिन मैं फिर दूसरों से पूछता हूँ, अपने मित्रों से, उनकी भी यही हालत है। वे कहते हैं, कोई कविता हम पढ़ लेते हैं, मगर पढ़कर क्या प्रभाव हुआ, यह हमें समझ में नहीं आता। बहुत-सी कविताएँ दस वर्ष पहले पढ़ी थीं, उनको आज फिर पढ़ते हैं तो मज़ा आता है। और आज की कविता ऐसी हैं कि उनको पढ़ते हैं, जैसे कल का अखबार आज फिर पढ़ रहे हैं।

प्रमोद शंकर भट्ट : इसका कारण क्या है?

डा. बच्चन : कारण यह है कि जो बहुत-सी संवेदनाएँ हैं शायद वे सच्ची भी हैं, मगर आज का पाठक या आज का शिक्षित वर्ग इतना जागरूक है कि वह यह सब जानता है। और मेरा ख्याल है कि इससे बड़ी बदतमीजी क्या होगी कि मैं आपको वही बात बताऊँ जो आप जानते हैं।

विश्वनाथ : बच्चनजी, ऐसा नहीं होता कविता में कि कवि जब कुछ कहता है अगर जिस संवेदना के जिस धरातल पर वह बात कह रहा है उसी धरातल पर पाठक या श्रोता उसे सुनें या पढ़ें तब कहीं वह उसको समझ सकता है अच्छी तरह से? ऐसा नहीं होता क्या?

डा. बच्चन : ऐसा होता तो है, मगर बहुत मुश्किल है कोई ऐसी बात कहना इस तरीके से। भावनाएँ तो शायद करीब-करीब एक ही होती हैं, मगर उनको कहने का एक तरीका होता है। वह तरीका अब शायद लोग भूल गये हैं या जिस तरीके से लोग कह रहे हैं उसको अभी हम कविता नहीं समझते, ऐसा भी हो सकता है।

प्रमोद शंकर भट्ट : क्या कहीं ऐसा नहीं है कि श्रोता और कवि के बीच में कुछ ऐसा तादात्म्य न हो पा रहा हो?

डा. बच्चन : बात यह है कि एक भाव जगत या विचार जगत में रहते हुए कवि और श्रोता दोनों अगर कोई बात कहते हैं तो वह बात समझी जाती है, मगर जो मैंने अभी आपसे बात कही अगर आप उसी धरातल पर बात कहते हैं, यानी केवल आप अभिव्यक्ति करते हैं तो वह अभिव्यक्ति तो सभी लोग कर रहे हैं। दूसरी बात होती है सम्प्रेषण कि मैं कहूँ और आप समझें। और एक तीसरी बात भी होती है जिसको मैं कहता हूँ उद्‌बोधन, यानी 'इनवोकेशन' यानी जो मैं अनुभव करूँ, वही आप भी अनुभव करें, सिर्फ यह नहीं कि जो मैं कहूँ उसको आप समझें, बल्कि उसी भावना से आप उद्वेलित हों। इसको मैं एक दूसरी तरह से कहूँ, बहुत साधारण शब्दों में, कि मेरे सिर में दर्द है, अपने कमरे में बैठकर मैं कहूँ कि मेरे सिर में दर्द है, अभिव्यक्ति तो हो गयी, शब्द दे दिया मैंने। और एक आप आये और मैंने कहा मेरे सिर में दर्द है और आप समझ गये कि बच्चनजी के सिर में दर्द है और एक मैं अपने दर्द को इस तरह बयान

* साक्षात्कारकर्ता : विश्वनाथ और प्रमोदशंकर भट्ट

करूँ कि आपके सिर में भी दर्द हो जाय—कविता हो गयी। आज कविता करनेवाले ऐसे हमको नहीं मिलते जो अपना दर्द बयान करें और हमारे दिल में दर्द हो। दर्द की समस्याएँ आज भी बहुत हैं, मगर शायद वह कहने का तरीका भुला दिया गया है। हम ऐसे कवि को चाहते हैं कि जो समस्याएँ दर्द पैदा करनेवाली हैं उनको हमें इस तरह से कहे कि हम सिर्फ उनको जानें नहीं, हमारे पास सिर्फ सम्प्रेषण न हो बल्कि हमारे अन्दर उद्‌बोधन भी हो, हम भी उन्हीं भावनाओं में बहें। कवि को सोचना पड़ेगा।

विश्वनाथ : समय का कुछ असर भी पड़ता है इस बात पर ?

डा. बच्चन : मतलब आपका ?

विश्वनाथ : जैसे आपने जब कविता लिखनी शुरू की, जिन दिनों में—'मधुशाला' की मैं बात करूँ—वह जमाना छायावाद का था, महादेवीजी, प्रसादजी, पन्तजी अपनी तरह से लिख रहे थे, आपने एक नयी तरह से कविता लिखनी शुरू की। आपके कहने का अभिप्राय अगर यह है कि आपकी बात लोगों तक पहुँची और उन लोगों की नहीं पहुँची, तो इसमें कहीं समय की बात थी कि जब आपकी कविता आयी तो वह समय उसके अनुकूल था।

डा. बच्चन : इस बात का विश्लेषण मुझसे आप न करायें तो ज्यादा अच्छा होगा कि किस कारण मेरी कविता कहते ही या पढ़ते ही लोगों की समझ में आयी और वे उसके साथ बहने लगे। इतना श्रेय तो आपको मुझे देना ही पड़ेगा कि कोई ऐसी भावना थी, कोई ऐसी बात थी, कोई ऐसी समस्या थी उनके मन में जो कि मेरे शब्दों से मुखरित हो रही थी और दूसरे लोग जिनकी कविता इतनी ग्राह्य नहीं हो रही थी, उनके और श्रोता वर्ग के बीच कोई दीवाल ज़रूर थी। वह दीवाल कई तरह की हो सकती है, वह भाषा की भी हो सकती है। वह भाव की भी हो सकती है, वह विचार की भी हो सकती है। लेकिन कवि को तो यह सोचना पड़ेगा। कवि का काम ही यह है। कविहि अरथ आखर बल साँचा,' अर्थ और आखर यानी ध्वनि और अर्थ। और 'अर्थ संघानाम,' अर्थ जो है वह एक नहीं है, अर्थ कई हैं। मैं ऐसा समझता हूँ कि 'मधुशाला' से जो मैंने बात कही वह प्रतीकों में कही और प्रतीक तो हमेशा बहुअर्थी होते हैं। एक प्रतीक मेरे हाथ लग गया था और उस प्रतीक से जो मैंने बात कही, वह केवल एकअर्थी नहीं थी, वह बहुअर्थी थी। इसलिए उसका हर आदमी ने अपना अर्थ अपनी तरह से लगाया।

विश्वनाथ : इसे आप कविता की सफलता समझते हैं ?

डा. बच्चन : मैं समझता हूँ कि अगर प्रतीकों में बात कही जाय, युग का कोई प्रतीक अगर आप पकड़ सकें जिससे कि और लोग भी अपना अर्थ उसमें डाल सकें तो एक बड़ी भारी सफलता है। राम भी तो एक प्रतीक ही हैं। तुलसीदास ने क्या किया ? रामकथा के माध्यम से उन्होंने इतनी जनजागृति फैलायी। राम भी तो एक प्रतीक हैं जिनको आप मिथक या कुछ और नयी भाषा में कहते हैं।

विश्वनाथ : कहीं ऐसा नहीं होता कि आप जो बात कहना चाहते थे, आपने प्रतीकों के माध्यम से वह बात कही और मैंने उससे कुछ और अर्थ समझ लिया ? तो आपकी कविता तो विफल हो गयी।

डा. बच्चन : प्रतीकों में मेरा क्या अर्थ है, मैं इसको खुला छोड़ देता हूँ, मेरे प्रतीकों से आप जितना भी अर्थ चाहें निकाल लें, लेकिन जो मेरा संसार है जिसने

प्रतीक को चुना है, उससे आप दूर नहीं जा सकते।

विश्वनाथ : उदाहरण अगर मधुशाला का दें तो ?

डा. बच्चन : कोई उदाहरण दीजिये जिसका आप दूसरा अर्थ लगाते हैं और मैंने किसी दूसरे अर्थ से कहा है, जैसे एक रुबाई यही है मेरी, इस वास्ते मैं इसको लेता हूँ, क्योंकि उर्दू में तो बहुत-सा इस प्रतीक से लिखा गया, लेकिन जहाँ तक मुझे मालूम है, किसी आदमी ने इस प्रतीक को इस अर्थ में इस्तेमाल नहीं किया। रुबाई मैं कहता हूँ :

मुसलमान औ हिन्दू हैं दो,
एक मगर उनका प्याला,
एक मगर उनका मदिरालय,
एक मगर उनकी हाला।
दोनों रहते एक
न जब तक मन्दिर-मसजिद में जाते,
बैर बढ़ाते मन्दिर मसजिद,
मेल कराती मधुशाला।

इसकी एक सीमा भी है। अगर आप इसको एक राष्ट्रीय अर्थ में लेना चाहें तो राष्ट्रीय अर्थ में यह कह सकते हैं कि मुसलमान और हिन्दू दो हैं 'एक मगर उनका प्याला', उनका देश एक है; 'एक मगर उनका मदिरालय, एक मगर उनकी हाला', उनकी भावनाएँ और उनकी समस्याएँ एक हैं। 'दोनों रहते एक न जब तक मन्दिर-मस्जिद में जाते।' अगर आप इसका दूसरा अर्थ लेना चाहें, सूफ़ियों के अनुसार तो वह भी ठीक है क्योंकि भगवान तो एक ही है सबका। चाहे हिन्दू की किताब दूसरी हो, मुसलमान की किताब दूसरी हो मगर भगवान तो दो नहीं हैं कि हिन्दू के भगवान अलग हैं और मुसलमान के भगवान अलग। और कोई तीसरा अर्थ आप लगाना चाहें तो मुझे बताइये।

विश्वनाथ : नहीं, मेरा मतलब सिर्फ़ यह था कि कवि जब अपनी बात कहता है तब अपने ढंग से कहता है, चाहता है कि अभिव्यक्ति जो है, सम्प्रेषणीयता उसकी हो, जैसे आपने कहा कि पहली शर्त है—कविता की सम्प्रेषणीयता। तो उसको उसी अर्थ में समझा जाय। आपकी कविताओं में, खास तौर से 'मधुशाला' की कविताओं में आम तौर पर जो अर्थ पाठक या श्रोता लेते हैं, उस गहराई से या उस ऊँचाई से नहीं सोचते, जिस ऊँचाई या गहराई से आपने सोचा उनको। इसे आप कविता की सफलता मानते हैं या विफलता ?

डा. बच्चन : इस कविता के भीतर अगर कोई तत्व है तो अगर कभी मिसअण्डर-स्टैंडिंग भी हो जायेगी तो वह कभी स्पष्ट होगी। पहली बात यह है कि वह कविता आपको अपील करनी चाहिए, आपके मन में वह बैठनी चाहिए। अर्थ तो कविता बराबर देती रहेगी, अपना अर्थ बदलती भी रहेगी। मगर पहली बात यह है कि वह कविता आपके मन में बैठनी चाहिए।

प्रमोद शंकर भट्ट : आपका क्या यह मतलब है कि ज्यों-ज्यों आदमी का अनुभव संचार बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे किसी एक कविता का अर्थ भी उसके साथ बदलता जायेगा ?

डा. बच्चन : बात यह है कि अनुभवों की एक सीमा होती है जोकि उम्र के साथ और अनुभवों की व्यापकता के साथ बढ़ती जाती है। बहुत-सी कविताएँ अगर आप सोचें तो आपने अपने लड़कपन में अपनी पाठ्य पुस्तक में पढ़ी थीं और

उसके बाद जब आप यौवन के अनुभवों से भीग चुके हैं और फिर वही कविता पढ़ी है तो उसका अर्थ आपके लिए कुछ दूसरा हो गया। मुझे तो कम-से-कम ऐसा लगता है। मैंने बहुत-सी कविताएँ जो अपने लड़कपन में अपने विद्यार्थी जीवन में पढ़ी थीं और सिर्फ इस वास्ते कि उनका अर्थ मेरे लिए स्पष्ट हो -- उनकी भावना में डूबने का उस समय कोई प्रश्न ही नहीं था, सवाल यह था कि इम्तहान में इस पर पूछा जायेगा, इसके माने क्या लिखेंगे, इसका जवाब देना है, लेकिन अनुभवों में भीगने पर, दुनिया देखने पर, वही कविताएँ अब दूसरे अर्थ मेरे लिए रखती हैं। पाठ्यपुस्तकों से या क्लास में बैठकर आप कविता का परिपूर्ण अर्थ विद्यार्थियों को नहीं बता सकते। मैं तो जब टीचर भी था तो कहता था कि अभी तो तुम्हें कविता के शब्दार्थ केवल मालूम हैं, लेकिन इसके भीतरवाले अर्थ जो हैं, अनुभवों में भीगने पर इनका पता लगेगा। हम साहित्य पढ़ना सिखाते हैं। साहित्य पढ़ने का समय तब आयेगा जब तुम यूनीवर्सिटी छोड़कर चले जाओगे, जब जीवन में भीगोगे और इसीलिए कविता की आवश्यकता जीवन में है। कविता जीवन की चीज है।

प्रमोद शंकर भट्ट : क्या जीवन के साथ लेखन शैली भी बदलती है?

डा. बच्चन : जब जीवन में परिवर्तन होता है तो शैली में भी परिवर्तन होता है। अगर आपकी वाणी आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिध्वनि है तो जैसे व्यक्तित्व बदल जाता है, ध्वनि बदल जाती है। मैं तो एक प्रोग्रेसिव कवि को देखना चाहता हूँ। पचास वर्ष तक आप एक ही शैली में लिखते चले जा रहे हैं। इसके मानी यह हैं कि एक शैली एक स्टाइल को आपने विकसित कर लिया, उसी में लिखते चले जा रहे हैं। अगर कभी ऐसी स्थिति आ जाय तो मैं कहूँगा कि मैं लिखना बन्द कर दूँ क्योंकि अब मेरी ग्रोथ नहीं हो रही है। ऐसा भी होता है कि एक समय ऐसा आता है जब आप अनुभव करते हैं कि आपकी ग्रोथ नहीं हो रही है। जब हमारी ग्रोथ नहीं हो रही है तो हमारी भाषा कैसे बदलेगी, हमारी शैली कैसे बदलेगी? 'निशा निमन्त्रण' का यह समय जो है करीब छः वर्ष तक चला, 'निशा निमन्त्रण' उसी में लिखा गया, 'एकान्त संगीत' उसी में लिखा गया, 'आकुल अन्तर' लिखा गया। आप अगर 'सतरंगिनी' पर आइये तो दूसरी तरह की भाषा मिलेगी। 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधुकलश' का जितना इडियम है, वह सब छूट गया है। 'निशा निमन्त्रण' अलग चीज है। अब अगर आप 'मधुशाला' किसी को सुनाइये और 'निशा निमन्त्रण' किसी को सुनाइये तो कहेगा एक ही कवि की लिखी हुई चीज़ नहीं है। अगर कभी ऐसा विप्लव आ जाय और सभी रिकार्ड नष्ट हो जायँ और 'मधुशाला' की एक प्रति बच जाय---नाम-वाम साथ कुछ न रहे-- और 'निशा निमन्त्रण' की एक प्रति बच जाय तो शायद लोग कहेंगे, यह दूसरे कवि की रचना है। यह दूसरे कवि की रचना है, क्योंकि मेरे जीवन में इतनी बड़ी उथलपुथल, इतना परिवर्तन हो गया था कि मैं मधु-काल के शब्द पकड़ ही नहीं सकता था। और जब यह पीरियड ख़त्म हो गया जो एक दूसरे तरह के गीतों का ईडियम चला है, जो 'सतरंगिनी' में है, तो 'प्रणय पत्रिका' तक चलता है। इसके बाद 'बुद्ध और नाचघर' आता है। जब मैं इंगलैण्ड गया तो एक दूसरी तरह का परिवर्तन आया, एक दूसरे परिवेश में मैं गया, एक दूसरे देश को देखा, वहाँ के जीवन को देखा और हालाँकि दो ही वर्ष वहाँ रहा, मगर मुझे मालूम हुआ कि मेरे जीवन में भी किसी तरह का परिवर्तन आ

गया है। वहाँ से लौटने के बाद जो मेरा मोहभंग और सबकुछ हुआ, उसका सारा ज़िक्र 'बसेरे से दूर' में है और यह मोहभंग मेरा वहीं से शुरू हो गया था। उस मोहभंग की अवस्था में मेरे मुँह से गीत नहीं निकल सकता था और उस समय मुक्त छन्द जिसको कहते हैं या जिसको प्रोज़ या गद्य की लय कहते हैं, उसमें मैंने लिखना शुरू किया और बराबर लिखता रहा। 1972 तक मैं बराबर उसी लय में लिखता रहा। बीच में थोड़ा-सा पीरियड है जिसमें मैंने लोकगीतों का एक एक्सपेरिमेण्ट किया क्योंकि मुझे यह लगा था कि इन लोकगीतों की सम्भावना बहुत है। गीत आज लुप्त हो गये हैं तो मुमकिन है कि गीतों का रिवाइवल कभी हो और ये लोकगीत आगे चलकर आगे के गीत लिखनेवालों के लिए एक पैटर्न देंगे। बहरहाल, इस तरह से मेरी प्रगति हुई। और जब मुझे मालूम हुआ कि अब मैं अपने जीवन में रूढ़ हो गया हूँ, मैं अपने विचार में, अपनी भावनाओं में अब रूढ़ हो गया हूँ, यानी स्थिर हो गया, तो मैंने लिखना बन्द कर दिया क्योंकि मेरे विचारों में कोई परिवर्तन नहीं आ रहा था, न मेरी भावनाओं में कोई परिवर्तन आ रहा था। लोग मुझसे अक्सर पूछते हैं, आपने लिखना क्यों बन्द कर दिया। मैं अपने-आपको रिपीट क्यों करूँ? जितना मुझे लिखना था, जब तक मेरा जीवन मुझे प्रेरित करता रहा, बाध्य करता रहा कि यह लिखो, तब तक मैं लिखता रहा। अब मुझमें अर्ज नहीं हो रही। अब मैं चीजों को एक दूसरी दृष्टि से देखता हूँ और उसमें मुझे इतना उद्वेलन या भाववेग नहीं होता कि मैं समझूँ कि इसको मैं अभिव्यक्त भी करूँ। इस वास्ते मैंने लिखना बन्द कर दिया। अगर मैं लिखता भी तो शायद आप कहते कि क्या बच्चनजी, वही बातें जो पहले कह चुके हैं, उसी तरह कहते चले जा रहे हैं। इतना पचास वर्षों तक लिखने के अभ्यास से अभिव्यक्ति पर कुछ-न-कुछ अधिकार तो हो ही जाता है, लेकिन उस अधिकार से कोई ऐसी बात कह सकना जो नया भावोद्वेलन कर सके, नयी तरह से लोगों को उकसा सके, छेड़ सके, ऐसा मैं नहीं कर सकता था। मैंने अपनी किताब बन्द कर दी, मैंने जाल समेट लिया। शायद मैं हिन्दी कवियों में अकेला आदमी हूँ जिसने अपने समय में ही, जिस समय उसकी कविता बहुत ख़राब नहीं थी, उस समय कहा कि, भैया, अब मैं नहीं लिखता।

विश्वनाथ : आपने एक बात और कही थी। शायद तीन-चार साल पहले जब आपने यह निर्णय लिया था, अपनी किसी वर्षगाँठ पर आपने मुझसे कहा था कि अब मैं कविता नहीं लिखूँगा, गद्य लिखूँगा। तो गद्य के साथ यह बात नहीं होती क्या? वहाँ आप रिपीट नहीं करेंगे?

डा. बच्चन : गद्य के साथ विचार चलता है और विचारों की श्रेणी जो है, वह थोड़ी अलग है। और गद्य भी मैंने क्या लिखा सिवा अपनी आटोबायोग्राफी के। गद्य तो विचार की चीज़ है न। कविता को मैं अब भी मुख्यतया भावोद्वेलन की चीज ही समझता हूँ। इसको जितना ही भाव के निकट ले जाओगे, उतनी ही कविता! आज जो कविता का ह्रास हुआ है उसमें एक कारण यह भी है। अभी मैंने कहा, आपने छन्द-लय छोड़ दी। और एक कारण यह भी है कि जो भावना का पक्ष था, उसको आपने बिलकुल भुला दिया। विचारों पर आप इतने आ गये हैं। और विचार जो हैं, उनको शेयर करना जर्नलिस्ट्स का काम है। यह अख़बारों का काम है। अख़बारियत हो गयी है आज की कविता। क्यों हो गयी है? क्योंकि विचारों के ऊपर इतनी अवलम्बित है, हर

आदमी उन विचारों को शेयर करता है। जो आप जानते हैं, वही आपसे कह रहा है। भाव-जगत में ऐसा नहीं है, भाव-जगत में ऐसा है कि उसकी इण्टेंसिटी के साथ आप कुछ ऐसी बात कह सकते हैं कि दूसरों को भी कुछ प्रेरणा मिले, कुछ उद्‌बोधन हो।

विश्वनाथ : एक बात और है। आपने कहा कि 'जाल समेटा' के साथ आपने कविता लिखना बन्द किया। क्या सचमुच कवि के अधिकार क्षेत्र में होता है कि वह कविता लिखना बन्द कर सके ?

डा. बच्चन : शैली के पीछे घिसटना आसान है। अपने आपको छोड़ दीजिये, आपकी शैली आपको घसीटेगी और बहुत-से लोग घिसटते रहे हैं, बहुत दिनों तक घिसटते रहे हैं। मैंने घिसटना नामंजूर कर दिया, कविता मुझ पर हावी नहीं थी, मैं कविता के ऊपर हावी था। जिस दिन चाहा, उस दिन छोड़ दिया। आपको मालूम है, शेक्सपियर ने अपने जीवन के प्रायः दस वर्षों में कुछ भी नहीं लिखा। जिस आदमी ने 'टेम्पेस्ट' लिखा था, उसके पास जाकर आप कह सकते थे कि इतनी बड़ी रचना आपने की है—लगभग 1606 में उसने 'टेम्पेस्ट' लिखा था। 'टेम्पेस्ट' जैसी कृति की जिस व्यक्ति ने रचना की थी, उसने अपनी कलम रख दी। क्यों ? समझ लिया उसने कि अब मैं अपने-आपको रिपीट करूँगा, या जो मुझे कहना था, वह मैं कह चुका। दस वर्ष तक वह दुनिया को देखता रहा, पाइप पीता रहा। आप कहेंगे शेक्सपियर ने··· और शेक्सपियर की मृत्यु 52 वर्ष की अवस्था में हो गयी, शेक्सपियर ने लगभग 42 वर्ष की अवस्था में लिखना बन्द कर दिया था। मैंने तो 65 वर्ष की अवस्था में लिखना बन्द किया। आप मुझे 'एक्यूज' नहीं कर सकते।

विश्वनाथ : आरोप नहीं है, बच्चनजी।

डा. बच्चन : मैं उदाहरण आपको देता हूँ, शेक्सपियर का इतना बड़ा उदाहरण जो कि इतना बड़ा शब्दों का मास्टर था, जोकि ग्रेटेस्ट पोइट था। उसने भी अपने जीवन के प्रायः दस वर्षों में कुछ नहीं लिखा। पाइप पीता था, दुनिया देखता था।

विश्वनाथ : मतलब यह है कि उसकी अनुभूति की क्षमता चुक गयी होगी।

डा. बच्चन : आप ऐसा ही समझिए। मैं समझता हूँ कि उसकी अनुभूतियों का एक दूसरा स्तर खुल गया। दुनिया में बहुत-सी चीजें हैं जोकि शब्दों से देखी जाती हैं और बहुत-सी चीज़ें हैं जो मौन से देखी जा सकती हैं। मौन की शक्ति को आप कम मत समझिए। मुमकिन है कि मौन की शक्ति ट्रांसफर न करती हो, लेकिन मौन की अपनी शक्ति है।

प्रमोद शंकर भट्ट : कविता में जितनी ईमानदारी होती है, क्या आत्मकथा में भी उसी तरह की ईमानदारी हो सकती है ?

डा. बच्चन : कोशिश तो मैंने यही की है कि मैं ईमानदारी के साथ अपनी आत्म-कथा लिखूँ क्योंकि जीवन जो है, वह वैकुअम में तो चलता नहीं, उसका सम्बन्ध तो किसी न किसी से होता है और आत्मकथा लिखने में बहुत-से लोग आ जाते हैं, जिनसे कि आपका सम्पर्क रहा है। ऐसे लोगों के बारे में लिखने में जो संकोच होता है वह मैंने पहली वोल्यूम लिखते समय नहीं अनुभव किया। कुछ···दूसरी वोल्यूम में कुछ किया। तीसरी में अधिक अनुभव किया। पहली में मैंने बहुत मुक्त भाव से लिखा—एक बात तो यह है कि उसमें जितने लोग आये थे, उनमें प्रायः बहुतों की मौत हो गयी थी और जो लोग जिन्दा थे, बाद को मुझे मालूम हुआ, कि मेरी बहुत-सी लिखी बातों को उन्होंने

पसन्द नहीं किया। हर आदमी की अपनी एक तस्वीर होती है। दूसरा आदमी आपको जिस तरह से रखता है, वह आपको पसन्द नहीं आता, लेकिन अगर आप अपने प्रति ईमानदार होना चाहें तो जिनसे आपके इतने सम्बन्ध रहे हैं, जिन्होंने आपके जीवन को प्रभावित किया है, अगर उनका उसी तरह वर्णन न किया जाय जिस तरह कि आपने समझा या देखा है तो वह ग़लत हो जायेगा। मैं अपने बारे में भी नहीं कह सकता, अगर मैं उन लोगों के बारे में न कहूँ जो मेरे जीवन में रहे हैं, जो मेरे जीवन में आये हैं। तो यह एक हमारे लिए डिफ़ीकल्टी जरूर थी आत्मकथा लिखते समय। जब मैं तीसरे भाग में आया, तो आपने देखा होगा कि उसमें बहुत-से नाम नहीं दिये हुए हैं। कई लोग उसमें इस तरह के हैं जो मेरे जीवन में आये, जिनका बहुत महत्त्व था, मगर उनकी तस्वीर को, वे ज़िन्दा थे, उनकी तस्वीर को मैं बिगाड़ना नहीं चाहता था, मैंने नाम उनका नहीं दिया।

विश्वनाथ : आत्मकथा लिखने का प्रयोजन क्या होता है ?

डा. बच्चन : आत्मकथा लिखने का प्रयोजन यही होता है कि अपने जिन अनुभवों से आप गुज़र चुके हैं उनको आप फिर से रिलिव करना चाहते हैं। जैसे-जैसे जीवन बीतता जाता है, आप जीवन की नयी भूमियाँ तो तोड़ नहीं सकते। यह तो आप जब मेरी उम्र के हो जायेंगे तो आप भी अपनी आत्मकथा लिखेंगे; लिखेंगे नहीं, सब लोग तो नहीं लिखते; आप अपने पोतों से, बेटों से, बेटियों से कहेंगे। बूढ़े लोग कितनी कहानियाँ कहते हैं, अरे, हम जब वहाँ थे, ऐसा तब हुआ था, ग़दर के वक्त। हमने तो आत्मकथा सुनी है। बूढ़ी नानी, दादी जो कहती थीं, वह सब आत्मकथा थी। अगर कोई लिख लेता तो सब आत्मकथा होती। मैंने जो ज़िक्र किया है राधा का—राधा अगर अपनी आत्मकथा लिखतीं तो दुनिया में कोई आत्मकथा शायद ही उससे अधिक रोचक होती। वह इतनी बड़ी आत्मकथा कहनेवाली थीं। वह अपने शब्दों से लोगों को बाँधती थीं। मुझको अभी तक याद है। मैंने लिखा है, अपनी आत्मकथा में भी लिखा है। उनके वर्णन करने में इतनी शक्ति थी कि उन्हें बच्चे तो सुनते ही थे, बड़े-बूढ़े भी उनकी बात सुनते थे, इतनी शब्द-शक्ति थी उनमें। तो आत्मकथा हर आदमी लिखता है, लिखता नहीं तो सोचता है। जब आप बूढ़े हो जायेंगे, रिटायर हो जायेंगे, काम करने को कुछ नहीं होगा, पीठ में दर्द होगा, कुर्सी पर बैठे रहेंगे, हुक्का पीते रहेंगे, सोचते रहेंगे।

विश्वनाथ : नहीं, मैं समझता हूँ कि आत्मकथा लिखने का निर्णय जब आदमी करता है तो शायद अपना परिवेश, अपना समय, अपने अनुभव शेयर करना चाहता है, दूसरों के साथ, बताना चाहता है कि यह समय मैं जिया हूँ, यह जिन्दगी मैंने जी है, यह लोग मेरी ज़िन्दगी में आये, इस-इस व्यक्ति ने इस तरह मेरे जीवन को प्रभावित किया क्योंकि कुछ होता है, तभी वह लिखता है। आपने भी ऐसा सोचा होगा शायद ?

डा. बच्चन : मैंने जैसी स्वाभाविक रीति से कविता लिखी, वैसी ही स्वाभाविक रीति से जीवनी भी लिखी। मुझे लगा, बहुत-सी चीज़ें मुझे फिर से याद आने लगीं। जैसे-जैसे मैं बुड्ढा होने लगा पुरानी बातें जिन्हें अपने जीवन के संघर्ष या जीवन के विकास में मैं पहले भूला हुआ था, याद आने लगी। अब नयी राहें नहीं निकल रहीं। मैं यूनीवर्सिटी में था, वहाँ से आया मिनिस्ट्री आफ़ एक्सटर्नल अफ़ेयर्स में। हिन्दी अनुवादक दस वर्ष तक रहा, रोज़ काम करता

रहा, राज्यसभा में चला गया, रिटायर हो गया, लड़के बड़े हो गये, पढ़ने के लिए बाहर चले गये, सैटिल हो गये, नौकरी कर ली, अब बच्चनजी क्या करें सिवा इसके कि अपने पुराने ज़माने की बातें सोचें। कोई नयी राह तो अपनी खुल रही नहीं, कोई नया इश्क-विश्क तो कर नहीं रहे हैं, कोई नया करते तो जीवन की कोई नयी राह खुलती। भाई, वह सब तो करना नहीं था, वह नहीं कर सकते थे। फिर अब जीवन की राह नयी कहाँ बने। तो पुरानी बातें याद आने लगीं। जब पुरानी बातें याद आने लगीं तो सोचा उनको लिख दें। वैसे मैं समझता हूँ कि मेरा जीवन बहुत साधारण आदमी का जीवन है, मगर यह है कि मेरा जीवन है।

विश्वनाथ : नहीं, साधारण आदमी का जीवन जीनेवाला आत्मकथा लिखने की बात नहीं सोचता, बच्चनजी।

डा. बच्चन : वही मैंने कहा, आत्मकथा लिखने, मन में सोचने और दूसरों से कहने—इस सबको मैं एक ही श्रेणी में डालता हूँ। फर्क सिर्फ यह है कि जो लेखक है, जिसका शब्दों पर अधिकार है, वह कागज पर लिख देता है, नहीं तो वह दूसरों से कहता फिरता है। मेरे बहुत से दोस्त हैं जो अपने खतों में कितनी ही बातें लिखते हैं कि अगर मैं उन सबको इकट्ठा कर दूँ तो आत्म-कथा हो जाय। आत्मकथा लिखना भी जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अपने पास्ट के बारे में सोचना और उसको रिलिव करना। जब आपको आगे को लिव करने को नहीं होता तो आप रिलिव करते हैं, रिपीट करते हैं अपने आपको। यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जो जीवन में स्वाभाविक है वही साहित्य में भी आता है। साहित्य जीवन से अलग चीज नहीं है। मेरे लिए कोई अलग चीज नहीं है।

विश्वनाथ : आपने अपने जीवन के मध्य काल में या यों कहें कि अपने रचनाकाल के मध्य काल में एक दूसरे कवि को समझने की कोशिश की थी। मेरा अभि-प्राय: यीट्स से है। क्या आपको लगा कि इसका कोई असर आपके जीवन पर, आपकी कविता पर पड़ा ?

डा. बच्चन : बात यह है कि मेरा जीवन जो है, वह बँटा हुआ है। मैं शत-प्रतिशत कवि नहीं हूँ, मैं 50 प्रतिशत कवि हूँ, 50 प्रतिशत अंग्रेजी का अध्यापक था। और जिस काम से अपनी रोटी चले— रोटी चलना कोई मामूली काम नहीं है—उसके प्रति आस्थावान और ईमानदार होना चाहिए। अगर मैं अंग्रेजी का अध्यापक था तो मेरे लिए ज़रूरी था कि मैं अंग्रेजी का एक अच्छा अध्यापक बनूं, एक प्रामाणिक, एक आधिकारिक। मुझे अंग्रेजी पढ़ाने का अधि-कार हो, इसलिए मैंने केम्ब्रिज जाकर एक डिग्री ली क्योंकि अंग्रेजी साहित्य में मेरी रुचि थी—अंग्रेजी को मैं ठीक जानूं और ठीक पढ़ाऊँ अपने विद्यार्थियों को। तो बताया न कि मेरे व्यक्तित्व का एक अंग यह भी है ? इससे मैं अपनी कविता के लिए क्या प्रेरणा लेता हूँ ? जीवन के हर अनुभव से···कवि प्रेरणा ले सकता है।

विश्वनाथ : वहाँ से आपको कोई नया मोड़ भी मिला ?

डा. बच्चन : ऐसा कोई मोड़ मेरे जीवन में नहीं आया। अगर कोई प्रभाव आया भी होगा तो जब मैं यीट्स को शुरू-शुरू में पढ़ता हूँगा तभी कुछ आया होगा। और एक बात और कहूँ, प्रभाव का मर्ज़ हिन्दी में बहुत है। आपके ऊपर किसका प्रभाव पड़ा—बहुत से लोग थीसिस लिखते हैं, मेरे ही ऊपर थीसिस

लिखते हैं और मुझसे ही पूछ रहे हैं। मैंने कहा कि यह तो आप बतायें। आप कहते हैं, उमर ख़ैयाम का प्रभाव पड़ा तो उमर ख़ैयाम को भी पढ़िये और बच्चन को भी पढ़िये। आप कहते हैं, यीट्स का प्रभाव पड़ा तो यीट्स को पढ़िये और बच्चन को भी पढ़िये और साबित करिये कि प्रभाव कहाँ पड़ा है।

प्रमोदशंकर भट्ट : मेरा मतलब प्रभाव से नहीं, मेरा तात्पर्य यह है कि जो जीवन आपने विलायत में जिया, समझा, देखा, जाना, पहचाना, उसका कोई असर आपकी कविता पर पड़ा क्या ?

डा. बच्चन : किसी न किसी रूप में उसका असर मेरी कविता पर पड़ा होगा, लेकिन मैं इसको एनालाइज़ नहीं करता। इसके बाद मैंने जो कुछ भी लिखा, उसके ऊपर निश्चय इसका असर पड़ा होगा क्योंकि मेरा एक व्यक्तित्व है, उसमें सब चीज़ें समायी रहती हैं, मैं कितना ही अपने-आपको बाइफ़रकेट करूँ। और करना पड़ता है – जब मैं दफ्तर में जाता था, तब मैं क्लर्क था, वहाँ अनुवाद करता था, पार्लियामेण्ट क्वेश्चन का, फलाने का, ढिमाके का, वहाँ मेरा कवि थोड़े ही था।

प्रमोदशंकर भट्ट : एक अन्य प्रकार से इसने आपके जीवन को समृद्ध किया ?

डा. बच्चन : ज़रूर किया होगा। कहीं-न-कहीं उसका प्रभाव ज़रूर पड़ा होगा और उसने मेरे शब्दों और मेरी अभिव्यक्ति को प्रभावित निश्चय किया होगा। मगर यह सब दूसरों का काम है। मैं उसको भी एनालाइज़ करूँ, ऐसा मुझसे नहीं होता।

विश्वनाथ : कभी-कभी ऐसा होता है कि आपको खुद अनुभव होने लगता है कि फलाँ घटना से मैं इस तरह प्रभावित हुआ हूँ।

डा. बच्चन : कम-से-कम यीट्स के साहित्य से मुझे ऐसा नहीं हुआ। कभी-कभी मैंने साम्य अवश्य देखा है। मुझे ऐसा लगा कि यीट्स ने इस विषय में जैसा मैं सोचता था या मैं सोच चुका था, ऐसा यीट्स ने भी सोचा है। और यीट्स को··· क्योंकि वह मेरे कोर्स में था मैंने पढ़ना नहीं शुरू किया, यीट्स में मुझे अनुराग था। उसकी कविता में कुछ-न-कुछ साम्य तो होगा ही। कोई किसी का फ़ेवरिट क्यों हो जाता है ? तुलसीदास किसी का फ़ेवरिट है, किसी का सूरदास है, किसी की मीरा है, कोई पन्तजी को फ़ेवरिट बना लेता है या निरालाजी को बना लेता है। तो कोई न कोई साम्य तो देखता होगा। तो यीट्स की और मेरी मनोवृत्ति में कहीं न कहीं कोई साम्य होगा जिसकी वजह से यीट्स मेरा फ़ेवरिट पोइट हो गया और जब हो गया तो मैंने उसका अध्ययन किया, अच्छी तरह अध्ययन किया। मेरे सामने कुछ समस्याएँ खड़ी हुईं; और उन समस्याओं को जब मैंने हल करना चाहा तो मेरे मन में यही आया कि हिन्दुस्तान में रहकर इनका हल नहीं निकल सकता, विलायत जाना चाहिए, जहाँ यीट्स के पण्डित हैं, उनका सारा साहित्य मौजूद है, वहाँ पर शोध करना चाहिए। और मैंने एक विषय को लेकर, जो मेरी समस्या थी, उसके ऊपर थीसिस लिखी। समस्या यह थी कि यीट्स का औकल्टिज़्म में बहुत इण्टरेस्ट था, तन्त्रवाद जिसको कहना चाहिए। और तन्त्र का एक पूरा साहित्य है योरोप में। उसको हम पश्चिमी तन्त्रवाद कह सकते हैं। और पूरब में भी है। तो पूरबी और पश्चिमी तन्त्रवाद दोनों का अध्ययन यीट्स ने किया था और उसका प्रभाव उनकी कविता के ऊपर पड़ा था और ऐसी कविताएँ जो थीं वे बहुत लोगों की समझ में नहीं आती थीं। मुझे ऐसा लगा कि इनमें कहीं पर ऐसे तत्व हैं जिनका अध्ययन करने से

इनका अर्थ खुलेगा, और इसके लिए मैं इंग्लैण्ड गया और मैंने वहाँ पश्चिमी ओकल्ट लिटरेचर का अध्ययन किया और दिखलाया कि कहाँ से यीट्स ने अपनी कविता के लिए क्या लिया। पूर्वी का कुछ ज्ञान मुझे था।

विश्वनाथ : आपने विलायत जाकर शोध की। क्या आपको लगता है कि वहाँ की शोध पद्धति और हमारे देश की शोध पद्धति में कोई अन्तर है ?

डा. बच्चन : बात यह है कि यहाँ प्रायः ऐसा समझा जाता है कि जैसे इण्टर के बाद बी. ए. किया और बी. ए. के बाद एम. ए. किया और एम. ए. के बाद पी-एच. डी. जैसे एक क्लास हो। वहाँ पर तरीक़ा यह है कि आप यूनीवर्सिटी से डिग्री ले लीजिए, फिर दस-बारह वर्ष तक आप अध्ययन कीजिये और किसी सब्जेक्ट में अगर आपकी रुचि है और उस पर कुछ आपने नया सोचा-समझा है तो यूनीवर्सिटी में आकर उसके ऊपर आप थीसिस लिख दीजिये। यहाँ तो जो निदेशक होता है, वही सब्जेक्ट बता देता है। अगर मैं जाता इंग्लैण्ड की यूनीवर्सिटी में और कहता कि मैं रिसर्च करने आया हूँ, मुझको सब्जेक्ट बताइये तो वह कहते, आप जाइये हिन्दुस्तान, आप क्या लाये हैं ? जब मैं वहाँ गया, वहाँ पर एप्लाई किया, तो मुझसे उन्होंने पूछा कि आपने क्या सोचा-समझा है ? एडमीशन के पहले मुझको दो हज़ार शब्दों का एक लेख देना पड़ा कि यह मेरी समस्या है, मैंने यीट्स को दस वर्ष पढ़ा है और मैं एम. ए. करने के दस वर्ष बाद वहाँ गया था, '38 में मैंने एम. ए. किया और '52 में गया; 14 वर्ष बाद मैं वहाँ गया। 14 वर्ष जो मैंने पढ़ा था, जो मेरी समस्या थी, वह लेकर मैं गया था। यीट्स में जो रहस्य है यह, जो समझ में नहीं आता था, इसके रूट्स क्या हैं, और उन्होंने वहाँ पर हमको गाइड किया कि यह इसका लिटरेचर है, ओकल्ट लिटरेचर, अगर इसका आप अध्ययन करें तो यह रहस्य खुलेगा। यही मेरी थीसिस है।

प्रमोदशंकर भट्ट : फिर आपकी कविता की ओर लौटें। कवि-जीवन और पारिवारिक जीवन में क्या रिश्ता है ? आपका परिवार कब-कब प्रेरणा का स्रोत बना और क्या परिवार कभी बाधक भी लगा ?

डा. बच्चन : मुझे अपने परिवार के प्रति बहुत ऋणी होना चाहिए। तुलसीदास मुझे फिर से याद आ जाते हैं – 'जेहि सृष्टि उपायी, त्रिविध बनायो, संग सहाय न दूजा'। सृजन का काम ऐसा है कि इसमें कोई आपका संग-सहाय नहीं होता। तो सृजन का ऐसा काम है कि इसमें कोई सहायक नहीं होता। हाँ, सृजन की जो बाहरी चीज़ें हैं, उसमें कोई बाधा डाल सकता है। मैं अपने परिवार के प्रति कृतज्ञ हूँ, कि उसने मेरे लेखन में कोई बाधा नहीं डाली मेरा सौभाग्य ही कहना चाहिए। मेरी दो शादियाँ हुईं। जो पहली पत्नी मुझे मिली, वह भी ऐसी ही थी कि जिसने कभी भी मुझ पर ऐसी डिमाण्ड नहीं रखी कि मेरे कवि-जीवन में किसी प्रकार की बाधा आयी। और मुझे जो दूसरी पत्नी मिली, उसने भी यह समझा कि यह आदमी कवि है, उसको हम जो कुछ भी सहयोग दे सकें, दें। इससे वह मुझे रोक तो नहीं सकती थी क्योंकि मेरा ऐसा ख्याल है कि मेरे अन्दर जो कविता लिखने की अर्ज थी, जो प्रेरणा थी, उसको शायद संसार में कोई भी बाधा रोक नहीं सकती थी। परिवार चाहता तो भी नहीं रोक सकता था। अगर कोई मुझे बाधा देता भी तो शायद जब मुझे मौका मिलता तब मैं लिखता। कुछ बाहरी परिस्थितियों की जरूरत तो होती ही है, कहीं एकान्त चाहिए, कुछ थोड़ी-सी मानसिक शान्ति चाहिए।

आप कविता लिखने बैठें, बीबी आकर कहे, घर में नमक नहीं है। तो कवि के लिए थोड़ी बाधा तो उपस्थित हो सकती है। यह मैंने छोटा-सा उदाहरण दिया, लेकिन, जैसा मैंने कहा, मैं बहुत सौभाग्यशाली रहा, मेरे परिवार ने मेरी ग़रीबी की स्थिति में भी और जब मैं थोड़ी-बहुत सम्पन्नता में था, तब भी कोई ऐसी बाधा नहीं दी कि मेरे काव्य-सृजन में किसी प्रकार की रुकावट हो, या मैं यह समझूँ कि यह बाधा डाल रहा है।

विश्वनाथ : अच्छा, अपने समय में आप बहुत सफल मंचीय कवि रहे, आज भी कविता का मंच है, कवि-सम्मेलन होते हैं, आज के कवि सम्मेलनों के बारे में आप क्या सोचते हैं ?

डा. बच्चन : हम जिस समय की बात कर रहे हैं, आज से चालीस-पचास वर्ष पहले की, उस समय साहित्य का और कवि सम्मेलन का स्तर एक ही था; यानी जो कविताएँ अभी पत्रिकाओं में छप रही हैं वही कविताएँ हम कवि सम्मेलन में सुना रहे हैं। कवि सम्मेलन एक प्रकार की साहित्यिक संस्था थे। माध्यम केवल यह था कि किताबों के जरिये आप कविता पढ़ते हैं और यहाँ कवि से आप कविता सुनते हैं। एक कुतूहल भी होता है। अगर कविता छपकर आयी तो आप कवि को तो देखते नहीं और जो लिखता है उसके प्रति एक आकर्षण भी होता है कि उसको देखें कि वह कैसे पढ़ता है। पढ़ने से बहुत-सी कविताएँ, हमारा खुद अनुभव यह है कि बहुत-सी कविताएँ जो पढ़ने पर स्पष्ट नहीं होतीं, सुनने पर स्पष्ट हो जाती हैं। सुनने में कोई लहजा, कोई ऐसी चीज़, कोई आवाज़, 'समथिंग' होती है जो आपको ज्यादा कनवे करती है, बनस्बित केवल पढ़ लेने के। उस ज़माने के जो पाठक थे उनके अन्दर यह जिज्ञासा थी—जो किताबों में पढ़ रहे हैं उसको कवि के मुख से सुनें। वही कविताएँ जो मैं पुस्तक में लिख रहा हूँ, वहीं मैं मंच से भी सुना रहा हूँ···अगर आज यह कविता सुना दी जाय तो श्रोता नहीं सुनेंगे। श्रोताओं का स्टैण्डर्ड बदल गया। कई बातें हैं। एक तो साहित्यिक स्तर जो है, वह ख़त्म हो गया है क्योंकि जब किसी चीज का उपयोग आप दूसरे कामों के लिए करने लगते हैं तो उसकी महत्ता ख़त्म हो जाती है। कवि सम्मेलनों का महत्त्व जो है वह केवल मनोरंजन हो गया है और मनोरंजन के गिरने की हद नहीं है, कवि जो है, वह विदूषक हो गया है। तो इस वास्ते मंचीय कवि अलग बन गये। और जब गम्भीर कवियों ने यह देखा कि वहाँ तो ऐसे कवि सुने जाते हैं जो कि विदूषकत्व दिखायें, जो कि हँसी-मज़ाक या हल्के दर्जे की दिल्लगी करें, वही सुने जाते हैं तो वे कवि सम्मेलनों से विमुख हो गये।···कई कारण हैं इसके। कवि सम्मेलन ही को दोष नहीं दे सकते, या साहित्य ही को दोष नहीं दे सकते, सारे देश का माहौल बदला है। मैं 6 वर्ष पार्लियामेण्ट में भी था और कभी-कभी वहाँ बैठे हुए मुझे ऐसा लगा कि राज्यसभा का जो स्तर है और जो आज कवि सम्मेलन का स्तर है, उनमें बहुत अन्तर नहीं है, डिग्री शायद एक ही है। मैं बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ। इस वास्ते केवल साहित्य को दोषी और कवि सम्मेलन की संस्था को दोषी मत ठहराइये। इसके लिए इस सारे देश का परिवेश उत्तरदायी है। कहीं से जीवन की गम्भीरता और जीवन का आदर्श और जीवन का मूल्य निकल गया है। और कम-से-कम मेरा ऐसा लघु मानव नहीं सोच सकता उसे बदलने की बात। यह तो किसी प्राफेट का काम है, कोई गांधी फिर से आये और नया मूल्य दे। कम-से-कम कवि के हाथ में मैं ऐसी चीज़ नहीं समझता।

कम-से-कम मेरा ऐसा छोटा कवि ऐसा महत्त्वाकांक्षी नहीं हो सकता कि मैं इस देश को नया मूल्य, नया आदर्श दे सकूँगा। मैं नहीं दे सकता, मैं पीड़ित हूँ, दुखी हूँ, निराश हूँ, लेकिन मैं इस परिस्थिति को बदल नहीं सकता।

विश्वनाथ : नहीं, जो सवाल है, वह यह है कि कवि सम्मेलन में जिस तरह की रचनाएँ पढ़ी जा रही हैं, आपने कहा कि वे मंचीय कवियों की हैं। आप इससे पहले कहीं लिख भी चुके हैं कि आज पाठक को अच्छी कविता की नहीं, कविता की तलाश है, कविता ही नहीं मिल रही है उसे। उस सन्दर्भ में मैं पूछना चाहता था कि आज जो स्वरूप हो गया है कवि सम्मेलनों का और कविता का, उसके माध्यम से कही जानेवाली कविता का, उसके बारे में आप क्या सोचते हैं ?

डा. बच्चन : बात यह है कि कवि अगर कविता सुनाये और श्रोता में ग्राह्य शक्ति न हो तो कविता क्या करेगी ? आज अच्छे से अच्छे कवि को आप किसी कवि सम्मेलन में बैठा दीजिये। आप समझते हैं, श्रोता उसको सुनेंगे ? यानी जो मान्य कवि हैं, पिछले चालीस वर्षों के—1943 में प्रयोगवादी कविता आयी उसके भी अच्छे कवि हैं; अज्ञेयजी ही अच्छे कवि हैं, मगर कितने कवि सम्मेलनों में सुना उनको आपने ?

विश्वनाथ : मगर आपके समय में प्रसादजी को लोग सुन लिया करते थे।

डा. बच्चन : हाँ, क्योंकि लोगों में एक ग्राह्यता थी और लोगों में, जैसा मैंने कहा, कवि की कविता के प्रति ही नहीं, बल्कि कवि के प्रति भी आकर्षण था कि यह कैसे सुनाते और पढ़ते हैं। तो पठित साहित्य और सुनाये हुए साहित्य में एक तरह का साम्य था। वह साम्य धीरे-धीरे खत्म हो गया और उसके लिए इस सारे मुल्क की आबोहवा रेस्पांसिबिल है, केवल कवि सम्मेलन रेस्पांसिबिल नहीं है।

प्रमोदशंकर भट्ट : अभी आपने बताया, गांधीवाद के बारे में बताया, वह युग लौटे तो कुछ परिवर्तन हो सकता है ?

डा. बच्चन : लौटेगा नहीं, बाबा; लौट तो सकता ही नहीं।

प्रमोदशंकर भट्ट : कोई व्यक्ति प्रेरणा के लिए आगे आये, आपको भी गांधी ने प्रेरित किया, आपने भी कुछ कविताएँ गांधीवाद पर लिखी हैं।

डा. बच्चन : गांधी का प्रभाव जो है, वह केवल गांधीवाद तक सीमित रखकर मत देखिये। जो कवि गांधीवाद के सीधे प्रभाव में नहीं आये, वे भी उस युग से न प्रभावित हुए हों, यह मैं मान नहीं सकता, क्योंकि वह एक समग्र जीवन का आन्दोलन था, उसने हर आदमी को प्रेरित किया, केवल उन्हीं को नहीं जिन्होंने चरखा, झण्डा, जेल, हथकड़ी के बारे में लिखा। मैं कहता हूँ, मधुशाला भी गांधी युग की प्रोडक्ट है। जो आदमी शराब की दूकान पर पिकेटिंग करता था, उसकी पाकेट में 'मधुशाला' भी होती थी। मधुशाला को मैं गांधीवादी कविता समझता हूँ, यह गांधीवादी कविता है, इस सेंस में कि गांधी ने एक नयी लहर, नयी चेतना, नयी भावना फैलायी थी। उस भावना से कोई अछूता नहीं रह सकता था और वह संग्राम जो ब्रिटिश गवर्नमेण्ट से छेड़ा गया था, वह सिर्फ वहीं नहीं था, आदमी-आदमी के दिल में भी एक संग्राम छिड़ गया था कि हमारे अन्दर—मैं बहुत व्यक्तिगत बात कह रहा हूँ—हमारे अन्दर जो कुरूप, ग़लत चीज़ है, उससे हम लड़ सकते हैं, अपने आपको बेटर बना सकते हैं, हम भी संग्राम कर सकते हैं, हम भी संग्राम को जीत सकते हैं। जो आदमी

दबा हुआ था परिवार में, वह भी उठ खड़ा हुआ, जब इतनी कमजोर शक्ति एक बड़ी शक्ति से लड़ सकती थी तब हम क्यों नहीं ! एक डायनेमो तैयार हुआ था, उससे सारा देश चार्ज हुआ। उस युग को सिर्फ चरखा, खादी तक आप नहीं सीमित कर सकते। इन पर भी बहुत कुछ लिखा गया, मगर मैं समझता हूँ कि वह गांधीवाद का बहुत आउटर स्तर है, उसकी गम्भीर प्रतिक्रिया, सूक्ष्म प्रतिक्रिया बहुत स्तरों पर हुई है और उसकी एनालेसिस सरल है भी नहीं।

विश्वनाथ : आपको किस स्तर पर प्रभावित किया गांधीजी ने क्योंकि आपने सिर्फ उनकी मृत्यु के बाद कुछ कविताएँ लिखी हैं उनके नाम को लेकर। गांधी ने उस युग के बहुत सारे साहित्यकारों, कवियों को प्रभावित किया अपने कार्यों से। आपको किस तरह उन्होंने प्रभावित किया या बिलकुल नहीं किया ?

डा. बच्चन : यह तो मैं कह ही नहीं सकता। मैं तो गांधी युग का ही प्रोडक्ट हूँ। गांधी ने एक सपना रखा था न। मैंने भी अपने जीवन के सामने एक सपना रखा और यह सपना रखने की बात के पीछे कहीं उस आबोहवा का जरूर असर है जो गांधी ने फैलायी थी। गांधी ने एक सपना रखा था स्वराज इन वन इयर। स्वराज का जो अर्थ उस समय था, वह गायब हो गया। वह एक सपना ही था और यह सपना बहुत लोगों ने देखा। मैंने भी अपने जीवन में सपना देखा, शायद उससे मैंने शक्ति भी ग्रहण की कि एक आदमी इस तरह लड़ सकता है तो मैं भी समाज से लड़ सकता हूँ।

विश्वनाथ : वह समय था जब अधिकांश कवि हमारे राष्ट्रीय धारा की कविता लिख रहे थे, तब आप 'मधुशाला' लिख रहे थे। इस विसंगति को आप कैसे समझायेंगे ?

डा. बच्चन : अधिक लोग कहाँ लिख रहे थे ? कुछ थोड़े से लोग लिख रहे थे। आप देखिये छायावाद का सारा लिटरेचर। महादेवी की कविता में कहाँ ज़िक्र है ! महादेवी तो उस समय ही लिख रही थीं।

विश्वनाथ : छायावाद से थोड़ा हम आगे जायँ, '35 के बाद की बात कर लें।

डा. बच्चन : कौन कवि लिख रहा था सिवाय इसके कि दिनकर लिख रहे थे या माखनलाल चतुर्वेदी लिख रहे थे या नवीनजी कभी-कभी लिखते थे। और कौन लिख रहा था।

विश्वनाथ : निरालाजी ने भी कुछ ऐसी कविता लिखी है, जिसे आप चाहें तो उन्हें प्रगतिवादी भी कह लें पर इस तरह के भाव उनमें थे, जैसे उनकी कई कविताएँ सिद्ध करती हैं···

डा. बच्चन : यह गांधीवाद का ही प्रभाव आप मानेंगे ?

विश्वनाथ : नहीं, नहीं, मैं गांधीवाद के प्रभाव की बात नहीं कर रहा। मैं यह कहना चाहता हूँ कि एक राष्ट्रीय परिवेश, जिस परिवेश में आप जी रहे थे उस समय 1935 या 1930 से लेकर 1940, '45, '47 तक, उस काल में आपने जो कुछ लिखा वह आपकी वैयक्तिक पीड़ाएँ, वैयक्तिक संवेदनाएँ, वैयक्तिक अनुभव पर आधारित था। इस सामाजिक परिवेश ने क्या आपको बिलकुल प्रभावित नहीं किया ?

डा. बच्चन : उस समय मैं अपने व्यक्ति के साथ इतना 'संग्रथित' था जिसको कहते हैं कि शायद मुझे बाहर देखने का मौका नहीं मिला हालाँकि उसका किसी-न-

किसी रूप में प्रभाव मुझ पर पड़ता था। लेकिन मैंने इन बाहरी चीजों के ऊपर कविताएँ नहीं लिखीं क्योंकि मेरा आन्तरिक संघर्ष अधिक प्रबल था। अगर मैं अपने को ही नहीं बना पाऊँगा तो मैं देश के लिए क्या करूँगा।

विश्वनाथ : ऐसा नहीं है कि आपने बिलकुल नहीं लिखा। बंगाल का काल जैसी कविता···

डा. बच्चन : 'बंगाल का काल' '43 में लिखा, वह बहुत बाद की बात है, क्योंकि यह आन्दोलन तो '20 से चल रहा था, गांधी का आन्दोलन '20 से चला, पर बहुत ऊपरी सरफ़ेस पर मैंने नहीं लिखा। क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि मेरा अपना ही संघर्ष इतना प्रबल है कि मैं बाहर ठीक नहीं देख सकता। अपने को पहले ठीक करूँ, फिर देखूं बाहर क्या होता है।

प्रमोदशंकर भट्ट : बाद के रचनाकाल में, जैसे 'बुद्ध और नाचघर' में, आपकी कविता सामाजिक हो गयी।

डा. बच्चन : बात यह है कि तब मेरी भावात्मक समस्याएँ हल हो गयीं। भावना का आवेग जितना यौवन में होता है उतना प्रौढ़ावस्था में तो नहीं होता। जब आपकी अपनी आत्मिक और भावनात्मक समस्याएँ हल हो जायँ तब आप बाहर भी देखने लगते हैं, तब दृष्टि बाहर भी जाती है, और बाहर की प्रतिक्रिया जो है वह मेरी बहुत-सी कविताओं में है क्योंकि मेरी अपनी समस्याएँ तब नहीं रह गयीं, उनका एक प्रकार से हल हमने ढूंढ़ लिया था। और जहाँ तक मैं समझता हूँ, 'प्रणय पत्रिका' से वह ख़त्म हो गयीं। 'प्रणय पत्रिका' के बाद मेरे गीत भी खत्म हो गये क्योंकि गीतों के लिए जिस तरह का भावना-जगत चाहिए, मेरे अन्दर उसकी जरूरत नहीं थी। तब मेरी दृष्टि बाहर की तरफ जाती है। उसमें व्यंग्य भी आता है, समाज की परिस्थितियाँ भी आती हैं, बहुत-सी बातें आती हैं। जैसे 'खून के छापे' में, जो मैंने अभी आपको सुनायी। इसमें कहाँ व्यक्ति है, बाहर ही की चीज़ें हैं, बाहर जो मैं देख रहा हूँ, उसकी प्रतिक्रिया मेरे ऊपर हो रही है। मैंने इस सारे इवोल्यूशन से, सारे विकास से एक व्यक्तित्व बनाया, जिसका नाम है, बच्चन। वह कैसी प्रतिक्रियाएँ करता है ? यह मेरी प्रतिक्रियाएँ 'दो चट्टानें' में हैं, 'बसेरे से दूर' में हैं और जो दो संग्रह मेरे और निकले थे, उनमें हैं : 'कटती प्रतिमाओं की आवाज़' और 'उभरते प्रतिमानों के रूप' में और फिर उसके बाद 'जाल समेटा' में।

विश्वनाथ : डा. साहब, ऐसा कहते हैं कि 'पोइट्री इज़ दि हाईएस्ट फार्म आफ़ इन्टेलेक्चुअल एक्टिविटी'—इसके बारे में आपका क्या ख्याल है ?

डा. बच्चन : बात यह है कि टी. एस. इलियट ने इसको चलाया और टी. एस. इलियट जो हैं, वह बहुत पापुलर पोएट कभी नहीं हुए, इन्टेलेक्चुअल्स के पोएट हुए। जब उन्होंने अपनी 'वेस्टलैण्ड' लिखी तो अंग्रेजों के समझने के लिए भी उनको दस पेज की टिप्पणी देनी पड़ी। इलियट ऐसा समझते हैं कि उनके पाठक को भी उतना ही विद्वान और उतना ही पठित होना चाहिए जितने कि वे स्वयं हैं। उनकी कविता का आनन्द तभी लिया जा सकता है, जब आपने वह सब भी पढ़ा हो जो इलियट ने स्वयं पढ़ रखा है। जो रिफ़रेंस वे देते हैं, सन्दर्भ देते हैं, तो वे रिफ़रेंस अगर आपके दिमाग में भी नहीं हैं तो कहाँ से आप समझेंगे। योरोप और अंग्रेजी साहित्य के इतने सन्दर्भ लय में, रूपकों में वे देते हैं कि जब तक आप उनको स्वयं न समझें, कविता नहीं समझ सकते। अब वहाँ

पर है—'लेडीज गुड नाइट, गुड नाइट', मगर वह है रिफरेंस 'आथेलो' का, डेसिडिमोना कहती है 'गुड नाइट, गुड़ नाइट'। वह उसका रिफ़रेंस है। इतना सटल रिफ़रेंस लिटरेचर और आर्ट और फ़िलोसोफ़ी का उन्होंने दिया है कि जब तक आप इन्टेलेक्चुअल स्वयं न हों तब तक आप उनकी कविता का आनन्द नहीं ले सकते। मगर दूसरे महायुद्ध के पहले और दूसरे महायुद्ध के बीच जो विघटन आया, उसमें भावनाएँ मर गयी थीं, उसमें विचार ही काम दे सकता था। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि क्या हमारे जीवन में भी, हमारे देश में भी ऐसी स्थिति आ गयी थी जिसके कारण इस प्रकार की कविता सारे लोग लिखने लगे क्या? हमारी भी भावनाएँ मर गयी थीं? हमारे कारण दूसरे हो सकते हैं। आजादी के बाद जिस तरह का डिसइल्यूजनमेण्ट हुआ हमें, कई तरह से डिसइल्यूजनमेण्ट हुआ, उसने क्या हमारी भावनाओं को एकदम दबा दिया? मूल्य जो थे, वे नहीं रह गये। मूल्य बदल गये। ग़लत मूल्यों को मान मिलने लगा। इसकी वजह से भावनाओं का कोई स्थान नहीं रह गया। और क्या इस वजह से भी नयी कविता हमारे यहाँ नहीं आयी?

प्रमोदशंकर भट्ट : आपकी कविताओं में विचारों की क्या भूमिका है?

डा. बच्चन : बहुत बौद्धिक आदमी मैं नहीं हूँ। कहीं न कहीं, जैसे 'खून के छापे' में ही मेरे हृदय को, मेरी भावना को वे चीजें छूती हैं, अब भी, क्योंकि मस्तिष्क अभी इतना हावी तो नहीं हुआ, इतना सक्रिय तो नहीं हो गया। जैसे-जैसे उम्र बढ़ेगी, हृदय जो है वह दबेगा और मस्तिष्क बढ़ेगा। यही होता है। आदमी सोचने ज़्यादा लगता है, फ़ील कम करता है।

विश्वनाथ : एक कविता है आपकी 'जीवन की आपाधापी में'। मैं चाहता हूँ आप हमें वह कविता भी सुनायें और उसकी पृष्ठभूमि भी बतायें।

डा. बच्चन : यह मेरे जीवन की ही कहानी समझ लीजिये, बिलकुल ऐसा ही मेरा जीवन रहा है। मध्यवित्त परिवार में जन्म हुआ, गरीबी से संघर्ष करते-करते जैसे जो कुछ भी किया, जो कुछ भी हुआ—वह सब इसमें है।

जीवन की आपाधापी में कब वक्त मिला
कुछ देर कहीं पर बैठ, कभी यह सोच सकूँ
जो किया, कहा, माना, उसमें क्या बुरा भला।···आदि आदि।

मेला बहुत रंगीला था, चाहता था कि कहीं पर खड़े होकर देखें, मगर रेला जो आ रहा था, उसने ठेल दिया।···

···झोली, माने पैसा, अपने पास कम था, चीजें बहुत बड़ी-बड़ी थीं—उतनी ही छोटी अपने कर की झोली थी।

···अब मुझसे पूछा जाता है···आप लोग प्रश्न करते हैं—

मेले में कोई ऐसी चीज दिखायी पड़ी थी क्या जिस पर अपने को निछावर कर दिया?

अन्तिम पद है; इतना विश्वास कम-से-कम न हो तो जीना मुश्किल है।

डेस्टिनी में मुझको विश्वास है, फेथ में विश्वास है; समथिंग हेज़ टु हेपिन, इट विल हेपिन।

समय नहीं रुकता। और आपको कुछ करना पड़ेगा, समय करा देगा। 'अनवरत समय की चक्की चलती जाती है'।

एक देश में जो चीज बुरी दूसरे में अच्छी है। एक काल में बुरी है, दूसरे काल में अच्छी है।

क्या यह सभी की आपाधापी नहीं है; क्या सभी ऐसी मजबूरी से नहीं गुज़रते? कुछ समय तक मुझे जरूर लगा था कि मैं कुछ ऐसे अनुभवों से गुजर रहा हूँ जिससे दूसरे आदमी नहीं गुजरते, कहीं मैं एक्स्ट्राआर्डिनरी अनुभवों से गुजर रहा हूँ। बात क्या थी? सेंसिटिव, हृदय जो था, अधिक संवेदनशील था। इस वास्ते छोटी-छोटी घटनाओं ने भी, मुझे बहुत अधिक प्रभावित किया। मेरा हृदय सेंसिटिव था। फिर मैंने अपने-आपसे क्वेश्चन किया, क्या मैं कवि हूँ? और जब मुझे यह लगा कि मैं अपने अनुभवों को वाणी दूँ तो फिर मुझे ऐसा भी लगा कि अगर वाणी देना ही है तो वाणी पर कुछ अधिकार होना चाहिए। और जो कुछ अपने से अर्थ और आखर-बल संचित कर सकता था, चाहे स्वाध्याय से, चाहे अभ्यास से, वह मैंने अवश्य किया। उसके बाद जब जैसी प्रेरणा मुझे मिलती गयी मैं लिखता गया। जीवन में कुछ आता चला गया। आटोबायोग्राफी में एक सेन्टेंस है कि मैं शब्दों में कविता करूँ उसके पहले मैं जीवन में कवि हो गया। एक सपना मेरे चारों ओर बना हुआ था और जब सपना टूटा तो उसने मुझे कवि बना दिया। आपने एक सवाल इसमें रखा था कि आपकी मधुशाला में उन्माद भी है, अवसाद भी है, सुख भी है और दुख भी है। अलग-अलग पहलू नहीं हैं, प्रेरणा की जो इन्टेंसिटी होती है, उसमें यह दोनों मिले हुए होते हैं। उनको अलग करके आप नहीं देख सकते। आप अवसादों में भी एक प्रकार का उन्माद देखते हैं। पता नहीं आपने नीत्से का एक छोटा-सा लेख पढ़ा है या नहीं जो इंसपिरेशन के बारे में है, कहता है कि जब मुझे इंसपिरेशन आता था तब सुख और दुख में अन्तर नहीं मालूम होता था। मैं रो भी सकता था और हँस भी सकता था। इंसपिरेशन के ऊपर एक पेज का इतना इंटेंसली लिखा हुआ लेख मैंने दूसरा नहीं देखा। वह कहता है कि जब मुझे इंसपिरेशन आता था तब मैं 8-9 घण्टे चलता ही चला जाता था, फिज़ीकली मुझे मालूम होता था कि मेरे अन्दर कहीं से स्ट्रेंग्थ आ गयी है। तो अर्ज के, इंसपिरेशन के, तथ्य को तो मैं भी मानता हूँ। अनुभवों से समृद्ध होकर प्रेरणा पर मैंने अपने आपको छोड़ दिया था। वह जो कुछ मुझसे लिखाती गयी, मैं लिखता गया। अब इसमें क्या गुण है, इसे दूसरे देखें। 'निशा निमन्त्रण' की एक पंक्ति है।

कविता कहकर जग ने मेरे क्रन्दन का उपहास किया,
जग ने मुझे निराश किया।

'प्रणय पत्रिका' में भी एक पद है, किसी कविता में—गीत में—

कवियों की श्रेणी से अब तुम मेरा नाम हटा दो
मेरी कविता के पन्नों को मरुथल में बिखरा दो
तुमको कवि के बलिदान निमन्त्रण देते,
तुमको कवि के अरमान निमन्त्रण देते। आदि

विश्वनाथ : बच्चनजी, आप कविता लिखते कैसे हैं, कुछ लोग लेटकर लिखते हैं, कुछ खड़े होकर लिखते हैं?

डा. बच्चन : भाई, मैं तो मेज पर बैठकर कविता लिखता हूँ।

विश्वनाथ : आप तैयार होते हैं इसके लिए पहले?

डा. बच्चन : तैयार तो रोज ही होता हूँ। जीवन कुछ ऐसा नियमित बन गया है, जब लिखता था तो कभी लेट-वेट कर नहीं लिखता था।

विश्वनाथ : तकिया लगाकर?

डा. बच्चन : नहीं-नहीं, लेटकर मैंने कविता कभी लिखी नहीं। मैं तो चिट्ठी भी जब तक कुर्सी-मेज पर न बैठूं नहीं लिख सकता-- यह शुरू से मेरी आदत थी। जब मैं बहुत छोटा था तब मेरे पिताजी की एक टेबिल और कुर्सी थी, मैं उस पर बैठता था, तबसे मुझे यह आदत बन गयी है। मगर इसको आप रचना-प्रक्रिया का कोई अंग नहीं मान सकते कि जैसे ही आप टेबिल-कुर्सी पर बैठे वैसे ही आपको प्रेरणा मिलने लगी। बाल्ज़ाक के बारे में कहते हैं कि उसको सड़े सेब से इंसपिरेशन होता था। वह अपनी मेज की दराज़ में सड़े हुए सेब रखता था, जब उसको लिखना होता था तब वह दराज़ खोल देता था, बदबू आने लगे तो उसको इंसपिरेशन आता था।

विश्वनाथ : मैं अपना उदाहरण दूँ। मैं कवि-अवि तो नहीं हूँ, पर जब कुछ लिखने की बात मन में उठती है—चाहे चलती गाड़ी में—तो मैं किसी लिफाफे पर या, ऐसे किसी भी कागज पर जो पास हुआ, लिख लेता हूँ। क्या आपके साथ भी ऐसा होता है ?

डा. बच्चन : नहीं, मैं ऐसा नहीं करता, मैं उसको छोड़ देता हूँ। मैं तो डिस्टरबेंस को भी वेलकम करता हूँ। अगर मैं कविता लिख रहा हूँ और आप आ जायँ तो मैं आपसे पहले मिलूँगा और कविता छोड़ दूंगा। और मेरा ऐसा ख्याल है कि उस डिस्टरबेंस के कारण कविता अच्छी बनती है। जीवन महत्त्वपूर्ण है, भाई, कविता थोड़े ही उतनी महत्त्वपूर्ण है। अगर मैं कविता लिख रहा हूँ और आप आ जायँ तो मैं कविता लिखना छोड़कर पहले आपके पास आऊँगा। मेरा यह नियम है। जब कभी इस तरह का डिस्टरबेंस आया तो कम-से-कम मैंने अनुभव किया है कि कविता मैंने अच्छी लिखी है। हमेशा, जिस तरह का मेरा जीवन है, वैसा ही मैंने लिखा है।

विश्वनाथ : सब कविताएँ एक सिटिंग में पूरी हो जाती हैं जनरली ?

डा. बच्चन : कभी होती हैं, कभी नहीं होती।

विश्वनाथ : गीत तो एक सिटिंग में पूरे हो ही जाते होंगे ?

डा. बच्चन : गीत ही मैंने प्रायः लिखे भी हैं, छोटी कविताएँ। इसकी वजह है कि जीवन में कभी ऐसा समय नहीं रहा। दस बजे कालेज जाना है। यह तो नहीं हो सकता है कि कविता आयी हुई है इसलिए आप कालेज देर से पहुँचिए या दफ्तर आप देर से पहुँचिए। ऐसा तो नहीं हो सकता। इसीलिए मैंने कोई लम्बी कविता नहीं लिखी। यह तो नहीं हो सकता कि आप दस बजे लिखना बन्द कर दीजिये और चार बजे फिर लिखना शुरू कर दीजिये। ऐसा नहीं हो सकता। इस वास्ते मैंने कभी कोई लम्बी कविता नहीं लिखी, या जब कभी कोई लम्बी कविता लिखी तो प्रायः बीमारियों में लिखी, मतलब यह कि बीमार पड़े हुए हैं, उस समय लिखी। जो 'सार्त्र' वाली कविता है, या 'सिसिफस बरक्स हनुमान'—मैंने बीमारी में लिखी थी। मुझे प्लूरिसी हो गयी थी, उसमें लिखी थी। मगर जनरली मैंने छोटी कविताएँ ही लिखी हैं और प्रायः एक कविता एक सिटिंग में। कभी ऐसा भी हुआ है, कि एक पद लिखा या दो पद लिखे और कोई डिस्टरबेंस आ गया तो बाद को दूसरा पद लिख दिया।

विश्वनाथ : आप अपनी कविताओं को ठीक करते हैं, बैठकर रिवाइज़ करते हैं ?

डा. बच्चन : रिवाइज़ कुछ तो किया है। रिवीज़न की यह बुरी आदत मेरी पड़ी जब मैं रिसर्च करने के लिए गया, जब मैंने यीट्स की रचना-प्रक्रिया देखी। यीट्स हमेशा यह कहते थे कि जब हम अपने जीवन को सुधार सकते हैं तो

हम अपनी कविता को क्यों नहीं सुधार सकते। वह प्रोज़ में भी सुधार करते जाते थे, यीट्स पर रिसर्च करने की बड़ी मुश्किलें हैं। जब तक आपको शुरू के एडीशन और बाद के एडीशन न मिलें तब तक आप उनके विचार-विकास का पता नहीं लगा सकते। कविताओं में तो, खैर, उन्होंने किया ही है; और उससे पता लगता है कि यीट्स का माइण्ड कैसे वर्क करता था। पहले एक वर्ड लिखा, फिर उसकी जगह दूसरा कर दिया। जब दोनों पाठ आपको मिलें तब आपको पता लग सकता है कि यह वर्ड इसकी जगह क्यों बदला। प्रोज़ में भी बदला। मेरी रिसर्च की थीसिस में इस तरह का एक प्रसंग आया है। मैंने उनके दो लेख कम्पेयर किये। बाद के लेख में पाठ बिल्कुल बदल दिया गया है। यीट्स के ऊपर रिसर्च करके आया तो मैंने 'मधुशाला' को भी बहुत बदला। पता नहीं आप लोगों ने नोटिस किया या नहीं ?

विश्वनाथ : एक-आध उदाहरण दीजिये।

डा. बच्चन : अच्छा—'कितनी जल्दी रंग बदलती है अपना चंचल हाला' यह पंक्ति पहले थी—'कितनी जल्दी रंग बदलती है अपना फेनिल हाला।' मैंने बाद को उसे 'चंचल' कर दिया। मैंने कहा जब बदलने का भाव है तो चंचलता होनी चाहिए। फिर जब फेनिल है, फेन ऊपर है, तो बदलाहट का पता कैसे चलेगा—'कितनी जल्दी रंग बदलती है अपना फेनिल हाला'। अन्तिम पंक्ति में मैंने ख़ास परिवर्तन किया। उसमें था—'हाय, दूसरे ही दिन पहली सी न गयी रह मधुशाला' इसको मैंने कर दिया 'प्रात नहीं थी वैसी जैसी रात लगी थी मधुशाला'। नाउ यू सी दि डिफरेंस। प्रात कोई चीज देखने और रात देखने में—टाइम का गैप कम हो गया। पहले यही पंक्ति थी—'हाय दूसरे ही दिन पहली सी न गयी रह मधुशाला'। अब उसका रूप हो गया 'प्रात नहीं थी वैसी जैसी रात लगी थी मधुशाला'। अब आप दोनों पंक्तियों को देखकर तुलना कर सकते हैं। मैंने मधुशाला में और भी परिवर्तन किये, मगर यह मैंने शायद 'मधुशाला' के दसवें या ग्यारहवें एडीशन में किया। जब विलायत से लौटकर आया तब। क्योंकि, मैंने यीट्स से यह सीखा कि अपनी कविता कोई पत्थर की लकीर तो है नहीं, क्यों न हम उसको सुधार दें। मैंने 'प्रणय पत्रिका' की भी बहुत-सी पंक्तियाँ बदलीं। अब कोई पुराने वर्शन से नये वर्शन को कम्पेयर करे तो देखे कि क्यों उसमें सुधार किया गया। ऐसा मैंने क्यों किया।

एक बात और बताऊँ। सुधार हमेशा अच्छे के लिए नहीं होता। बहुत बार लोगों ने सुधार किया, उनकी कविता बिगड़ती गयी। फिट्जज़ेराल्ड ने चार वर्शन उमर खैयाम की रुबाइयात के किये, पहला ही वर्शन सबसे अच्छा था। तीन वर्शनों में बराबर चेंज करता गया मगर फर्स्ट वर्शन वाज़ दि बेस्ट वर्शन।

विश्वनाथ : सन्तोष नहीं हुआ होगा।

डा. बच्चन : सन्तोष नहीं हुआ, मगर वही चीज़ बेस्ट थी,—जो पहला वर्शन था—वही बेस्ट था, वही आजकल प्रचलित है। चार वर्शन उसके हैं।

विश्वनाथ : बच्चनजी, हम आपके आभारी हैं कि आपने हमें इतना समय दिया आपको समझने का, आपकी कविताओं को समझने का और सबसे बड़ा आपकी कविताओं को सुनने का आपके मुँह से। हम बहुत-बहुत आभारी हैं, धन्यवाद।

जीवन का सत्य बनाम शब्द का सत्य*

इस आत्मकथा को पढ़ते समय मेरे मन में कई जिज्ञासाएँ उमड़ी-घुमड़ी थीं। पिछले दिनों डॉ. बच्चन से मिलने का सुयोग बना तो उन्हीं को लेकर चर्चा चल पड़ी। सबसे पहले मैंने उनके आत्मकथा-लेखन की मूल प्रेरणा को ही टटोलना चाहा। उनकी कविता आत्मकथा-संस्कारी होने के कारण कवि को आत्म-साक्षात्कार का और पाठक को कवि के भीतर झाँकने का अवसर प्रदान करती है। इसलिए मैंने पूछा, "कविता जैसे विश्वसनीय माध्यम को अपनाने के बाद आपके आत्मकथालेखन के पीछे क्या मजबूरी रही है? 'नीड़ का निर्माण फिर' में तो आपने स्वयं यह स्वीकारा है कि कविता जो काम कर चुकी है, गद्य जब उसे करना चाहता है तो उसके हाथ-पाँव फूल जाते हैं।"

प्रश्न में गहरे उतरते हुए बच्चनजी बोले, "कविता लिखने का मतलब ही यह होता है कि व्यक्तिगत जो बातें हैं उन्हें उसमें से हटाना, यानी वैयक्तिक भावनाओं को खूब छानना ताकि वे इतनी सूक्ष्म हो जायें कि मानव मात्र की बातें मालूम हों, बच्चन की बातें न मालूम हों। अगर कविता में मैं वे बातें लिखता जो व्यक्तिगत या 'पर्सनल' हैं, तो शायद मेरी कविता की इतनी ज़्यादा अपील नहीं होती। मेरे दुख-सुख-संघर्ष में आप क्यों 'इन्टरेस्ट' लेंगे? हज़ारों आदमियों के अपने दुख-सुख-संघर्ष हैं और उन्हें शायद वे लिख भी सकते हैं। पर उनके लिखने में और एक कवि के लिखने में अन्तर है। सबसे बड़ा अन्तर यही है कि जब साधारण आदमी अपना दुख-सुख कहता है तो अपनी निजी बात कहता है, अपनी 'पर्सनल' बात कहता है, लेकिन कवि जब कहता है तो अपने को मानवता का एक 'मीडियम' बनाकर कहता है। इसीलिए उसकी कविता दूसरे को अपील करती है। उदाहरण के लिए, 'निशा-निमन्त्रण' में मेरी बहुत-सी निजी भावनाएँ हैं। उसके तो दस एडीशन हुए हैं। पाकेट बुक्स के एडीशन अलग हुए हैं। मेरा ख्याल है कि कम-से-कम एक लाख आदमियों ने 'निशा-निमन्त्रण' को पढ़ा होगा, लेकिन लाख आदमी मेरी जैसी वेदना से गुज़रे हों, इसकी मैं कल्पना नहीं कर सकता। इसीलिए एक लाख आदमियों ने उसे पढ़ा और उसके साथ अपने को 'आइडेण्टिफाई' किया, क्योंकि वह मेरी पर्सनल बात होकर व्यक्त नहीं हुई थी, 'इम्पर्सनल' हो गयी थी। इम्पर्सनल हुए बिना कविता हो ही नहीं सकती।

"इसलिए मुझे ज़रूरत महसूस हुई कि जहाँ मुझे पर्सनल बात कहनी है उसके लिए एक दूसरा माध्यम लूँ। हमारे बहुत से पाठकों ने लिखा है कि आपकी कविता के पीछे जो पृष्ठभूमि है उसका पता हमें आपकी आत्मकथा से लगा। 'मधुशाला' ने तो एक गलत पिक्चर लोगों के समाने रखी थी। पर तब किन परिस्थितियों में मैं गुज़र चुका था, यह बात आत्मकथा के पहले भाग 'क्या भूलूं, क्या याद करूँ' के लिखने के बाद ही प्रकट हुई है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने मुझे एक पत्र में लिखा, और उनकी यह राय मैंने छापी भी है, कि अब आपको यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि आपने 'मधुशाला' जैसी चीज़ क्यों लिखी। इसलिए मैं समझता हूँ कि कविता

* साक्षात्कारकर्ता—डॉ. रणवीर रांग्रा, 1978

में अपने भावों को व्यक्त करने के पश्चात् भी कुछ ऐसी बातें रह गयी थीं जो मैं केवल गद्य के माध्यम से ही कह सकता था। उनकी कल्पना मेरी कविता पढ़ने के बाद शायद कोई दूसरा आदमी नहीं कर सकता।

इन बातों को अगर कवि न बताये तो दूसरे लोग, और समालोचक भी, उसको 'प्रोब' करते रहते हैं। अंग्रेज़ी के जितने रूमानी कवि हुए हैं उनके जीवन की खोज-बीन करने की इतनी कोशिश की गयी है कि कोई हद नहीं। अभी डेढ़ सौ वर्ष बाद वर्ड्सवर्थ के बारे में कुछ नयी बातों का पता चला है जो उसकी कविता पर एक नया प्रकाश डालती हैं। वैसे अपने समय में वह बड़ा 'पायस' कवि समझा जाता था। लेकिन उसका एक 'लव ऐफेयर' भी था, एक फ्रेंच गर्ल से। 'प्रिल्यूड' में इसके कुछ संकेत मौजूद थे। लोगों को रिसर्च करते-करते यह भेद मिला कि वह फ्रांस गया था और वहाँ उसका एक 'लव ऐफेयर' हुआ था, जिसको उसने किसी से नहीं बताया था। उस खोज से 'प्रिल्यूड' पर नया प्रकाश पड़ा। इस वास्ते कवि की 'पर्सनल लाइफ' की जानकारी भी बड़ी ज़रूरी होती है, खासकर उनकी जो 'लिरिकल पोएट' हों। आधुनिक समय को हम मध्ययुग से इसीलिए अलग करते हैं कि उन कवियों में एक सम्प्रदाय, एक ग्रुप, एक वर्ग बोलता है, लेकिन इनमें व्यक्ति का अपना अनुभव बोलता है। कविता में जब कवि का व्यक्तित्व बोलने लगता है तो उसकी कविता को पूरी तरह समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके निजी जीवन की भी खोज की जाये।"

कवि की रचना को, विशेषकर 'लिरिकल पोएट्री' को समझने के लिए कवि के व्यक्तिगत जीवन कि जानकारी उपयोगी होती है, इसके बारे में तो दो मत नहीं हो सकते, पर जब कवि अपने जीवन की घटनाओं के वर्णन अथवा आत्मचित्रण द्वारा स्वयं अपनी कविता की व्याख्या पर उतर आता है तो उसमें जो जोखिम रहता है उसकी ओर संकेत करते हुए मैंने कहा, 'आपकी आत्मकथा, विशेषतः उसका दूसरा खण्ड 'नीड़ का निर्माण फिर', कविता-संस्कारी है। इसमें आपने अपनी कविताओं की पृष्ठभूमि देते हुए उनकी जो व्याख्या की है वह उन्हें समझने में सहायता तो देती है, पर साथ ही पाठकों की कल्पना को बाँधती भी है, उसे मुक्त उड़ान नहीं भरने देती। आपके विचार से क्या कवि अपनी कविताओं की स्वयं व्याख्या करके उनकी अपील को सीमित नहीं कर देता ?"

बच्चनजी बोले, "शायद आपने सुना होगा कि किसी ग्रीक कवि से किसी पाठक ने उसकी कविता का अर्थ पूछा। कवि ने कहा कि इसका अर्थ तो मुझे भी नहीं मालूम। यानी कविता के सृजन के क्षण में जो कवि लिख देता है, उसे शायद वह भी ठीक से नहीं समझता। इसलिए अपनी कविता की जो कुछ व्याख्या मैंने की है, वह पूरी व्याख्या नहीं है, अधूरी व्याख्या है। मुझे उसकी आवश्यकता क्यों पड़ी? अगर मेरी कविता का कोई गलत अर्थ लगाया जा रहा हो या उसे 'मिसकोट' किया जा रहा हो, तो स्वाभाविक है कि मुझे तकलीफ होगी, जैसा कि श्री गिरिजा कुमार माथुर ने किया है। मेरी एक पंक्ति है : 'एक मुर्दा गा रहा था बैठकर जलती चिता पर' और उन्होंने उसे यह कर दिया कि 'एक मुर्दा रो रहा था बैठकर जलती चिता पर'। जब मैंने पढ़ा तो मुझे बड़ी चोट लगी। यह व्यक्ति जो 'गा' को 'रो' लिख सकता है उसे तो सृजन का कोई सेन्स ही नहीं है। अरे भाई, मुर्दा क्यों

रोयेगा? अपनी मौत पर कौन रोयेगा? 'गाने' का रहस्य मैंने आत्मकथा में खोला है।

"अपने लिखने की प्रक्रिया के बारे में एक बात आपको बता दूँ। बहुत मरतबे अपने जीवनक्रम को समझने के लिए मैंने अपनी कविता का सहारा लिया यानी यह बताने के लिए कि मैं कौन-सी भावनाओं से होकर गुज़रा, और उनके पीछे कौन से 'इन्स्टेंसिज़' हैं, मैंने अपनी कविताओं का सहारा लिया। कविताओं को जब मैंने देखा तो पता चला कि कौन-सी परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने मुझसे ये कविताएँ लिखवायीं। आत्मकथा को लिखते हुए मुझे जिन घटनाओं की याद आयी, उन्हें मैंने जो विस्तार दिया है, वह कविताओं से लिया है। अब मैं आपको एक उदाहरण दे दूँ। जैसे मैंने 'आइरिस' की बात कही कि शब्द की एक दीवार हमारे बीच खड़ी थी। जो हमारे पत्रों का आदान-प्रदान हुआ है—बहुत-से पत्र लिखे थे—उससे ऐसा लगा कि उसमें शब्द ही शब्द थे, उनके भीतर हृदय था ही नहीं। इस तरह मैं अपनी कविताओं के सहारे 'एब्सट्रेक्ट' से 'कंक्रीट' की तरफ आता रहा, कि मैं किन बातों को याद कर रहा हूँ। जब कविताएँ लिखी थीं तब कौन-सी फैक्चुअल और पर्सनल बातें थीं जिन्हें 'ऐलिमिनेट' करके, छानकर उन्हें बनाया था। यानी 'एब्सट्रेक्ट' से मुझे 'कंक्रीट' का पता चला।

"एक और बात मैं आपको बता दूँ कि अक्सर ऐसा होता है कि 'क्रिएशन' के क्षण में आप आप ही नहीं रह जाते, आपकी चेतना या 'सेल्फ कान्शसनेस' चली जाती है। और आदमी ऐसे स्तर पर लिखता है जहाँ उसका कुछ व्यक्तिगत अथवा निजी नहीं होता। 'मधुशाला' को पढ़ते हुए आज भी मुझे कहना पड़ता है, जैसा कि मैंने लिखा भी है, पच्चीस वर्ष की उमर में मैं लिख रहा हूँ कि 'रूठ रहा है मुझसे रूपसि/दिन-दिन यौवन का साकी।' तो मैंने इसे पढ़ते हुए कहा, यौवन का साकी तो अब रूठा है। पच्चीसवें वर्ष में क्या रूठता? यौवन में भला यौवन का साकी रूठता है? यह तो सत्तर वर्ष की उमर में महसूस होता है कि 'रूठ रहा है मुझसे रूपसि/दिन-दिन यौवन का साकी।' तो यह तो जब मैं सृजन के संसार में घुस गया तो किसी अज्ञात शक्ति ने मुझसे लिखवा लिया। लेकिन अब मैं जो समझ रहा हूँ वह उसका दूसरा 'इन्टरप्रिटेशन' होगा।

"तो जहाँ कहीं मुझे लगा कि मुझे गलत समझा जा रहा है, मैंने उसे ठीक करने की थोड़ी कोशिश की। पर पूरी तरह से मैं अपनी कविता की व्याख्या नहीं कर सकता। मैं आपकी इस 'कन्टेंशन' से पूरी तरह सहमत हूँ कि अगर कवि अपनी कविता की व्याख्या कर देता है तो उसकी कल्पना की सीमाएँ बँध जाती हैं। कविता में पाठक को अपनी कल्पना करने का बहुत अवसर होता है, और वास्तव में, पाठक की कल्पना ही कविता का आनन्द है। मेरे पाठकों ने जब कभी मुझसे पूछा है कि अमुक कविता का क्या अर्थ है तो मैंने बराबर उनसे कहा है कि कविता में अर्थ आरोपित करना काव्य का एक आनन्द है और वह आनन्द आप मुझसे क्यों लेना चाहते हैं? आप उसमें स्वयं अपने को देखने की कोशिश कीजिए, उसके माने ढूँढिये। कविता अगर कविता है तो उसमें बहुत से अर्थ 'प्रोजेक्ट' किये जा सकते हैं। शेक्सपियर केवल शेक्सपियर का नहीं है, बल्कि जितने पढ़नेवाले हैं उन सबका है—'देयर आर एज़ मैनी शेक्सपियर्स एज़ देयर आर शेक्सपियर्स रीडर्ज़'। कविता की खूबी ही यह है कि उसके साथ अपनी अनुभूतियों को जोड़कर आप एक दूसरा

आनन्द लेते हैं जो सिर्फ कविता पर डिपेण्ड नहीं करता, आप पर भी डिपेण्ड करता है। इसलिए आपकी यह बात तो मैं मानता हूँ कि कवि को अपनी कविता की इतनी व्याख्या नहीं करनी चाहिए कि जो पाठक की कल्पना को सीमित कर दे। पर अगर कहीं गलती हो रही हो, उसे ठीक करने का हक कवि को है और ऐसा बड़े-बड़े कवियों ने भी किया है।''

आत्मकथा लिखना बड़ा मुश्किल काम है। इसमें तटस्थ रहने की लाख चेष्टा करने पर भी लेखक पक्षधरता के आरोप से बच नहीं पाता। ऐसे ही एक आक्षेप की चर्चा करते हुए मैंने कहा, ''अपनी आत्मकथा में आपने अपने को कहीं नहीं बख्शा है और अप्रिय प्रसंगों को भी निर्ममतापूर्ण तटस्थता के साथ उद्घाटित किया है। 'क्या भूलूँ, क्या याद करूँ' को ही लें। उसके कई प्रसंग (उदाहरणार्थ, कर्कल-चम्पा-आप, श्रीकृष्ण-रानी-आप और मुक्त-श्यामा-आप) आपके बेबाक चित्रण के गवाह हैं। पर अपने को जानकार माननेवाले कुछ लोगों की शिकायत है कि इसमें तेजीजी के प्रति पक्षपात हुआ है, वे मानवी नहीं, देवी के रूप में चित्रित हुई हैं। इसे आप तेजीजी के प्रति उनकी ईर्ष्या मात्र मानेंगे या कुछ और?''

मानव-स्वभाव की एक कमज़ोरी की ओर संकेत करते हुए बच्चनजी ने कहा, ''मनुष्य-जीवन इतना अपूर्ण है कि अपूर्णता के प्रति हम जल्दी विश्वास कर लेते हैं। हमारे अन्दर खुद भी इतनी कमज़ोरियाँ होती हैं—अच्छा है कमज़ोरियाँ होती हैं और हम ज्यादा ह्यूमन होते हैं—कि जहाँ भी कमज़ोरियों का जिक्र आता है हम उसे बहुत जल्दी मान लेते हैं। अगर मैं अपनी बुराइयों का जिक्र करूँ तो आप जल्दी मान लेंगे। दूसरा कोई मेरी बुराई करे तो भी आप बड़ी जल्दी मान लेंगे। अगर कोई मेरी अच्छाई आपसे वर्णन करे तो आपके मन में सन्देह होगा कि यह कहीं बच्चन का चमचा तो नहीं है या उनका अपना होने के कारण उनके साथ पक्षपात तो नहीं कर रहा। लेकिन जीवन में अपूर्णताएँ ही अपूर्णताएँ नहीं हैं, कमज़ोरियाँ ही कमज़ोरियाँ नहीं हैं, बहुत-सी ऐसी स्थितियाँ भी हैं और बहुत-से ऐसे व्यक्ति भी हैं जिनके सम्पर्क में आने पर जीवन का एक विभूतिमय रूप आपके सामने आता है। अगर हमें अपने जीवन की कमज़ोर स्थितियों को दिखाने की आज़ादी है तो क्या जीवन की ऐसी स्थितियाँ जिनमें एक वैभव है, एक परिपूर्णता है, छिपाने की चीजें हैं? क्या मुझे उन्हें कहने का अधिकार नहीं है? और अगर कहता हूँ तो इसमें क्या बुरा करता हूँ?

''अब यह बात बहुत पर्सनल हो जाती है, फिर भी कहना चाहूँगा कि मेरे जीवन का जिसे कि आप मोड़ कह सकते हैं वह मैं तेजीजी के आगमन से ही समझता हूँ। मेरे पहले के जीवन और बाद के जीवन का जो बाह्य रूप है, उसे ही देख लें। मुझे और कुछ कहने की जरूरत ही नहीं। बाहरी रूप को देखकर आप अपने परिणाम स्वयं निकाल लें। मैंने तेजीजी के बारे में जितना भी कहा है वह बड़े संयम और नियन्त्रण के साथ कहा है और मैं समझता हूँ कि तेजीजी के प्रति मैंने पूर्ण न्याय नहीं किया है। इस रूप के निर्माण में उनकी प्रेरणा, उनके साथ का योगदान है।

''इसलिए उनका जो बाह्य रूप है उसे ही देखने को कहता हूँ। जो अन्दर का रूप है वह तो आप शायद न समझ सकें और वह समझने को है भी नहीं। उनका एक पत्नी का रूप है। दूसरा माँ का रूप है। उनके दो बेटे हैं। उन्होंने अपने बेटे को

क्या संस्कार दिया और क्या बनाया, यह देखने की बात है। मैं तो अपने संघर्ष में, अपने सृजन के संसार में, इतना व्यस्त रहा कि मैं शायद अपने बच्चों का संस्कार नहीं कर पाया। दूर से कोई छाया पड़ती हो तो पड़ती हो। उनके नज़दीक जाने का मैंने प्रयास नहीं किया। लेकिन अपने बच्चों को समझने का, उनके दिशा-निर्देशन का और उन्हें बनाने का सारा श्रेय तेजीजी को है। 'बसेरे से दूर' में मैं तो पूरी बातें लिख ही नहीं सका। मेरे बच्चे इन बातों को लिखेंगे। अगर कभी अमिताभ ने अपना जीवन-चरित लिखा तो शायद वह यह बता सकेगा कि 'व्हाट ए मदर शी हैज़ बिन'। नारी की सबसे बड़ी परख मातृत्व की कसौटी पर होती है।"

आत्मकथा के तीसरे और अन्तिम खण्ड 'बसेरे से दूर' में बच्चनजी ने जीवन के इस कटु सत्य को बड़ी बेरहमी से उघाड़ा है कि जिसे हम अपनी सबसे बड़ी सफलता या उपलब्धि मानते हैं वह समय के फेर में पड़कर किस प्रकार व्यर्थ हो जाती है। संकीर्ण वृत्ति के कुछ लोगों के ईर्ष्या-द्वेष-जनित षड्यन्त्र ने उन्हें विश्व-विद्यालय छोड़ने पर मजबूर करके शोधार्थियों को उनके गहन शोधानुभव से वंचित कर दिया। उनकी इस दुखती रग पर उंगली रखते हुए मैंने पूछा, "विदेश मन्त्रालय में नियुक्ति के बाद क्या आपका मन फिर कभी विश्वविद्यालय पहुँचने के लिए नहीं मचला ?"

बच्चनजी बोले, "इतनी कटुता मुझे वहाँ देखने को मिली कि मुझे ऐसा लगा कि यूनिवर्सिटियों का सारा वातावरण विषाक्त हो गया है और उसे सुधारना कम-से-कम मेरे जैसे आदमी के बस की बात नहीं है। मैं तो समझता हूँ कि मेरा कैम्ब्रिज में जाना ही एक प्रकार से दुर्भाग्यपूर्ण था। मैंने वहाँ की शिक्षा संस्थाओं को देखा, अध्यापकों को देखा, विद्यार्थियों को देखा, वहाँ के संयम को देखा और श्रम को देखा, तो मुझे लगा कि हम कहाँ जा रहे हैं। उनकी यूनिवर्सिटी से अपनी यूनिवर्सिटी की जो तुलना मेरे दिमाग में बस गयी वह वहाँ से उतर नहीं सकी। मुझमें अपने यहाँ के अध्यापकों के प्रति एक उपेक्षा और घृणा का भाव भर गया था और उसी की प्रतिक्रिया उनकी तरफ से भी हो रही थी। वे समझ गये थे कि यह जो आदमी इतने दिन वहाँ रहकर आया है इसके मन में हमारे प्रति इज्ज़त नहीं रह गयी है। मोहभंग की यह स्थिति मेरे इंगलैण्ड से लौटने के बाद आरम्भ हुई थी। पहला मोहभंग तभी शुरू हो गया था जब मैं वहाँ था—कुछ लोगों का रवैया अपने घर के प्रति देखकर। यानी जो बहुत ही नज़दीक था उसका भी विश्वास नहीं किया जा सकता था। मेरे लिए यह कितने 'मेन्टल टेन्शन' की बात थी। लौटकर यूनिवर्सिटी का जो वातावरण देखा उससे मेरा पूरा मोहभंग हो गया।

"यहाँ पर मैं अपनी कमज़ोरी स्वीकार करूँगा कि या तो मुझमें इतनी शक्ति होती कि मैं कहता कि मैं इन सब चीज़ों को बदलूँगा। इसके लिए मैंने अपने आपको बहुत कमज़ोर पाया। मेरी हैसियत क्या थी ? मैं तो यूनिवर्सिटी में लेक्चरर था। मेरे ऊपर और लेक्चरर थे, उनके ऊपर रीडर, हैड आफ द डिपार्टमेण्ट और वाइस चांसलर थे। मैंने यह देखा कि इस सारे तन्त्र को सुधारने का काम मेरा नहीं। इसका शिकार मैं हो सकता हूँ। पर मैं शिकार वहाँ कितने दिन तक होता रहता ? मुझे वहाँ से हट जाने का अवसर मिल रहा था तो मैंने हट जाना ही बेहतर समझा। आप इसे मेरी कमज़ोरी कह सकते हैं। मगर मैंने ऐसा अनुभव किया कि मैं यूनिवर्सिटी को सुधार नहीं सकता। लोग कह सकते हैं और उस वक्त भी मित्रों

ने कहा था—'भई, तुम्हारे जैसे अध्यापक को तो यूनिवर्सिटी में होना चाहिए था,' पर मैंने अपने आपको इतना सक्षम नहीं समझा कि इस सारे तन्त्र के साथ—जो कि बिगड़ा हुआ है, भीतर से, मूल से बिगड़ा हुआ है—मैं लड़ूँ।

"अब मुझे एक कारण और भी लगता है। विश्वविद्यालय में मैंने अपना एक 'बाइफर्केशन' कर लिया था। मैं एक जगह अध्यापक था तो दूसरी जगह सर्जक भी था। विदेश मन्त्रालय में मैंने देखा कि मैं यहाँ जो काम कर रहा हूँ वह तो अपनी योग्यता के केवल पाँच पर्सेण्ट से कर सकता हूँ, शेष पंचानवे पर्सेण्ट मैं अपने सर्जक को दे सकता हूँ। जब मैं पढ़ाता था, तब अपने अध्यापक को अपने साथ घर लाता था। वहाँ तो पंचानवे प्रतिशत अध्यापन के लिए था और पाँच प्रतिशत सृजन के लिए। पर जब विदेश मन्त्रालय में काम करने लगा तो आफिस के बाद मैं आफिस का सबकुछ भूल जाता था। वहाँ से आने के तुरन्त बाद मैं अपने सृजन-संसार में पैठ जाता था। मैंने समझ लिया कि अब मेरा मुख्य काम सर्जक का है, अध्यापन-वाला काम खत्म हुआ। इस वास्ते मैंने फिर कभी नहीं सोचा कि उधर लौटूँ। अपनी एक कविता में भी मैंने कहा है कि जिसकी तरफ मैं एक बार पीठ कर लेता हूँ फिर उधर कभी मुँह नहीं करता : 'जिन कपाटों की तरफ मैं पीठ करता,/फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।' तो मैंने युनिवर्सिटी की ओर लौटकर देखा ही नहीं, उसकी तरफ अपनी पीठ कर ली।"

बच्चनजी की आत्मकथा विदेश मन्त्रालय में उनकी नियुक्ति पर समाप्त हो जाती है। उनकी यह नियुक्ति सन् 1955 के अन्त में हुई थी और 1977 में आत्मकथा का तीसरा खण्ड प्रकाशित हुआ। इस बीच वे 6 वर्ष तक राज्यसभा के सदस्य भी रहे। इसलिए मैंने पूछा, "बाईस वर्ष की यह अवधि आपके विचार से क्या इतनी घटना-विहीन रही अथवा इस दौरान आपको कोई चुनौतियाँ नहीं मिलीं कि आपने आत्मकथा में उसे समेटना आवश्यक नहीं समझा ?"

यह प्रश्न बच्चनजी से कई लोगों ने कई तरह से किया होगा इसलिए वे बोले, "जब लोग कहते हैं कि मैंने अपने पिछले बीस-बाईस वर्षों के बारे में कुछ नहीं लिखा तो लगता है कि अगर मैं लिखता भी तो वह मेरी आत्मकथा नहीं होती, मेरा सृजन-संसार होता, क्योंकि जैसाकि मैंने अभी बताया तब मैंने अपने को सृजन को अधिक दिया। अगर आप मेरी रचनाओं को देखें तो आप मानेंगे कि इलाहाबाद में रहकर मैंने उतना नहीं लिखा, जितना दिल्ली में रहते हुए लिखा।

"आपने 'बसेरे से दूर' में पढ़ा होगा', मैंने आत्मकथा को 'राउण्ड अप' का एक वातावरण बनाया है जिसमें कई बातें हैं। मूल बात तो मैंने यही रखी है कि शब्द से ही मेरा एक प्रकार का मोहभंग हो गया। मुझे ऐसा लगा कि शब्दों के द्वारा, सबकुछ जो कि जीवन में हुआ है, नहीं कहा जा सकता। या आप ऐसा समझें कि शब्दों की शक्ति जितनी मैं समझता था उतनी शायद मेरे द्वारा अभिव्यक्त नहीं की जा सकी। शब्दों की बड़ी शक्ति है, पर मुझे ऐसा लगा कि शब्द पर्याप्त नहीं हैं। इसका यह कारण भी हो सकता है कि जीवन का रहस्य कुछ अधिक ही मेरे सामने आया हो। लेकिन यह भी एक बड़ी 'रिलेटिव' चीज़ है। कहते हैं न कि "जिनहि न व्यापै जगत गति"। जिन्हें जगत् की गति नहीं व्यापती उन्हें जीवन बहुत 'सिम्पल' मालूम होता है, वे उसे 'सिम्प्लीफाइड' करके देखते हैं। मगर कुछ लोगों को इसमें बड़ा रहस्य दिखायी पड़ता है और मालूम होता है कि इसे कहा नहीं जा सकता।

"मुझे भी जीवन इतना रहस्यमय लगा कि उसे शब्दों में समेटना कठिन

मालूम होने लगा। लिखते-लिखते ऐसा एक क्षण आया कि मुझे लगा कि इतना बड़ा जो मेरा जीवन था, पचास वर्षों का, उसमें इतनी गहनता थी, इन्टेन्सिटी थी कि उसकी याद भी मुझे पुलकित-विभोर कर देती है। आप शायद विश्वास न करें जीवन की मेरी बहुत-सी ऐसी अनुभूतियाँ हैं कि उनका आज भी मैं 'रिक्लेक्शन करूँ तो काँपने लगता हूँ। कभी-कभी तो मैंने सोचा कि उनकी याद न करूँ, पर अगर कोई ऐसा अवसर आ जाता है जब मुझे बरबस याद करना पड़ता है तो उसे विस्मृत करने की भरसक कोशिश करता हूँ, क्योंकि 'आई काण्ट स्टैण्ड इट' मैं उसे बरदाश्त नहीं कर सकता। शायद मेरी अवस्था में आकर आदमी इस तरह का मोह करने लगता हो, लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि जीवन की स्थितियाँ, जीवन की अनुभूतियाँ, मैंने जिस 'इन्टेन्सिटी' से जानी है, उस 'इन्टेन्सिटी' से लिखी नहीं जा सकतीं।

मैंने कहा, "यह तो आप जानते ही थे कि आत्मकथा लेखन बड़ा कष्टकर होता है, पर इसके बावजूद आपने तीन खण्ड तो पूरे कर ही दिये।" बच्चनजी तुरन्त बोले, "लास्ट स्ट्रा ब्रेक्स द कैमल्ज़ बैक" मुझे कुछ ऐसा ही लगा। दूसरी बात यह थी कि कला की यह आवश्यकता है कि 'यू शुडन्ट से टू मच,' बहुत अधिक नहीं कहना चाहिए, कुछ अनकहा भी रहने देना चाहिए। अभी तो पाठकों की माँग है कि मैं और लिखूं। इससे मेरा कलाकार थोड़ा सन्तुष्ट होता है। इसलिए मैंने सोचा कि इसके पहले कि वे मुझसे ऊब जायें, क्यों न मैं ही मौन हो जाऊँ?"

'बसेरे से दूर' में बच्चनजी ने कहा है, जीवन का सत्य और शब्द का सत्य अलग-अलग इकाइयाँ हैं। संसार का सारा साहित्य, जो शब्द का साहित्य है, जीवन को पकड़ने का एक बहुत निर्बल और निष्फल प्रयास है। इसलिए मैंने पूछा, "शब्द के साहित्य के प्रति आपका यह अविश्वास कहीं गद्य-लेखन की ऊब से तो नहीं उपजा? कहीं ऐसा तो नहीं कि इस ऊब से उबरने के लिए आपने शब्द के साहित्य की निर्बलता-निष्फलता का ब्रह्मास्त्र गढ़ लिया हो? आप कहीं यह तो नहीं मानने लगे हैं कि शब्द का साहित्य आत्मसाक्षात्कार का भी—अपने को अपने सामने प्रस्तुत करने का भी—सफल माध्यम नहीं बन सकता, जबकि आपकी कविता ने बार-बार शब्द के साहित्य की इस क्षमता को सिद्ध किया है?"

प्रश्न की तह तक पहुँचते हुए बच्चनजी बोले, "जहाँ तक अपने को अपने सामने प्रस्तुत करने का प्रश्न है वहाँ शब्द शायद एक बाधा ही हो। वहाँ शब्दों की आवश्यकता ही नहीं। हर लेखन का एक ध्येय कहीं-न-कहीं तो यह होता ही है कि कोई दूसरा आदमी उसका पढ़नेवाला हो। इसकी चेतना कहीं-न-कहीं होती ही है कि उसे कोई सुननेवाला है, और यह चेतना उस सारी स्थिति को बदल देती है। एक रूप में अपना अपने सामने देखना चाहता हूँ और एक रूप में अपना किसी दूसरे को दिखाना चाहता हूँ। इसमें दो स्थितियाँ और दो रूप हो जाते हैं। लेखक के लिए, कम-से-कम मेरे जैसे लेखक के लिए जिसका प्रयत्न यह रहा है कि मैं जैसा अपने सामने हूँ वैसा ही दूसरे के सामने भी प्रस्तुत करूँ, यह एक बड़ी संघर्ष की चीज़ थी। जब लिखने की नौबत आयी, मुझे मालूम हुआ कि इसमें बहुत भारी खोज करनी पड़ेगी, माध्यम की, शब्द की, मुहावरे की, फिगर्ज़ की ताकि अपने आपको दूसरे के सामने रख सकूँ। लिखने का मतलब ही यह था कि अपने को भी देखूँ और अपने को दूसरे के सामने प्रस्तुत भी करूँ। इन दोनों के भीतर जो साम्य लाना था वह बहुत बड़ी समस्या थी जिसे आत्मकथा-लेखक ही समझ सकेगा। जब आप कभी अपना आत्मचित्रण करेंगे तो आपको पता चलेगा कि आप अपने लिए क्या

हैं और दूसरों के लिए क्या हैं, इन दोनों में इतना अन्तर दिखेगा कि उसे मिटाने के लिए आपको शब्दों की बहुत बड़ी चुनौती लेनी पड़ेगी, अभिव्यक्ति के बहुत बड़े संघर्ष को झेलना पड़ेगा, जो मैंने बहुत हद तक अपना आत्म-चित्रण करते समय झेला है।

"दूसरा प्रश्न आपने उठाया है शब्द के साहित्य के प्रति अविश्वास का। मुझे विश्वास था कि जो मैं लिख रहा हूँ इसे बहुत से लोग पढ़ेंगे, बहुतों की यह इच्छा होगी कि मैं और आगे लिखूँ। लेकिन मैं लिखना बन्द करना चाहता था और इसके लिए मुझे एक बहुत बड़े तर्क की जरूरत थी जिससे पाठक अभिभूत भी हों और साथ ही मुझे आसानी से विदा भी दे सकें। जैसा कि आपने कहा, यह बहुत भारी ब्रह्मास्त्र मैंने छोड़ा। मेरे कलाकार ने शायद सोचा कि पाठक के लिए मैं कोई कन्विंसिंग तर्क दूँ। मैं समझता हूँ कि आप जैसे सुधी पाठक तो नहीं, लेकिन बहुत से लोग मान गये हैं कि बच्चन यह जो कह रहा है, ठीक ही कह रहा है; और उन्होंने अपने लेखनश्रम से प्राप्त अवकाश का सुखद उपयोग करने की शुभकामना देकर मुझे विदा दे दी।"

डॉ. बच्चन की सुसज्जित बैठक में चल रही इस भेंट-वार्ता की परिणति एक अविस्मरणीय काव्य-सन्ध्या में हुई। तब तक डॉ. शेरजंग गर्ग और डॉ. जीवन प्रकाश जोशी भी वहाँ आ गये थे। मेरे अनुरोध पर बच्चनजी ने 'बसेरे से दूर' में से अपनी कविता 'तुम्हारे नील झील-से नैन, नीर-निर्झर से लहरे केश' और 'मधुशाला' की कुछ रुबाइयाँ गाकर सुनायीं। सत्तर वर्ष की अवस्था में भी उनकी आवाज़ में उनके यौवन की स्वर-लहरी की प्रतिध्वनियाँ स्पष्ट सुनी जा सकती हैं।

ठहरो ! एक अनुभव के सामने झुको तो मिलेगा !*

☐ "आपकी रचनाओं का काव्य-विषय मांसल लगता रहा है। 'निशा निमन्त्रण', 'मधुशाला' आदि रचनाएँ अभिधात्मक हैं—मांसल अनुभूतियों की रचनाएँ लगती हैं। पर उनमें कभी-कभी आध्यात्मिक अनुभव की प्रतीति भी होती है—तो क्या मांसल या भौतिक एक स्तर पर जाकर आध्यात्मिक हो जाता है?"

मैं मानता हूँ कि एक स्तर पर अभिधा भी प्रतीकात्मक हो जाती है। अनुभूति गहन हो तो अभिधा से भी अनेक प्रतीकात्मक अर्थों की अभिव्यक्ति होती है। भाव यदि गम्भीर हो तो सामान्य से अलग अर्थ देता है। सरल शब्द भी गहन अर्थों में प्रतीक बन जाते हैं। संस्कृत के बड़े कवियों में ऐसा अनेक स्थलों पर मिलेगा। भाव-प्रवण कवियों में भावना की तीव्रता विवशता होकर नहीं आती, वह शक्ति होती है। भावना की तीव्रता में वे सामान्य संवेदना के कई स्तर पार कर जाते हैं। **निशा निमन्त्रण** के गीतों में—शायद मैं कविता नहीं लिख रहा था, मैं कुछ 'रिलीज़' कर रहा था। जैसे किसी भावना की जकड़ से अपने आपको मुक्त करना चाहता था। "दिन जल्दी-जल्दी ढलता है", इस कविता में कहीं भी कोई विशेष प्रतीक नहीं है।

* साक्षात्कारकर्ता : डॉ. विनय, 1981

पर भावना तीव्र है। इसीलिए 'दिन' शब्द ही प्रतीकार्थ हो गया। दिन अवस्था भी है, समय भी। और जल्दी-जल्दी में एक घबराहट है—यह घबराहट एक अभिधा को केवल लक्षणा ही नहीं बनाती, व्यंजना भी बनाती है। कविता में रूपकों की दुनिया अप्रतिम है। रूपक एक प्रकार के तार हैं। रेडियो के मैसेज (सन्देश) हैं। इन्हें आप सुनते हैं। यह मैसेज वेव्ज़ (Waves) के द्वारा आता है। कुछ वेव्ज़ चार्ज्ड —यानी विद्युत तरंगें होती हैं। अर्थात् जिस वेव पर मैसेज आ रहा है, यदि आप उस वेव पर हैं तो सुन सकते हैं अन्यथा नहीं। कविता की वेव्ज़ भी ऐसी ही होती हैं। रूपकों और बिम्बों में व्यक्ति की सचेतनता ही नहीं होती, उसका अवचेतन और पराचेतन भी होता है। मेरी कविता में भी यह है। और एक बात है कि वेदना जब गम्भीर होती है तब अहं समाप्त हो जाता है—विगलित हो जाता है। या कहना चाहिए वेदना की गम्भीरता में ही अहं विगलित होता है। यह स्थिति वियोग में अधिक होती है। ऐसी भावप्रवण रचनाओं के सन्दर्भ में समालोचक गलती कर देता है पर पाठक नहीं करता। ऐसे स्थलों पर कवि की अनुभूति भी व्यक्तिगत नहीं रहती, वह भावना की तीव्रता से सबकी हो जाती है...

और रही बात आध्यात्मिक होने की—मैं अध्यात्म का क, ख, ग नहीं जानता (सचेतन रूप में), पर मेरा कवि उसे नहीं छू रहा था यह मैं नहीं कहता। प्रेम की अनुभूति ही एक स्तर पर जाकर अध्यात्म की अनुभूति हो जाती है।

☐ तब तो 'मधुशाला' में आध्यात्मिक अनुभूति मानी जा सकती है।

हाँ, क्योंकि **मधुशाला** के प्रतीकों में मैं अध्यात्म को भी छू रहा था, चेतन स्तर पर नहीं, बल्कि अवचेतन और पराचेतन के स्तर पर। मिट्टी के प्याले का प्रतीक ही लें। मनुष्य भी तो मिट्टी ही का है। यहाँ पर शब्द स्थूल है पर अर्थ सूक्ष्म है। और अर्थ केवल शब्द का ही नहीं होता, ध्वनि का भी होता है। बड़े कवियों ने प्रयुक्त ध्वनियों से गम्भीर अर्थाभिव्यक्ति की है। तुलसी की ध्वनियाँ कितना अर्थ देती हैं। निराला के यहाँ बिम्ब की विराटता और सूक्ष्म अनुभूति कई बार ध्वनियों के बल पर ही सटीक अर्थाभिव्यक्ति करती है। ध्वनियों से संपृक्त शब्द मनोशिराओं का स्पर्श करता है। इसके लिए कई बार कवि सचेत नहीं होता, पर ऐसा होता है।

'इस पार प्रिये मधु है तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा,' यह जिज्ञासात्मक अभिव्यक्ति अध्यात्म का स्पर्श करती है। मैं जब कहता हूँ कि मैं मधुशाला में हूँ या मधुशाला मेरे में है तब मैं भावनाओं की गहराई में डूबता हूँ। बहुत कुछ विचार या भाव तो रचना के बाद रचना को पढ़कर दिमाग़ में आये कि यह भी हो सकता है। हमारे यहाँ जायसी और मलूकदास की रचनाओं में ऐसी अनेक पंक्तियाँ हैं, जिनके गहन अर्थ अध्यात्म की ओर संकेत करते हैं। एक बात और, सुख-दुःख की अनुभूति चरमावस्था में अपने अन्तर को मिटा देती है। वह एक ही होती है। यह है 'स्व' की विगलित अवस्था, 'सैल्फ़लैसनैस'। स्त्री-पुरुष के मिलन की चरमावस्था में यही 'सैल्फ़लैसनैस' की स्थिति होती है।

☐ तो क्या महादेवी की अनुभूति में यह आत्मविगलन ही आध्यात्मिक अनुभव है?

जी हाँ, महादेवी को मीरा कहा जाता है। पर असल बात यह है कि भावना के अतिरेक में महादेवी आत्मसमर्पण के चरम स्तर को स्पर्श करती हैं। यह चरम ही उनका अध्यात्म है। और यहाँ एक बात और कहूँ—कि सन्त और कवि में अन्तर होता है। सन्त में 'मौन' सबकुछ होता है। यही उसका अध्यात्म है। वहाँ शब्द भी

जल जाता है। केवल मौन, कोई ध्वनि नहीं। महर्षि रमण सन्त हैं, रवीन्द्रनाथ कवि हैं। रमण जहाँ पहुँचते हैं वहाँ जानबूझकर रवीन्द्र नहीं पहुँचते। रमण अभिव्यक्ति से आध्यात्मिकता के मौन तक जाते हैं। रवीन्द्र अभिव्यक्ति तक ही रुकते हैं। आध्यात्मिकता के दो स्तर हैं—पहला अभिव्यक्ति, दूसरा मौन! कवि अभिव्यक्ति करता है, सन्त अभिव्यक्ति में भी मौन रहता है। बड़ा कवि शब्द के माध्यम से अचेतन के सत्य को छूता है। सन्त मौन से।

☐ इसका अर्थ यह हुआ कि आज की कविता में आध्यात्मिक अनुभूति का कोई स्थान नहीं, क्योंकि उसमें मन कम मस्तिष्क अधिक बोलता है।

आज की कविता अभिव्यक्ति के तमाम स्तरों को सचेत होकर छूती है। वह सचेत ज़्यादा है। सचेतता के कारण ही उसमें वह ध्वनि कम है, जिससे यह लगे कि वह किसी सूक्ष्म सत्य की बात कर रही है।

☐ अर्थात् आज का कवि सत्य की बात कम यथार्थ की बात ज्यादा करता है।

हो सकता है यही हो। पर, मुझे लगता है कि वह (आज का कवि) अवचेतन से पराचेतन—यानी कि चौथे स्तर—'फोर्थडाइमेन्शन'—को नहीं पकड़ रहा। शब्द में एक किरण ऐसी होती है, जिसकी अभिव्यक्ति 'फोर्थडाइमेन्शन' में होती है। आज के कवियों में अज्ञेय कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनमें छायावादी संस्कार है। यह उनकी शक्ति है। बाकी कवियों में मुझे कम दिखायी देती है।

☐ इसका कारण बता सकते हैं?

मुझे लगता है कि आज देश के सामने कोई आदर्श नहीं। वह जैसे बस चल रहा है विभिन्न स्थितियों से जूझता हुआ। चारों तरफ असन्तोष है। असन्तोष से गम्भीर कविता की नहीं, व्यंग्य की उपज होती है। वह है हमारे यहाँ। लेकिन हमारे यहाँ व्यंग्य की कोई परम्परा नहीं। इसके बनने में समय लगेगा।

☐ बात व्यंग्य पर आ गयी तो क्या आप व्यंग्य को एक पद्धति मानते हैं या विधा?

व्यंग्य अभी तक पद्धति ही है हमारे यहाँ। विधा नहीं बन पायी। विदेशों में यह विधा के रूप में विकसित हो गयी। 18वीं शती के पोप, ड्राइडन के सैटायर का महत्त्व है। इससे भाषा का परिष्कार हुआ। व्यंग्य में काटनेवाली भाषा होती है। रामनारायण उपाध्याय, जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी में व्यंग्य साफ-सुथरा है। कवि-सम्मेलनी कवियों का व्यंग्य कहीं-कहीं ठीक है, शेष सामान्य से नीचे स्तर का है।

☐ समकालीन कविता के विषय में आप क्या सोचते हैं? कविता किधर जा रही है, आपके विचार में?

बहुत से कारण हैं, जिनसे कविता का भविष्य कुछ-कुछ धुँधला दिखायी देता है। गीतात्मकता को छोड़ने से (गीत नहीं) कविता का कुछ बिगड़ा ही है, बना नहीं। सामाजिक हलचल हमेशा नहीं रहती—अतः सिर्फ उस पर की गयी कविता भी स्थायी नहीं होती। उदाहरण के लिए, फ्रान्स की कविता हमारे सामने है। हमने शायद आज संरचनात्मक विधान की निरन्तरता खो दी है। मैथ्यू आर्नल्ड में एक संरचनात्मक निरन्तरता है लेकिन रूपक की कमी है। अंग्रेजी में भी सोंग लिरिक

की परम्परा समाप्त हो गयी। मैं समझता हूँ, जब सामाजिक हलचल न हो या कम हो, तब कविता को और भी कलात्मक होना चाहिए, परिपक्व होना चाहिए। मुक्त छन्द के साथ यह भाव जैसे खत्म हो गया।

☐ तो क्या गद्य ने कविता को हानि पहुँचायी ?

पूरी तरह से तो नहीं। पर मैं मानता हूँ कि गद्यात्मक होने में एक आन्तरिक पारदर्शिता समाप्त हो जाती है। जो लिख दिया, लिख दिया, उसमें रिफ्लैक्शन की शक्ति नहीं है। सही कविता शायद वही होती है, जिसमें, जो शब्दार्थ से व्यक्त नहीं होता, वह प्रतिबिम्बित होता है।

☐ ज़रा और स्पष्ट करें।

मतलब यह कि पंक्तियों के बीच एक 'पोयटिक प्रोसेस' होता है। उसके भीतर की स्थिति कविता है। यानी कि आन्तरिकता से संपृक्ति—(जिसे पोइटिक इनसाइट कहते हैं, काव्यानुभव से कन्सर्न रखनेवाली भावना)। वह आज कई कवियों में है—भारती, सर्वेश्वर, रामदरश आदि में। वस्तुत: कविता जीवन के गहरे अर्थ की अभिव्यक्ति की कला है। यह अर्थ कविता को कठिन बनाने से या सीधी अभिव्यक्ति से नहीं आता। उसमें प्रेम की तरलता, समर्पण और सीधापन चाहिए।

☐ आप प्रेम के कवि रहे हैं। 'दो चट्टानें' में आपने रूप और भाव दोनों में परिवर्तन किया है। तो क्या यह परिवर्तन आन्तरिक चिन्तन में परिवर्तन का द्योतक था या बाहरी शिल्प से प्रभावित होकर किया गया।

देखो विनय, मेरा ध्येय शिल्प कभी नहीं रहा कविता के साथ। प्रारम्भ में व्यक्तिगत संवेदना या कहना चाहिए व्यक्तिगत संवेग गहराई से छूते हैं—उनकी अभिव्यक्ति होती है, बाद में वे संवेदनाएँ प्रेरक नहीं रहतीं। कइयों के साथ ऐसा हुआ है—जैसे अंचल के साथ। एक ही जगह पाँव पटक रहे हैं। प्रेम या आकर्षण दिव्यत्व और प्रार्थना में बदलता है। प्रेम व्यक्तिगत होता है—फिर प्रेम प्रार्थना में और आगे चलकर भक्ति में बदल जाता है। तब कुछ भी व्यक्तिगत नहीं रहता, वस्तुगत हो जाता है।

☐ अर्थात् अनुभूति के समय जो व्यक्तिगत रहता है, अभिव्यक्ति में आकर वस्तुगत हो जाता है ?

बहुत कुछ—शेली, कीट्स, बायरन युवावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हुए। फिर भी उनकी अभिव्यक्ति केवल व्यक्तिगत नहीं लगती। रवीन्द्र ने भी अनुभूति को रहस्यात्मक रूप में व्यक्त किया। शेली, कीट्स, बायरन की संगीतात्मकता, रवीन्द्र की रहस्यमयता सबकुछ आन्तरिक ही थी। उन्होंने जहाँ भी फ़ार्म बदला, जो भी फ़ार्म बदला वह आन्तरिकता का ही परिणाम था! और तुमने जो परिवर्तन की बात पूछी—तो यह परिवर्तन **बुद्ध और नाचघर** से शुरू होता है। इस रचना में पहली बार बाहर के यथार्थ के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया अभिव्यक्त होती है। कुछ कवि अन्तर्मुखी और कुछ बहिर्मुखी होते हैं। बहिर्मुखी कवि की प्रतिक्रिया बाहरी स्थितियों के प्रति उतनी ही तीव्र होती है—दिनकर मूलत: बहिर्मुखी कवि थे। अत: युद्ध आदि स्थितियों के प्रति उनकी संवेदना तीव्रतम होकर व्यक्त हुई। मैं बहिर्मुखी नहीं हो सका। इसीलिए जब मेरा 'लिरिकल मूड' समाप्त हुआ तो मैं लोक जीवन

की ओर मुड़ गया। यहाँ गीत को फिर से स्थित करने की सम्भावना प्रबल थी।

☐ कुछ बाहरी कारण भी तो हो सकते हैं, जिनकी वजह से आपने लोक धुनों पर कविताएँ लिखीं।

कोई विशेष नहीं। पर पं. जवाहरलाल यह ज़रूर चाहते थे कि कवि लोक जीवन के निकट हो। उससे सिर्फ़ सहानुभूति ही न रखे—उसकी तरफ़ आकर्षित हो, उसमें उसकी भागीदारी हो। लोक जीवन की स्वाभाविकता को हम ईर्ष्या से देखें। हम जितने कृत्रिम होते जा रहे हैं, वे उतने ही सहज सरल। लोक जीवन में शक्ति है, सरलता है, यही बातें मुझे आकर्षित कर सकीं। और मैंने सोचा कि महानगरीय सभ्यता के दायरे से बाहर कविता को सुगन्ध मिल सके। इसके पहले हिन्दी, अंग्रेजी में ऐसे कई प्रयास हो चुके थे। 'परसी' ने फोक साँग का एक संकलन निकाला था जिसका प्रभाव रोमांटिक आन्दोलन पर पड़ा। वड्र्सवर्थ का रेनबो, लूसी, लोक भावना से प्रेरित थे। 1924-25 के लगभग रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम जीवन सम्बन्धी गीतों का एक संग्रह निकाला था। 'ग्राम्या' बाद में निकली।

☐ पर इन गीतों का प्रभाव अधिक नहीं पड़ा।

हाँ, यही उनकी सीमा मानी जा सकती है। पन्तजी के ग्राम गीतों ने अधिक प्रभावित नहीं किया। वे एक कलात्मक आभिजात्य से ग्रस्त रहे।

☐ आप 'दो चट्टानें' को नयी कविता की मानसिकता से जुड़ा मानते हैं?

'दो चट्टानें' की मानसिकता, नयी कविता से अलग है। और वह वस्तु जगत की सामूहिक प्रतिक्रिया से भी अलग है। वह मेरे बहिर्मुखी होने का प्रतीक है। उसमें भावना की तीव्रता के स्थान पर संवेदना की गहराई है। जहाँ 'औब्जरवेशन' करते-करते कवि 'इन्वाल्वमेण्ट' भी अनुभव करता है।

☐ यहाँ एक बात और पूछूँ, क्योंकि बात बहिर्मुखता की हो रही है। क्या आप राजनीतिक-सामाजिक चेतना को कविता के लिए अनिवार्य मानते हैं या बाहरी हस्तक्षेप?

सामाजिक-राजनीतिक चेतना जीवन का अंग है, कविता जीवन की अभिव्यक्ति है, अत: अनिवार्य हो या न हो, एक-दूसरे को प्रभावित तो करते ही हैं। कंसर्न तो है ही। मैं कभी राजनीति के प्रति सचेत नहीं रहा, पर अप्रभावित भी नहीं। 'एकान्त संगीत' की अनेक रचनाएँ प्रेरक भी हैं। प्रेरक रचनाएँ बहिर्मुखी सोच और 'डिटर-मिनेशन' से होती है।···**उर्वशी** को भी मैं बहिर्मुखी रचना मानता हूँ। दिनकर को साहित्य अकादमी पुरस्कार कविता पर नहीं, गद्य पर मिला था। तब से उनके मन में था कि पद्य पर कोई पुरस्कार लूँगा··उर्वशी की संवेदना व्यक्तिगत नहीं। उसमें कला का आलोक इतना अधिक है, भावना की इतनी आरोपित गहराइयाँ हैं कि पाठक आतंकित होता है, शायद प्रभावित कम! **उर्वशी** स्फुरण का काव्य नहीं, 'डिटरमिनेशन' का काव्य है। वह जीवन से कम जीवन के एक विशिष्ट दर्शन से अधिक उद्‌भूत है।

☐ रचनाकार और भोक्ता व्यक्ति के अन्तर को आप किस प्रकार व्याख्यायित करना चाहेंगे?

यह प्रश्न वड्र्सवर्थ से प्रमुख हुआ। इलियट ने इसे दूसरे रूप में कहा। उसके अनुसार

भोक्ता और रचनाकार में अन्तर है। वड्र्सवर्थ ने कहा था कि भावना में जीने के बाद ही शब्दों में जीने का समय आता है। भावना में जीते क्षणों में कविता नहीं होती, उन जीते हुए क्षणों की स्मृति की संवेदनात्मक पकड़ में कविता होती है। जब व्यक्ति का एक वाङ्मय शरीर बन जाता है, तब दोनों साथ-साथ भी होते हैं। यह समस्या उपनिषद् काल से है। 'द्वासुपर्णा' की अनुभूति यही है। 'स्वर्णधूलि' में पन्त ने भोक्ता-द्रष्टा के साथ-साथ होने की आकांक्षा व्यक्त की है। कभी-कभी भोक्ता की स्थिति इतनी तीव्र होती है कि शब्द उसके लिए विश्राम ('रिलीफ') हो जाता है। पर कभी-कभी ऐसा होता है कि एक भाव आता है, कुछ दमककर गायब होनेवाला-सा, यदि उस समय उसे शब्द ग्रस्त न कर लें – तो फिर बाद में पकड़ में नहीं आता। मैं समझता हूँ कि भावनाओं की भी जाति होती है। कुछ क्षणिक होती हैं। कुछ स्थायी—कुछ तीव्र होती हैं, कुछ सामान्य। इनमें एक विशेष प्रकार के निर्णय के क्षण के बीच गुज़रता है लेखक। वह निर्णय का क्षण ही सृजन का क्षण होता है। वेदना की गहराई ही शब्दों के माध्यम से बाहर आती है। अत: भाव को भोगनेवाला व्यक्ति भाव की अभिव्यक्ति करनेवाले कलाकार से भिन्न होता है। अलग रूप में नहीं, अपने होने की अलग स्थिति के रूप में।

☐ आपने 'जाल समेटा' में कविता न लिखने का निर्णय लिया था। क्या यह निर्णय उचित था, क्या अब कविता लिखने का मन नहीं करता?

बस, अब कविता नहीं लिखता। एक बात थी कि मैं कविता पर हावी हूँ, कविता मुझ पर नहीं। मैं कविता के वश में नहीं हूँ। एक ऐसी स्थिति आती है जब जीवन ही कविता बन जाता है। जो कहना था, कह दिया, लिख दिया। कुछ ऐसी ही अनुभूति थी जब यह सोचा कि अब कविता नहीं लिखूँगा।...इसके साथ एक बाहरी बात भी थी। अपने और पन्तजी के सम्बन्धों को लेकर मेरा भ्रम टूटा। आख़िर, यदि हम सही मनुष्य नहीं बन पाते, नहीं रह पाते, तो कविता की भी क्या सार्थकता है? कविता या कोई भी कला मनुष्य को सही मनुष्य बनाने का प्रयास भी तो है। और यदि रचनाकार स्वयं में एक पूरा सही मनुष्य नहीं बना, तो वह औरों को क्या बनायेगा। हमारे यहाँ इसीलिए किसी भी क्षेत्र में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए खुद बड़ा या सही होना अधिक आवश्यक माना गया है।

☐ पन्तजी के साथ आपका क्या भ्रम टूटा?

मैंने पन्तजी के दो सौ पत्र प्रकाशित कराये। वे पत्र केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थे, साहित्यिक सम्पत्ति थे अत: प्रकाशित करा दिये। मेरा कोई मोटिव नहीं था। पर पन्तजी ने उन पत्रों को लेकर मुझ पर केस कर दिया। मुझे लगा जैसे उनका मनुष्य आहत हुआ है। पर वे मुझसे बात कर सकते थे। केस की अमानवीयता की क्या ज़रूरत थी? और भी, केस में लिखने के लिए मेरे पिता के नाम के स्थान पर लिखा 'फ़ादर्स नेम नाट नोन'। यह भी वे मुझ से पूछ सकते थे। उन्होंने केस के जो कारण दिये, उनमें एक कारण था—आर्थिक लाभ। मेरे बरिष्ठ मित्र बन्धु ने मुझे इतना ग़लत समझ लिया! मुझे इस रूप में देखा! उन दिनों यह अनुभूति अत्यन्त प्रबल होकर मेरे मन पर छायी थी। अत: कुछ कविताएँ भी लिखीं। वे **जाल समेटा** में हैं। पर मैं कविता को ऐसी अनुभूतियों के लिए नहीं समझता, कविता व्यक्तिगत राग-द्वेष से परे है। परे रहनी चाहिए। बात यह है कि कवि या कोई भी कलाकार जिस समय अपने जीवन के जिस संवेदनात्मक अंश को गहराई से जी रहा हो, वह

उसके अतिरिक्त और कुछ लिख भी नहीं सकता। वह वही लिखेगा। उस समय जीवन की सारी स्थितियाँ उसी बिन्दु से व्याख्यायित होंगी। आप प्रेम जी रहे हैं तो प्रेम लिखेंगे। घृणा जी रहे हैं तो घृणा। यही रचनात्मक प्रामाणिकता भी है। तो उन दिनों इस बात को लेकर मैं ज्यादा 'बिटर' नहीं होना चाहता था। अत: कविता छोड़ दी। बस यही कुछ कारण थे। पर अभिव्यक्ति करता रहा, गद्य लिखकर, बोलकर।—

☐ लेकिन जब आप एक घटना से इतना सोच सकते हैं, तो क्या यह माना जाये कि आज मूल्यों के क्षरण में कविता की सार्थकता नहीं है ?

नहीं, सार्थकता है। मेरे अपने कारण हो सकते हैं। पर मैंने अपने युग के मूल्य स्तर पर कविता लिखी—वह सार्थक है या नहीं, पाठक जाने। पर यह तो निश्चित है कि आज मूल्यों का कोई अर्थ नहीं रह गया। आदमी पहले से अधिक स्वार्थी हो रहा है। ऐसे में आज का कवि स्थितियों से टकरा रहा है, वह मूल्यहीनता की बात करता है, पर उसके मन में भी मूल्यों की ललक है। कौन है जो मूल्यवत्ता से भरा जीवन नहीं जीना चाहता!—मैंने इसलिए भी कविता छोड़ी कि उसी फ़ार्म में खुद को 'रिपीट' न करूँ और कोई दूसरा फ़ार्म आज के युग के तनाव के लिए मैं चुन नहीं सकता था। काव्यानुभव में एक अनुभव से दूसरे तक जाने पर शिल्प भी बदलता है। मैं आज के अनुभव के साथ सही टकराहट नहीं अनुभव कर सकता। —मैं अपने को 'रिपीट' करना नहीं चाहता था। अत: मैं समझता हूँ, वह निर्णय ठीक था।

☐ बम्बई में आपको कैसा लगता है ?

बम्बई में ठीक है। बच्चों के बीच हूँ। तिहत्तर पार हो गया है, वैसे भी आराम चाहिए। यहाँ अमिताभ का वट वृक्ष है, उसके नीचे बच्चन को थोड़ा चुप ही रहना चाहिए। और मैं भी अब ज्यादा परिश्रम नहीं कर सकता। बस, पिछले दिनों आत्मचरित ही लिखा है। 'बसेरे से दूर' दिल्ली में दो वर्ष में लिखा और अब मैं समझता हूँ कि मैं अपने बारे में काफ़ी विस्तार से कह चुका।···भाई बहुत कुछ अनलिखा भी रहना चाहिए, आदमी सबकुछ लिख भी तो नहीं सकता—और देखो अब ज्यादा मत बुलवाओ। बहुत कुछ अबोला भी तो रहना चाहिए।···

बम्बई दूरदर्शन पर*

पद्मा सचदेव : आज से करीब पचास वर्ष पहले हिन्दी में एक नये नक्षत्र का उदय हुआ, काले, कड़े, घुँघराले बाल, साँवला सलोना रूप, तीखे नैन-नक़्श और झूमकर मधुशाला की पंक्तियाँ पढ़ता, माहौल में एक खुमारी-सी बिखेरता हुआ कवि बच्चन, हजारों श्रोताओं को अपनी पुरकशिश आवाज़ और दिल

* साक्षात्कारकर्ता : श्रीमती पद्मा सचदेव (1981)

की गहराई तक छू जानेवाले शब्दों से मन्त्रमुग्ध करता हुआ कवि बच्चन, अपनी मधुशाला से और दूसरी कविताओं से खड़ी बोली हिन्दी कविता को पाठ्यक्रम, शब्दकोश और रहस्यवाद की दुनिया से साधारण लोगों तक ले आया जैसे वर्षों पहले भगीरथ गंगा को हिमालय के उत्तुंग शिखरों से प्यासी धरती तक ले आये थे।

हिन्दी में वाद आते रहे, वाद जाते रहे, गुट बनते रहे, गुट बिखरते रहे, आचार्य बहस-मुबाहिसे करते रहे, लेकिन बच्चनजी अपनी कविताओं से, अपने गीतों से लोगों को मन्त्रमुग्ध करते रहे, गीत गाते रहे, गाते ही रहे। 'गंग-जमुन के तीर डोंगा डोले'—उनकी कविता का यह जादूभरा डोंगा शान से पाल उड़ाता हुआ आधी शताब्दी की यात्रा तय कर आया है। आज हम उनसे इस यात्रा के कुछ खट्टे-मीठे अनुभव, कुछ यादें, कुछ भेद—उनके बारे में बातचीत करेंगे। सबसे पहले मैं महाकवि को प्रणाम करती हूँ। (मैं भी आपको प्रणाम करता हूँ।—डॉ. बच्चन) मैं दूरदर्शन की तरफ से और अपने दर्शकों-श्रोताओं की तरफ से आपका अभिनन्दन करती हूँ कि आप यहाँ आये हैं।

डॉ. साहब, कवि को कहते हैं कोई इलहाम होता है, कुछ अनुभूति होती है और लोगों से अलग, तभी वह लिखता है। इस अनुभूति के बारे में सबसे पहले कुछ बताइये।

डा. बच्चन : पद्माजी, आपने तो मेरी इतनी तारीफ़ कर दी कि अब मैं सोचता हूँ कि मैं क्या कहूँ कि उस तारीफ़ के योग्य साबित होऊँ।

बहरहाल, आपने अनुभूतियों की बात कही है। जहाँ तक मेरी कविता का सम्बन्ध है, वह केवल जीवन की अनुभूतियों पर ही निर्भर है। और अनुभूति का क्षेत्र मेरा अपना जीवन भी है। स्वाध्याय से, कल्पना से अनुभूति को समृद्ध किया जा सकता है। शेक्सपियर को पढ़ें, तुलसीदास को पढ़ें, मिल्टन को पढ़ें और जो भाषाएँ आप जानते हैं अगर तो उनमें जो उच्च कोटि का साहित्य है उसको पढ़ें, उससे आपकी अनुभूतियों का क्षेत्र बढ़ेगा। लेकिन बिना मौलिक अनुभूतियों के जो आपकी अपनी हैं सृजन नहीं हो सकता—क्योंकि वहाँ तो आपको कल्पना लगानी पड़ेगी न···रोमियो और जूलियट का जीवन जीने का अवसर आपको नहीं मिलेगा और हमको भी नहीं मिला, लेकिन हम कल्पना तो कर सकते हैं। और साहित्य का काम ही यह है कि हमें कल्पना के द्वारा उन अनुभवों से गुज़ार दे। बहुत-से लोग नाटक पढ़ते हुए जूलियट का जब ज़िक्र आता है, रोते हैं। क्या मतलब है? उन्हीं अनुभूतियों से कल्पना में गुज़रते हैं। मगर कविता लिखने के लिए एक दूसरी तरह की अनुभूतियाँ चाहिए जो आदमी की रग-नस में पैठी हों, जो नस में डोलें, जो नाड़ी में रक्त की तरह वहें। उसी अनुभव से कविता लिखी जा सकती है और मैंने अपने-आपको ऐसे समझा कि जैसे मैं एक पैमाना हूँ, मनुष्य का एक पैमाना, अगर मेरे अन्दर किसी प्रकार की अनुभूति होती है और उससे मैं प्रसन्न या विचलित होता हूँ या और किसी तरह का भाव मेरे अन्दर उठता है तो अगर आप भी मनुष्य हैं—और संसार में इतने मनुष्य हैं मेरी ही तरह—तो उनकी भावनाएँ भी कुछ ऐसी होती होंगी। और अगर मैं अपनी अनुभूतियों को मुखरित करूँ तो शायद उनकी अपनी अनुभूतियाँ भी मुखरित हो उठें। कविता का काम मुख्य यही है क्योंकि अनुभव तो कोई ऐसी चीज नहीं है जो कवियों को ही

होता हो। कवियों से अधिक तीव्र अनुभूति शायद और लोगों को होती है, लेकिन उनके पास शब्द सम्पदा नहीं होती। तो इस वास्ते कवि अपनी अनुभूतियों को वाणी दे देता है और दूसरे लोग जब उस वाणी को पढ़ते हैं, उसमें डूबते हैं तो उन्हीं अनुभवों से वे गुज़रते हैं।

पद्मा सचदेव : वाह, बहुत अच्छी बात कही आपने, डाक्टर साहब। मैं यह जानना चाहूँगी कि पहले कवि सम्मेलन में जब आपने मधुशाला पढ़ी थी तो लोग आपके साथ गाने लगे, घण्टों सुनते रहे और इतिहास में ऐसा देखा नहीं है कि सारी-सारी रात किसी कवि को लोगों ने ऐसे सुना हो जैसे आपको सुना। तो एक तो कवि सम्मेलन के बारे में बताइये और यह भी बताइये कि कवि सम्मेलन शुरू कैसे हुए हिन्दी में।

डा. बच्चन : हिन्दी प्रचार तो बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से हुआ विशेष रीति से। 1903 में, शायद आपको मालूम हो, नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई और उसके कुछ दिन पहले से यानी भारतेन्दु के बाद से हिन्दी का विशेष प्रचार हुआ। हिन्दी प्रचार को एक आन्दोलन के रूप में भारतेन्दु ने शुरू किया। हिन्दी प्रचारिणी सभा करके स्कूल-कालेजेज में हिन्दी सभा, वादविवाद सभा या कवि सभा इस तरह की चीजें बनायी गयीं और इनके द्वारा बहुत-कुछ प्रचार हुआ। कवि सम्मेलनों की हिन्दी में प्रथा रही हो कभी तो राजदरबारों में। उसके बाद तो लोग मुशायरा जानते थे। अगर मेरे पिताजी से या मेरे बाबाजी से आप पूछतीं कवि सम्मेलन, तो वह कहते कि यह क्या है। समस्यापूर्तियाँ राजदरबारों में हुआ करती थीं, लेकिन साधारण समाज से कवि सम्मेलन निकल गया था। और जब हिन्दी का प्रचार हुआ तो उर्दू मुशायरे की तर्ज पर हिन्दी कवि सम्मेलन आरम्भ हुआ। और इन हिन्दी-वालों को तो यह भी नहीं मालूम था कि कविता की प्रशंसा कैसे करें। उर्दू के मुशायरे में बहुत-से प्रचलित मुखड़े हैं 'सुभानअल्लाह' या 'मुकर्रर इरशाद'। कुछ दिन चला था यह, जब नकल चली तो कुछ दिन चला था पुनर्वाद-पुनर्वाद। अब कोई पुनर्वाद नहीं कहता क्योंकि यह नक़ल थी। अब हिन्दी में तालियाँ बजती हैं या वाह-वाह होती है, यानी जो स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है वह होती है और हिन्दी की कविता चूँकि ऐसी थी भी नहीं। उर्दू की कविता चूँकि ग़जल पर आधारित है इस वास्ते हर दो पंक्ति के बाद भावनाओं का ऐसा उद्वेलन होता है कि आदमी तारीफ़ करता है। मगर हिन्दी कविता आप बीस पंक्ति सुनिये तब जाकर उसका भाव खुलता है। तो इस वास्ते वहाँ पर ऐसे अवसर नहीं हैं यानी हर काव्यपाठ की प्रतिक्रिया अपनी भाषा, अपने साहित्य की अलग होगी और हिन्दी की अपनी प्रतिक्रिया, स्वाभाविक प्रतिक्रिया होने में काफी समय लगा।

पद्मा सचदेव : यह जो नयी कविता है, इसने क्या गीत की विधा को खत्म कर दिया है?

डा. बच्चन : आप मुझे बड़े खतरनाक मुद्दों पर बात करने के लिए कह रही हैं...

पद्मा सचदेव : नहीं, क्योंकि आपके ज़माने में गीत कितने प्रचलित थे, पण्डित नरेन्द्र शर्मा थे, आपके दूसरे लोग थे जिनके गीत अब तक लोग गुनगुनाते हैं।

डा. बच्चन : अगर आप मुझसे एक वाक्य में पूछें नयी कविता ने कविता को क्या गुण-दोष दिये हैं तो मैं कहना चाहूँगा कि श्रोता और पाठक के बीच में संवाद को गायब कर दिया है। और जो हिन्दी कविता को फिर से स्थापित करेगा

उसका पहला काम यह होगा कि वह श्रोता और पाठक के बीच में जो संवाद खत्म हो गया है उसको फिर से स्थापित करे। अब यह क्यों हुआ है इसकी तफसील में जाने में मुझे बहुत समय लगेगा। इतना समय आपके पास हो तो फिर मैं कुछ बताना शुरू करूँ क्योंकि यह एक ऐसा विषय है जिस पर पन्द्रह-बीस मिनट तक बातचीत हो सकती है।

पद्मा सचदेव : हाँ, वह मैं जानती हूँ। आप मुझे यह बताइये कि कवि सम्मेलनों में आप जाया करते थे, बहुत-से लोग होते थे आपके साथ। तो आपस में बहुत प्यार रहता था जैसे मैंने आपकी 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'प्रवास की डायरी' और दूसरी किताबें जो मैं पढ़ रही हूँ दोबारा बच्चनजी को करीब से जानने के लिए उनमें पाया है—तो उन दिनों आपस में बहुत अच्छे सम्बन्ध रहते थे, गुटबन्दियाँ होती होंगी शायद···

डा. बच्चन : गुटबन्दियाँ नहीं, पर ईर्ष्या-द्वेष था। यह तो साहित्य में आज से नहीं, कालिदास के समय से होता आया है। कालिदास के समय का कोई कवि था दिग्नाग। मेघदूत में कालिदास ने उस पर व्यंग्य किया दिंगनागा नाम्···। तो यह व्यंग्य और ईर्ष्या और द्वेष—ये बीसवीं शताब्दी के वरदान नहीं हैं, ये बहुत पहले से थे और हमारे समय में भी थे। पन्त और निराला के बीच जो कटु सम्बन्ध थे परस्पर जो ईर्ष्या-द्वेष चलता था, उसका इतिहास बना हुआ है। पन्त के पल्लव पर निराला ने क्या नहीं लिखा और निराला की कविताओं पर पन्तजी ने क्या नहीं कहा और उनके देहावसान के बाद भी क्या नहीं लिखा। तो यह सब तो हमेशा से चलता रहा। लेकिन गुणग्राहक भी होते हैं, कवियों में, आपस में गुण के ग्राहक भी होते हैं। हमने कभी सुना था कि एक किसी का दुश्मन था जब वह मर गया तो कहने लगा कि अब किससे लड़ाई करूँगा, जो हमारे जोड़ का था वह तो खत्म हो गया, उसका अफसोस था कि एक हमारा सामना तो करनेवाला था।

पद्मा सचदेव : वही मेरा मतलब था कि आपस में थोड़ा-सा द्वेष होते हुए कहीं एक बड़ा पतला-सा धागा गुणग्राहकता का भी था जो उनको जोड़ा करता था।

डा. बच्चन : गुणग्राहकता भी थी और मेरा ख्याल है कि वह बिलकुल गायब नहीं हुई है, आज भी है। मगर यह है कि आज का कवि पढ़ने के लिए लिख रहा है, सुनने के लिए नहीं लिख रहा। नये कवि जो हैं कवि सम्मेलनों से चले गये और कवि सम्मेलनों के ऊपर हास्य हावी हो गया है। और हास्य जो है उसकी बड़ी गिरावट हुई है, हास्य में बड़ी अश्लीलता आ गयी है। मैं तो अब कवि सम्मेलनों में जाता नहीं। लेकिन अगर आप जायें तो आप बहुत देर नहीं बैठ सकेंगे। अगर आप सुरुचिपूर्ण व्यक्ति हैं तो बहुत देर आपका बैठना नामुमकिन होगा।

पद्मा सचदेव : कभी-कभी दिनकरजी से आपकी बात होती थी तो जिस स्नेह के साथ वह आपका नाम लेते थे और उनके चेहरे पर जो एक मातृत्व का-सा भाव आ जाता था और चेहरा बदल जाता था, मुझे इस वक्त वह याद आ रहा है। इसलिए मैं यह सोच रही थी कि छोटी भाषाओं में भी, छोटी भाषाओं से मेरा मतलब है हिन्दुस्तान में कई भाषाएँ हैं, हमारी डोगरी में या दूसरी भाषाओं में सब जगह गुटबन्दियाँ हैं, लेकिन पहले जो एक मुहब्बत का जज़्बा हुआ करता था वह लगता है, गायब हो गया है।

डा. बच्चन : देवीजी, आपने दिनकर की याद दिलाकर मेरे मर्म को छू दिया है। दिनकर के जाने के बाद मैंने किसी आदमी से खुलकर बात नहीं की है। दिनकर वह आदमी था जिसके साथ मैं अपना दिल खोलकर जो कुछ भी चाहता था, जैसी भाषा में श्लील, अश्लील, जो कुछ भी, वह सबकुछ कह सकता था। वह मैंने आपसे कह दिया कि दिनकर के बाद मैंने किसी आदमी से खुलकर बात नहीं की। बस, अब ज्यादा मत पूछिये।

पद्मा सचदेव : कहते हैं कवि सम्मेलनों में पहली ही बार किसी युवा कवि को इतनी वाहवाही मिले जितनी आपको मिली तो उसके बाद उसका लिखना बन्द हो जाता है, कुछ लोग कहते हैं। आपने तो इतना ज्यादा लिखा, इतना ज्यादा लिखा, उसके बाद मैंने तो देखा है 'प्रवास की डायरी' में पढ़ा है जब आप केम्ब्रिज में थे तब आप रोज ही एक कविता लिखा करते थे। मैं बड़ी हैरान होती हूँ रोज़ अठारह घण्टे काम करने के बाद जब आप थक जाते थे तो कल मुझे तेजीजी, आपकी पत्नी, बता रही थीं कि आपने एक डेस्क बनवाया हुआ था जिस पर आप खड़े होकर काम करते थे। मेरा नहीं ऐसा ख्याल कि आज कोई इस तरह काम करता है। तो इतना काम, इतना व्यस्त रहने के बावजूद, आपने हिन्दी भाषा के लिए इतना किया।

डा. बच्चन : देखिये, मैं यह श्रेय तो नहीं लेना चाहता हूँ कि मैंने हिन्दी भाषा के लिए कुछ किया। आप कृपया मेरा नाम हिन्दी सेवियों में मत डालिये। मेरे अन्दर किसी तरह का उबाल था, भावनाएँ थीं। हिन्दी ने इतना ही क्या कम किया कि मुझे एक भाषा दी कि मैं उसके द्वारा अपने भाव को व्यक्त कर सका। अगर हिन्दी ने यह भाषा मुझे न दी होती तो मैं भीतर-भीतर घुट जाता। मैंने हिन्दी की क्या सेवा की, हिन्दी ने मेरी सेवा की। यह जो हिन्दी सेवा का श्रेय लेते हैं, भाई, मैं नहीं जानता यह कैसे लेते हैं। और हिन्दी अपनी एक पंक्ति से जितना उपकार कर सकती है, उतना आप लाख पंक्ति लिख-कर नहीं कर सकते। तुलसीदास और सूरदास और कबीर और मीरा ने अपनी एक-एक पंक्ति से क्या सम्पत्ति दी है, भाव सम्पत्ति दी है। आप जीवन भर कलम रगड़कर उसका ऋण नहीं अदा कर सकते। या तो आप कविता समझते नहीं, या तो सूर, तुलसी, कबीर और मीरा को आपने समझा नहीं, अगर आप समझे तो यही भावना होगी कि अपनी एक-एक पंक्ति से जो वह दे गये हैं, उसका ऋण हम लाख-लाख पंक्ति लिखकर नहीं चुका सकते। कम-से-कम मैं तो यही अनुभव करता हूँ।

पद्मा सचदेव : तुलसीदासजी की बात हो रही है तो आपकी मातृभाषा भी अवधी है न ?

डा. बच्चन : मेरी मातृभाषा अवधी है।

पद्मा सचदेव : उसमें आपने कुछ लिखा है ?

डा. बच्चन : वैसे मैंने अपनी रचनाएँ तो नहीं कीं, मगर मैंने जब गीता का अनुवाद किया तो मैंने अवधी भाषा में किया और वह अनुवाद बहुत प्रचलित हुआ। दो बातें मेरे मन के अन्दर थीं। शायद यह अवधी के प्रति मेरा पक्षपात समझा जाय, पर मैं कह देना चाहता हूँ कि मैं ऐसा समझता हूँ कि तुलसीदास ने और अन्य-अन्य अवधी में लिखनेवाले जैसे मलिक मुहम्मद जायसी ने इस भाषा की क्षमता को इतना अधिक बढ़ाया है कि बहुत जगहों पर संस्कृत जो नहीं कह पाती, वह अवधी कहती है। संस्कृत देवभाषा है, मैं उसकी अवमानना

नहीं कर रहा हूँ—उसको सब सत्कार। लेकिन मेरी अनुभूति यही है। आप उदाहरण माँगेंगी तो मैं दूँगा, पर मेरी अनुभूति ऐसी है। और मैंने एक कविता लिखी थी—

"पढ़ता हूँ अंग्रेजी जिसने द्वार विश्व कविता के खोले…"

क्योंकि अंग्रेजी के माध्यम से आप सारे संसार की कविताएँ पढ़ सकते हैं, कहाँ इतनी भाषाएँ जानें, रूसी, जर्मन, मैंने तो बहुत-से कवियों को पढ़ा, अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ा।

"पढ़ता हूँ अंग्रेजी जिसने द्वार विश्व कविता के खोले
रहती है मन की मन ही में बात बिना अवधी में बोले।"

माँ जब मेरी कहती थीं खाना खिलाते वक्त, 'अवर ल' तो उस 'अवर ल' में जो मज़ा आता था वह 'और लीजिये' में नहीं आता—'अवर ल'। वह याद करता हूँ तो उसका सारा दृश्य नजर आता है, कैसे वह अपने भाव को अपने शब्दों में रखती थी। ऐसी न जाने कितनी पंक्तियाँ हैं। मैं तो इतना समर्थ नहीं हूँ कि उस भाषा का पूरा एक्सप्लोइटेशन अंग्रेजी में कहते हैं—शोषण तो नहीं कहना चाहिए, कर सकूँ मगर उस भाषा की जितनी क्षमता और सम्भावना है उसको ला सकना हमारे लिए तो बहुत ही मुश्किल काम था, मगर फिर भी अनुवादों में मैंने एक-आध जगह अनुभव किया कि गीता जितना कहती है उससे अधिक सूक्ष्म भाव से अवधी कह गयी है, मैं श्रेय नहीं लेता। जैसे वह पंक्ति है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

अब मैंने जो अनुवाद किया आप कहें तो मैं सुना दूँ, छोटी-सी पंक्ति है

करमहि पर बस तोर बसाऊ
फल पर तोहि अधिकार न काऊ।

जो संस्कृत की पंक्ति है उसका सिर्फ यही अर्थ है कि कर्म पर ही तेरा अधिकार है 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन', फल पर नहीं। मगर वृक्ष का जो रूपक है वह इसमें खड़ा नहीं होता। कर्म और फल वृक्ष के रूपक से एक होते हैं, ऐसा नहीं है। लेकिन अवधी ने क्या किया है—

करमहि—महि कहते हैं पृथ्वी को। कर की जो पृथ्वी है, कर्म की जो पृथ्वी है, उस पर तो तेरा अधिकार है, मगर फल जो ऊपर फल रहा है, उस पर तेरा अधिकार नहीं है। तो जब तक इस महि से आप नहीं जोड़ेंगे तब तक वह फल की दूरी जो है उसका चित्र आपके सामने नहीं आ सकता। जो अवधी ने किया है क्षमा कीजियेगा, देववाणी ने नहीं किया है।

पद्मा सचदेव : तो वह अपनी अवधी में थोड़ा सुना दीजिये।

डा. बच्चन : शुरू से ही कुछ सुनाऊँ?—'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवा:' तो मैंने शुरू किया था—

धर्म खेत कुरु खेत सुहावा, जंह कौरव पांडव दल आवा।
काह करेन्हि तहं दोउ समुदाई, संजय मोहि कहहु समुझाई।

एक-आध लाइन बीच की भी याद है मुझे—

जे अनन्य मन सुमिरहिं मोही, जे मो सन छन दूरि न होहीं।
जे नित निज चित मोसन बांधे, तिन कर जोग क्षेम मम काँधे।

योगक्षेमंवहाम्यहम्। भगवान अपने कन्धे पर उसका योगक्षेम लेते हैं। कन्ध में एक रूपक है जो वहाँ पर नहीं है। अन्त में है कि—

यत्र योगेश्वरो कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः...

वह छन्द मैंने किया—

जहँ कृष्न जोगेस्वर, जहाँ धनु साजि अर्जुन राजहीं
तहं रहइ श्री, वैभव, विजय, ध्रुव नीति, मम सम्मति सही।

ध्रुवा नीतिर्मम···तो इस प्रकार जो मैंने अनुवाद किया है अगर उसमें कोई गुण है तो वह मेरा गुण नहीं है, वह तो अवधी भाषा का गुण है।

पद्मा सचदेव : अब अवधी से कविता पाठ आरम्भ हो चुका है, इसलिए मधुशाला···

डा. बच्चन : देखिये, बात यह है कि मैं 74 वर्ष पूरे करने को हूँ, अब मेरे कण्ठ में वह स्वर नहीं है। आप जब कहेंगी तो एक-आध मैं कहने का प्रयत्न करूँगा, लेकिन मैं उस स्वर में, पचास वर्ष पहले जिस आवाज में सुनाता था···अब नहीं सुना सकता।

पद्मा सचदेव : आप 74 की तरफ मत देखिये, हम 4 पहले कर देते हैं और 7 उसके आगे कर देते हैं। अब आप मधुशाला का कुछ सुना दीजिये जो भी आपको इस समय याद आ रहा हो।

डा. बच्चन : 'अपने युग में सबको अनुपम ज्ञात हुई अपनी हाला।
अपने युग में सबको अद्‌भुत ज्ञात हुआ अपना प्याला।
फिर भी वृद्धों से जब पूछा एक यही उत्तर पाया,
अब न रहे वे पीनेवाले, अब न रही वह मधुशाला।'

हमने अपने युग के वृद्धों के लिए लिखा था, यह नहीं जानता था कि इसको पढ़ते-पढ़ते एक दिन मैं ही वृद्ध हो जाऊँगा।

फिर भी वृद्धों से जब पूछा, एक यही उत्तर पाया,
अब न रहे वे पीनेवाले, अब न रही वह मधुशाला।

और उसी के जोड़ की एक रुबाई और सुना देता हूँ, अब इसके बाद मत कहियेगा।

कितनी आयी और गयी पी इस मदिरालय में हाला।
टूट चुकी है कितनी अब तक मादक प्यालों की माला।
कितने साक़ी अपना-अपना काम खत्म कर दूर गये।
कितने पीनेवाले आये, किन्तु वही है मधुशाला।

एक बात आपको बता दूँ कि मधुशाला जो है वह महाराष्ट्र में बहुत प्रिय है और सबसे पहला अनुवाद मधुशाला का मराठी में ही हुआ और इस समय तक तीन अनुवाद मराठी में छप चुके हैं, प्रकाशित हो चुके हैं, उसके बाद अंग्रेजी में हुआ और अभी दो दिन हुए बंगला अनुवाद छपकर मेरे पास आया।* मुझे खुद नहीं पता लगता कि यह किताब इतनी लोकप्रिय क्यों है अभी तक, पचास वर्ष हो गये, लोग उसके पीछे पड़े हुए हैं।

* अब मलयालम अनुवाद भी आ चुका है।

पद्मा सचदेव : लोगों के मन की बात उसमें है। मेरे ख्याल में इसीलिए इतनी पापुलर है। थोड़ा-सा ही आपने गाया, लेकिन मुझे यों लग रहा है कि जैसे वह पहला कवि सम्मेलन जो आपका हुआ था उसमें श्रोताओं में मैं भी कहीं बैठी हुई हूँ।

डा. बच्चन : पचास वर्ष पहले ? तब तो आपका जन्म भी नहीं हुआ था।

पद्मा सचदेव : पिछले जन्म में भी तो बैठ सकती हूँ। थोड़ा-सा और।

डा. बच्चन : अब काव्य-पाठ नहीं हो सकता, मतलब यह है कि रिसाइटेशन नहीं हो सकता। आप कहें तो एक-आध कविताएँ ऐसे ही पढ़कर सुना दूँ। एक गीत मैं आपको सुनाऊँगा। मेरा ख्याल है वह प्रणय पत्रिका से है, अब मुझे याद भी नहीं रहता है, वृद्धावस्था में स्मृति जो है वह खराब हो जाती है। लेकिन पहले एक गीत मैं आपको निशा-निमन्त्रण का सुनाना चाहता हूँ—

विश्व सारा सो रहा है···

निशा निमन्त्रण की कविता जो है वह रात के वातावरण में लिखी गयी और मेरे जीवन के बड़े अवसाद की घड़ियों में लिखी गयी थी। मन मेरा अवसाद में डूबा हुआ था, रात-रात भर नींद नहीं आती थी, आसमान को देखता रहता था, मगर आप यह देखिये कि किस प्रकार से भावनाएँ और शब्द एक होते हैं—

विश्व सारा सो रहा है

कोई कटु शब्द नहीं है। जैसे किसी को चुप कराना हो तो आप कहते हैं 'शी'···।

विश्व सारा सो रहा है
हैं विचरते स्वप्न सुन्दर
किन्तु इनका संग तजकर
व्योम व्यापी शून्यता का कौन साथी हो रहा है।
विश्व सारा सो रहा है।

भूमि पर सर सरित निर्झर

सर सरित निर्झर, जैसे एक ध्वनि भी आ रही है कि निर्झर जैसे झर भी रहा है, 'सर सरित' जैसे एक विशेषण हो गया है।

पद्मा सचदेव : और इतने सरल शब्द।

डा. बच्चन : भूमि पर सर सरित निर्झर
किन्तु इनसे दूर जाकर
कौन अम्बर की नदी में घाव अपने धो रहा है।
विश्व सारा सो रहा है।

आकाशगंगा है। वह ताक रहा है आकाशगंगा को, तो अपने घाव ही धो रहा है जैसे।

भूमि पर सर सरित निर्झर
किन्तु इनसे दूर जाकर,
कौन अम्बर की नदी में घाव अपने धो रहा है।
विश्व सारा सो रहा है।

न्याय न्यायाधीश भू पर

वकील भी हैं, वकालत भी होती है, जज भी हैं, लेकिन हमारे दुख को कौन सुनेगा।

न्याय न्यायाधीश भू पर,
किन्तु इनसे दूर जाकर
कौन तारों की सभा में दुःख अपना रो रहा है।

क्योंकि तारो, तुम साक्षी हो, ऊपर से तुम सबकुछ देखते रहे हो, तुम बताओ, तुम न्याय करो क्योंकि तुमने सब देखा है। संसार की आँखें बहुत सीमित हैं, एक पक्ष लोग देखते हैं, एक नहीं देखते।

कौन तारों की सभा में दुःख अपना रो रहा है।

अगर समय हो तो एक कविता आपको और सुना दूं।

पद्मा सचदेव : अवश्य।

डा. बच्चन : यह शायद 'प्रणय पत्रिका' का गीत है। मैं अपनी कविता के ऊपर लिख रहा हूँ, कि मैंने अपनी कविता किसे सम्बोधित की है और मैं अपनी कविता के विषय में क्या समझता हूँ—

अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे
आज तू ही बोल मेरे भी गले से।

यह म्यूज को, जो मेरी कविता-कामिनी है, उसको मैंने कहा है—

अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे
आज तू ही बोल मेरे भी गले से
पुण्य हो या पाप हो मैंने किया है
आज तक कुछ भी नहीं आधे हृदय से
औ' न आधी हार से मानी पराजय
औ' न की तस्कीन ही आधी विजय से।
आज मैं सम्पूर्ण अपने को उठाकर
अवतरित ध्वनि शब्द में करने चला हूँ।

अवतरित—'रिइनकारनेट'। आपने अनुभूतियों के बारे में पूछा था। अनुभूतियाँ ही जब शब्द हो जाती हैं तब कविता बनती है।

अवतरित ध्वनि शब्द में करने चला हूँ।
अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे
आज तू ही बोल मेरे भी गले से।
और क्या है खास मुझमें जोकि अपने आपको साकार करना चाहता हूँ।
खास यह है सब तरह की ख़ासियत से
आज मैं इनकार करना चाहता हूँ।
हूँ न चाँदी, हूँ न सोना, हूँ न मूंगा, हूँ न माणिक, हूँ न हीरा
किन्तु मैं आह्वान करने जा रहा हूँ देवता का एक मिट्टी के डले से।

और मेरे देवता भी वे नहीं हैं जो कि ऊँचे स्वर्ग में हैं वास करते
और जो अपनी महत्ता छोड़ सत्ता में किसी की भी नहीं विश्वास करते
देवता मेरे वही हैं जोकि मिट्टी में सने संघर्ष करते
प्रीत करते गीत गाते और जो छाती बढ़ाते एक होने के लिए हर दिल जले से

देवता मेरे वही हैं, देवता मेरे वही हैं

अन्तिम पद :

छप चुकी मेरी किताबें पूर्वी औ' पश्चिमी दोनों तरह के अक्षरों में

अंग्रेजी में भी छप चुकी हैं।

औ' सुने भी जा चुके हैं भाव मेरे देश औ' परदेश दोनों के स्वरों में
पर खुशी से नाचने को पाँव मेरे हैं नहीं तैयार तब तक···

आपने बहुत कहा कि आप बहुत लोकप्रिय रहे, मगर मैं अभी नाचा नहीं हूँ। नाचूंगा कब ?

छप चुकी मेरी किताबें पूर्वी औ' पश्चिमी दोनों तरह के अक्षरों में
औ' सुने भी जा चुके हैं भाव मेरे देश औ' परदेश दोनों के स्वरों में
पर खुशी से नाचने को पाँव मेरे हैं नहीं तैयार तब तक
गीत अपना मैं नहीं सुनता किसी गंगो-जमुन के तीर फिरते बावले से।

जब मैं जुहू बीच पर घूमने जाऊँ और देखूं कि बच्चन का गीत गाता हुआ कोई बावला आ रहा है तब मेरे नाचने का वक्त हो। पद्मा सचदेव मेरी कविता पढ़ती हैं तो क्या श्रेय है मुझको। किताब में छपी है, खरीदकर पढ़ लेती हैं। मगर इसके मानी ये हैं कि जब तक मेरा गीत जीवन में नहीं उतरता, तब तक क्या श्रेय है कविता लिखने का।

गीत अपना मैं नहीं सुनता किसी गंगो-जमुन के तीर फिरते बावले से।

पद्मा सचदेव : अब इन शब्दों के जाल से उबरूँ तो यह पूछना चाहती थी, 'निशा निमन्त्रण' की बात आयी तो मुझे वह आधी रात याद आ रही है जो राधा के मुँह से आपने हम सबको दिखायी है। आधी रात के बाद का एक छोटा-सा लमहा जब तराजू के दोनों पलड़े एक जैसे हो जाते हैं और जब कोई आहट नहीं होती। उस रात को, उस लमहे को आपने बहुत महसूसा होगा तभी।

डा. बच्चन : ऐसी रात पर मेरा एक गीत है :

रात आधी हो गयी है।
सुन रहा हूँ शान्ति इतनी, है टपकती बूंद जितनी ओस की
जिनसे द्रुमों का गात रात भिगो गयी है, रात आधी हो गयी है।

ओस टपकती नहीं है, मगर ओस की जो बूंद गिरती है उसको भी सुन रहा हूँ। (पद्मा सचदेव—कितना शान्त वातावरण है) वर्ड्सवर्थ की एक पंक्ति है सायलेंस के लिए—

आई कुड हियर द ग्रास ग्रो

'ग्रास ग्रोइंग' को कौन सुनता है, आवाज थोड़े ही करती है, मगर इतनी सायलेंस है 'आई कुड हियर द ग्रास ग्रो'।

सुन रहा हूँ शान्ति इतनी, है टपकती बूंद जितनी ओस की
जिनसे द्रुमों का गात रात भिगो गयी है, रात आधी हो गयी है।

वास्तव में वह टपकना जो है वह कवि के आँसू ही हैं जो कि शायद कागज़ पर गिर पड़े हैं।

सुन रहा हूँ शान्ति इतनी, है टपकती बूंद जितनी ओस की
जिनसे द्रुमों का गात रात भिगो गयी है, रात आधी हो गयी है।

और अन्तिम पंक्ति जो है—'निशा निमन्त्रण' में अगर आप देखें रात का, अन्धकार का वातावरण है। लेकिन रात में अँधेरा ही तो नहीं होता, बिजली चमकती है, चाँद आता है, पूर्णमासी होती है, लेकिन वहाँ इसका कहीं जिक्र नहीं है। सौ गीतों में केवल एक गीत है जिसमें चाँद का जिक्र आता है और वह कितनी कोमलता के साथ और सूक्ष्मता के साथ आया हुआ है इस पंक्ति में आप देखिये। यह सारा वातावरण है, अन्तिम पद है—

दे रही कितना दिलासा
आ झरोखे से ज़रा-सा
चाँदनी पिछले पहर की पास में जो सो गयी है।
रात आधी हो गयी है।

एक और गीत सुनाऊँ?

साथी, सो न, कर कुछ बात
बात करते सो गया तू
स्वप्न में फिर खो गया तू
रह गया मैं, और आधी बात आधी रात

तो आधी ज़िन्दगी ही पड़ी हुई है।

रह गया मैं, और आधी बात आधी रात
साथी, सो न, कर कुछ बात
बोलते उड्गण परस्पर, तरु दलों में मन्द मर्मर
बात करतीं सरि लहरियाँ कूल जल से स्नात
साथी, सो न, कर कुछ बात
पूर्ण कर दे वह कहानी जो शुरू की थी सुनानी

जीवन की कहानी चल रही है

पूर्ण कर दे वह कहानी जो शुरू की थी सुनानी
आदि जिसका हर निशा में अन्त चिर अज्ञात।

कहानी कहते-कहते सो जाता है तो कहानी का अन्त तो आता ही नहीं। 'आदि जिसका हर निशा में…' और कवि आधी रात को बैठकर उस कहानी को जहाँ से वह शुरू हुई थी वहाँ से लाता है और जहाँ पटाक्षेप होता है उसके बाद क्या है नहीं जानता। तो अन्त नहीं जानता क्या होगा। यहीं तक कहानी आयी है।

पूर्ण कर दे वह कहानी जो शुरू की थी सुनानी।
आदि जिसका हर निशा में अन्त चिर अज्ञात।
साथी, सो न, कर कुछ बात।

पद्मा सचदेव : आधी रात में आपकी कविता में माहौल इतना चुप है कि मुझे याद आ रहा है, किसी ने लिखा है 'हम अपने दिल की धड़कन को तेरी आवाज़े-पा समझे।' और कुछ सुनायी नहीं दे रहा था, दिल की धड़कन के सिवा।

आपकी इतनी सरल भाषा सुनकर एक सवाल और मन में उठ रहा है कि कायस्थों के घर में बचपन से उर्दू वगैरह पढ़ाई जाती थी, घर की स्त्रियाँ भी उर्दू जानती थीं, तो क्या इसी वजह से आपकी भाषा इतनी सरल है कि जनसाधारण जिसे समझ लेते हैं। कुछ-एक हिन्दी के कवि इतनी कठिन भाषा लिखते हैं, बड़ी पाण्डित्य की भाषा वह अवश्य होती है लेकिन समझ सब किसी को नही आती। इसके बारे मे कुछ कहेंगे ?

डा. बच्चन : लिखने का जो सारा मतलब है वह केवल यही तो है कि शब्द के माध्यम से अपने को दूसरे तक पहुँचाना। यानी कविता जो है वह शब्द की कला है। और अगर आपके शब्द आपकी बातों को दूसरे तक नहीं पहुँचाते तो उनका अर्थ क्या हुआ ? शब्द इस वास्ते तो नहीं हैं कि आप अपना पाण्डित्य दिखलाइए। पाण्डित्य दिखलाने के और भी माध्यम हो सकते हैं। आप वेदान्त लिखिए, शास्त्र लिखिए, दर्शन लिखिए, नीति लिखिए, राजनीति लिखिए, कुछ और भी कीजिए, लेकिन जहाँ आप अपने हृदय की बात दूसरों से कहना चाहते हैं वहाँ तो आपको चाहिए कि देखें दूसरे के हृदय का शब्द-संसार कैसा है। तुलसीदास तो बहुत बढ़िया संस्कृत जानते थे और महा-पण्डित थे। विनयपत्रिका के कुछ पद आप पढ़िए तो आप आश्चर्यचकित हो जायेंगे कि यह आदमी इतनी संस्कृत जानता था, संस्कृतज्ञ था, क्यों उसने भाषा में लिखा। क्योंकि वह जानता था कि हमें अपनी बात किनसे कहनी है, किन्हें इनकी जरूरत है, रामभक्ति किनको चाहिए। इस वास्ते सरल भाषा में लिखा, उनका मापदण्ड यह था—

> सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।
> सहज बैर बिसराय रिपु जो सुनि करहिं बखान।

एक बात और आपको बता दूँ, सरल लिखना बहुत कठिन है।

पद्मा सचदेव : वाह-वाह, बहुत अच्छा कहा।

डा. बच्चन : क्योंकि सरल लिखने के लिए सरल भाषा नहीं चाहिए, सरल लिखने के लिए सरल हृदय चाहिए और सरल हृदय बनाना डिक्शनरी का काम नहीं है, आग का काम है।

पद्मा सचदेव : आग में से गुजरना पड़ता है।

डा. बच्चन : तपस्या। सरल तो सन्त होता है। जब तक आप हृदय से सरल नहीं होंगे तब तक सिर्फ़ भाषा लिखकर आप सरल नहीं बनेंगे। सतही काम आप कर सकेंगे। तब तो डिक्शनरी से जितने सरल शब्द हैं उनको उठाकर एक जगह लिख लीजिए और उसी में से लिखते रहिए।

पद्मा सचदेव : नहीं, वह तो मन में होने चाहिए, तभी लिखा जाता है।

डा. बच्चन : तुलसीदास ने जो लिखा—

> सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।
> सहज बैर बिसराय रिपु जो सुनि करहिं बखान।

दोस्त कोई आपकी तारीफ ही करेगा। हम कविता लिखेंगे, आप नहीं तारीफ

करेंगी तो कौन करेगा। तुलसीदास कहते हैं, नहीं, जब मेरा दुश्मन मेरी तारीफ करे तब मैं समझूँगा 'सहज बैर बिसराय रिपु' यानी कविता का काम है बैर को भुला देना। यानी आपके जो मनोविकार हैं जब तक वही दूर न होंगे तब तक आप कविता क्या करते हैं। कविता तो मन्त्र है, जादू है। आप दुश्मनी लेकर आइए, मैं आपको अपनी कविता सुनाने लगूँ, आप अपनी दुश्मनी भूल जायें तब मेरी कविता है।

पद्मा सचदेव : आपका एक गीत सरल भाषा में लिखा हुआ हम सुनवा देते हैं लोगों को भी और आपको भी—

कोई गाता मैं सो जाता
संसृति के विस्तृत सागर पर
सपनों की नौका के अन्दर
सुख-दुख की लहरों पर उठ-गिर
बहता जाता, मैं सो जाता
कोई गाता मैं सो जाता।

आँखों में भरकर प्यार अमर
आशीष हथेली में भरकर
कोई मेरा सिर गोदी में रख
सहलाता, मैं सो जाता
कोई गाता मैं सो जाता।

मेरे जीवन का खारा जल
मेरे जीवन का हालाहल
कोई अपने स्वर में मधुमय कर
बरसाता मैं सो जाता
कोई गाता मैं सो जाता।

पद्मा सचदेव : यह गीत तो आपने बहुत पहले लिखा होगा। अमिताभजी को देखकर एक प्रश्न मेरे मन में उठ रहा है। कभी आपने सोचा होगा कि बड़े होकर आपके बच्चे साहित्यकार बनें।

डा. बच्चन : अमित में कलाकार के लक्षण तो उसमें बहुत पहले से थे, लेकिन वह कवि बनेगा या सिनेमा का अभिनेता बनेगा, ऐसी कल्पना मैंने नहीं की थी। उसके बारे में जो कल्पना मेरे मन में उठती थी वह यह थी कि वह फील्ड मार्शल बनेगा क्योंकि जब मेरी शादी हुई तो आपको शायद मालूम है कि मेरी पत्नी सरदारों के परिवार की हैं और उनके परिवार के बहुत-से लोग फौज में थे और जब अमिताभ पैदा हुआ, उसके साल-भर के अन्दर मैं खुद फौज में पहुँच गया, यानी युनिवर्सिटी ट्रेनिंग कोर में।

पद्मा सचदेव : ससुरालवालों का असर तो पड़ता है।

डा. बच्चन : मैंने यह कहा कि यह लड़का तो कुछ ऐसे लक्षण लेकर आया है कि इसने मुझको फौज में भेज दिया। तो मैं समझता था कि वह फील्ड मार्शल होगा। लेकिन जैसे-जैसे वह बढ़ा उसमें कलाकार के गुण ज्यादा दिखायी देने लगे। अमिताभ पेण्टिंग भी करता था, अमिताभ को म्यूजिक में भी इन्टरेस्ट

है, यानी खुद बजाता था और अमिताभ कविताएँ भी लिखता था।

पद्मा सचदेव : और आप उस दिन बता रहे थे कि उनके जो पत्र आते हैं, वह इतने खूबसूरत होते हैं कि अगर अपनी जीवनी वह कभी लिखेंगे तो बड़ी सुन्दर होगी।

डा. बच्चन : अमिताभ की शैली बहुत अच्छी है अंग्रेज़ी में भी और हिन्दी में भी। और यह कुछ अपने बेटे का पक्षपात मैं नहीं कर रहा हूँ। मैं जब उसके पत्रों को पढ़ता हूँ, जब उसने भावना में कभी पत्र मुझे लिखा है, हालचाल देने के अलावा, तो मुझे ऐसा मालूम होता है, वह साहित्य का कोई टुकड़ा ही है। और जब मैंने अपनी आटोबायोग्राफी छपाई तो चूँकि उसकी शैली का मैं कायल हूँ और मैं पसन्द करता हूँ तो मैंने उसको लिखा, मैंने कहा, प्रिय अमिताभ, तुम्हारे विनोदार्थ यह अपना आत्मचरित मैं भेज रहा हूँ, लेकिन मुझे विश्वास है कि जब तुम अपनी आत्मकथा लिखोगे तो लोग मेरी आत्म-कथा भूल जायेंगे।

पद्मा सचदेव : एक बात और बताइए, डॉ. साहब, आपके दो बेटे हुए, तो बेटी की कमी खलती रही कभी ?

डा. बच्चन : बेटी की कमी मुझे ज्यादा नहीं खली।

पद्मा सचदेव : क्योंकि मैं समझती हूँ कि बेटी के बगैर घर घर नहीं होता है।

डा. बच्चन : अब तो बेटियाँ ही बेटियाँ सब आ गयीं, दो बहुएँ आ गयीं और चार बेटियाँ उन्होंने पैदा कर दीं। घर में हम यह कहते हैं कि बहुतायत हो गयी स्त्रियों की, हम लोग माइनारिटी में हो गये हैं। अब हमारी छोटी बहू अगर तीन बेटे और पैदा करे तब जाकर हम लोग बराबर के होंगे, नहीं तो स्त्रियों का राज हो जायेगा—चार बेटियाँ और दो ये बहुएँ और एक मेरी देवी, सात ये हैं।

पद्मा सचदेव : आजकल तो परिवार नियोजन का बड़ा बोलबाला है।

डा. बच्चन : हम लोग तो चार ही हैं।

पद्मा सचदेव : डाक्टर साहब, एक बात और मेरे मन में···

डा. बच्चन : यह मैं मज़ाक में कह रहा हूँ।

पद्मा सचदेव : बहुत अच्छा लगा जो भी आपने कहा। बहुत पहले आपकी पहली पत्नी श्यामाजी जब ट्यूबरकुलोसिस से बीमार थीं···

डा. बच्चन : इन्टेस्टाइनल ट्यूबरकुलोसिस।

पद्मा सचदेव : इन्टेस्टाइनल टी बी था उनको। आपने उनकी इतनी सेवा की, मैंने कभी किसी को इतनी सेवा करते···मैं तीन वर्ष स्वयं टी बी के अस्पताल में रही हूँ। मैंने किसी भी पुरुष को स्त्री की सेवा करते हुए नहीं देखा, खास-तौर से जो साहित्यकार होते हैं वह तो समझते हैं कि हम तो साहित्यकार हैं पत्नी तो अपना पूरा त्याग करके उनकी सेवा करती है। तो घर के लोग···

डा. बच्चन : मैं जब उनकी सेवा करता था तो लोग प्रायः कान में चुपचाप कहते थे कि इससे ज़रा दूर रहा करो क्योंकि उनको शंका थी कि कहीं इसको भी यह रोग न लग जाय।

पद्मा सचदेव : लेकिन इन्टेस्टाइनल ट्यूबरकुलोसिस लगती नहीं है।

डा. बच्चन : कुछ भी हो, लेकिन मेरी पत्नी को भी पूरा विश्वास था कि उसका रोग मुझको नहीं लगेगा। उसने एक दिन मुझको कहा था। वह सुन तो लेती थी, उसको पता लग जाता था कि लोग हमारे पति को मना करते हैं कि इसके पास बहुत न रहो। मैं तो उसका थूक, खखार सब उठाता था,

उसकी सफाई करता था, उसके कपड़े धोता था, सबकुछ मैं करता था। उसकी सेवा का भार मैंने अपने ऊपर लिया। मैंने अपने माता-पिता, भाई-बहिन, किसी को नहीं कहा, मैंने कहा मैंने इसके साथ विवाह किया है, मैं अन्तिम समय तक इसके साथ रहूँगा।

पद्मा सचदेव : प्रारम्भ में मैंने कहा था जैसे भगीरथ गंगा को उतार लाये थे और उसके तेज़ बहाव को शंकरजी को अपनी जटाओं में लेना पड़ा था। तो मैं यह कहना चाह रही हूँ अपने शब्दों में कि तेजीजी ने आपकी कविता के प्रवाह को अपने खूबसूरत लेकिन मजबूत हाथों में इस तरह थामा कि एक अजेय दुर्ग की तरह वह हमेशा खड़ी रहीं; जैसे आप केम्ब्रिज गये, उन्होंने बच्चे देखे। आज भी आपकी चीजों की इतनी सँभाल, इतना आपका ख्याल हर बात में ···मुझे उन्होंने कितनी ही हिदायतें दी हैं कि जब डाक्टर साहब सुबह आयें तो उनको यह नहीं करने देना, वह नहीं करने देना। यह सब एक औरत जो अपने पति के लिए करती है, क्या कभी कोई स्त्री कवयित्री हो तो उसका पति इतना कुछ उसके लिए करेगा ?

डा. बच्चन : करना तो चाहिए। अब न करे तो मैं क्या करूँ। मगर मैं समझता हूँ कि विवाह के अर्थ ही यह हैं कि एक-दूसरे की जो सम्भावनाएँ हैं उनको प्रकट करने में या उनको विकसित करने में एक-दूसरे को सहयोग और सहायता देनी चाहिए। अगर किसी कवयित्री के साथ मेरी शादी होती तो मैं देखता कि उसकी जो कविता है, वह प्रस्फुटित हो, मेरे संग दब न जाय।

पद्मा सचदेव : तो घर में जो बच्चों का बोझ, घर का, गृहस्थी का बोझ···

डा. बच्चन : इसको बोझ कहती हैं आप !

पद्मा सचदेव : फूलों जैसा कोमल बोझ। मेरी भी गृहस्थी है, बच्चे हैं, मैं भी यह बोझ ढो रही हूँ।

डा. बच्चन : फिर आप बोझ कहती हैं। बोझ से मुझे आपत्ति है।

पद्मा सचदेव : कोई सुन्दर-सा शब्द बताइए।

डा. बच्चन : यह तो नारी का धर्म है, कला है, जीवन एक कला है, बच्चों को पालना और उनको बढ़ाना एक कला है और मैं समझता हूँ कि मेरी पत्नी बहुत बड़ी कलाकार है। उसने एक पति का ही निर्माण नहीं किया। उसने दो बच्चों का भी निर्माण किया है। वह बहुत बड़ी कलाकार है, मगर शब्द की कलाकार नहीं है। पर जिसने जीवन को कला का रूप साक्षात् दे दिया उसको आप छोटा कलाकार कहते हैं। मैं तो कहता हूँ कि जीवन को बनाना बहुत बड़ी कला है। और जो केवल शब्दों के कलाकार हैं वह छोटे कलाकार हैं। मेरी दृष्टि में जीवन जो है वह बहुत बड़ी कला है। जीवन को सुन्दर, श्रेष्ठ बनाना कोई मामूली काम नहीं है। बहुत बड़ा काम है। और इस कलाकार को आप हेय दृष्टि से मत देखिए। इसको आपने बोझ कहकर दो बार मुझे चोट पहुँचायी क्योंकि मैंने गृहस्थी को बहुत महत्त्व दिया है। मैंने बहुत कविताएँ लिखीं लेकिन जब मुझे कर्तव्य ने पुकारा अपने बच्चों या अपनी पत्नी के प्रति तो मैंने समझा, सब अलग, मैंने एक जगह लिखा है अपनी आटोबायोग्राफी में—पता नहीं आपने देखा या नहीं देखा—कि मैं तो जीवन को सँवारने में इतना लगा रहा कि मैं अपनी कविता को नहीं सँवार सका। शायद मैं अपनी कविता को सँवारता तो और अधिक अच्छी कविता बनती। मगर, नहीं, मेरा गलत ख्याल है। अगर मैं अपने जीवन को नहीं सँवारता तो जो मेरी कविता

इतनी है यह भी नहीं होती।

पद्मा सचदेव : डॉ. साहब, आपकी 'क्या भूलूं क्या याद करूँ' जब छपी किताब, आपकी जीवनी, तो बहुत-सी सम्मतियाँ बहुत-से विद्वानों की यह थीं कि इतना अच्छा प्रोज़ हिन्दी में लिखा नहीं गया, इतनी अच्छी किताब पहले कभी आयी नहीं है हिन्दी में। आप मुझे बतायेंगे कि आप गद्य में अपने आपको ज्यादा व्यक्त कर पाये हैं या पद्य में। मैंने तो दोनों सुने हैं, लेकिन, आप क्या सोचते हैं?

डा. बच्चन : अब यह कहने के लिए बड़ा मुश्किल है क्योंकि लोगों ने तारीफ की, मैं क्या करूँ मेरा तो हाथ उसमें नहीं था। मगर मैं यह समझता हूँ कि गद्य में थोड़ी स्वतन्त्रता अधिक मिलती है पद्य की अपेक्षा, क्योंकि पद्य फिर भी तुकों पर, लय पर, छन्द पर निर्भर करता है, लेकिन जीवन बड़ा खुला हुआ मैदान है जिसमें आप आगे बढ़ती चली जाती हैं।

पद्मा सचदेव : डाक्टर साहब, पत्थरों से आपको कब मुहब्बत हुई? हमारे जम्मू में, हमारी तवी दरया में और दूसरी जगहों पर बड़े सुन्दर पत्थर हैं।

डा. बच्चन : मैं जब विलिंगडन क्रीसेण्ट में आया तो सुबह घूमने के लिए जाता था। वहाँ देखता था कि रिज के ऊपर बहुत-से पत्थर-वत्थर पड़े रहते थे। तो उन पत्थरों को देखकर कभी मुझे कोई पत्थर अच्छा लगता था तो लाकर रख देता था। मैंने कहा कि इतने पत्थर ढो रहा हूँ, इसका क्या करूँ। मन ने कहा इनका मन्दिर बनाओ। इसका सबसे अच्छा उपयोग यही है। वहाँ पर एक गोल पत्थर रख दिया, मैंने कहा, यह शिवजी, फिर एक हनुमानजी की मूर्ति लाकर रख दी क्योंकि हमेशा से हम लोग शैव ही एक प्रकार से रहे। हमारे दादा-परदादा से शैव मत, रामानन्दी सम्प्रदाय हमारे घर में था। उसका संस्कार तो पड़ता ही रहा, पड़ता ही रहा। और फिर वैष्णव प्रभाव भी आये, मगर शैव प्रभाव बराबर बना रहा और हम लोग शिव और हनुमान के बहुत भक्त हैं। तो हमने दो मन्दिर बना दिये। अपने हाथ से ही मन्दिर बनाया था। उसकी तस्वीरें भी हैं।

पद्मा सचदेव : वह तस्वीरें तो दिखा रहे हैं हम लोग। आक्सफोर्ड में···

डा. बच्चन : कैम्ब्रिज में।

पद्मा सचदेव : क्षमा कीजियेगा, कैम्ब्रिज में आपने बहुत-सी कविताएँ लिखीं, जैसा मैंने पहले भी कहा, रोज आप लिखा करते थे। तो कुछ मित्र आपको छेड़ा करते थे कोई महिला थी जिनके बारे में।

डा. बच्चन : बिल्कुल गलत ख्याल है। घर की महिला की याद ही काफी थी कि उसने इतनी कविता लिखा दी। हाँ, वहाँ बहुत-सी परिचित महिलाएँ थीं, वह बात और है, उनसे किसी से प्रेम वगैरह नहीं हुआ।

पद्मा सचदेव : किसी से प्रभावित होकर।

डा. बच्चन : प्रभावित-व्रभावित कुछ नहीं। देखिए, जिस वक्त मैं गया था उस वक्त मेरी उम्र 45 वर्ष की थी।

पद्मा सचदेव : और आप 35 के लगते थे।

डा. बच्चन : खैर, वह तो मैं बहुत दिनों तक लगता था। इधर कुछ बीमारियाँ मुझे जब से हुई हैं तब से मैं कुछ बुड्ढा मालूम होता हूँ, नहीं तो मैं अपनी उम्र से बहुत कम मालूम होता था।

पद्मा सचदेव : जब आप मधुशाला पढ़कर बाहर निकलते थे तो हाल से लड़कियों

का हुजूम आपके पीछे जाता था कालेज में भी और दूसरी जगहों में भी···

डा. बच्चन : तो मैं क्या करूँ इसके लिए ?

पद्मा सचदेव : मैं यह नहीं कह रही, क्या करूँ। किसी से प्रभावित होकर कभी तो कुछ लिखा होगा। आपने खुद लिखा है—

"मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता,
शत्रु मेरा बन गया है छलरहित व्यवहार मेरा।"

डा. बच्चन : वह तो सारी कथा मैंने आत्मकथा में लिख दी है।

पद्मा सचदेव : मैं सिर्फ उस लड़की के बारे में पूछना चाह रही थी।

डा. बच्चन : किस लड़की के बारे में ?

पद्मा सचदेव : जिसके बारे में लोग आपको कभी-कभी छेड़ते थे।

डा. बच्चन : नहीं, नहीं, ऐसा कुछ नहीं है, सब गलत ख्याल है।

पद्मा सचदेव : चलिए, मैं भी मान लेती हूँ।

डा. बच्चन : और कम-से-कम कैम्ब्रिज में तो नहीं था।

पद्मा सचदेव : और कहीं हो सकता है।

डा. बच्चन : मतलब यह है कि प्रेरणा आपको देखकर भी हो सकती है।

पद्मा सचदेव : बहुत दिनों से आप कविता नहीं लिख रहे, चलिए मुझसे ही प्रेरणा लेकर एक कविता लिख दीजिए।

डा. बच्चन : हो सकता है। बात यह है कि कवि के हृदय में एक छाप पड़ जाती है। कोई जरूरी नहीं है कि आज ही कविता लिखी जाय। मुमकिन है कि दस वर्ष बाद लिखी जाय और उस समय आपकी स्मृति जो है, वह मेरे मन में हो।

पद्मा सचदेव : इतनी अच्छी-अच्छी बातें आज आपने मुझे बतायी हैं कि यों लगता है कि बहुत प्रश्न मेरे भीतर थे, लेकिन आपके शब्दों के खूबसूरत जाल में फँसकर रह गये।

डा. बच्चन : जाने दीजिए, फिर किसी और वक्त पूछिएगा।

पद्मा सचदेव : अवश्य। आज तो यों लग रहा है जैसे आपसे बात करके एक पुराने युग को मैंने भी जिया है आपके साथ-साथ। और यह भी बात याद आ रही है कि एक बार आपका धन्यवाद करूँ।

डा. बच्चन : आपको धन्यवाद कि आपने मुझे यहाँ बुलाया, मेरी बातें सुनीं। मैं तो जो कुछ भी स्वाभाविक रूप से मेरे मन में आता गया वह मैं कहता गया।

पद्मा सचदेव : धन्यवाद करने के बाद यह भी कहना चाहूँगी कि 'बज्म से उनकी हम क्या लाये, प्यासे गये और प्यासे आये'।

डा. बच्चन : मैं भी प्यासा ही जा रहा हूँ।

बच्चन के साथ एक शाम : आकाशवाणी श्रीनगर*

मोहन निराश : जी, बात कहीं से भी शुरू की जा सकती है। वैसे बच्चनजी हमारे साथ बैठे हैं और मुझे याद आता है कि जब वह '50 में यहाँ आये थे,

* साक्षात्कारकर्ता : नैयर तथा अन्य, 1981

कहा गया था कि वे अपनी कविता सस्वर सुनायेंगे तो उन्होंने कहा था कि आज मेरा गला खराब है, प्रो. तोषाखानी वहाँ थे, उन्होंने कहा था, गला खराब है लेकिन कला मजबूर करेगी आपको कुछ सुनाने के लिए सस्वर ही। तो फिर कला ने मजबूर किया था उन्हें और उनके ढंग से, जो बच्चनजी का खास तरीका है, स्टाइल है, अपनी कविता, अपने गीत कहने का ! सारा समाँ बिलकुल बँध गया था उनकी कविताएँ सुनकर। उसी समय हमारे यहाँ, हिन्दी साहित्य में, जैसा आपने कहा, बच्चनजी का विशेष सन्दर्भ रहा है हालावाद का—और उमरख़ैयाम उन्हें कहा गया था हिन्दी कविता का, भारत का—उसने बाँधे रखा था सारे वातावरण को। बच्चनजी, एक बात मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि वह जो हालावाद की धारा चली थी और उसका जो जाम आपने भरा था, बहुत देर तक वह दौर चलता रहा, किन्तु बाद को ऐसा हुआ कि आपने भी वह जाम अपने हाथ से छोड़ दिया और ऐसे आपके अनुयायी नहीं हुए जो उस जाम को आगे बढ़ाते। इसका कारण क्या है ?

डा. बच्चन : निराशजी, मैंने जब यह प्रतीक चुना—यानी हाला, मधुशाला, मधुबाला और प्याला का—उसके पहले के साहित्यिक वातावरण को अगर आप समझने की कोशिश करें तो आपको यह पता लगेगा कि मैंने कोई नयी बात नहीं की थी। साहित्य में और कविता में इसकी तैयारी बहुत पहले से हो रही थी। मैं आपको बताऊँ, मैथिलीशरण गुप्त का नाम तो हाला के साथ आप लोग शायद ही कभी जोड़ना चाहें, मगर उन्होंने भी उमरख़ैयाम की 'रुबाइयात' का अनुवाद किया था और वह किताब बहुत-से रंगीन चित्रों के साथ छपी थी। केशव प्रसाद पाठक जो जबलपुर के बहुत प्रसिद्ध कवि थे उन दिनों के, उन्होंने भी 'रुबाइयात उमरख़ैयाम' का अनुवाद किया था, और मेरा ख्याल है कि कम-से-कम दस अनुवाद 'रुबाइयात उमरख़ैयाम' के मेरे 'मधुशाला' लिखने से पहले हो चुके थे।

प्रश्नकर्त्ता* : आपकी बात मैं काट सकता हूँ ?

डा. बच्चन : ज़रूर काटिये।

प्रश्नकर्त्ता : उमरख़ैयाम का सही जाँनशीन आपके अलावा कोई होगा नहीं।

डा. बच्चन : नहीं, जो बात मैं कहना चाहता हूँ वह यह कि इन प्रतीकों की एक तैयारी मेरे 'मधुशाला' लिखने के पहले ही हो चुकी थी। और, एक बात मैं आपको और बताऊँ कि मैंने भी 'मधुशाला' लिखने के पहले 'रुबाइयात उमरख़ैयाम' का अनुवाद किया था।

प्रश्नकर्त्ता : यह अनुवाद बहुत विशेष है।

डा. बच्चन : अब विशेषता की बात मैं कैसे कहूँ, लेकिन मैं यह जानता हूँ कि शायद मेरे अनुवाद को छोड़कर और किसी भी अनुवाद का सेकेण्ड एडीशन नहीं निकला। 'रुबाइयात उमरख़ैयाम' के दस-बारह अनुवाद हुए। मेरा जो अनुवाद है उसके पाँच-छः संस्करण हुए और पाकेट बुक में शायद अब भी वह बिकता है। कम से कम उस अनुवाद का मेरे ऊपर यह असर हुआ कि यह बड़ा पावरफुल सिम्बल या प्रतीक है जिससे उमरख़ैयाम ने अपनी बात कही है। और उमरख़ैयाम ने सिर्फ़ नशे की बात नहीं कही, बल्कि उमरख़ैयाम ने

* गोष्ठी के कैसेट-रेकार्ड से जहाँ आवाज़ से नाम का अनुमान नहीं लगाया जा सका, वहाँ केवल 'प्रश्नकर्त्ता' कर दिया गया है। (सं.)

इन प्रतीकों के द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के मनस् को व्यक्त किया, जो खास बात है। उमरख़ैयाम की रुबाइयात के जो बहुत-से ट्रांसलेशन हुए उन अनुवादों में यह बात कही गयी कि उमरख़ैयाम इतने पापुलर क्यों हुए। उमरख़ैयाम तो शायद सातवीं-आठवीं शताब्दी में हुए। आठवीं शताब्दी के मनस् और उन्नीसवीं शताब्दी के मनस् में क्या साम्य था कि वह चीज उस वक्त पसन्द की गयी, हालाँकि उमरख़ैयाम को मैं इसका क्रेडिट नहीं देना चाहता, इसका क्रेडिट मैं देना चाहता हूँ फिट्ज़जेराल्ड को। फिट्ज़जेराल्ड ने उमरख़ैयाम के साथ लिटरेरी ज़्यादती की। मनस् तो उन्होने लिया उन्नीसवीं शताब्दी का और सिम्बल सब लिया उमर ख़ैयाम का। इधर बहुत-सी जो रिसर्च हुई है—उससे इस पर और प्रकाश पड़ा है। आपने प्रो. आरबेरी का नाम सुना होगा, जो अरेबिक के प्रोफेसर हैं कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में। जिन दिनों मैं कैम्ब्रिज में था उन्होंने कहा था कि फिट्ज़जेराल्ड ने तो उमरख़ैयाम के साथ बड़ी बेईमानी की; और अब सही अनुवाद मैंने लाकर रखा है। और उन्होंने भी मूल फ़ारसी से अनुवाद किया था। कोई मैनुस्क्रिप्ट उनको मिल गयी थी, उस पर उन्होंने रिसर्च की, और फिर उसका अनुवाद किया। लेकिन वही हाल उसका भी हुआ, सैकेण्ड एडीशन उसका नहीं हुआ। और रुबाइयात उमरख़ैयाम का जो अनुवाद फिट्ज़जेराल्ड का है, उसका आज भी—नया संस्करण होता रहता है। मैंने अपने अनुवाद के इण्ट्रोडक्शन में लिखा है कि जब हिन्दुस्तान में किसी बुकसेलर का दिवाला निकलने को होता है तो वह रामचरित मानस छाप लेता है और इंगलैण्ड में जब किसी बुकसेलर का नुकसान होने लगता है तो वह रुबाइयात उमरख़ैयाम का एक एडीशन निकाल देता है। जो मैं कहना चाहता था वह यह है कि उमरख़ैयाम के इन प्रतीकों ने मुझे भी यह प्रेरणा दी कि ये प्रतीक सिर्फ़ मदिरा की कविता या आशिकी की कविता लिखने के लिए इस्तेमाल नहीं किये जाते, बल्कि इन प्रतीकों से अगर उन्नीसवीं शताब्दी की बात कही जा सकती थी तो, भाई, बीसवीं शताब्दी की बात भी कही जा सकती है, अपने मुल्क की बात भी कही जा सकती है। और अगर आपने मेरी 'मधुशाला' ग़ौर से पढ़ी है और उस वक्त का सारा कुछ एटमासफ़ियर आपके दिमाग में है तो बहुत-सी रुबाइयाँ आपको ऐसी मिलेंगी जिनमें उन्हीं प्रतीकों के द्वारा मैंने अपने युग की कई समस्याओं को व्यक्त किया है।

प्रश्नकर्ता : आप यह कहना चाहते हैं कि यह जो प्रतीक हैं आज के युग में भी जानदार हैं ?

डा. बच्चन : मेरा ख्याल है कि जानदार हैं। एक रुबाई मैंने लिखी थी। मेरा ख्याल है, इस प्रतीक से ऐसी बात—पहले नहीं कही गयी। उर्दू और पर्शियन में तो बहुत-सी बातें कही गयी हैं मदिरा, प्याला और मधुबाला के सिम्बल को लेकर, लेकिन एक रुबाई मेरी-ऐसी नहीं लिखी गयी; वह मैं आपको सुनाता हूँ—

> मुसल्मान औ' हिन्दू हैं दो, एक मगर उनका प्याला,
> एक मगर उनका मदिरालय, एक मगर उनकी हाला,
> दोनों रहते एक, न जब तक मन्दिर-मसजिद में जाते,
> बैर बढ़ाते मन्दिर-मसजिद, मेल कराती मधुशाला।

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, उर्दू शायरी भी आपने पढ़ी है, पर्शियन शायरी

भी आपने पढ़ी है और आपने देखा होगा इन सिम्बल्स को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है मगर सामयिकता के साथ जुड़ी हुई कहीं ऐसी रुबाई है ? यह पाकिस्तान बनने के पहले की बात है, भाई साहब, और तब हम यह सोचा करते थे कि, भाई, इस मुल्क में तो हिन्दू और मुसलमान दोनों को रहना है : 'मुसलमान औ' हिन्दू हैं दो, एक मगर उनका प्याला'—प्याले से मतलब मुल्क से भी है। अगर आप इसको किसी दूसरी दिशा में ले जायँ सूफ़ियाना ख़यालों की ओर तो वहाँ भी आप पायेंगे कि अलग तुमने अपने धर्म बना लिये हैं पर खुदा तो एक ही है-—

> मुसल्मान औ' हिन्दू हैं दो, एक मगर उनका प्याला,
> एक मगर उनका मदिरालय, एक मगर उनकी हाला।
> दोनों रहते एक, न जब तक मन्दिर-मसजिद में जाते।

मन्दिर, मसजिद क्या चीजें हैं ? ये हैं फारमेलिटीज़। फारमेलिटीज़ को आप निकाल दीजिए तो आप देखेंगे कि हिन्दूइज़्म और इस्लाम में बहुत फ़र्क़ नहीं है—और हिन्दूइज़्म तो बहुत ही टालरेण्ट रिलीजन है। बहरहाल, मैं बता रहा था उस रुबाई की बात कि वह आज भी क्यों सार्थक है, क्योंकि अगर कविता सचमुच कविता है और सिम्बल सिम्बल है तो वह रूढ़ बनकर नहीं रह सकता। सिम्बल का अर्थ ही यह है कि वह रूढ़ न बने, उसको किसी एक माने में आप महदूद नहीं कर सकते। मेरी कविता में प्याला सिम्बल है। प्याले का कितना अर्थ आप लगाते हैं, यह आपके ऊपर निर्भर करेगा।

प्रश्नकर्ता : डॉ. साहब, आपकी कविता को केवल हालावाद तक सीमित करना मेरे ख़्याल में आपकी कविता की महानता के साथ ज़्यादती है। जहाँ तक आपकी कविता का भाव-स्तर पर सम्बन्ध है, मेरा ख़्याल है कि जीवन में प्रेम और यौवन की क्षणिकता जो है, वह भी आपकी कविता का एक मुख्य स्वर रहा है, जैसे आपकी कविता 'आज उपवन से हमारे मिट रहा है गुल हज़ारा' और उसके बाद 'कमल, अब तू सड़ रहा है' आदि कविताओं से स्पष्ट है। इस प्रकार रूप और जीवन की जो क्षणिकता है वह आपकी कविता का, मेरे विचार में, हालावाद से अधिक मुख्य स्वर रहा है। आपका इसके बारे में क्या ख़्याल है ?

डा. बच्चन : भाई, मैंने यह कब कहा कि मैंने हालावाद पर लिखा; और अगर 'हालावाद' का इतना प्रचार हुआ तो क्यों मैं उसी पर लिखता चला जाता ? यह तो किसी शायर की बहुत बड़ी कमज़ोरी है, और शायद शायर इसी वजह से अनपापुलर भी होता है।

प्रश्नकर्ता : आपको अधिकतर एसोशिएट इसी के साथ किया जाता है, इसलिए मैंने यह बात कही।

डा. बच्चन : अब दूसरे लोग करें तो मैं क्या करूँ। उसमें मेरी मजबूरी है। इसके माने यह हैं कि मेरा तो विकास हो गया है, मगर उनका विकास नहीं हुआ, वह उसी जगह मौजूद हैं जहाँ हालावाद चला था। अगर वह मेरी हाला सम्बन्धी किताबें पढ़ते हैं और आगे की किताबें नहीं पढ़ते तो मैं क्या करूँ। मगर मैं तो अपनी मंज़िल के एक और पहलू से होकर निकल चला; भाई, मैं तो न जाने कब का निकल चला।

प्रश्नकर्ता : वह तो पहली मंज़िल थी, उसके बाद दूसरी मंज़िल आप किसे मानते हैं ?

डा. बच्चन : अब मंजिलों पर बात आयी है तो कहना होगा कि जीवन कोई ऐसी छत नहीं है कि उस पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ लगी हुई हैं और आप उनका नामकरण करते हुए बढ़ते जायँ।

प्रश्नकर्ता : मैं आपके जीवन की नहीं, आपकी काव्य-यात्रा की बात कर रहा हूँ।

डा. बच्चन : मेरी काव्य-यात्रा तो मेरे जीवन के साथ चली है और जीवन में जैसी-जैसी समस्याएँ आती गयीं और वे मुझे जैसे-जैसे प्रेरित करती गयीं वैसे-वैसे मैं लिखता गया। मैंने तो साहित्य के लिए साहित्य कभी लिखा ही नहीं। शुरू-शुरू में बहुत दिनों तक--आप मेरी किताबों में देख सकते हैं--इस सम्बन्ध में मैं बड़ा कांशस रहा हूँ; शायद अब भी हूँ। मैंने यह कहीं नहीं लिखा कि मेरे साहित्य को लोग पढ़ें, मैंने कहा है कि मेरे लेखन को लोग पढ़ें क्योंकि मैंने साहित्य नहीं लिखा, और न साहित्य लिखने के लिए मैंने साहित्य लिखा। मैंने जीवन के लिए लिखा। मैं अपने आपको साहित्यकार नहीं कहता। मैं बड़ा कांशस रहा हूँ इस बारे में कि कहीं मेरे मुँह से यह न निकल जाय कि मैं साहित्यकार हूँ। मैं लेखक हूँ, मैं साहित्यकार नहीं हूँ, मैंने साहित्य नहीं दिया, मैंने लेखन दिया, और अगर आप चाहें तो आप कह सकते हैं कि मैंने जीवन दिया; क्योंकि आदमी जिस तरह जीता है जीवन और जीवन में आयी समस्याओं के प्रति उसकी जैसी प्रतिक्रिया होती है, उसको मैंने व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। अब अपनी लाइफ़ में मैं कितना इण्डीवीजुअल हूँ, कितना यूनीवर्सल, यह मेरे पाठक बतायें। अगर मैं इतना इण्डीवीजुअल हूँ कि बिलकुल अपने ही में सीमित हूँ, अपने ही प्रेम आदि की बातें कर रहा हूँ तो आप, हुज़ूर, मेरे प्रेम में क्यों दिलचस्पी लेते हैं। और अगर मेरे प्रेम में कोई ऐसी बात है कि उसमें आपके प्रेम की भी बात है तो फिर आप रुचि लेंगे, मुझे पढ़ेंगे। और अगर आप नहीं पढ़ते तो मैं यह समझ लूँगा कि शायद मैं अपने में ही सीमित हो गया हूँ। आपने अभी कहा कि आपकी कई किताबें हैं जो अधिक नहीं पढ़ी जातीं तो मैं यह सन्तोष कर लेता हूँ कि शायद उनमें मैंने कोई ऐसी बात कही है जो बहुत पर्सनल है--प्राइवेट है--और अब तो यह भी मैं मानता हूँ कि मुमकिन है कि अभी लोग उसके लिए तैयार न हों, शायद दस वर्ष बाद, बीस वर्ष बाद लोग उसे पढ़ें --और लिटरेचर और लेखन के इतिहास में यह बात बीसों बार हुई है कि कोई लेखक कोई बात लिख जाता है, उसके ज़माने में लोग उसको नहीं पढ़ते, बाद को पढ़ते हैं या उसके ज़माने में बहुत पढ़ते हैं बाद को नहीं पढ़ते। 'मधुशाला' मुमकिन है मेरे मरने के बाद भुला दी जाय। मगर पिछले 50 वर्षों से यह किताब लोकप्रियता के सर्वोच्च शिखर पर रही है। रामचरितमानस के बाद हर साल जितनी किताबें 'मधुशाला' की बिकती हैं उतनी कोई दूसरी किताब नहीं बिकती, ऐसा मेरे प्रकाशकों का कहना है, और इस पर मिली रायल्टी सबूत है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन लोकप्रियता ही एकमात्र कसौटी नहीं हो सकती है कविता की विशेषता की। लोकप्रिय रही है 'मधुशाला', लेकिन मेरा ख्याल है कि 'मधुशाला' के बाद जो आपने अन्य सोपान तय किये हैं उन सोपानों के बारे में हम यह कह सकते हैं कि आप अपनी पहली मंजिल से काफ़ी आगे निकल चुके हैं और विशेषकर मैं बात कर रहा हूँ 'बुद्ध और नाचघर' और 'दो चट्टानें' के बारे में। उनमें, मेरा ख्याल है, कि आपने एक नयी भावभूमि देने की कोशिश की है। यह वैचारिक भावभूमि जो है वह मूल हालावादी

स्वर से काफ़ी भिन्न है, ऐसा मेरा विचार है।

डा. बच्चन : यह तो जीवन का स्वाभाविक नियम है कि आप बीस वर्ष की उम्र में जितने भावुक, जितने इमोशनल, जितने हृदयजीवी रहते हैं उतने 50 वर्ष की उम्र पर तो नहीं रहते। 50 वर्ष पर तो बुद्धि परिपक्व हो जाती है, सीधा-उलटा आदमी समझने लगता है, आप तब उस तरह तो मुहब्बत में नहीं पड़ सकते जिस तरह 25 वर्ष की उम्र में पड़े थे। 50 वर्ष की उम्र में सोचना पड़ता है, दुनिया क्या कहेगी, बेटे अब बड़े हो गये, वे क्या कहेंगे। प्रेम की कविताएँ लिखते चले जायँ अगर 50-60 वर्ष तक—कुछ लोग लिखते जाते हैं,—तो बेहया होंगे वे मेरे ख्याल में। मगर मेरे ऐसे आदमी के लिए जो एक सामान्य घर-गृहस्थ है, ऐसा करना अशोभन होगा। मेरा जीवन और मेरी कविता जो है वह घर-गृहस्थी में बँधी हुई है, मैं अपने आपको आइडियल पोयट नहीं समझता, मैं अपने आपको आइडियल इनसान बनाने की कोशिश करता हूँ। और इस वास्ते जो अपने जीवन में आइडियल इनसान नहीं बन पाये हैं, भाई, मैं अपनी दृष्टि से उनको बहुत बड़ा कवि नहीं मान पाता। भाई, मैं तो ज़िन्दगी का आदमी हूँ, मैं तो चाहता हूँ कि ज़िन्दगी में धँसा हुआ आदमी कविता लिखे। पन्तजी की कविता बहुत बड़ी किस्म की कविता है, फिलोसोफी है, दर्शन है, बहुत कुछ है उसमें, जीवन नहीं है।

प्रश्नकर्ता : आपने पन्तजी के बारे में एक जगह लिखा है कि पन्तजी ने जीवन को चिमटे से पकड़ा है।

डा. बच्चन : तो, भाई, चिमटे से जीवन को पकड़नेवाले हाथ जो कविता लिखते हैं और जिन हाथों ने—कहना नहीं चाहिए—अंगारे पकड़े हैं और तब कविता लिखी है, उनमें अन्तर होना ही चाहिए।

प्रश्नकर्ता : आप छायावादी कविता और अपनी कविता में क्या विशेष अन्तर समझते हैं?

डा. बच्चन : अब दूसरे जो समझते हैं, समझें, मैं क्या समझूं। मैं तो यह जानता हूँ कि मेरी कविता जो है वह मेरे जीवन से बँधी हुई कविता है और मैं कविता को और कवि को जीवन से अलग करके नहीं देख सकता और मैं यही समझता हूँ कि जो जीवन में पैठकर लिखता है उसी की कविता में एक वाइब्रेशन होता है जो मन को छूता है। भाई, तुलसीदास या सूरदास या मीराबाई या कबीर की कविताएँ जो क्लासिक हो गयी हैं, कैसा हमारे मनस् को छूती हैं! निश्चय वे जीवन के सच्चे अनुभवों से उद्भूत हैं।

हर एक युग में जो बड़ा कवि है अपना एक आदर्श बनाता है और उस युग का जो एक विशेष वाइब्रेशन है, उसके साथ अपने को एकात्म करता है। मैंने यह समझा कि केवल विचारों की कविता से हमारा काम नहीं चलने का, यह जो फिलोसोफ़ी है, इससे हमारा काम नहीं चलने का, हमें तो जीवन में पैठकर लिखना चाहिए। मुझे याद आया, नीत्से ने लिखा है; 'दस स्पेक ज़रायुश्ट्रा' में वह कहता है, जितना कुछ भी लिखा जाता है उसमें से मैं उसी की कद्र करता हूँ जो किसी ने अपने रक्त से लिखा है। अपने रक्त से लिखो, क्योंकि जब तुम अपने रक्त से लिखोगे तो उसके अन्दर से तुम्हारी आत्मा बोलेगी।

प्रश्नकर्ता : बच्चनजी, आपने कहा कि आपको प्रेम गीत लिखते हुए थोड़ी झिझक होती है, आप जीवन लिखते हैं—जीवन और प्रेम का तो इतना गहरा सम्बन्ध

है कि टूटता नहीं है और उसका उम्र से कोई ताल्लुक नहीं होता। गृहस्थी हो, उम्र हो, प्रेम एक ऐसी भावना है जो कभी-न-कभी, किसी न किसी तरह से, किसी-न-किसी क्षण में आपकी लेखनी तक पहुँचती है और कागज पर उतरती है। तो आप प्रेम गीत लिखने से झिझकते क्यों हैं ?

श्रीमती शशि शारदा : लगता है थोड़े कांशस हैं, क्योंकि इन्होंने कहा कि समाज में रहता हूँ, परिवारवाला हूँ, बच्चे बड़े हो गये हैं, कहीं यह न सोचें कि मैं छिछली कविता लिख रहा हूँ। बात ऐसी है कि जो आपको सुननेवाले हैं, हो सकता है, आशा करते हों कि आपके हाथ से ऐसी चीज़ निकले अब भी प्रेम के बारे में जो बहुत ही माने रखती हो, क्योंकि प्रेम केवल पच्चीस वर्ष का प्रेम नहीं होता, अठारह वर्ष का प्रेम नहीं होता, प्रेम एक ऐसी चीज है जो किसी उम्र में हो सकता है।

प्रश्नकर्ता : आप अपनी उम्र की बात तो नहीं कह रही हैं ?

प्रश्नकर्ता : वे यह कहना चाहती हैं कि प्रेम और अनुराग को हम आयु के साथ नहीं जोड़ सकते।

प्रश्नकर्ता : बल्कि बड़ी उम्र का प्रेम तो और परिपक्व प्रेम होगा।

डा. बच्चन : भाई, मैं दूसरी बात सोचता हूँ। जैसा कि अभी थोड़ा-बहुत यहाँ ज़िक्र हुआ, प्रेम जो है वह एक मुक्त वातावरण चाहता है। और प्रेमी जब अपने यौवन में होता है—मुक्त वातावरण तो शायद दुनिया नवयुवक के लिए भी नहीं देती —लेकिन तब वह एक तरह की लापरवाही बरतता है, वह कहता है कि हम इसकी तरफ से बेपरवाह हैं। लेकिन जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है यह दुनिया का शिकंजा उसको कसता जाता है और इसका एक रिगार्ड, एक कंसीडरेशन मेरे जैसे आदमी के दिमाग में ज़रूर रहता है। मैं उन रिन्दों की बात नहीं करता जो कि साठ वर्ष की उम्र में भी इश्क फ़रमाते हैं। ऐसे हैं बहुत से लोग, लेकिन मैं, साहब, इस तरह का रिन्द नहीं बन सका। आपको मालूम होना चाहिए कि मैं 34 वर्ष की उम्र में यूनिवर्सिटी का लेक्चरर हो गया था और यूनिवर्सिटी के लेक्चरर या टीचर का एक आदर्श मेरे दिमाग में था। जिस चीज़ से अपनी रोटी चलती हो, उसके प्रति ईमानदार होना, मेरे जीवन का आदर्श रहा है। जब टीचरी से या मुदर्रिसी से या अध्यापकी से मुझे अपनी रोटी कमानी है तो मुझे एक आदर्श अध्यापक भी बनना चाहिए और, भाई, आदर्श अध्यापक के लिए यह बात बड़ी अशोभन होगी कि जो लड़की क्लास में बैठकर हमारा लेक्चर सुन रही है, उसी से हम इश्क फ़रमाएं। मेरे एक मित्र ने ऐसा किया था, कवि नहीं थे।

प्रश्नकर्ता : कवि का जो अस्तित्व है वह बिलकुल अलग है, यह तो उसकी पर्सनल लाइफ़ है।

डा. बच्चन : यही तो मुसीबत है कि मैं प्योरली पोइट नहीं हो सका। जो प्योरली पोइट हो सके, वह यह सब करे। मैंने पहले ही कहा कि मैं घर-गृहस्थी में बँधा हुआ पोयट हूँ, आप इसको मेरी सीमा मान लीजिये।

प्रश्नकर्ता : बच्चनजी, इसमें कवि होने की बात नहीं है या लेखक होने की बात नहीं है। जीवन अगर है तो उसका कोई भी अनुभव, कितनी भी पुरानी मंज़िल हो, कितना भी आगे निकल जाय आदमी, फिर हो सकता है, फिर प्रेम तो एक ऐसी भावना है जो बहुत प्रबल है।

डा. बच्चन : बात यह है कि उसका सबलिमेशन हो जाता है। उम्र के साथ

इमोशन प्राय: घटते हैं, बुद्धि बढ़ती है, दिमाग़ बढ़ता है, दुनिया का कंसीडरेशन, दुनिया का रिगार्ड, दुनिया के लिए रेस्पेक्ट—यह सब ज़्यादा बढ़ जाती है। मैंने अपने बारे में दो कविताएँ लिखी थीं। एक मेरी उठती जवानी की तस्वीर थी और दूसरी जब मैं यूनीवर्सिटी में टीचर हो गया तब मैंने खिंचवायी थी। एक दिन ऐसा हुआ कि अपना एल्बम उलटते हुए मैंने अपनी पहली तस्वीर देखी और उसके कुछ दिनों बाद दूसरी तस्वीर देखी। तो मैंने उन दोनों तस्वीरों के ऊपर एक कविता लिखी।

"सिर पर बाल घने, घुँघराले, काले, कड़े, बड़े, बिखरे-से"

अब कहाँ वह बाल रह गये हैं, 73 वर्ष की उम्र में...

प्रश्नकर्ता : वह तो हम देख रहे हैं, आप कह रहे हैं, हम देख रहे हैं।

डा. बच्चन : सिर पर बाल घने, घुँघराले, काले, कड़े, बड़े, बिखरे-से
मस्ती, आज़ादी, बेख़बरी, बेफ़िक्री के हैं सन्देसे
नयनों में छाया प्रकाश की, आँखमिचौनी छिड़ी परस्पर—
बेचैनी में, बेसबरी में लुके-छिपे हैं सपने सुन्दर।

...आँखमिचौनी हो रही है, अच्छे-अच्छे सपने कभी आगे आते हैं, कभी पीछे जाते हैं, यह सूरत है। बहुत दिनों के बाद यूनीवर्सिटी में बड़ा रेस्पेक्टेड टीचर हो गया, टाई-वाई पहनकर चले जा रहे हैं बाल-वाल काढ़े हुए—

सिर पर बाल घने, घुँघराले, काले, कड़े, बड़े, बिखरे-से

इतने बड़े बाल रखकर जाओ तो लोग कहेंगे कि ऐक्टर आ गया कि प्रोफ़ेसर है।

प्रश्नकर्ता : बहुत कांशस हैं आप!

डा. बच्चन : कांशस तो था, जैसा था वैसा कहा। अब टीचर के—

सिर पर बाल कढ़े कंघी से
तरतीबी से, चिकने, काले,
जग की रूढ़ि-रीति ने जैसे
मेरे ऊपर फन्दे डाले।

अब क्या किया जाय, टाई भी एक फन्दे के रूप में है। बिना टाई के यहाँ तो चला आया, लेकिन वहाँ तो टाई पहनकर पढ़ाओ, पुराने ज़माने की बात कह रहा हूँ। अब तो सुना है कि बुश्शर्ट पहनकर भी लोग पढ़ाते हैं। लेकिन हमारे ज़माने में यूनिवर्सिटी में बिना टाई पहने कोई क्लास में नहीं जा सकता था।

सिर पर बाल कढ़े कंघी से
तरतीबी से, चिकने, काले,
जग की रूढ़ि-रीति ने जैसे
मेरे ऊपर फन्दे डाले।
नयनों के दो द्वार खुले हैं

पहले तो आँखमिचौनी हो रही थी, कभी दरवाज़ा खुलता था, कभी बन्द होता था।

नयनों के दो द्वार खुले हैं,
समय दे गया ऐसी दीक्षा,

समय को नकारिए मत, भाई साहब। समय आपसे करायेगा बहुत कुछ, आपके दिल को तोड़कर यीट्स की एक पंक्ति याद आ गयी --'Oh, who could have fore told that the heart grows old'.

समय दे गया ऐसी दीक्षा—
स्वागत सबके लिए यहाँ पर,
नहीं किसी के लिए प्रतीक्षा।

यह पंक्ति, प्रेम की जो बात आपने की उसकी एक छोटी-सी डेफ़िनीशन देगी, बदले हुए प्रेम की।

स्वागत सबके लिए यहाँ पर···

आइये, आप भी आइये, आप भी आइये, प्रेम कीजिये, आप खूबसूरत हैं, दिलवाले हैं, लेकिन इन्तज़ार अब नहीं होगा कि बैठे रहें तसव्वुरे जानाँ किये हुए, वह अब नहीं हो सकता, क्यों ? अब मुझे दफ्तर जाना है, भाई, अब मुझे कापियाँ एग्ज़ामिन करनी हैं, अब क्लास लेने जाना है। पहले की तरह की मुहब्बत अब नहीं हो सकती।

स्वागत सबके लिए यहाँ पर
नहीं किसी के लिए प्रतीक्षा।

तो जो मेरे प्रेम की कविताओं में परिवर्तन आया है, उसे मेरे जीवन के परिवर्तन के साथ आप जोड़ लीजिए। अगर वह जुड़ता हो तो मेरी कविता को मेरी सिंसियरिटी समझिये, न जुड़ता हो तो मेरी इंसिंसियरिटी समझिये। मेरा तो ऐसा ख्याल है कि अगर मैं प्रेम की कविताएँ अब तक लिखता जाता तो शायद आप सब लोग ऊब जाते मेरी प्रेम की कविताओं से और प्रेम की कविताओं में वह तेज़ी और वह ताक़त भी न होती, वह आकर्षण उनमें न होता जो पहले प्रेम की कविताओं में था।

प्रश्नकर्ता : बच्चनजी, एक मंज़िल तो आपने बतायी, आपने एक मोड़ का अनुभव किया। तो यह जो आप गम्भीर हो गये, जिसको अंग्रेजी में सीरियस कहते हैं, फिर खूब खुलकर सीरियस हुए, इसका आपके लेखन पर क्या असर हुआ ?

डा. बच्चन : लेखन तो ज़रूर बदलेगा। वाल्टर राली ने कहा था कि जब शायर का स्टाइल बदलता है तो उसके पहले इन्सान बदल चुका होता है, मगर शायर सचमुच सिंसियर है। चूंकि मुझे लिटरेचर से या साहित्य से ही कवि को जज करना है, मैंने हमेशा यह देखा कि जब किसी पोइट की शैली एक ही तरह से चलती चली जाती है तो मैं समझता हूँ कि इसके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। दिमाग से बहुत कुछ कहा जा सकता है, लेकिन आपका दिल, आपकी शख़्सियत, आपका व्यक्तित्व एक ही जगह पर जमा हुआ है। फिर मैं एक उदाहरण देता हूँ अपने दोस्त पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त का। शायद 1948 में वह गये अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी; अरविन्द का बड़ा सशक्त व्यक्तित्व था, पावरफुल, और उनके प्रभाव में, उनकी फिलोसोफी में वे रँग गये। जब वे वहाँ से लौटे तो एक आलमारी भर अरविन्द की किताबें लिये हुए वे मेरे यहाँ ठहरे। दो किताबें उन्होंने लिखीं 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि'। साहब, एकदम शैली बदली हुई थी। कहाँ पन्तजी का 'पल्लव', कहाँ उनकी 'ग्राम्या', कहाँ 'युगवाणी' और कहाँ यह 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' ! मैंने

कहा, भाई, अरविन्द छा गया इनके ऊपर और फिर अरविन्द ऐसे छाये कि '48 से लेकर '77 तक उनकी शैली में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वर्सीफ़िकेशन और पोयट्री में यही तो अन्तर है ! वर्सीफ़िकेशन यह है कि चीज़ को आपने एक दूसरे मीडियम से समझा और वर्सीफ़िकेशन में तुक और मात्रा जोड़कर बैठाल दिया। पन्तजी की शैली वही है, वर्सीफ़िकेशन, है, फ़िलोसोफ़ी ऊँची है, कविता नहीं है। कविता मेरी डेफ़िनीशन में तो जीवन से उठी हुई चीज है।

नैयर : जीवन की किताब आप पढ़ते रहे, दूसरे ग्रन्थ कम पढ़े, उनकी तरफ़ ज्यादा ध्यान नहीं दिया। जब आप 34 वर्ष के थे वहाँ तक तो हम पहुँच चुके थे। तो 34 वर्ष से अब तक जीवन की किताब ने कई रंग बदले होंगे, वह आपकी कविता में कैसे-कैसे प्रतिबिम्बित हुआ ?

डा. बच्चन : अब यह मैं बताऊँ ? यह तो आप बताइये, साहब। मैं तो सिर्फ इतनी बात कहना चाहता हूँ कि जैसे-जैसे मेरा जीवन बदलता गया, वैसे-वैसे मेरी कविता बदलती गयी। अब अगर कहीं आप मुझे पकड़ें और आप कहें, बच्चनजी, दस वर्ष तक आप उसी शैली में लिखते रहे तो मैं कहूँगा, हुजूर, दस वर्ष तक मेरे जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, हमारे जीवन में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आ गयी थीं कि हम नहीं बदले, जिस जगह पर थे उसी जगह पर थे। और, हिन्दी में शायद मैं अकेला आदमी हूँ जिसने कविता से छुट्टी ले ली। बहुत-से लोग हैं जिनसे कविता ने छुट्टी ले ली, मगर कविता लिखते चले जा रहे हैं। और मैंने यह किया कि मैंने कविता से छुट्टी ले ली।

प्रश्नकर्ता : 'जाल समेटा करने में भी समय लगा करता है माँझी।'

डा. बच्चन : 'जाल समेटा करने में भी समय लगा करता है, माझी'। तो मैंने समझ लिया, भाई, अब कविता से मैं कोई नयी बात नहीं कह सकूँगा क्योंकि जीवन में कोई नये अनुभव नहीं हो रहे हैं; अब 70 वर्ष की उम्र में क्या नये अनुभव होंगे, जो होना था, सब हो चुका। तो, या तो मैं अपने आपको रिपीट करूँ या जो बात मैं कह चुका हूँ उसी को फिर दूसरी तरह से कहूँ। यही होता है।

नैयर : एक बात मैं पूछना चाहूँगा कि जो कवि है उसका एक आदर्श होता है, एक आइडियल होता है और वह जीवन में किसी भी स्टेज पर हो, उसकी कुछ भी उम्र हो, वह आइडियल जरूर उसके सामने रहता है। तो उससे जब पोयट इंस्पायर होता है तो वह कुछ न कुछ कहने लगता है। किसी भी सिचुएशन से आप अफ़ेक्ट हो सकते हैं, चाहे आपकी आयु 73 वर्ष की हो, चाहे आप पचास वर्ष के हों। यह जरूर है कि आपके एक्सपीरिएंस में फ़र्क़ होगा उम्र के लिहाज़ से। तो उसका आप इज़हार कर ही सकते हैं शायरी में। शायरी से छुट्टी लेने की क्या जरूरत है ?

डा. बच्चन : शायरी से छुट्टी लेने की भी ज़रूरत है और जो दुनिया के आइडियल पोइट्स हैं उन्होंने शायरी से छुट्टी ले ली है। वह शायरी पर हावी थे। शायरी उन पर हावी नहीं थी। शेक्सपियर ने 'टेम्पेस्ट' लिखने के बाद लगभग दस वर्ष तक, कुछ भी नहीं लिखा। क्यों नहीं लिखा ? क्योंकि शेक्सपियर ने समझ लिया था कि मुझे जो कुछ कहना था वह मैं कह चुका, अब मैं लिखूँगा तो अपने आपको रिपीट करूँगा, क्योंकि 'टेम्पेस्ट' से बढ़कर चीज़ मैं नहीं लिख सकता। जब मुझे यह अहसास हुआ कि मैं अपने आपको रिपीट करने

जा रहा हूँ, या मुझे जो कुछ कहना था वह मैंने पोयट्री के ज़रिये से कह दिया, तो मैंने अपनी क़लम रख दी। जैसा आपने कहा, शायर के अन्दर एक उबाल तो होता ही है। क़लम रखने के बाद भी अगर कभी मुझे इस तरह का इंस-पिरेशन आया जो मुझे कम्पेल कर सके कि मैं कुछ लिखूं तो मैंने लिखा, हालाँकि उसको मैंने शाया नहीं किया।

प्रश्नकर्ता : क्यों ?

डा. बच्चन : कर दूंगा कभी, या कभी हो जायेंगी।

प्रश्नकर्ता : निजी बहुत तो नहीं हैं ?

डा. बच्चन : कवि की हर चीज़ ही निजी होती है, कोई ऐसी निजी भी नहीं होती जो सबकी न हो। पन्तजी की पंक्ति है 'कवि से रे किसका क्या दुराव'; मैं लिखता, 'कवि का रे किससे क्या दुराव।'

प्रश्नकर्ता : वह सार्वजनिक भी है, निजी भी है।

डा. बच्चन : 'मैं गाता हूँ, यह प्रेम कहानी मेरी है'—आपकी भी है।

प्रश्नकर्ता : जो आपने नहीं छपाईं।

डा. बच्चन : जो मैंने नहीं छपाईं उसमें यह जरूर है कि मैं कविता को ढूंढ़ने नहीं गया···वही 'स्वागत सबके लिए',···जब कोई ऐसा कम्पेलिंग इंसपिरेशन मेरे अन्दर उठा तो मैंने लिखा, और लिखकर रख दिया। अब उससे कोई पब्लिसिटी पाने या नाम कमाने या पैसा अर्न करने की मुझे जरूरत नहीं। और मैं जानता हूँ कि अगर मैं उनको पब्लिश भी कर दूँ तो मेरे पोयट के स्टेचर में, कद में किसी तरह का फ़र्क़ नहीं आने का, बच्चनजी को जहाँ पहुँचना था, वहाँ वह पहुँच गये। 70 वर्ष तक नहीं पहुँचे तो 72 वर्ष में क्या पहुँचेंगे।

प्रश्नकर्ता : आप हिन्दी के लेखक हैं, जैसा आपने स्वयं कहा···

डा. बच्चन : लेखक ही हूँ, साहित्यकार मत कहिये।

प्रश्नकर्ता : मगर विद्यार्थी रहे हैं आप अंग्रेजी साहित्य के। सुना है कि आपने केम्ब्रिज में यीट्स पर डाक्ट्रेट भी की। यह जो आपके जीवन का चेप्टर है अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन का, उसने आपके लेखक को क्या दिया, कुछ दिया कि कुछ छीन लिया ?

डा. बच्चन : बात यह है कि कविता जो है वह हमेशा टेंशन से लिखी जाती है; धनुष जो है वह चढ़ा हुआ हो, टेंशन में हो तो तीर निशाने पर बैठता है। मैंने भी अपने लिए एक टेंशन पैदा कर लिया। टीचर और पोयट—एक-दूसरे से अलग चीज़ें हैं, और इसका टेंशन मैंने अपनी ज़िन्दगी भर अनुभव किया। —शायद मुझसे कविता लिखानी थी, इस वास्ते ज़िन्दगी ने मुझे इस टेंशन में हमेशा रखा। अभी बात हो रही थी, रास्ते में आप ही से मेरी आटोबायो-ग्राफी के बारे में। जब मैं दिल्ली पहुँचा तो टीचरशिप छोड़ आया था, मगर क्लर्क बन गया था - गवर्नमेण्ट के दफ्तर में कोई कितना ही बड़ा क्यों न अफसर हो जाय, एक ग्लोरीफ़ाइड क्लर्क ही रहता है, जब मैंने टीचरी छोड़ दी, तो रह गया सिर्फ़ शायर। शायर जब आकर गवर्नमेण्ट दफ्तर के सामने खड़ा हुआ, तो जैसे जब आप काश्मीर से जाकर दिल्ली में उतरते हैं तो आपको एक भभका लगता है गर्म हवा का, ऐसा ही उस दफ्तर के सामने मुझे एक भभका लगा, ऐ शायर, तू कहाँ आ गया - यह दफ्तर की ज़िन्दगी और शायरी, यह दोनों काम आसानी से साथ नहीं हो सकते। इस वास्ते मैं दस

वर्ष तक की दफ्तरी ज़िन्दगी में एक टेंशन में ही रहा। बैठता था दफ्तर में मगर दिल घूमता था दूसरी दुनिया में। इसी टेंशन ने मुझसे यूनीवर्सिटी लाइफ़ में भी कविता लिखायी थी। मुझे तो वह कविता चाहिए जो मेरे खून-पसीने से निकली हुई हो।

प्रश्नकर्ता : डा. साहब, आपकी एक पंक्ति है 'मैं क़लम और बन्दूक चलाता हूँ दोनों', दुनिया में ऐसे बन्दे कम पाये जाते, जब आप ये दोनों काम साथ-साथ कर सकते हैं, तो टीचरी या क्लर्की के साथ आप शायरी भी कर सकते थे।

डा. बच्चन : मगर यह टेंशन का अनुभव मैंने हमेशा अपनी लाइफ़ में किया, टीचर था तब भी इस टेंशन में था और जब क्लर्क बन गया तब भी इस टेंशन में था। जब मैं आता था दफ्तर तो मैं समझता था कि मैं अपने शायर के प्रति एक बड़ी ज्यादती कर रहा हूँ। मगर एक बात आपको बताऊँ कि ऐसा कुछ मेरी ज़िन्दगी में ही नहीं हुआ, और बहुत से शायर दुनिया में हुए हैं जिन्होंने इस टेंशन को बर्दाश्त किया है। मुझे ख्याल आता है चकबस्त साहब का। वकील थे, बहुत अच्छे वकील थे, लेकिन शायर बहुत ऊँचे दर्जे के थे। उनकी वकालत ने उनकी शायरी के लिए टेंशन जरूर पैदा किया होगा, और वह ग्रेट पोयट शायद इसी वजह से हुए कि वह अच्छे वकील भी थे।

प्रश्नकर्ता : आपकी अब तक की जितनी बातें हैं, बच्चनजी, उनसे लगता है कि आपने अपने जीवन को अलग-अलग खानों में बाँट रखा था। कवि के बारे में तो हमने सुना है कि कभी वह इस खाने में, कभी उस खाने में, बन्द नहीं हो सकता। तो आपने यह कैसे मुमकिन किया कि आप कवि को एक खाने में बन्द करके अभी तक चले आये। आपका कवि कैसे बन्द रहा ?

डा. बच्चन : यह तो, साहब, एक मिरेकिल ही है। मैं समझता हूँ कि मेरे अन्दर का कवि बड़े जीवट का कवि होगा कि उसने इतनी मुसीबतों में भी कविता को जिन्दा रखा। अक्सर पहले जो शायर थे जब टीचर हो गये तो शायरी बन्द हो गयी, ऐसे आपको बहुत-से एग्जाम्पिल मिलेंगे। और जब क्लर्क हो गये, एकाउण्टेण्ट जनरल आफिस में क्लर्क हो गये तो शायरी बिल्कुल बन्द हो गयी। बच्चनजी का शायर इतना बेहया था कि टीचर भी होकर और क्लर्क भी होकर उसने अपने आपको जिन्दा रखा। तो कवि कहीं पर बहुत पोढ़ा होगा मेरे अन्दर कि इतने टेंशन के बावजूद, इतने विरोधों के बावजूद, उसने ईल्ड नहीं किया।

प्रश्नकर्ता : आपने टेंशन की बात की है। तो जब कविता उतरती है आप पर, आपके अपने अहसास की भट्टी में जब कोई अनुभव तपने लगता है और फिर कविता के रूप में काग़ज़ पर उतरता है, किसी अनुभव को बता सकते हैं कि वह क्या होता है ? है यह बहुत निजी बात, जब तक आप बतायेंगे नहीं, पता नहीं चल सकता।

डा. बच्चन : बात यह है कि जब तक आप खुद शायर न हों तब तक आपको पता नहीं चल सकता कि भीतर जो पकता है कवि कैसे उसको बर्दाश्त करता है और कैसे उसको कहता है। एक बात मैं आपको बताऊँ, यह इतना बड़ा टेंशन होता है कि इसमें आप रोते भी हैं और आप हँसते भी हैं। इसमें रंजो-गम, खुशी और हँसी एक ही सिक्के के दो पहलू मालूम होते हैं। किस क्षण में आप हँस देंगे और किस क्षण में आप रो पड़ेंगे, आप नहीं जानते। इन दोनों का अनुभव करीब-करीब एक ही-सा होता है। आदमी अपने बस में

नहीं रहता, नाचता है, भीतर उसके कुछ होता है। इसी को इंसपिरेशन कहते हैं। फिर मुझे याद आया। इंसपिरेशन की तो ऐसे बहुत-सी डेफिनीशन्स दी गयी हैं, मगर नीत्से ने इसकी एक बड़ी अच्छी डेफिनीशन दी है एक पूरे पेज में। जर्मन तो मैं जानता नहीं, अंग्रेजी अनुवाद कभी पढ़ा था तो नोट किया था कि इंसपिरेशन की इससे अच्छी डेफिनीशन मैंने कभी नहीं देखी। उसने लिखा है कि कोई भीतर से बोलता है, आदमी बेबस हो जाता है। ऐसा अनुभव जो है वह बहुत कम होता है यानी आप देखिये कि मैं तो पचास वर्षों तक कविता लिखता रहा, लेकिन ऐसे अनुभव मैं बहुत कम कविताओं के लिए कह सकता हूँ जिनमें मैं बिल्कुल बेबस हो गया हूँ। अगर बेबस होकर ही कविता लिखता तो शायद जितना भी लिखता वह सब क्लासिक होता। मगर शायर इतनी देर इन्तजार नहीं करता, यानी कभी अधूरे इंसपिरेशन से भी लिखता है, इंसपिरेशन की भी डिग्री होती है। नीत्से का तो अनुभव यह था कि इंसपिरेशन की हालत में उसकी फिज़ीकल और मस्क्युलर इनर्जी भी बढ़ जाती थी, वह दस-दस, बीस-बीस मील चलता ही चला जाता था, पहाड़ पर चढ़ जाता था। उसके लिए यह एक नये तरह का अनुभव था। मगर इंसपिरेशन का अनुभव कुछ इसी तरह का होता है कि आदमी अपने बस में नहीं रहता। आपने यीट्स का भी जिक्र किया था। उसका भी एक कथन मुझको याद आता है। यीट्स भी एक जगह पर कहता है कि जो चीजें मैंने अनकांशसली या सेल्फ़लेसली लिखी हैं उन्हीं चीज़ों की मैं सबसे ज्यादा कद्र करता हूँ, और दुनिया ने भी उनकी सबसे ज्यादा कद्र की है क्योंकि उनमें मैं नहीं, कोई और चीज है जिसको मैं एनालाइज नहीं कर सकता।

प्रश्नकर्त्ता : कवि के लिए संघर्ष जरूरी है या समझौता करना जरूरी है जीवन के साथ ?

डा. बच्चन : समझौता आदमी करता है, शायर तो समझौता नहीं करना चाहता। मगर आदमी समझौता करता है और उस समझौते का असर शायर के ऊपर पड़ता है। अगर आदमियत से आप निकल जायँ, तो आपको समझौता करने की जरूरत नहीं, पर दुनिया में ऐसा हो नहीं सकता।

प्रश्नकर्त्ता : इट इज़ क्वाइट एन इम्पोसिबिलिटी।

डा. बच्चन : वही तो मैं भी कह रहा हूँ। और हम तो प्योर पोयट को अच्छा भी नहीं समझते। वह किस काम का है ? मान लीजिए कोई प्योर पोयट है या शुद्ध कवि है तो वह न मेरे काम का है, न आपके काम का है क्योंकि न आप शुद्ध पोयट हैं, न मैं हूँ, आपको बहुत-से काम करने पड़ते हैं, दफ्तर जाना है, बीबी के लिए साड़ी खरीदनी है, बच्चे की दवा लानी है, और बीस बातें करनी हैं, आपको कहाँ फ़ुरसत है प्योर पोयट के साथ बैठने की; उसके साथ अपने को एक करने का कहाँ मौका है। अगर कोई प्योर पोयट हो तो मैं कहूँगा बहिश्त में या जहन्नुम में जाकर रहो; इस दुनिया में तुम्हारी जगह नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता : हम कह सकते हैं आपने अपनी कविता में आदमी को प्रतिष्ठित करने की कोशिश की है।

डा. बच्चन : अगर आप चाहें तो यह कह सकते हैं।

प्रश्नकर्त्ता : इसके साथ एक और एसपेक्ट आपकी कविता का मुझे याद आ रहा है। वह यह है कि आपने लिखा है 'त्रिभंगिमा' की भूमिका में कि सस्वर पढ़ना

कविता के लिए आवश्यक है, क्यों आपने ऐसा कहा कि शब्द जो है वह कान की चीज ज्यादा है और आँख की चीज कम है। तो इसका यह भी एक मतलब हो सकता है कि आप एकाउस्टिक वेल्यूज जो हैं, श्रावणिक मूल्य जो हैं कविता के, उन पर ज्यादा जोर देते हैं, लेकिन श्रावणिक मूल्यों के अतिरिक्त कविता में जो भावों का सम्प्रेषण है, कम्युनिकेशन आफ आइडियाज़ या थाट है, उसके बारे में आपका क्या विचार है? क्या कविता केवल संगीत की एक सहेली है, या विचारों और भावों को वहन करनेवाला एक माध्यम है?

डा. बच्चन : तुलसीदास ने इस बात को बहुत स्पष्ट कर दिया है। जब उन्होंने 'मानस' लिखना शुरू किया तो उन्होंने कहा—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।

तुलसीदास ऐसा आदमी जब कोई क्रम बनाता है तो समझ लेना चाहिए कि वह किस चीज को महत्त्व देता है। कहते हैं 'वर्णानां', 'वर्ण' का अर्थ हुआ 'अक्षर' यानी ध्वनि, वर्ण तो केवल ध्वनि करता है, ध्वनि को पहला स्थान; वर्णनामर्थसंघानाम, अर्थसंघ को दूसरा स्थान, यानी अर्थ एक ही नहीं, बहुत होना चाहिए। वर्णानां अर्थसंघानां रसानां, वर्ण और अर्थ का एफ़ेक्ट हुआ रस। छन्दसामपि, छन्द भी, यानी छन्द को सबसे कम स्थान। आप आइये, आप आइये, आप भी आ जाइये, छन्दसामपि। 'मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ'। तो ध्वनि को महत्त्व देने का अर्थ यही होता है कि ध्वनि एक ऐसा माध्यम है जिसके ज़रिये से अर्थ अपना रास्ता बनाता है। जैसे आपको एक कड़वी दवा अगर खिलानी हो तो उसके ऊपर शुगर की कोटिंग कर दी जाती है। अगर यह शुगरकोटिंग न हो तो दवा बहुत कड़वी मालूम होगी। अर्थ बहुत कड़ुवा है। अर्थ ही अर्थ लेना हो तो फिर फ़िलोसोफ़ी पढ़िए। और अगर कविता लेनी है तो जाकर सूर पढ़िए, तुलसी पढ़िए। फ़िलोसोफ़ी अगर पढ़नी है तो राधाकृष्णन को पढ़िए। तो फिर बच्चनजी के पास क्यों आते हैं, सुमित्रानन्दन पन्त के पास क्यों जाते हैं?

प्रश्नकर्त्ता : कह सकते हैं कि आप कविता की दवा को शुगर कोटेड बनाकर रखते हैं।

डा. बच्चन : दवा नहीं, वह तो हमारा भोजन है। भोजन के साथ जैसे कोई चटनी जरूरी है, वैसी ही ध्वनि। भोजन जो हो पौष्टिक भी हो और स्वादिष्ट भी हो। अगर आपसे कहा जाये, हमारे घर आइये, हम आपको टानिक ही टानिक खिलायेंगे। विटामिन ए. बी. सी. डी. सब खिलायेंगे। आप आयेंगे? मैं तो आपके यहाँ दावत खाने नहीं आऊँगा। आप हमें हलुआ खिलाइये, खीर खिलाइये, मोहनभोग खिलाइये, तब मैं आपके यहाँ आऊँगा। तो कविता जो है वह खीर है, सोहन हलुआ है, मोहनभोग है, चटनी है, दहीबड़ा है, ए. बी. सी. डी. ई. एफ. जी. एच. विटामिन नहीं है।

नैयर : साहित्य की भी बात हुई, कविता की भी। मेरा ख्याल है कि कुछ व्यक्तिगत बातें भी होनी चाहिए, जिन्दगी का हिस्सा है। तो बच्चन साहब, एक वक्त था, बल्कि अब भी है कि आप बच्चन के नाम से जाने-पहचाने जाते हैं, लेकिन वह वक्त भी आया कि आपके साहबजादे फिल्म इण्डस्ट्री में आये।

तो बाप की हैसियत से यह अच्छा लगेगा कि बच्चे ने इतनी तरक्की की लेकिन जब वह अपने बच्चे के नाम से पहचाना जाने लगे तो कैसा महसूस होता है, आपको कैसा महसूस होगा कि कोई कहे कि आप अमिताभ बच्चन के बाप हैं।

डा. बच्चन : साहब, मुझे बहुत ही खुशी होती है और मैं अपनी सारी कविता अपने बेटे के ऊपर, अपने बेटे की कला के ऊपर निछावर कर सकता हूँ। अगर मुझसे कोई पूछे कि आपने सबसे अच्छी कविता कौन लिखी तो मैं कहूँगा मैंने अमिताभ लिखा। आप कहेंगे, बाप बोल रहा है, मगर बाप क्यों न बोले!

प्रश्नकर्ता : बच्चनजी, एक और निजी प्रश्न है, आप क्षमा कीजियेगा, मैं इसका रहस्य जानना चाहता हूँ। आपके ही पुराने जमाने के एक मित्र बताते हैं कि एक ज़माना था जब आप अग्रवाल विद्यालय में टीचर थे। उसके बाद आप झा साहब के सम्पर्क में आये। उन्होंने आपको एक नीलम दिया जो आपके हाथ में अब भी है। जब से आपने यह नीलम धारण किया है, यद्यपि आप सुपरस्टिशन में बिलीव नहीं करते, लेकिन आपके दोस्तों में यह कहानी प्रचलित है कि जबसे आपने यह नीलम धारण किया है तबसे आप उन्नति के शिखर पर चढ़ते ही चले गये, और अब भी जो आप कहते हैं कि 73 वर्ष में आप रिटायर हो गये, ऐसा नहीं है, यह नीलम आपको कहीं और भी ले जायेगा। इसके प्रति आपके क्या विचार हैं?

नैयर : ये आपकी उँगलियाँ देखकर प्रश्न कर रहे हैं।

डा. बच्चन : भाई, देखो 'हैमलेट' में शेक्सपियर कहीं कहता है, 'देयर आर मोर थिंग्स इन हैविन एण्ड अर्थ···दैन आर ड्रेम्ट आफ़ इन योर फ़िलासफ़ी' तो इस नीलम में तो कुछ ऐसा रहस्य है जिसको मैं भी नहीं जानता। इस नीलम को मैंने ख़रीदा नहीं; इस नीलम को मैंने छुआ और अपना दाम एक दूसरे से दिलाकर यह मेरे चरणों में आ गिरा। अब आप इसकी कहानी जानना चाहते हैं; बड़ी इण्टरेस्टिंग कहानी है।

प्रश्नकर्ता : डॉ. साहब, मैंने डॉ. रामकुमार वर्मा से थोड़ी-सी कहानी सुनी थी; और आज आपकी जबानी सुनना चाहता हूँ फिर।

डा. बच्चन : झा साहब का नाम तो आपने सुना होगा; बड़े मुदम्मिग आदमी थे। और जनरली कोई आदमी उनसे नियरनेस का दावा नहीं कर सकता था, चाहे उनका कितना ही बड़ा दोस्त हो। मैं उन दिनों यूनीवर्सिटी की एक पोस्ट के लिए एप्लीकेण्ट था, चूंकि लेक्चरर की एक जगह ख़ाली हुई थी, सवा सौ रुपये की। झा साहब थे वाइस चांसलर, दो हज़ार रुपया तनख्वाह पानेवाले। भला बताइये, हमारी उनकी दोस्ती क्या हो सकती थी! हाँ, उनको सलाम बजाने के लिए कभी-कभी हम भी पहुँच जाते थे। एक दिन मैं उनके यहाँ पहुँच गया, देखता हूँ एक लम्बी मेज़ लगी हुई है जिसके सामने कई लोग बैठे हैं; मैं भी एक किनारे पर जाकर बैठ गया, दूर पर कहीं; उनके नजदीक बैठने की तो हिम्मत नहीं होती थी।

नैयर : आँच बहुत आती थी!

डा. बच्चन : तो दूर पर जाकर बैठ गया। वहाँ कलकत्ते का एक जौहरी आया हुआ था और तरह-तरह के क़ीमती स्टोन जैसे नीलम, पुखराज वगैरह-वगैरह छोटी-छोटी ट्रे में रखकर लोगों के सामने कर रहा था; सब लोग देख रहे थे। झा साहब को शौक था नीलम-वीलम पहनने का या लेने का। एक ट्रे छोटी-

सी मेरे सामने भी रखी थी और मैंने देखा कि उसमें पन्द्रह-बीस नीलम पड़े हुए हैं। क्यूरिआसिटी थी कि ज़रा नीलम को उठाकर देखें, कैसा होता है यह! इतनी देर में क्या देखता हूँ एक नीलम मेरे हाथ में है और झा साहब मुझसे पूछते हैं, 'तुमने भी कुछ पसन्द किया?' यह सवाल झा साहब किसी से नहीं कर सकते थे। मैंने कहा, 'साहब, मैं ग़रीब आदमी, नीलम क्या ख़रीदूँगा, सवा सौ की नौकरी के लिए एप्लीकेण्ट हूँ। नीलम तो बहुत महँगी चीज़ होती है। उँगलियों की खुजली मिटा रहा हूँ इसको छूकर।' झा साहब के मुँह से निकलता है, 'तुम्हें जो नीलम पसन्द हो वह ले लो, मैं तुमको प्रेज़ेण्ट कर दूंगा'। यह नीलम था मेरे हाथ में; एक आदमी उधर बैठा हुआ चिल्लाता है मेरे ऊपर, 'जो नीलम आपके हाथ में है, उसको पकड़िये···' डाँटकर मुझसे कह रहा है, 'यही आपका करामाती नीलम है कि आपके हाथ में आते ही अपने को प्रेज़ेण्ट करा रहा है आपको!···यही नीलम का असर होता है।' झा साहब से कभी यह उम्मीद नहीं थी कि वे अपने एक स्टूडेण्ट के लिए, एक अपने एप्लीकेण्ट के लिए इस तरह की बात अपने मुँह से निकालेंगे, मगर इस नीलम ने निकलवा दी। यह मेरे हाथ में था, यह नीलम मैंने पकड़ा, मैंने इस नीलम को ख़रीदा नहीं, यह नीलम अपने आप मेरे पास आया है।

मैं कितना ही भूलूँ, भटकूँ या भरमाऊँ
है एक कहीं मंजिल जो मुझे बुलाती है
कितने ही मेरे पाँव पड़ें ऊँचे-नीचे
प्रति पल वह मेरे पास चली ही आती है।

उसी साल मैं लेक्चरर एप्वाइण्ट हो गया, '41 में और '42 में मेरी शादी हो गयी। यह नीलम का ही असर है। उसके बाद मेरे दो लड़के हुए जो हीरा-जवाहर हैं। केम्ब्रिज से जाकर मैंने डाक्ट्रेट ली। मिनिस्ट्री आफ एक्सटर्नल एफ़ेयर्स में जवाहरलाल का फ़ेवरिट बनकर आया, और फिर छः वर्ष राज्य-सभा का मेम्बर रहा। तो, भाई, यह नीलम का असर नहीं है तो किसका असर है!

प्रश्नकर्ता : नीलम के प्रसंग में आपने पण्डितजी की बात कही। तो शशिजी आप कुछ पूछें।

शशि शारदा : हाँ, मेरे को याद आया, पण्डितजी के साथ कोई दिलचस्प वाकया हुआ हो तो हमें सुनायें।

नैयर : पण्डितजी की याद···

डा. बच्चन : पण्डितजी की बहुत-सी बातें हैं, अब क्या-क्या बताऊँ। उनके गुस्से की एक बात बता दूँ आपको। मैं था हिन्दी आफ़ीसर मिनिस्ट्री आफ़ एक्स-टर्नल अफ़ेयर्स में और डा. राधाकृष्णन थे प्रेसिडेण्ट, ज़ाकिर हुसैन साहब वाइस प्रेसिडेण्ट थे। जब पार्लियामेण्ट का कम्बाइण्ड सेशन होता था तब उसको डॉ. राधाकृष्णन ऐड्रेस करते थे और उनकी स्पीच पढ़ी जाती थी हिन्दी में, डॉ. ज़ाकिर हुसैन द्वारा। अनुवाद करने का काम था डॉ. बच्चन का। ज़ाहिर है, राधाकृष्णन साहब बहुत बड़े फ़िलोसोफ़र थे; उनकी बढ़िया स्पीच आयी ट्रांसलेट करने के लिए तो डा. बच्चन ने भी उसको बढ़िया हिन्दी में किया। पण्डितजी ने उसे देखा, अनुवाद उनको पसन्द नहीं आया, मुझको बुलाया, कहने लगे, 'इसकी हिन्दी बहुत कठिन है।' मैंने कहा, 'साहब,

डॉ. राधाकृष्णन, आप जानते ही हैं, इतने बड़े फ़िलोसोफ़र, इतनी बढ़िया स्पीच अंग्रेज़ी में लिखी है उन्होंने और हिन्दी में बड़ी मेहनत के साथ मैंने इसका अनुवाद किया है।' कहने लगे, 'तुम्हें मालूम है डॉ. ज़ाकिर हुसैन इसको पढ़ेंगे।' मेरे मुँह से यह निकल गया, 'तो इसका उर्दू में अनुवाद करा लीजिये।' अरे बाप रे, आग-बबूला हो गये, बोले, 'जाओ, इसको ले जाओ और आसान बनाओ।' आल इण्डिया रेडियो में एक आदमी था बेदी नाम का उर्दू सर्विस में। पता नहीं आपको मालूम है या नहीं।

नैयर : मैं जानता हूँ।

डा. बच्चन : साहब, मैं प्लूरिसी में पड़ा था, दो-तीन दिन पहले से। अब जवाहरलाल का हुक्म। खैर, गुस्सा उनको आता था एकदम से। मगर एक मिनट बाद बच्चे की तरह शान्त हो जाते थे। जब उन्होंने देखा कि मैं ज़रा घबराया उनके गुस्से से तो एकदम मुलायम पड़ गये, कहने लगे, 'बेदी को, जानते हो? मैं जानता हूँ तुमको उर्दू बहुत अच्छी नहीं आती, तो बेदी को, उर्दू सर्विस का जो आदमी है, उसको मैं भेजता हूँ, जो हिन्दी के मुश्किल अल्फाज़ हैं उनको सिर्फ़ उर्दू कर दो। तो, साहब, रात को बेदी आया, मैं बैठा, और वह सारी स्पीच मैंने उर्दूवाइज़ की। ऐसे बहुत से इन्सीडेण्ट हैं।

नैयर : अब कविता होनी चाहिए जो आपको याद हो।

प्रश्नकर्ता : 'सोन मछली' वाली।

डा. बच्चन : 'सोन मछली' का भी गीत है। और एक गीत मैंने लिखा था, 'जीवन के बिरवा मीत रे', वह भी मुझे बहुत प्रिय है।

प्रश्नकर्ता : बहुत अच्छा गीत है, वही सुनायें।

डा. बच्चन : हमारे ट्रेडीशन में कुछ चीजें होती हैं। देखें, उनको समय किस तरह बदल कर कहता है; बात वही कहता है, लेकिन उसका रूपक बदल देता है। स्त्रियों के पति अक्सर गाँव से दूर, बड़े शहरों में चले जाते हैं कमाने-धमाने के लिए और स्त्रियों को घर छोड़ जाते हैं, और बहुत मर्तबा वे लौटते ही नहीं और वे बेचारी इन्तज़ार में मर जाती हैं। इसके बहुत से गीत हमारे उत्तर प्रदेश में हैं। 'जीवन के बिरवा मीत रे' का बेसिस बिलकुल यही है। मैं चाहता हूँ कि इस पर एक पुराना गीत आपके सामने रखूँ अगर आपके पास वक़्त हो।

नैयर : ज़रूर।

डा. बच्चन : कोई ब्याही स्त्री है, जब उसका पति परदेश जाने लगता है तो वह उसको कुछ चीजें दे जाता है और उसको कुछ इन्स्ट्रक्शन्स दे जाता है। अब इसके ऊपर एक गीत है—

रामा दइ गये कुपवन तेल हरपवन सेंदुर···

आप कहाँ के रहनेवाले हैं?

नैयर : मैं? पंजाब का।

डा. बच्चन : यू. पी. का जो रहनेवाला है वही शायद इसको कुछ समझ सकेगा। आप किस ज़िले के रहनेवाले हैं?

प्रश्नकर्ता : लखनऊ का।

डा. बच्चन : हाँ तो लखनऊ के आसपास जो अवधी का इलाक़ा है गोंडा-गोरखपुर वग़ैरह का वहाँ पर यह गीत गाया जाता है, औरतें इसको गाती हैं। बड़ा सैड है, आटा पीसती जायेंगी और गीत गाती जायेंगी; सुबह-सुबह

यह गीत सुनायी देगा। और अब मैं उसी ट्यून में उसे रख रहा हूँ जिस ट्यून में वे गाती हैं—

रामा दइ गये कुपवन तेल हरपवन सेंदुर
रामा दइ गये चंदन चरखवा, बनाइ गच ओबरि
रामा दइ गये अपनी दुहइया कि सत जिन छोरेउ···

अर्थ इसका समझते हैं ? 'रामा दइ गये कुपवन तेल' कुप्पों में तेल दे गये। सुहागिन स्त्री जो है बालों में तेल लगाती है, विधवा औरतें नहीं लगातीं। क्योंकि सुहागिन है तो उसे तेल दे गये। हरपवन कहते हैं उस डिब्बे को, जिसमें सिन्दूर रखा जाता है, सिंधोरा भी उसको कहते हैं। कई सिंधौरे दे गये जिसमें सुहाग का चिह्न है। कह गये सिन्दूर रोज़ लगाना, तेल लगाना बालों में और माँग में सिन्दूर भरना।

रामा दइ गये कुपवन तेल हरपवन सेंदुर
रामा दइ गये चंदन चरखवा···

चन्दन का चरखा दे गये

बनाइ गच ओबरि

पक्की कोठरी, कच्ची नहीं, पक्की कोठरी।

रामा दइ गये अपनी दुहइया···

और अपनी क़सम दे गये—पतिव्रता का धर्म निभाने के लिए। अब दूसरा सीन है। बहुत दिन बीत जाते हैं, पति नहीं लौटता। होता क्या है ? पत्नी की उम्र बीत जाती है और वही चरखा और वही सब चीज़ें लेकर वह बैठी रहती है। अब देखिये, एक वर्ड के ऊपर कैसा गाँव का गीत चलता है—

रामा चुक गएँ कुपवन तेल हरपवन सेंदुर

कुप्पों का तेल चुक गया, हर पवनों का सिन्दूर चुक गया। और आगे की जो पंक्ति है, कालिदास के लिखने की है···

रामा चुक गयें कुपवन तेल हरपवन सेंदुर
रामा घुन गयें चँदन चरखवा ढहइ गच ओबरि।

चन्दन का चरखा घुन गया। चन्दन कभी नहीं घुनता। कितनी लम्बी उम्र तक वह प्रतीक्षा करती रही होगी···

रामा घुन गयें चँदन चरखवा ढहइ गच ओबरि

वह गच्ची कोठरी जो थी, पक्की कोठरी, वह भी ढह गयी।

रामा चुक गयीं हमरी उमिरिया, हरिजी नहीं आयेन।

हमारी उम्र भी चुक गयी, तेल चुक गया, सिन्दूर चुक गया, चरखा घुन गया, कोठरी गिर गयी, 'रामा, चुक गयीं हमरी उमिरिया' और हरिजी नहीं आये यानी पति, और इन्तज़ार जारी है।

प्रश्नकर्ता : बड़ा दर्द है इस गीत में !

डा. बच्चन : यह सैकड़ों वर्ष पहले का गीत है। यह जो 'जीवन के बिरवा मीत रे' वाला गीत है यह ऐसी ही भावना पर अवलम्बित है, लेकिन प्रतीक दूसरे हैं। अब मैं वह गीत अपना सुना देता हूँ।

जीवन के बिरवा मीत रे, जीवन के।

उसकी ट्यून में एक तरह की सैडनेस है, और इसकी ट्यून में एक दूसरे तरह की सैडनेस है।

जीवन के बिरवा मीत रे, जीवन के
आँगन के बिरवा मीत रे, आँगन के।

वृक्ष स्त्री का मित्र है—भाई है।

आँगन के बिरवा मीत रे, आँगन के···
रोप गये साजन, सजीव हुआ आँगन
आँगन के बिरवा मीत रे, आँगन के···
पी की निशानी को देते पानी

पति जब जाने लगा था एक बिरवा—एक पेड़ लगा गया था। 'बीर' भाई को भी कहते हैं, 'विरवा' में एक और मार्मिक संकेत है।

पी की निशानी को देते पानी
नयनों के घट गये रीत रे

पेड़ के नीचे बैठकर जैसे पत्नी पति के विरह में रोती है

पी की निशानी को देते पानी
नयनों के घट गये रीत रे, जीवन के···
जीवन के बिरवा मीत रे, आँगन के···
फिर-फिर सावन बिन मन भावन

ऐसे उमर गयी बीत रे, जीवन के···'ऐसे'—बिना किसी परिवर्तन के—मोनोटोनी में—ऊब में—एकरसता में···

जीवन के बिरवा मीत रे, जीवन के···

और पेड़ सूख जाता है—अपनी उम्र ख़त्म करके—

अब तू सूखा, दिन-दिन रूखा
दूखा गले का गीत रे, जीवन के···
जीवन के बिरवा मीत रे, जीवन के···
अन्तिम शया हो तेरी छैयाँ
दैया निभा दे प्रीत रे, जीवन के···
जीवन के बिरवा मीत रे, आँगन के···
आँगन के बिरवा मीत रे···

नैयर : वैसे तो ऐसा है बच्चनजी कि आपके साथ पाँच-दस साल बैठा जा सकता है, आप इसी तरह बात करते रहें, हम सुनते रहें, लेकिन यह कि सुननेवालों का सिलसिला, रेडियो का सिलसिला, टेप का सिलसिला वह तो उतनी देर टिकता नहीं है। बहुत-बहुत धन्यवाद, आप पधारे, बड़ा आनन्द आया और फिर जब आप काश्मीर आयें फिर मिलियेगा, हमें भूलियेगा नहीं।

कैसे दिन कैसे लोग : आकाशवाणी, श्रीनगर से भाषण तथा साक्षात्कार*

सरूर साहब, नैयर साहब और और भी हज़रात जो यहाँ पर मौजूद हैं, भाइयो और बहनो, मैं यहाँ ऐसा महसूस कर रहा हूँ जैसे कि मैं अचानक पकड़ लिया गया हूँ। नैयर साहब ने जब मेरे सामने यह प्रस्ताव रखा कि मैं यहाँ आकर कुछ अपने रेमिनिसेंसेज़ सुनाऊँ तो मुझे भीतर से खुशी भी हुई। नैयर साहब को मैं एक बहुत सफल स्टेशन डाइरेक्टर समझता हूँ, और उनकी सफलता का राज़ यह है कि यह जो हवा है न, ऐटमासफ़ियर, उसको यह पढ़ते रहते हैं। इन्होंने यह विषय क्यों रखा मेरे सामने, यह तजवीज क्यों रखी, 'कैसे दिन कैसे लोग' क्योंकि मैं भी आजकल रेमिनिसेण्ट मूड में हूँ। अभी मेरी एक किताब निकली है, 'मेरी कविताई की आधी सदी', यानी करीब 1929 से मैंने लिखना शुरू किया था और यह है 1981। वास्तविकता यह है कि इस किताब की 'मैनुसक्रिप्ट' मैंने 1979 में तैयार की थी। मुझे लिखते उस वक्त तक पचास वर्ष हुए थे, मगर जैसा आप जानते हैं, प्रकाशक लोग अपना समय लेते हैं। तो यह जो पचास वर्ष की काव्य-यात्रा मैंने की, उसकी मैंने अपनी 51 कविताएँ इस संकलन में दी हैं यह सोचकर कि हर साल की एक कविता, इसमें आ जाय। एक कविता इसमें भूमिका रूप में दी गयी है। यह मेरी काव्य-यात्रा कोई आधी सदी की है।

जब मैं हिन्दी के क्षेत्र में आया, 1929 में, उस समय छायावाद का बड़ा प्रचार था। मेरा जन्म इलाहाबाद में हुआ, मेरी शिक्षा-दीक्षा इलाहाबाद में हुई और वहीं मैं पला-बढ़ा। इलाहाबाद उन दिनों हिन्दी का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। सुमित्रानन्दन पन्त, जो छायावाद के तीन बड़े कवियों में माने जाते हैं वहीं थे—'प्रसाद' बनारस में थे, जयशंकर प्रसाद। पन्तजी पढ़ने के लिए आये थे म्योर कालेज में, और उसके बाद ज्यादातर इलाहाबाद में ही रहे। निराला थे तो बंगाल में मगर छायावाद काल में वह भी इलाहाबाद में आ गये थे—पहले तो वे आते-जाते रहते थे कुछ दिन लखनऊ में रहते हुए। महादेवी वर्मा थीं, छायावाद में उनका भी बहुत बड़ा स्थान है। प्रसादजी को अगर सबसे बड़ा अलग मान लें तो निराला, पन्त और महादेवी—ये गोया हम लोगों के 'एल्डर्स' थे उस वक्त। इनकी देख-रेख में, इनको अपना नेता मानकर, इनको अपना आदर्श मानकर हम लोगों ने लिखना शुरू किया। मैं अपने साथियों में उस वक्त के—पण्डित नरेन्द्र शर्मा को याद करता हूँ, उनका नाम आपने सुना होगा। वह बहुत दिनों तक आल इण्डिया रेडियो से सम्बद्ध रहे, विविध भारती में भी थे बहुत दिनों तक, कोई दस वर्ष तक। अब वह 'रिटायर' हो गये हैं, बम्बई में मेरे नजदीक ही रहते हैं। शमशेर बहादुर सिंह का नाम आपने सुना होगा। इसी तरह केदारनाथ अग्रवाल का नाम भी जो आजकल बहुत बड़े प्रोग्रेसिव पोयट समझे जाते हैं। हम लोग सब एक ही ग्रुप के उस समय यूनिवर्सिटी में थे।

छायावाद की अपनी एक सीमा थी, और जैसा कि हर युग में होता है, जो नवयुवक होते हैं वह अपने बड़ों से कुछ सीखते भी हैं और उनके खिलाफ़ भी कुछ

* उपस्थित श्रोताओं के सम्मुख भाषण, 1981

उनके मन में होता है कि हम कुछ नया भी करें। हम वही कर रहे हैं जो कि वह लोग कर चुके हैं तो फिर हमारी कहाँ जगह है, हम एक तरह से नकलची बन-कर रह जायेंगे। तो छायावाद के इन बड़े कवियों के खिलाफ़ हमारे मन में एक तरह की बात यह भी थी कि कुछ ऐसा लिखा जाय, कुछ ऐसे तरीके से लिखा जाय, भाषा में कुछ ऐसा परिवर्तन लाया जाय कि जो साधारण लोगों की समझ में आये, जो एक तरह की नयी बात हो। हर नयी चीज़ का कुछ विरोध होता है, पर जो बड़े लोग होते हैं वे नयों को 'पैट्रोनाइज़' भी करते हैं। छोटे लोगों की यह भी ख़्वाहिश होती है कि बड़ों से उनकी कुछ तारीफ हो और साथ-ही-साथ उनमें जो नयापन है, जो नयी चीज वे लाये हैं उसकी क़द्र हो। जैसा कि मैंने आपको बताया, मैंने 1929 में लिखना शुरू किया था, मगर प्रकाश में जल्दी नहीं आया। कविता जो है वह बड़ी लजीली चीज़ होती है। शुरू-शुरू में बहुत-से कवि लिखते तो रहते हैं, मगर उनको सुनाने या छपाने में बड़ी शर्मिन्दगी रहती है, भीतर-भीतर, कि कोई जान न ले कि वे कवि हैं। मैंने भी बहुत दिनों तक, करीब 1932 तक, शायद ही अपनी कविता कहीं प्रकाशित की हो। जहाँ तक मुझे याद है, 1932 में मेरी दो-एक कविताएँ छपीं और तभी मैंने अपनी एक-आध कविताएँ कवि-सम्मेलनों में सुनायीं।

अगर आप उस समय की राजनीति को देखें, आप लोगों को तो स्मरण भी नहीं होगा तो एक विशेषता पायेंगे। मुझे याद आता है, 1929 में पोलिटिकल कान्फ्रेन्स हुई थी, कानपुर में, और उस समय राजनीति का जो रंगमंच हुआ करता था वह साहित्यिक और सांस्कृतिक रंगमंच भी हुआ करता था। कहाँ पोलिटिकल कान्फ्रेन्स और कहाँ हिन्दी और उर्दू का मुशायरा ! आज आप इसकी कल्पना नहीं कर सकते। मैं इसको बहुत 'अनफार्चुनेट' समझता हूँ कि सियासत जो है वह संस्कृति से बिलकुल अलग हो गयी है। आज तो मेरा ख्याल है किसी पोलिटिकल कान्फ्रेन्स के साथ कोई मुशायरा या कवि सम्मेलन नहीं होता, मगर उस वक्त की किसी भी पोलिटिकल कान्फ्रेन्स या उसके प्लेटफार्म को हम ऐसा नहीं समझते थे जिस पर सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए भी जगह न हो। मुझको याद है जो लोग साहित्य में काम कर रहे थे वही लोग सियासत में भी काम कर रहे थे। आपने सुना होगा जगदम्बाप्रसाद हितैषी और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' का नाम; ये लोग जेल भी जाते थे और कविताएँ भी लिखते थे, हिन्दी के पत्र भी निकालते थे, कवि सम्मेलन भी कराते थे। मुझे तो कभी जेल जाने का मौका नहीं मिला, लेकिन मैं सुना करता था कि जेल के अन्दर भी कवि सम्मेलन और मुशायरे हुआ करते थे। क्या करें वहाँ बेचारे जेलों में पड़े हुए हैं ये सब साहित्यकार। तो वहाँ जेलों के अन्दर भी मुशायरे और कवि सम्मेलन आयोजित करते थे। इससे साहित्य को कुछ फ़ायदा होता हो या न होता हो, मगर सियासत को फायदा ज़रूर होता होगा। सियासत को कुछ ऐसी चीज चाहिए, एक सांस्कृतिक छाया उसके ऊपर अगर रहे तो सियासत बहुत बिगड़ नहीं पाती, चालबाज़ी में नहीं पड़ती, उसको सीधा, सरल रखती है। कोई आइडियल उसके सामने होता है, कोई वैल्यू मिलती रहती है उसे साहित्य और संस्कृति के द्वारा।

मैं समझता हूँ कि उस समय साहित्य और संस्कृति ने सियासत को जो एक आदर्श, जो एक वैल्यू दी वह आज तो ख़ैर उसके सामने नहीं है। बहरहाल, जिस प्रसंग में यह बात चली थी उस पर आऊँ। मैंने अपनी पहली कविता, कानपुर की पोलिटिकल कान्फ्रेन्स में जो कवि सम्मेलन हुआ था, उसमें पढ़ी थी। और वह कविता

थी राष्ट्रीय झण्डे के बारे में। राष्ट्रीय आन्दोलन का समय था 1929 में। और '30 में तो आप जानते ही हैं कि नमक सत्याग्रह शुरू हुआ था। तो एक पोलिटिकल एटमासफ़ियर जो था उससे जो प्रेरणा हम लोगों को मिलती थी उसमें बहुत-सी कविताएँ हमारी शुरू-शुरू में राजनीतिपरक रहीं। लेकिन वह समय था अपनी जवानी का भी—एक तो हमारा सामाजिक जीवन था और एक था हमारा व्यक्तिगत जीवन—और व्यक्तिगत जीवन की मनोदशा आप समझ सकते हैं; 1929 में मेरी उम्र होगी 22 वर्ष की। तो नौजवानी की उम्र में नवयुवक के मन में प्रेम की जो रागात्मक भावनाएँ उठती हैं वे भी मेरे मन में उठने लगी थीं, और उनसे प्रेरित कविताएँ भी मैंने बहुत-सी लिखी थीं, लेकिन उनको छपाता नहीं था। मेरी जिस कविता ने सबसे पहले लोगों का ध्यान मेरी तरफ इस तरह खींचा कि हाँ, भाई, अब यह कोई ऐसी चीज आयी है जो कि कुछ पायेदार है जिसकी कुछ वैल्यू है, और जो आगे चलकर इज्जत पायेगी या सुनी जायेगी, यानी जैसे कि वह कोई परमानेण्ट चीज हो—वह थी 'मधुशाला'। आपको शायद पता न होगा कि मधुशाला का, मदिरा का यह सिम्बल, प्रतीक मैंने कैसे अपना लिया ? आज जब मैं इस पर सोचता हूँ तो मुझे सचमुच बड़ा ताज्जुब होता है, क्योंकि उस वक्त अगर कोई सिम्बल समय के खिलाफ जाता था तो यह शराब का सिम्बल था क्योंकि तब तो मदिरा की दूकानों पर पिकेटिंग होती थी। मगर न जाने क्यों मुझे ऐसा लगा कि इस प्रतीक के जरिये मैं कुछ नयी बातें कह सकता हूँ। उर्दू का तो एक बड़ा पुराना ट्रेडीशन था जाम और शराब और मयखाना और साक़ी का। उससे बहुत पुराना पर्शियन का ट्रेडीशन था। मगर हिन्दी में ऐसा कोई ट्रेडीशन नहीं था। भगवतीचरण वर्मा ने कुछ कविताएँ जरूर मदिरा के प्रतीक से लिखी थीं। इसी तरह श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन ने भी कुछ कविताएँ मेरे पहले लिखी थीं। लेकिन कोई कविता 'मधुशाला' के पहले इस सिम्बल से इतनी पापुलर नहीं हुई थी। जहाँ तक मेरा ख्याल है, उसके दो-तीन वर्ष पहले रुबाइयात उमरख़ैयाम के आठ-दस अनुवाद निकले, बंगला में निकल चुके थे, संस्कृत में निकले और हिन्दी में तो कई अनुवाद निकले, और उनसे मुझे जरूर कुछ प्रेरणा उस वक्त मिली होगी कि अगर मैं मदिरा का सिम्बल लेकर अपनी कोई बात कहना चाहूँ तो शायद मैं सफलता से कह सकूँगा; हिन्दी के लिए एक नयी चीज होगी। साथ ही यह भी मुझे मालूम था कि इसका बड़ा विरोध किया जायेगा और काफी उसका विरोध किया गया। लेकिन साहित्य में अक्सर यह हुआ है कि जिन चीज़ों का विरोध किया जाता है वही चीज़ें आगे चलकर स्वीकार कर ली जाती हैं। कम-से-कम विरोध का यह असर तो होता ही है कि उससे प्रचार बहुत हो जाता है और 'मधुशाला' का बहुत प्रचार हुआ, विरोधियों के द्वारा, कुछ लोगों ने ऐसा समझा, और कहने की कोशिश भी की उस वक्त कि बच्चनजी का गला बहुत अच्छा है इस वजह से यह कविता बहुत सुनी जाती है। अगर कविता सिर्फ़ सुनी ही जाती तो कवि सम्मेलनों में ही सुनी जाती, मगर उसके तो एडीशन पर एडीशन बिकते भी चले गये, यानी लोग पढ़ते भी थे। इसका मतलब यह हुआ कि लोग मेरे गले की ही नहीं, कुछ अपने गले की आवाज भी उसमें मिलाते थे और उसमें कुछ ऐसी चीज़ पाते थे जो मेरी आवाज़ पर सिर्फ़ निर्भर नहीं थी; बल्कि उसमें व्यक्त कुछ विचार, कुछ भावनाएँ, कुछ कल्पनाएँ, कुछ चीज़ें उन्हें कुछ नया देती थीं। अब तो उस रचना को आये पचास वर्ष से अधिक हो चुके हैं क्योंकि करीब 1932 से उसे मैंने लिखना शुरू किया था। पहले तो यह किताब छपती ही नहीं थी, कई वर्ष तक

प्रकाशक उसे लेकर टाल-मटूल करते रहे। 1935 में जाकर यह छपी और अब तो 46 वर्ष से ऊपर हो चुके हैं उसे छपे; और मेरी किताबों में शायद इससे ज़्यादा लोकप्रिय कोई और रचना नहीं हो सकी, हालांकि मैं ऐसा समझता हूँ अपने दिल में, और जो क्रिटिक्स हैं वह भी ऐसा समझते हैं कि मैंने 'मधुशाला' से अच्छी रचनाएँ लिखी हैं। लेकिन यह मैं आज तक नहीं समझ पाया कि कोई रचना किस कारण, उसकी वजह क्या होती है, कि वह पापुलर हो जाती है। उसमें लोग कुछ ऐसा पाते हैं, कोई भावना, कोई संगीत, कोई कला, कोई ऐसी चीज़ कि वह पापुलर हो जाती है। मुझे खुद ताज्जुब है। पचासों एडीशन उसके हो चुके हैं, आज भी होते रहते है। रिकार्ड उसका बन चुका है। अब तो मैंने दस-पन्द्रह वर्ष से कवि सम्मेलनों में जाना बन्द कर दिया है। लेकिन पहले जब मैं जाता था, चाहे मैं कितनी ही कविताएँ सुनाऊँ, जब तक मैं 'मधुशाला' नहीं सुनाता था तब तक मुझे फ़ुरसत नहीं मिलती थी, लोग छोड़ते नहीं थे। पता नहीं आपमें से किन लोगों ने 'मधुशाला' पढ़ी या सुनी है, रिकार्ड भी है उसका। इसका क्या कारण है मैं खुद नहीं जानता, मगर शायद उसमें कोई ऐसी चीज़ है जो वक्त या समय से सीमित नहीं है, बल्कि जीवन की कुछ ऐसी शाश्वत या परमानेण्ट भावनाएँ हैं जो शायद हर एज़ में उठती हैं। पचास वर्ष की उम्र बहुत होती है, पचास वर्षों में तो जमाना बदल जाता है। बहुत-सी कविताओं को मैं जानता हूँ जो अपने ज़माने में बहुत पढ़ी जाती थीं, अब उनको कोई नहीं पढ़ता। लेकिन इस किताब में कुछ है, इस कविता में कुछ ऐसी चीज है कि लोग आज भी उसको पढ़ते हैं, आज भी उसके एडीशन बिकते रहते हैं।

मधुशाला के बाद मैंने फ़िर लिरिक्स कुछ लिखे, क्योंकि मधुशाला जो थी वह रुबाइयात में थी जिनमें केवल चार लाइनें होती हैं। फिर मुझको जैसे याद आया कि ग्रीक ड्रामा में पहले कोरस होता है; कोरस के बाद हर केरेक्टर आकर अपना परिचय अपने आप देता है, तो मुझे ऐसा लगा कि जैसे 'मधुशाला' तो है ग्रीक ड्रामा का कोरस; उसके बाद प्याला, मधुबाला, सुराही, पीनेवाला—यह सब आकर अपना-अपना परिचय देते हैं। अगर आपने पढ़ी होगी, 'मधुबाला' तो उसमें इस तरह के जो लिरिक्स हैं उनका बिलकुल यही असर होता है। अगर आप मधुशाला-मधुबाला दोनों को मिलाकर पढ़ें और ग्रीक ड्रामा से आपका परिचय हो तो आपको ऐसा ही मालूम होगा कि जैसे कोरस और कैरेक्टर अपना-अपना परिचय दे रहे हैं। आप 'मधुशाला' पढ़िए, बीच में 'मधुबाला' का एक लिरिक पढ़िए तो आपको ऐसा ही लगेगा। ग्रीक ड्रामा की यह चीज मेरे मन के अन्दर बहुत साफ नहीं थी। आपने सुना होगा महाराजकृष्ण रसगोत्र का नाम। आजकल वह एम्बेसेडर हैं शायद फ़्रांस में। उन्होंने एक बार एक लेख लिखा था और उन्होंने उसमें बताया था कि 'मधुशाला' के बाद जो 'मधुबाला' लिखी गयी है उसको पढ़कर उनको ऐसा लगा कि जैसे ग्रीक ड्रामा के कोरस और ग्रीक ड्रामा के कैरेक्टर्स अपना-अपना परिचय अपने आप दे रहे हैं। उनके लेख के बाद मैं स्वयं इस प्रभाव के प्रति अधिक सचेत हुआ।

'मधुशाला' और 'मधुबाला' के बाद मेरे जीवन में एक बड़ी ट्रेजेडी हो गयी जिसकी वजह से मेरे काव्य का सारा वातावरण जो मैंने बनाया था वह सबका-सब जैसे 'शैटर' हो गया। और मुझे ऐसा लगा कि मेरे जीवन की अभिव्यक्तियाँ जिस भाषा में, जिस सिम्बल में अभी तक हो रही थीं, अब उसमें नहीं हो सकेंगी। मैंने कहीं पढ़ा था 'स्टाइल इज़ द मैन', यानी जब जीवन बदलता है तो शैली भी

बदल जाती है। हमारे बहुत-से कवि ऐसे हैं जिन्होंने एक शैली अपनायी और उसी में बराबर लिखते चले गये। लेकिन मेरी कविता सिर्फ़ दिमाग से नहीं लिखी गयी, मेरी कविता मेरी ज़िन्दगी के साथ चली है और जैसे-जैसे मेरी जिन्दगी में परिवर्तन होते गये वैसे-वैसे मेरी शैली में भी परिवर्तन होता गया। 'मधुकलश' तक आते-आते—अगर आप 'मधुकलश' की कविताएँ पढ़ें तो आपको मालूम होगा—कि मेरे खिलाफ़ जो एक बवण्डर उठा था, उससे और जो मेरे व्यक्तिगत जीवन में ट्रैजेडी हो गयी थी उससे—मेरी पहली वाइफ़ बीमार पड़ीं, उनकी डेथ हो गयी—घर में और भी बहुत-सी डेथ्स हुईं—उनसे मेरी कविता बदल गयी, मेरी शैली बदल गयी; और करीब एक साल तक मैंने कुछ भी नहीं लिखा, और फिर जब मैंने लिखना शुरू किया तो 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर' के गीत आये जिनमें अवसाद भरा है। अगर आप दोनों को पढ़ें 'मधुशाला' या 'मधुबाला' के गीत और 'निशा निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' तो आपको ऐसा लगेगा कि बाद की रचनाएँ कोई दूसरा आदमी कर रहा है। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' इतनी पापुलर और लोकप्रिय हो गयी थीं कि लोग मुझसे आकर अक्सर कहते थे कि भाई, आप पहले-सी कविताएँ क्यों नहीं लिखते। मैं कहता था, भाई, मैं पहले जैसा आदमी नहीं रह गया हूँ, मेरी ज़िन्दगी बदल गयी है, मेरी शैली बदल गयी है। जिन शब्दों को मैंने इकट्ठा किया था, वे सब टूट गये, उनको जो कहना था कह चुके, अब मुझे दूसरे शब्द, दूसरी फ़्रेज़िओलोजी बनानी है, दूसरी शब्द-योजना बनानी है। तब मैं कुछ अपनी बात कह सकूँगा।

यह युग मेरा चलता है 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' 'आकुल अन्तर' तक। 'आकुल अन्तर' तक आते-आते मेरा विशेष परिचय पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त से हुआ। बहुत बड़ी पर्सनेलिटी थी उनकी और वे बहुत कुछ लिख भी रहे थे। उनकी शैली में अपना एक जादू था। ज़रा डर था मुझे। बहुत दिनों तक मैं उनके साथ रहा भी और मुझे हमेशा इस बात का खतरा रहता था कि मैं उनकी शैली से कहीं प्रभावित न हो जाऊँ। मैंने कहीं पढ़ा था कि कीट्स शेली के साथ रहने के लिए तैयार नहीं होता था, उसको यह भय लगा रहता था कि अगर मैं शेली के साथ जाकर रहूँगा तो शेली की जो स्टाइल है उसी में मैं लिखने लगूँगा। तो जब मैं पन्तजी के साथ था, वह मेरे साथ रहने के लिए आ गये थे, हम लोग एक ही मकान में रहते थे, तो मुझे हमेशा यह डर था कि मैं पन्तजी की शैली से डोमिनेट न हो जाऊँ। पन्तजी का अपना जीवन-दर्शन था। पन्तजी अरविन्द के दर्शन से भी बहुत प्रभावित हुए थे। प्रोग्रेसिव भी थे, कुछ समय के लिए। मतलब यह कि एक ही तरह की चीज नहीं लिखते थे। मगर जीवन से उनकी प्रेरणा नहीं आती थी। उन्होंने शादी भी नहीं की, मेरा ख्याल है कि कभी प्रेम में भी नहीं पड़े। कविता उनकी एक विचारधारा, एक दर्शन से निकली हुई थी और दर्शन की जो कविता है, फिलोसोफी की, उसमें उन्होंने जरूर कमाल हासिल किया था। वह पाण्डिचेरी गये और वहाँ अरविन्द आश्रम में बहुत दिनों तक रहे भी। पोयट्री को उन्होंने बहुत सीरियसली लिया। उनका बहुत कण्ट्रीब्यूशन है, साहित्य के लिए उनकी देन एक स्थायी चीज है। लेकिन जीवन का शोला, अंगारा, जीवन की साँस, जीवन की धड़कनें मुझे पन्तजी की कविता में नहीं मिलती थीं। और मेरे लिए कविता की कोई प्रेरणा ऐसी नहीं थी जो जीवन से न आती हो। इस वास्ते उनके संग का बहुत कुछ लाभ उठाते हुए, उनको बहुत एप्रीशिएट करते हुए, उनको एडमाइर करते हुए भी—उन पर मैंने एक किताब लिखी है, 'कवियों में सौम्य सन्त' और मैंने

उनकी बड़ी तारीफ़ की है, उनकी बहुत-सी किताबों के ऊपर मैंने लेख लिखे हैं, उनके 60 वर्ष जब पूरे हुए तो उन पर मैंने वह किताब लिखी थी। मैं हमेशा इस बात का ख्याल रखता रहा कि मैं कहीं फिलोसोफी से कविता न लिखने लगूं, और एक समय मेरी ज़िन्दगी में भी ऐसा आया जब मुझे ऐसा लगा कि मैं एक रागात्मक दर्शन बना सकता हूँ।

जब मेरा जीवन ट्रेजेडी से ऊपर उठा, तब तेजीजी मेरे जीवन में आयीं। उस समय मैं एक मधुर और मनोज्ञ काल में प्रविष्ट हुआ, जिसको एक सामान्य, स्वस्थ, सुन्दर जीवन कह सकते हैं। और उस समय मैंने 'मिलन यामिनी', 'सतरंगिनी' और 'प्रणय पत्रिका' के लिरिक्स लिखे। जब मैं ऐसे लिरिक्स लिख रहा था, उस वक्त मेरे मन में यह बात आयी थी कि एक तरह का राग का दर्शन भी बनाया जा सकता है। मैं बड़े ख़तरनाक रास्ते पर चला गया था। आपने सुना होगा कि तुलसीदास की एक किताब है 'विनयपत्रिका'। विनय यानी उसमें तुलसीदास की एक फिलोसोफी है विनय की, प्रार्थना की। मैं जो कविताएँ लिख रहा था, उसका नाम मैंने रखा 'प्रणयपत्रिका' लव लिरिक्स, लव लैटर एक्चुअली, प्रणयपत्रिका के मानी हैं लव लैटर्स। 'प्रणयपत्रिका' लिखते हुए मेरे मन में एक बात उठी कि जैसे विराग से एक फिलोसोफी बनायी जा सकती है, वैसे ही राग से भी एक दर्शन बनाया जा सकता है। यह हिन्दुस्तान की कुछ कमज़ोरी है कि यहाँ का आदमी शायद उस पर अपने ट्रेडीशन का इतना ज़ोर पड़ता है कि वह दार्शनिक बन जाता है, बहुत जल्दी बन जाता है, वह दर्शन बनाने लगता है। तो यह जो कमज़ोरी है मुझमें भी आ गयी थी। लेकिन पता नहीं क्यों यह दर्शन पूरा नहीं हो सका, और बहुत अच्छा हुआ।

कुछ ऐसे व्याघात आते गये। इसके बीच मुझे इंग्लैण्ड जाना पड़ा। सनकी दिमाग तो मेरा है ही। लिख रहा था इधर कविताएँ, उधर जी में आया डब्लू. बी. यीट्स के ऊपर रिसर्च की जाय, कुछ सुविधाएँ ऐसी मिल गयीं और मैं दो वर्ष के लिए इंग्लैण्ड चला गया। वहाँ से जब लौटकर आया—वहाँ पर तो थीसिस भी लिखनी थी, अब थीसिस लिखता कि कविता लिखता। इसमें बड़ी जद्दोजहद दिमाग में थी, मगर हुआ यह कि वहाँ मैंने सौ कविताएँ भी लिखीं, थीसिस भी लिखी। उन्हीं दिनों मैंने अपनी डायरी भी लिखी जो पबलिश भी हुई है। जब लौटकर मैं आया तो मेरे एक विद्यार्थी मित्र थे, बाबू ओंकारनाथ श्रीवास्तव—आजकल बी. बी. सी. से न्यूज़ ब्राडकास्ट करते हैं—वह मुझसे कहने लगे कि बहुत दिनों से आपकी कोई पुस्तक नहीं निकली, तो इस 'प्रणयपत्रिका' के गीतों में से एक सेलेक्शन अगर मैं बना दूँ तो वह बहुत बिकेगा। दो वर्ष आप विलायत में रहे हैं, आपका कोई संग्रह इधर निकला नहीं, आप यह संग्रह बनाने का काम मुझे दे दीजिये। मुझे पैसों की भी ज़रूरत थी। मैंने भी सोचा कि दो वर्ष से मैंने कोई संग्रह निकाला नहीं, अगर यह संग्रह निकल जाय तो क्या बुराई है। मगर पहले आंशिक संग्रह निकालने का मेरा इरादा नहीं था; मेरा इरादा था कि जिस तरह 'विनयपत्रिका' में 279 पद हैं उसी तरह 'प्रणयपत्रिका' में भी हों। 100 पद मेरे हो गये थे, मैंने सोचा था कि 'प्रणयपत्रिका' जब पूरी हो जायेगी तभी मैं निकालूंगा। मगर ओंकारनाथ ने मेरे साथ एक बड़ी भारी दग़ाबाजी की—दग़ाबाजी यह कि उन्होंने उन 100 कविताओं में से 57-58 कविताएँ जो उसकी हीर थीं वह एकदम निकाल लीं, जैसे कोई किसी आदमी का सिर काट ले। जो बेस्ट पोयम्स थीं, सौ पोयम्स में से उन्हें निकालकर उन्होंने

'प्रणयपत्रिका' के नाम से संग्रह तैयार कर दिया—शायद उसमें 59 कविताएँ हैं, बाकी उन्होंने छोड़ दीं। जब बाद को मैंने उसको देखा तो मुझे ऐसा लगा कि मैं एक बिल्डिंग बना रहा था और उसमें जगह-जगह से किसी ने ईंटें निकाल लीं और मैं समझ नहीं पाता था कि मैं अब किस ईंट को किस जगह लगाऊँ कि दीवालें फिर से खड़ी हों। पहले तो मुझे बहुत गुस्सा आया, लेकिन बाद को मैंने अनुभव किया कि यह बहुत अच्छी बात हुई। नहीं तो शायद मैं, राग की एक फ़िलोसोफ़ी ही दे देता। पता नहीं कैसी चीज़ होती। लेकिन यह अच्छा ही हुआ कि 'प्रणयपत्रिका' जिसे मैं राग की एक फ़िलोसोफ़ी बनाना चाहता था, वह नहीं बन सकी; और आज भी अगर कोई मुझसे पूछे कि बच्चनजी आपकी फ़िलोसोफ़ी क्या है तो मैं कहूँगा, भाई, जीवन भर जो कविताएँ लिखता रहा, उन सबको जोड़-बटोरकर कोई फ़िलोसोफ़ी आप बना सकें तो बना लें। मैं तो अपने जीवन की कोई फ़िलोसोफ़ी नहीं बना सका। जीवन जिस तरह से मेरे सामने आता गया, ईमानदारी के साथ उसको लिव करता रहा, एक डीसेण्ट आदमी की तरह—और ईमानदारी के साथ उसे वाणी देता रहा।

एक बात और मैं आपसे बहुत फ्रैंकली कहना चाहता हूँ। मैं समझता हूँ कि जनता-जनार्दन से आदमी को—ख़ासकर कवि को—कुछ छिपाना नहीं चाहिए। पता नहीं जो मुझे कहना है आप उसको स्वीकार करेंगे या नहीं, मगर नैयर साहब ने मुझे इजाज़त दे दी है कि अगर मैं कोई ऐसी बात कहना चाहूँ तो कह दूँ। मुझे ऐसा लगता है कि जिसको आप एथिक्स कहते हैं या जिसको आप मॉरल कहते हैं या जिसको आप चरित्र कहते हैं बड़ी अच्छी चीज़ है, समाज के लिए बहुत उपयोगी है और सामाजिक एथिक्स, सोशल एथिक्स, सामाजिक आचार-विचार, इनका ध्यान रखकर जो चलते हैं, अच्छे लोग हैं, उनकी इज्ज़त होती है, समाज उनकी इज्ज़त करता है क्योंकि समाज इससे चलता है। लेकिन, जीवन की एक डिमाण्ड, एक माँग ऐसी भी है जो सोशल एथिक्स के ऊपर है, और उसके लिए मैं चरित्र मुक्ति चाहूँगा; चरित्रहीनता तो मैं उसे नहीं कहूँगा, लेकिन चरित्रमुक्ति मैं उसे ज़रूर कहूँगा। इसकी एक पहचान अपने देश में भी रही है, जैसे राम और कृष्ण। राम चरित्रवान हैं, महात्मा हैं, भगवान उनको कहा गया। लेकिन उनको अंशावतार कहा गया, अवतार तो हैं, लेकिन पार्ट अवतार, अंश माने पार्ट। और कृष्ण भगवान को पूर्ण अवतार कहा गया। कृष्ण का चरित्र नहीं है, कृष्ण चरित्र के ऊपर हैं, कृष्ण चरित्रमुक्त हैं, चरित्रहीन नहीं। उनके लिए यह कहा गया कि 'यस्य कृष्णः ततो धर्मः' जो कृष्ण करें, वह धर्म है। और अगर कृष्ण का चरित्र आप देखें तो सोसाइटी का कोई ऐसा नार्म (मान्य आचार) नहीं है, कृष्ण ने जिसके ऊपर हल न चला दिया हो। मगर कृष्ण को आप चरित्रहीन नहीं कह सकते। कृष्ण जो करते हैं, वह चरित्र है। मैं आपसे कहना चाहता था कि मैंने अपने जीवन के लिए भीतर कहीं यह सिद्धान्त बना रखा है कि समाज की जो नीति है, जो आचार है, उसके ऊपर मैं जीवन की माँग को मान दूँ। मैं ऐसा समझता हूँ कि पोयट के नाते खासतौर से मैं अपनी पोयटिक पर्सनैलिटी के प्रति ईमानदार नहीं रहूँगा, अगर मैं अपनी उस डिमाण्ड को कम-से-कम जस्टीफ़ाइ न करूँ। प्रैक्टिकल न करूँ पुलिसमैन के डर से या आपके डर से कि आप मेरे चरित्र के ऊपर उँगली न उठावें, पर भीतर-भीतर कहीं मुझे ऐसा लगता है कि मुझे उस डिमाण्ड को कन्डेम करने का अधिकार नहीं है। इसको पहचानने के लिए आपको थोड़ी मुश्किल पड़ेगी।

अभी तक कुछ मोटी-मोटी बातें मैं आपसे कह रहा था। अब मैं कुछ सूक्ष्म

बातें करूँगा आपसे। वक्त तो मैंने बहुत ले लिया है। पता नहीं आप मुझे धैर्य से सुन भी सकेंगे या नहीं···बहुत बारीकी में जाना पड़ेगा। वहाँ मैंने तथाकथित मोरल्स के, सोशल एथिक्स के जिनको समाज स्वीकार किये हुए है, उनके ऊपर बहुत-सी बातें कही हैं। मैं ऐसा समझता हूँ कि मेरी एक आडिएंस है, मेरा एक पाठक वर्ग है। वर्ड्सवर्थ कहा करता था कवियों से कि अपना एक पाठक वर्ग बनाओ। मेरे पाठकों का एक वर्ग है और वह शायद यह जानता है कि एक तो मेरा रूप ऐसा है—और मेरी कविता में भी वह बहुत जगह मौजूद है—जहाँ वह सोशल एथिक्स यानी जो सामाजिक आचार-व्यवहार हैं उनको मान देता हूँ कनफ़ेस करूँ तो ऊपरी तौर से। मगर यदि आप मेरे भीतर देखना चाहें तो आपको कुछ ऐसी सतहों पर जाना पड़ेगा जहाँ सामाजिक मूल्य आपकी मदद नहीं करेंगे। सामाजिक मूल्यों से आप मुझे जज करना चाहेंगे तो शायद आप मुझे गिरा हुआ भी कह सकते हैं, लेकिन मैं अपने भीतर से अपने को गिरा हुआ नहीं समझता। मैं समझता हूँ कि जीवन की कुछ ऐसी डिमाण्ड्स हैं, कुछ ऐसी पुकार है, जब उनको आदमी सुनता है तो शायद समाज की परवाह नहीं करता। इसको मैं चरित्रमुक्ति कहता हूँ।

कविता क्या है इसके बारे में बहुत बहस होती है और बहुत बड़े-बड़े लोगों ने इस पर लिखा है। मैंने अपने विद्यार्थी जीवन में और अध्यापकीय जीवन में भी बहुत से फिलासफरों को पढ़ा; बड़े-बड़े क्रिटिक्स हुए हैं, सबने आख़ीर में चलकर यही कहा कि मौरल वेल्यू जो है, पोयट्री को एक मोरल वेल्यू देना चाहिए। बहुत बड़े लोगों ने इस बात को कहा है। लोक संग्रह तो अपने यहाँ कि बहुत बड़ी चीज़ है। तुलसीदास का सम्मान ही इसी वजह से है कि उन्होंने लोकसंग्रह को बहुत महत्त्व दिया। मंगलानां च कर्तारौ···आदि। लेकिन लोकमंगल को सीमा बना देना, कविता को रूढ़ि में जकड़ना होगा। लोकमंगल कविता के लिए और कवि के लिए अन्तिम सीमा नहीं होनी चाहिए छोटे दर्जे पर, नीचे दर्जे पर उसकी सीमाएँ रखी जा सकती हैं। इससे मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि तुलसीदास ग्रेट पोयट नहीं हैं, तुलसीदास बहुत बड़े पोयट हैं। लेकिन अगर हमें कभी तुलना ही करनी पड़े तो हमें भाषा के जो बैरियर्स हैं उनको तोड़ना पड़ेगा, फ़ार एग्जाम्पिल कालिदास को लें। कालिदास बहुत बड़े कवि हैं, मगर कालिदास ने समाज की बहुत-सी रूढ़ियों को तोड़कर जीवन को देखा है और शायद इस दृष्टि से कालिदास को मैंने—मैं क्या, मैं तो कोई चीज़ नहीं हूँ—बड़े-बड़े लोगों ने कालिदास को महानतम कवि माना है क्योंकि उन्होंने समाज की रूढ़ियों से अपने आपको बाँधकर नहीं रखा। 'कुमारसम्भव' के बारे में ऐसा कहा जाता है कि उसमें कालिदास ने बहुत-सी मर्यादाहीन बातें लिखी थीं, और उसके कारण वह कोढ़ी हो गये थे, क्योंकि शिव-पार्वती का श्रृंगार वर्णन उन्होंने कर दिया था। तुलसीदास ने तो यह कहकर छुट्टी पा ली कि 'जगत मातु पितु शम्भु भवानी, तेहि श्रृंगार न करौं बखानी', शिव-पार्वती जगत के माता-पिता हैं, उनका श्रृंगार, भोग-विलास क्या वर्णन करना! मगर कालिदास ने उनका श्रृंगार भी वर्णन कर दिया और उसके लिए पनिशमेण्ट भी स्वीकार कर लिया; कोढ़ी हो जायेंगे, मगर जीवन के सत्य को कहकर रहेंगे। कालिदास का बड़प्पन है। इस पक्ष की ओर मैंने आपका ध्यान विशेष रीति से आकर्षित किया है। अगर आप मेरी कविताओं में केवल मोरल मूल्य चाहेंगे तो शायद आपको निराशा होगी। पर मैं बहुत चालाक हूँ। मैंने इन सच्चाइयों को सिम्बल्स के ज़रिये बहुत छिपाकर रखा है। जब आप सूक्ष्म रीति से, गम्भीर रूप से उनके भीतर पैठेंगे तो आप देखेंगे कि मैंने बहुत-सी ऐसी मान्यताओं को, जो

समाज से स्वीकृत हैं, अस्वीकार कर दिया है, क्योंकि, मैं अपने कवि के प्रति बेईमान नहीं हो सकता था, और उतनी हद तक, मैं समझता हूँ, मुझे चरित्र मुक्ति का, चरित्रहीनता का नहीं, चरित्रमुक्ति का अधिकार है। मगर इसके बारे में तो बातचीत उन्हीं लोगों से हो सकती है जिन्होंने मेरी कविताओं को गम्भीरता से पढ़ा हो और जिनको कभी यह आभास मिला हो कि इनमें कुछ ऐसी जगहें हैं जहाँ मैं सामाजिक मूल्यों को नहीं, शाश्वत मूल्यों को उद्घाटित कर रहा हूँ···

नैयर : अगर आपमें से कोई सज्जन कोई प्रश्न पूछना चाहें तो अच्छा होगा। बात चलती रहेगी। बच्चनजी जवाब देंगे। जो कुछ अब तक कहा गया है उसके सिलसिले में कोई बात अगर आप कहना चाहें तो कह सकते हैं···

प्रश्न : बच्चनजी ने सुमित्रानन्दन पन्त के बारे में जो कहा है, वह बहुत ही सावधानी के साथ। निरालाजी के संस्मरण और उनके सम्बन्ध की चर्चा उन्होंने नहीं की। तो मैं चाहूँगा कि वे निरालाजी से अपने सम्पर्क के कुछ अनुभव और पन्त-निराला-सम्बन्ध पर भी थोड़ा-सा प्रकाश डालें, बड़ी कृपा होगी।

प्रश्न : आपने कहा, फ़िलोसोफी से मुतास्सिर होना हिन्दुस्तान की एक ट्रेडीशन है और एक कमज़ोरी भी है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि फ़िलोसोफ़ी से मुतास्सिर होकर शायरी करना, शायरी से उसकी तस्दीक करना शायरी के लिए ज़हर है, मतलब, क्या उससे शायरी पर कुछ ऐसा असर पड़ता है जिससे शायरी का फ़न कमजोर पड़ जाता है?

डा. बच्चन : बहुत ही इम्पारटेण्ट क्वेश्चन है। इसी का मैं पहले जवाब दे दूँ। फ़िलोसोफ़ी हमेशा रूढ़ि होगी; क्यों? फ़िलोसोफ़ी बनती कैसे है! पहले जीवन के अनुभवों पर, जीवन में बहुत से लोगों के अनुभवों पर एक जनरलाइज़ेशन किया जाता है, एक दर्शन उस पर बनाया जाता है। जीवन दर्शन के अनुसार नहीं चलता। दर्शन से जीवन का संस्कार किया जा सकता है, मगर जीवन दर्शन के सहारे नहीं चलता। जीवन तो अपनी गति से चलता है और जीवन गतिमान है, जीवन रूढ़ नहीं है। जीवन की जो मान्यताएँ, जीवन की जो नैतिकताएँ आज हैं वे हजार वर्ष बाद भी रहेंगी, कोई नहीं कह सकता क्योंकि जीवन गतिमान है। दर्शन चाहे कितना ही उदार हो, जीवन को रूढ़ ही बना देगा। वह जीवन को नियमित कर सकता है, जीवन को प्रस्फुटित नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए ज़मीन में एक पौधा आप लगा देते हैं, वह वहाँ से अपनी शक्ति लेता है, जमीन से शक्ति लेता है, सूरज से शक्ति लेता है, हवा से शक्ति लेता है और वह बढ़ता है। माली आता है, उसको काट-छाँटकर उसे एक शक्ल देता है। दर्शन जीवन को शक्ल दे सकता है, मगर उसका प्रस्फुटन अपने आपसे होगा। इस वास्ते दर्शन हमारे लिए रूढ़ होगा, व्यापक नहीं हो सकता। उससे समाज लाभान्वित हो सकता है, मगर हमेशा उसी के अनुसार चलेगा नहीं, चलेगा तो जीवन ठिठुर जायेगा। जीवन तो जीवन की गति से चलेगा। जीवन हमेशा गतिमान रहा है।

आपने कुछ निराला और पन्त के बारे में भी पूछा था। निराला और पन्त दो अलग-अलग बैकग्राउण्ड से आये थे। निराला आये थे गाँव से और पन्त आये थे नगर से। पन्त के पीछे एक, जिसको कहते हैं एरिस्टोक्रेटिक, संस्कृति थी और निराला के पीछे एक ग्रामीण संस्कृति। निराला की शक्ति अलग थी, पन्त की शक्ति अलग थी। एक बड़े सम्भ्रान्त परिवार में पन्त का जन्म हुआ। निराला एक

ग़रीब परिवार में जन्मे।···दोनों बहुत ही सचेत थे अपने संस्कारों के प्रति। निराला और पन्त दोनों ही अपनी कविता के प्रति भी बहुत ईमानदार थे। कविता को पूर्ण जीवन से स्वीकार किया था दोनों ने। इस वास्ते दोनों ने अलग-अलग प्रकार का व्यक्तित्व विकसित किया। पन्त में शील-सुरुचि है, डीसेंसी है, आभिजात्य के गुण हैं, और आभिजात्य का अपना एक महत्व है। निराला में, ग्रामीण का खुलापन, अक्खड़-फक्कड़पन है पर उसका भी अपना बल, अपना आकर्षण है। यही कारण है कि पन्त एक दर्शन दे सके, पर निराला दर्शन नहीं दे सके। निराला का कोई दर्शन नहीं है। निराला तो अपने जीवन के अन्त तक प्रयोग करते चले गये। इस दृष्टि से निराला को मैं ज्यादा बड़ा कवि मानूँगा क्योंकि उन्होंने सामाजिक-सांस्कृतिक रूढ़ियों को स्वीकार नहीं किया, जीवन जहाँ जो मोड़ देता रहा अपनी शक्ति से उसको स्वीकार करते गये; ही वाज़ आल्वेज़ दि चाइल्ड आफ़ दि स्वायल आफ़ लाइफ़। पन्त एक दर्शन से बँध गये। और इसे तो मैं बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण समझता हूँ कि पन्तजी अरविन्द के आश्रम में गये। अरविन्द की पर्सनेलिटी इतनी ज़बरदस्त थी कि उसके नीचे स्वतन्त्र रह सकना असम्भव था। पन्तजी अभिभूत हो गये। उनकी किताब 'स्वर्णकिरण' देखें। मेरे पास आकर ठहरे थे, 1948 में, पाण्डिचेरी से जब आये। एक अल्मारी पूरी किताबों की पन्तजी अरविन्द की लाये थे और दिन-रात उन्हें पढ़ा करते थे। कवि की किताब जो है, वह जीवन है, कवि की किताब जो है, वह काग़ज के पन्ने नहीं हैं। किताब कितनी ही बड़ी हो, मगर किताब है। जीवन तो बहुत बड़ा है। एक पत्ती से एक पेड़ से जितना सोचने को मिल सकता है उतना शायद एक पुस्तकालय से नहीं मिल सकता। यह जीवन का बल है। इस बल के साथ जिसकी दृष्टि खुली हुई है, जो रूढ़ नहीं बनना चाहता, जो संस्कारों से बँधना नहीं चाहता —उसी को मैंने अपनी शब्दावली में चरित्रमुक्त कहा है। भीतर कहीं थोड़ी-सी स्वतन्त्रता मुझे दो, वह मेरी निजी जगह है, वहाँ, भाई, मुझे मत छेड़ो। ऐसा तो कुछ नहीं कहूँगा कि मुझे पुलिस पकड़ ले। यह सोशल एथिक्स है। पर मुझे इतनी आज़ादी दो कि जब मैं अपने आप में हूँ तो कुछ ऐसा भी कह सकूँ जो आपके सामाजिक आचार-विचार, संस्कार से बँधा न हो, बल्कि जीवन की पुकार सुनकर कहा गया हो।

प्रश्न : आपकी जिन्दगी में एक ट्रैजिक मोड़ भी आया। तो हम यह जानना चाहते थे कि ट्रैजेडी का कन्सेप्ट जो चला आ रहा है क्या वही कन्सेप्ट इण्डीवीजुअली भी होता है? ट्रैजेडी और कामेडी में कोई लकीर आप कैसे खींचेंगे? एक चीज़ आपके लिए ट्रैजिक हो सकती है, मेरे लिए शायद वह ट्रैजिक न हो। यानी यह ट्रैजेडी है क्या चीज़? आपने अपनी शायरी के पर्सपेक्टिव में इसे कैसे समझा और जाना। इस बारे में हम जानना चाहते थे आपसे।

डा. बच्चन : बात यह है कि जीवन में परिवर्तन तो कुछ होते ही रहते हैं और कुछ परिवर्तन ऐसे होते हैं जो आपके मनोनुकूल हों, यानी जिनको आपका मन स्वीकार कर ले। कुछ को आपका मन स्वीकार नहीं करता। लाइफ आप से पूछ-पूछकर तो नहीं चलती क्योंकि जीवन बहुत बड़ा है और उसके बीच में आप एक इकाई हैं। आप समाज में अकेले हैं, एक पूरा समाज है जिसके बीच में आप हैं। सबके अलग-अलग इन्टरेस्ट हैं, सबके अलग संघर्ष हैं। इतना ही नहीं, एक प्रकृति का भी, एक नेचर का भी संसार है---उसमें भी आप एक

छोटी-सी इकाई हैं; सूरज है, चाँद है, इतना बड़ा आकाश है, ऋतुएँ परिवर्तित होती हैं और न जाने कितनी घटनाएँ होती रहती हैं। इन घटनाओं में बहुत-सी ऐसी बातें हो सकती हैं जो आपके हित में न हों, इसी को ट्रैजेडी कह लीजिए। इसका रिएक्शन आपके ऊपर न होता हो, यह मैं नहीं मान सकता। फ़िलोसोफ़ाइज़ कर सकते हैं, बौद्धिक रूप से, पर हृदय प्रतिकूल में, अहितकर में, दुख में पुकार उठता है—'आह से उपजा होगा गान'···इस दुख को मुखरित करना कवि की ही नहीं सामान्य आदमी की भी ज़रूरत है।

समाज में कवि की ज़रूरत क्यों है ? अगर कवि समाज से निकल जाय तो हम बहुत-सी बातें जो कवि के माध्यम से कहते-सुनते हैं, नहीं कही-सुनी जायेंगी। और कवि के माध्यम से हम बहुत-सी ऐसी बातें कहते हैं जो हमारे शास्त्र, हमारे धर्म, हमारी फ़िलोसोफ़ी, हमारी एथिक्स नहीं कह सकतीं और नहीं कहेंगी। इसी वास्ते संस्कृत में कहा गया है—कवयः किं न जल्पन्ति, किं न भक्षन्ति वायसा।

कौआ क्या नहीं खाता और कवि क्या नहीं कहते। यह शायद कवि की अवमानना करने के लिए कहा गया है पर यह जो कहने का अधिकार है कवय: किं न जल्पन्ति, यह जल्पने का जो अधिकार है, यह हमारा बहुत बड़ा अधिकार है और इसी से हम कवि हैं क्योंकि हम जो अनुभव करते हैं, वह हम कहते हैं। हम बेलाग होकर कहते हैं, हम निडर होकर कहते हैं। अगर इन बातों की कोई महत्ता जीवन में है तो हमारी भी समाज में कोई हैसियत है और नहीं तो उपदेश देनेवाले तो बहुत लोग हैं। सन्त महन्तों की श्रेणियाँ-दर-श्रेणियाँ हैं, कोई कमी नहीं है इस मुल्क में इनकी। आचार्य हैं, बड़े-बड़े उपदेश देनेवाले हैं और बहुत अच्छे मोरल्स आपको सिखायेंगे, और आपको बहुत बड़ा बनायेंगे उनके अनुसार अगर आप चलें। मगर एक आवाज़ उठानेवाला शायर भी है, वह किसी की सीमा नहीं मानता, वह धर्म की सीमा भी नहीं मानता—

'कश्का खींचा दैर में बैठा कब का तर्क इस्लाम किया।' मीर का कलाम है। मीर बड़ा शायर है। मीर को मारिये पत्थर, क्योंकि तर्क इस्लाम किया है, मगर शायरी में तो मीर की इज्ज़त करेंगे। मीर को राइट दीजिये, मीर को अधिकार दीजिये कि वह कह सके। 'मीर के दीनो-मज़हब को क्या दुनिया वालो पूछो हो, कश्का खींचा दैर में बैठा कब का तर्क इस्लाम किया'। और उर्दू की तो शायरी है, पोयट्री जो है, वह रिलीजन के बहुत ख़िलाफ है। 'ज़ाहिद शराब पीने दे मसजिद में बैठकर।' जाकर पूछो, भैया, किसी मुल्ला से, मसजिद में पीने देगा। इसी को मैं कह रहा था चरित्रमुक्ति। हमें धर्म से न बाँधो, हमें नीति से न बाँधो, हमें राजनीति से न बाँधो; हमारी एक मुक्त आवाज़, जो फ्री आवाज़ है, उसे उठने दो; इस शायर की इज्ज़त करो क्योंकि यह किसी बन्धन में रहकर बात नहीं करता, वह खुलकर बात करता है। उसको नीति से मत जज करो। कवय: किं न जल्पन्ति! उसकी इज्ज़त नहीं है, मगर उसकी ज़रूरत है। समाज में जब धर्मात्माओं की गिनती होगी तो उसमें शायरों को जगह नहीं मिलेगी, वह निकाल दिये जायेंगे। प्लेटो ने भी निकाल दिया था। प्लेटो ने जब आदर्श राज्य की कल्पना की तो उसमें कवि को स्थान नहीं दिया, कवि को निकाल दिया। क्यों निकाल दिया? यह सोचने की बात है। क्योंकि कवि जो है वह किसी तरह का बन्धन स्वीकार नहीं करता।

निर्बन्ध जो हो, वह कवि है। कवि के साथ रिपवलिक कैसे चलेगी। वहाँ तो कांस्टीट्यूशन बना हुआ है, लॉ बना हुआ है। जो लॉ में चले वही उसका आदर्श नागरिक है, पर पोयट कहता है वह रिबेल है, क्रान्तिकारी है। पोयट जो है, वह रिवोल्यूशनरी है, वह इनबोर्न रिवोल्यूशनरी है, जन्मजात क्रान्तिकारी है। उसकी आवाज को सुनें, वह जीवन की आवाज़ है। और जीवन जो है वह नियमों से नहीं चलता। और जीवन जो है वह बँधकर नहीं चलता। जीवन रूढ़ नहीं है, वह बदलता है, हमेशा बदलता आया है, हमेशा बदलेगा। और कवि जो है इस बदलने की आवाज को सुनता रहता है, उसका कान लगा रहता है, अब उसमें हिम्मत अगर हो तो कहे। जैसा कि मैंने कहा, बहुत-सी बातें शायर बहुत खुलकर कहते हैं पर बहुत से शायर अपनी बातों को बहुत छिपाकर सिम्बल्स के जरिये कहते हैं। मेरी बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो शायद हिन्दू धर्म के खिलाफ़ जायँ, जो हिन्दू धर्म की मान्यताओं के खिलाफ जायँ, मगर अब जायँ तो जायँ, मैं क्या करूँ! मुझे कुछ लगता है, जैसे भीतर से कोई आवाज़ उठती है, शायद उसमें कोई सच्चाई हो, न भी हो। दूसरी बात सोचने की है कि शायर को सुनने की जरूरत क्यों है? वह आपको सुनने के लिए बाध्य नहीं करता। वह आपके ऊ।र, हुकूमत नहीं चलाता, वह आपको फ्रीडम देता है। आप एक फ़िलोसोफ़ी बनाते हैं, एक धर्म चलाते हैं, एक नियम बनाते हैं, आप उसको फ़ोर्स करते हैं, आप लॉ बनाते हैं, आपके पास ताक़त है, आप उस लॉ को मनवा सकते हैं। हमारे पास तो कोई ऐसी ताकत नहीं है कि हम कहें कि जो हम कहते हैं उसे आपको मानना पड़ेगा। हमारी तरफ़ से फ्रीडम है। शायरी कभी इसलिए नहीं है कि आप उसके अनुस।र चलिये। वह आपकी 'लॉ आफ़ लाइफ़' नहीं है। वह तो जीवन की आवाज़ है। उसे आप सुनेंगे तो आप जीवन की आवाज़ सुनेंगे, मगर यह आपको बाइण्ड करने नहीं आयी। आप पर हुकूमत करने नहीं आयी। वह फ्रीडम की आवाज़ है। निर्बन्ध आवाज़ है—'कवय: किं न जल्पन्ति'। पोयट को निर्बन्ध जल्पने का, बोलने का राइट दीजिये।

बहुत से देश आज भी ऐसे हैं जिनके अन्दर कवि को यह स्वतन्त्रता नहीं है। मैं तो इस बात को बड़ा सौभाग्य समझता हूँ कि मैं एक ऐसी डेमोक्रेसी में हूँ कि मैं आज जो चाहूँ वह बात कह दूँ। पता नहीं यह बात मुझे कहनी चाहिए या नहीं, लेकिन मेरे कई दोस्तों ने मुझसे कहा है कि अपनी कविताओं में भीतर-भीतर जो कुछ आपने कहा है अगर उसको समझ लिया जाय तो आपको तो जेल में डाल देना चाहिए। शायद लोगों ने समझा नहीं है। अच्छा है कि नहीं समझते, समझ लेते तो शायद मुझे जेल में ही डाल देते क्योंकि मुमकिन है ऐसी बहुत-सी बातें हों जो इस देश की नीति के साथ न खपें। मैं तो कम्युनिस्ट देशों में भी गया पर वहाँ भी जो बातें मुझे कहनी थीं, वह मैंने कहीं। अगर वे समझ लेते तो मुझे वहीं क़ैद करके डाल देते जेल में।

मगर मैं चालाकी करता हूँ। बात जो मुझे कहनी है वह मैं कह देता हूँ मगर संकेत से। अब मैं एक छोटा-सा उदाहरण आपको दे देता हूँ कि आप समझें कि मैं क्या चालाकी करता हूँ। मैं गया रूस। रूस में तो 'लॉ' बहुत है, कोई आदमी वहाँ के 'लॉ' के विरुद्ध कोई बात नहीं कह सकता, वहाँ फ़ोन सब जगह लगे हैं, मगर डायरेक्टरी नहीं है। यहाँ तो आप डायरेक्टरी उठाइये, और प्राइम मिनिस्टर को फोन कर दीजिये। वहाँ आपको पता नहीं

है कि प्राइम मिनिस्टर का फोन क्या है। अरे भाई, दो-चार फोन नम्बर आप रखिये जिनसे काम पड़ता है; बाक़ी से आपको कोई मतलब नहीं। कोई जानता नहीं कौन हुक्म चलाता है, कहाँ से हुक्म चलता है, किस पर आता है, कहाँ-कहाँ होता आप तक पहुँचता है, कुछ समझ में नहीं आता। तो मैंने वहाँ पर एक कविता लिखी। उस कविता का शीर्षक है 'रूस की गुड़िया'। अब कविता तो ऐसी है कि आपको मालूम होगा कि बहुत मासूम-सी है 'रूस की गुड़िया'। रूस में एक गुड़िया होती है जिसको 'मात्रिओश्का' कहते हैं। वह भीतर से खोखली होती है। उसका ढक्कन-सा सिर उठाओ तो उसके भीतर एक और गुड़िया निकलती है, उसका सिर उठाओ तो एक तीसरी गुड़िया निकलती है, इसी तरह चार, पाँच गुड़ियाँ निकलती हैं। तो मैंने कहा कि यह गुड़िया जो है, वह रूस का प्रतीक है। इसको मैंने लिया और इस पर एक कविता लिखी। उस कविता का शीर्षक है 'रूस की गुड़िया' मगर रूस का सारा भेद इसमें भरा हुआ है :

> गुड़िया के भीतर गुड़िया है गुड़िया भीतर गुड़िया,
> फिर गुड़िया के भीतर गुड़िया, फिर गुड़िया में गुड़िया,
> मैंने सबसे छोटी गुड़िया से यह पूछा,
> गुड़िया, तू कितनी गुड़ियों के अन्दर, क्या तेरा यह जाना ?
> इतना सुनकर मुझसे बोली
> सबसे छोटी गुड़िया,
> दुनिया के अन्दर दुनिया है, दुनिया अन्दर दुनिया
> फिर दुनिया के अन्दर दुनिया, फिर दुनिया में दुनिया
> तू कितनी दुनियों के अन्दर, क्या तेरा यह जाना ?

रूसी बड़े खुश हुए इस कविता से, मगर वह जानते नहीं हैं कि यह उनका सबसे बड़ा क्रिटिसिज़्म है। वहाँ पता नहीं लगता, कहाँ से हुक्म आया, किस का आया, कहाँ जाना है, क्या करना है, किसने क्या कहा, कुछ पता नहीं लगता। वहाँ सब कुछ भेद-भरा है। यह कविता उनके सारे सिस्टम के ऊपर एक बड़ा भारी कमेण्ट है, मगर रूसी इसको नहीं पकड़ पाये। आपको मालूम है, वह मुझको सबसे बड़ा प्रोग्रेसिव पोयट समझते हैं। उन्होंने मुझको लोटस पुरस्कार दिया है। मगर उनका क्रिटिसिज़्म मैंने अपने तरीके से कर दिया, जैसे मेरे भीतर ने आवाज़ उठी। सिर्फ़ रूस में ही नहीं, अपने देश में भी जहाँ भी मुझे लगा कि मुझे कुछ बातें कहनी चाहिए मैंने कह दीं। फिर भी रूसवाले मुझको प्रोग्रेसिव समझते हैं और हिन्दुस्तानवाले मुझे रिएक्शनरी। इस पर मैंने एक शेर भी कहा था :

> काबा ने मुझे कह के मुसलमान पुकारा,
> हिन्दोस्तान में मुझे काफ़िर कहा गया।

संक्षेप में समाज अस्वीकृत होते हुए भी मन में उठी बात को निर्भीकता से कह देना, इसे मैं कवि का विशेषाधिकार समझता हूँ।

आज जो बातें मैंने आपसे कीं उनमें जो ख़ास बात मैं कहना चाहता था वह यही है कि पोयट जो है चरित्रहीन नहीं है, चरित्रमुक्त है, मगर जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। उसका बहुत कुछ कहना और बहुत कुछ करना समाज की दृष्टि से ग़लत हो सकता है, लेकिन जीवन की दृष्टि से उसमें एक सच्चाई है। और उस सच्चाई का एक महत्त्व है, एक वेल्यू है, और इसकी जरूरत है

कि कोई ऐसा कहनेवाला हो। अब यही उसका कौशल है कि अपनी बात को वह कला के बाने में दे। इसी बात को जो मैंने अभी आपसे कही अगर मैं एक प्रतीक से न कहता, अगर इसको मैं बहुत ओपेनली कहता तो वह कविता न होती, उसको जो मैंने सिम्बोलीकली कहा है उससे वह अपने आप में कविता हो गयी है। और उसका एक ही अर्थ नहीं, उसके बहुत-से अर्थ हैं।—अब अगर आप कुछ पूछना चाहें तो पूछ सकते हैं।

प्रश्न : बच्चनजी, हिन्दी साहित्य का इतिहास जब हम देखते हैं, विशेषकर 1930 से लेकर 1945 तक का तो हमें लगता है कि भारतीय इतिहास में यह बड़ा ही संघर्षशील युग रहा है, लेकिन अधिकांश हिन्दी कवि, जिनमें आप का भी नाम सम्मिलित है, युग की, लोक चेतना की उपेक्षा करते रहे हैं। क्या आप यह नहीं महसूस करते कि हमारी हिन्दी के गण्यमान्य कवियों ने उस जनक्रांति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और बार-बार हमारे आलोचक इस बात की तरफ उँगली उठाकर कहते हैं कि हिन्दी का समूचा युग, 1930 से लेकर '45 तक, एक प्रसुप्त युग रहा है। कोई छायावाद की कविता में खो गया था, कोई किसी और तरफ़ बढ़ रहा था, लेकिन जनप्रवाह जिस दिशा की तरफ़ जा रहा था उसके प्रति उन्होंने नितान्त उपेक्षा की। आपके सन्दर्भ से यह बात जुड़ी हुई है क्योंकि आपने अभी कहा कि समाज और व्यक्ति और राष्ट्र से कविता और कवि जो हैं जुड़े हुए हैं, अलग नहीं हैं।

डा. बच्चन : यह हम लोगों का एक भ्रम है कि साहित्य लोक संघर्ष से कटा हुआ था। साहित्य लोक संघर्ष से कटा हुआ नहीं था। लेकिन इस प्रकार का साहित्य चिरस्थायी नहीं होता और जो चिरस्थायी नहीं होता, उसकी वेल्यू आप भूल जाते हैं। '30 से लेकर '45 तक या '20 से लेकर '47 तक का, क्योंकि महात्मा गांधी का पहला आन्दोलन '20 में शुरू हुआ,—'20 से लेकर '47 तक जो बहुत-सा साहित्य इस संघर्ष के लिए लिखा गया, वह विस्मृत हो गया, हो जाना चाहिए। उसने अपने युग का काम किया और उसके बाद वह भुला दिया गया क्योंकि इस प्रकार का साहित्य हमेशा सामयिक हलचलों से प्रेरणा लेकर लिखा जाता है; उस समय का काम पूरा करने के बाद यह साहित्य विस्मृत कर दिया जाता है। अगर इसका लेखा-जोखा किया जा सकता कि '20 से लेकर '47 तक कितनी कविताएँ इस देश की आज़ादी के संघर्ष के लिए लिखी गयीं तो जितना भी छायावादी साहित्य है वह उसके पासंग के बराबर भी न आता। लेकिन इस प्रकार का साहित्य चिरस्थायी नहीं होता; वह हमेशा भुला दिया जाता है। आज आपको ऐसा मालूम होता है, लेकिन मैं तो उस युग के भीतर से निकला हुआ हूँ। मैं जानता हूँ कि न जाने कितने कवियों ने अपनी वाणी से उस संघर्ष को बल दिया। पर आज उसकी क्या महत्ता रह गयी है? आज जब हमको आज़ादी मिल गयी वह साहित्य भुला दिया गया और हमको ऐसा मालूम होता है जैसे साहित्य ने हमारे उस संघर्ष में कोई योगदान नहीं दिया। मगर जीवन के जो शाश्वत मूल्य हैं, जो गरिमामय मूल्य हैं, वे तो हमेशा रहेंगे, उनकी वेल्यू हम करते हैं, उनका हम साहित्य बनाते हैं, उनको स्थायी करके रखते हैं। जो सामयिक प्रेरणाएँ हैं वह समय के साथ भुला दी जायेंगी, भुला दी गयी हैं। ऐसा तो नहीं है कि कविताएँ नहीं लिखी गयीं या कवियों ने अपना योगदान नहीं दिया; बहुत दिया, मगर इस तरह का साहित्य जो है स्थायी नहीं हो सकता।

एक बात मैं आपको और बताना चाहता हूँ। छायावादी साहित्य जिसको कहा जाता है उसके अन्दर भी राष्ट्र जीवन की पुकारें मौजूद हैं, लेकिन वह ऐसे सूक्ष्म रूप में हैं कि आज उनको प्रचार या प्रोपेगेण्डा नहीं कह सकते। उसमें जेल, हथकड़ी, नारेबाजी ऐसी बातें तो नहीं होंगी, लेकिन उसके अन्दर जो राष्ट्रीयता के सटल, सूक्ष्म तत्व हैं वह आज भी मौजूद हैं। पन्तजी की एक कविता है, उस पर मेरा एक लेख भी है, उसकी राष्ट्रीयता पर :

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि! पाया तूने यह गाना?

गांधी की आवाज है। यह प्रथम रश्मि आजादी की रश्मि है, पर नारेबाजी की तरह नहीं कही गयी। जो उस तरह से कही गयी है वह आज भुला दी गयी है; जिन कविताओं में गांधी या दूसरे नेताओं का नाम लिया गया है वे भुला दी गयी हैं। हजारों कविताएँ मैंने उस समय सुनी थीं :

'बन्द होगा जिस जगह पर शेरे-नर पंजाब का,
आबरू बढ़ जायगी उस जेल की दीवार की।'

लाला लाजपतराय की ओर संकेत है। 'बूक भर हाड़ से पहाड़ को हिलाये देते' गांधीजी के लिए कहा गया था। कौन आज इन कविताओं को पढ़ता है, मगर जिस समय ये पढ़ी गयी थीं, जनता हिल गयी थी। गांधीजी तो मुट्ठी भर हड्डी थे, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को हिला दिया था। ऐसी न जाने कितनी कविताएँ लिखी गयीं। आप यह नहीं कह सकते कि कवियों ने हमारे राष्ट्रीय संघर्ष में योगदान नहीं दिया, जरूर दिया। पर उनकी देन सामयिक प्रेरणा से थी, समय के साथ आयी अपना काम करके विस्मृत हो गयी। और जिसको आज आप स्थायी साहित्य कहते हैं उसके अन्दर भी बहुत सूक्ष्म रीति से समय के सारे चिह्न, समय के सारे संकेत मौजूद हैं।

प्रश्न : अपने जीवन में आप किनसे प्रभावित हुए हैं?

उत्तर : अपने समय से तो आदमी प्रभावित होता ही है, मगर यह प्रभाव ही सबकुछ नहीं होता। आदमी की अपनी भीतरी प्रेरणाएँ भी कुछ महत्त्व रखती हैं। काव्य के क्षेत्र में अगर मैं आया हूँ तो स्वाभाविक है कि जो हमारे अग्रज हैं, जो हमारे पूर्वज हैं, उनसे प्रभावित रहा हूँ। अगर मैं कहूँ कि तुलसीदास से प्रभावित हूँ, तो यह कोई मतलब नहीं रखता। जैसे कि मेरे शरीर के अन्दर मेरे परबाबा, मेरे बाबा, मेरे पिताजी, मेरी माँ इन सबका रक्त मौजूद है, इसी तरह जो मेरा वाङ्मय शरीर है उसमें तुलसीदास भी हैं, सूरदास भी हैं, शेक्सपियर भी हैं, उमरखैयाम भी हैं, ग़ालिब भी हैं। भाई, जिनको मैं पढ़ूंगा, जिनसे मैं प्रेरित-प्रमुदित हूँगा, जब मैं लिखूंगा तो उनका कुछ न कुछ असर तो मेरे लेखन में रहेगा ही। अब यह आपका काम है कि आप पता लगायें, मैं तो भूल ही गया हूँ और मुझे याद भी नहीं रहता, मगर अगर आप बहुत बड़े क्रिटिक हैं तो आप एक-एक शब्द का अध्ययन कर, विश्लेषण कर बता सकते हैं, भाई, यह शब्द या यह भाव-विचार आपने तुलसीदास से लिया है यह सूरदास से। प्रायः यह होता है; कवियों पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि इन पर फ़लाँ का असर है, मतलब यह कि उनको आगे रखकर उनकी नकल कर ली। पर ऐसा होता नहीं है। तुलसीदास की एक पंक्ति है, 'मन पछतइहे अवसर बीते'। बच्चनजी की एक पंक्ति है 'बीता अवसर क्या आयेगा, मन जीवन भर पछतायेगा।' अब आप चाहें तो कह दीजिए कि तुलसीदास की

नकल है। मगर जब मैंने यह पंक्ति लिखी कि 'बीता अवसर क्या आयेगा, मन जीवन भर पछतायेगा' तो मुझे तुलसीदास की याद भी नहीं थी। पर तुलसीदास कहीं मेरे संस्कारों में पड़े तो होंगे ही। यह शब्दावली मेरे दिमाग में किसी संस्कार से तो बनी ही होगी। यह कह देना कि किसी कवि के असर से या किसी बड़े आदमी के कथन से या उसके विचार के प्रभाव से ऐसा लेखन सम्भव हुआ, ग़लत होगा। कवियों के हृदय में एक भट्टी होती है जिसमें सबकुछ गलकर एकदम दूसरा मेटीरियल बन जाता है। उसे कुछ अपना मेटीरियल भी उसमें मिलाना पड़ता है, मगर उसके भीतर जो घोल, जो द्रव तैयार होता है उसमें बहुत कुछ नया होता है। वह खुद इसको एनालाइज़ नहीं कर सकता। दूसरों के लिए अच्छी एक्सरसाइज़ हो सकती है कि वे पता लगायें कि जो धमन भट्टी कवि के अन्दर सुलग रही है उसमें कहाँ से क्या लाकर डाला गया है। आख़िरकार भुइंफोड़ तो कोई पैदा नहीं होता। संस्कार तो सभी इसी धरती से लेंगे, भाषा सभी इसी से सीखेंगे, विचार सभी इसी से ग्रहण करेंगे। तो सबकुछ कहीं-न-कहीं से तो आना ही है, किसी-न-किसी का प्रभाव तो होगा ही। लेकिन कुछ अपनी प्रेरणा भी चाहिए। बिना अपनी विशेष प्रेरणा के कोई बड़ा कवि नहीं बन सकता। जो केवल बाहरी संस्कारों से सबकुछ लेकर लिखता है शायद छोटा कवि होता है। मगर जो बाहर से भी ले और कुछ अपना भी दे वह बड़ा कवि होता है। सर्वथा मौलिक कवि होना असम्भव है; जो ऐसा होने का दावा करता है मैं तो यह कहूँगा कि वह मूर्ख है। जो यह कहता है कि मैं बिलकुल मौलिक हूँ, वह एकदम मूर्ख है। तुलसीदास की, मालूम है, रामायण में अधिकांश चौपाइयों में संस्कृत के ग्रन्थों की प्रतिध्वनि है। यह मैं इस सभा में कह रहा हूँ। पर कोई यह नहीं कह सकता कि तुलसीदास मौलिक नहीं हैं। मौलिक हैं, क्योंकि उन्होंने सारे भाव-विचार-शब्द संस्कारों को अपनी धमनभट्टी में जलाकर कुछ और बना दिया है। विचारों की दृष्टि से भी, भाषा की दृष्टि से भी कोई यह नहीं कह सकता कि तुलसी अमौलिक हैं, बहुत बड़े मौलिक कवि हैं और उनकी मौलिकता इसी में है कि सारे संस्कारों को गलाकर उन्होंने अपना बना लिया है। केवल प्रभावों को लेकर कोई बड़ा कवि नहीं बन सकता जब तक उसमें कुछ निजी योगदान करने को न हो। और बिना प्रभावों के भी कोई बड़ा कवि नहीं होता। अपने को एकदम मौलिक जो कह दे कि मैंने, साहब, ऐसा लिखा है जैसा कभी किसी ने नहीं लिखा, तो मैं कह दूंगा, कि आपने कुछ भी सार्थक, सारवान, मूल्यवान नहीं लिखा। और एक बात मैं आपसे कहना चाहता हूँ, पता नहीं आपको अच्छी लगे कि न लगे। इधर जो बहुत-सी कविताएँ लिखी गयीं, जो नयी कविता के नाम से अभिहित हैं उनके बहुत से कवियों का दावा है कि हम एकदम नयी बात कहते हैं। और उसका असर यह हुआ है कि वह नयी बात किसी के पल्ले नहीं पड़ रही। इधर जो नयी कविता का आन्दोलन चला जिसमें छन्द वगैरह सब छोड़ दिये गये उसका हर कवि यह घोषित करता हुआ आता है कि हम तो एकदम नयी बात कहते हैं, यानी परम्परा से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, न उसकी भाषा से, न उसके संस्कार से, न उसके ट्रेडीशन से। उसका असर यह हुआ है कि इस कविता की कोई जड़ ही नहीं है, कहीं इसकी रूट चाहिए। ट्रेडीशन से जुड़ी हुई कविता में एक गहराई होती है। जैसे पानी जहाँ गहरा होता है वहाँ एक नीला रंग उसके ऊपर आ जाता है। इसी तरह जो कविता ट्रेडीशन की गहराई लिये

हुए होती है उसके ऊपर एक नीला रंग होता है, एक नीला आवरण, जिसको मैं कहता हूँ, कुलीनता। कहीं पारिवारिक संस्कार आपमें है या नहीं, पिडिग्री। आपकी कोई पिडिग्री है या नहीं ? हिन्दी के आप कवि हैं तो तुलसीदास का, सूरदास का, मीराबाई का, कबीर का कोई अंश, उनका कुछ रस-रक्त आपमें है या नहीं ? आप कहें, नहीं, किसी का रक्त नहीं है, एकदम नये आये हैं; अगर आप ऐसा कहते हैं और कोशिश भी यह करते हैं कि हम किसी भी पूर्व कवि की कोई चीज अपने संस्कारों में नहीं रखेंगे, न भाषा में, न रूपक में, न शैली में, न किसी और चीज़ में; एकदम नयी बात कहेंगे तो आप ग़लती पर हैं। काव्य-संसार में ऐसा होता नहीं है। भौतिक संसार में भी नहीं। हर दिन पिछले दिन का एक जन्म है, आज कल का जन्म है, परसों कल का जन्म है, हम एक शृंखला हैं और जिस प्रकार हमारे जीवन की शृंखला है, हमारे जीवन के विकास की शृंखला है, उसी तरह हमारे वाङ्मय की भी एक शृंखला है। इसकी जड़ें, इसके स्रोत बहुत पुराने हैं, बहुत गहरे हैं; गंगोत्री से चली हुई है यह गंगा की धार, ऐसी ही काव्य-गंगा भी है। और इसके प्रति हर बड़े कवि को सचेत होना चाहिए कि हमारी परम्परा क्या है, हमारी ट्रेडीशन क्या है, हमारी कुलीनता क्या है, हमारी पिडिग्री क्या है, हम सन्तानें किसकी हैं। इस सबको आत्मसात करके जब कुछ नया दीजिये तो आपका योगदान है, तो आपकी कविता है, तो उसका मूल्य होगा, तो उसकी प्रतिध्वनि होगी, आज की कविता में, आनेवाले समय की कविता में।

नयर : बच्चनजी, आपकी सब बातें सुनने के बाद मुझे ऐसा लग रहा है कि आप हमसे बड़ी चालाकी कर गये। आपने बड़े आराम से यह कह दिया कि आपकी कविता की प्रेरणा का स्रोत दर्शन नहीं, जीवन है। आप तो यह कहकर अलग हो गये और हम ठगे-से सामने बैठे हैं। जीवन बड़ा विशाल शब्द हैं। मुझसे कोई पूछे तुम्हें क्या अच्छा लगता है, और मैं कहूँ कि मुझे सागर बहुत अच्छा लगता है, लेकिन सागर में क्या अच्छा लगता है, शायद वह यह जानना चाहता है। कोई कहे कि मुझे पर्वत बड़ा अच्छा लगता है, पर्वत में क्या अच्छा लगता है वह हम जानना चाहते हैं। हमारा लालच यह था कि अपनी जीवन-यात्रा में और काव्य-यात्रा में जहाँ कभी किसी मोड़ पर कोई हवा का झोंका आपके कवि हृदय को छू गया हो और उससे जो कोई बात हुई या कोई लहर आप में उठी हो, कोई छवि आपने देखी हो, जो आपके अहसास ने अपनायी हो, या उनसे टकराया हो आपका अहसास। हम क्षणों को, चाहते थे कि उन क्षणों को, उस मिलन को, उस पहचान को आप 'रिलिव' करें और आपके साथ-साथ वह जो अनुभव है वह आपका अनुभव न रहे, हमारा भी अनुभव हो जाय। यह हमारा लालच था। और आप सिर्फ जीवन शब्द हमें देकर अलग बैठे हैं और हम आपको देख रहे हैं।

डा. बच्चन : बात यह है कि यह अलग-अलग कविताओं के विश्लेषण पर निर्भर करेगा। मैंने एक छोटा-सा उदाहरण आपको 'रूस की गुड़िया' का दिया। किसी जीवन्त घटना से गुज़रना, उसको जनरलाइज़ करना, उसको वाणी देना, पोयट्री की आग से निकलने जैसा है।...एक तो होता है व्यक्तिगत अनुभव; अब अगर यह मेरा ही अकेला अनुभव है तो फिर जब मैं उस अनुभव को अभिव्यक्ति देता हूँ तो वह आपका अनुभव भी क्यों हो जाता है। मुझे उस व्यक्तिगत अनुभव का कहीं पर ऐसा विस्फोट करना होता है कि वह मेरा ही न रह

जाय। जो व्यक्तिगत अनुभव है उसकी एक सीमा है, उसको मुझे तोड़ना पड़ता है। अगर मैं उसी सीमा में बँधा हुआ, अपने व्यक्तिगत जीवन की सीमा में बँधा हुआ, कोई बात कहता हूँ, तो आप क्यों सुनें ? आपको अपने जीवन की अनुभूतियाँ, अपने जीवन के सुख-दुख क्या कम हैं कि आप मेरा सुख-दुख भी सुनें ? आप मेरा सुख-दुख इसीलिए सुनते हैं कि वह मेरा सुख-दुख नहीं रह गया, मैंने अपने दुख का इतना विस्फोट किया है कि वह मेरा ही न रह जाय, इस वास्ते मेरे दुख के साथ आप अपने दुख की आवाज भी सुनते हैं। हर बड़ी कविता के कई स्तर होते हैं। एक तो उसका व्यक्तिगत स्तर होता है। दूसरा उसका यूनीवर्सल, और एक तीसरा स्तर भी होता है जिसको मैं ट्रांसेंडेण्टल स्तर कहता हूँ। एक तो मेरी बात, एक आपकी बात और एक न मेरी बात—न आपकी बात, बल्कि सबकी बात। अब जैसे कि 'प्याले का परिचय' है, छोटी सी पंक्ति है—

> मिट्टी का तन, मस्ती का मन
> क्षण भर जीवन, मेरा परिचय।

प्याला अपना परिचय दे रहा है। पर आप जानते हैं यह सिर्फ प्याले का परिचय नहीं है। सिर्फ प्याला ही नहीं बोल रहा है। 'मिट्टी का तन, मस्ती का मन, क्षण भर जीवन, मेरा परिचय', बोल रहा है प्याला। एक स्तर पर यह ज़रूर प्याला है। 'भ्रम भूमि रही थी जन्म काल, था भ्रमित हो रहा आसमान'—बिलकुल चाक का दृश्य है, प्याले की भूमि घूम रही है। पर प्याला प्याला ही नहीं है, यह मनुष्य भी है, यह कवि भी है, पृथ्वी ही घूम रही है। मैं संकेत करता हूँ— मनुष्य इसी भ्रम से उत्पन्न हुआ है। यह 'भ्रम' जो है, 'भ्रम' का शब्द जो है, उसके भीतर एक रहस्य है। यह भ्रम सिर्फ भ्रमण नहीं है, यह एक भ्रम है, हमारा जन्म तो इस भ्रम से हुआ है। कहने का मेरा मतलब है कि कवि जब किसी व्यक्तिगत जीवन की ओर, सिंगिल घटना को लेकर बात कहता है तो हमेशा इस बात का ध्यान रखता है, अगर वह कवि है, कि वह उसकी ही बात न रह जाय। अगर वह उसकी ही बात है तो फिर कहने का कोई मतलब नहीं है।

एक बात और मैं आपसे कहना चाहता हूँ। कहने की आवश्यकता तभी पड़ती है जब घटना व्यक्तिगत नहीं रह जाती। अगर मेरे जीवन की कोई ऐसी घटना है जिसका सम्बन्ध मुझसे ही है तो कहने का क्या मतलब ? कहने का मतलब तो तभी होता है जब उस व्यक्तिगत घटना में कोई ऐसी बात हो जो दूसरे के लिए भी हितकर, लाभकर नहीं तो रोचक हो। अगर किसी कवि ने या किन्हीं कवियों ने कभी ऐसी बातें कही हैं जो उनके अपने ही जीवन की हैं, तो उनकी लाइफ़ ज्यादा नहीं रही, जल्द भुला दी गयी। ऐसी बहुत-सी कविताएँ हैं, लोग लिखते हैं, बहुत-सी छपती नहीं हैं। अपने जीवन की व्यक्तिगत घटनाओं को लोग बहुत कहते हैं, शायद बड़े कवित्वपूर्ण ढंग से कहते हैं। पर वह कविता नहीं बनती। कविता तो तभी बनती है जब उसमें व्यक्ति की सीमा टूटती है और वह युनिवर्सल, ट्रासेंडेण्टल होकर ऊपर उठती है। यह तो तभी स्पष्ट हो सकता है जब कुछ कविताओं को लेकर उनका एनालिसिस आपके सामने पेश किया जा सके। मेरी एक कविता है। चाक पर चढ़ी हुई मिट्टी कहती है अपने बनानेवाले से। रूपक है कुम्हार का। आपने

देखा होगा चाक पर मिट्टी रखी है। कुम्हार उसको चलाता है, मिट्टी बोलने लगती है—

'अब मत मेरा निर्माण करो।'

मिट्टी बोलती है, केवल मिट्टी के बारे में सोचिये, पूरी कविता सटीक उतरेगी, लेकिन मिट्टी केवल मिट्टी नहीं है।

अब मत मेरा निर्माण करो।
कुछ भी न अभी तक वन पाया,
युग-युग बीते मैं घबराया;
भूलो मेरी व्याकुलता को, निज लज्जा का तो ध्यान करो।

अगर मैं खराब मिट्टी था, कुछ नहीं बन सकता था, तो तुम तो बड़े अच्छे बनानेवाले थे, तुम खराब मिट्टी से भी कुछ अच्छी चीज़ बना देते। एक पूरा दर्शन चलता है इसमें। जब से सृष्टि हुई है तब से मैं बनता चला आ रहा हूँ और जन्म-जन्मान्तर के बाद भी मैं सिर्फ़ बच्चनजी बनकर रह गया हूँ।

कुछ भी न अभी तक बन पाया,
युग-युग बीते मैं घबराया,
भूलो मेरी व्याकुलता को निज लज्जा का तो ध्यान करो।
इस चक्की पर खाते चक्कर
मेरा तन-मन जीवन जर्जर,
हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को और न अब हैरान करो।
अब मत मेरा निर्माण करो।
कहने की सीमा होती है,
सहने की सीमा होती है,
कुछ मेरे भी बस में, मेरा कुछ सोच-समझ अपमान करो।

यह मिट्टी का चैलेन्ज है। यहाँ जड़ता से वह अलग होती है। जड़ मिट्टी तो कुछ नहीं कह सकती, मगर इस जड़ में चेतन भी है। जब बोली है तो उसके भीतर चेतना भी है और उस चेतना से वह कहती है—

कहने की सीमा होती है,
सहने की सीमा होती है,
कुछ मेरे भी बस में···आदि

बहुत कुछ तो बस में नहीं है, मगर कुछ है और यह कुछ जो है यह बहुत बड़ा चैलेन्ज है, कवि डिफ़ाइन नहीं करता कुछ को।

कुछ मेरे भी बस में मेरा कुछ सोच-समझ अपमान करो।

मैं इस चाक से उतर सकता हूँ, मिट्टी नहीं उतर सकती; मगर जो चेतना मुझको मिली है वह मुझे इतना अधिकार तो देती है कि अगर मैं बनने की प्रक्रिया से घबराऊँ तो इस मिट्टी से मैं अलग हो सकूँ इस चाक से मैं उतर सकूँ। यह बड़ा भारी चैलेन्ज है मिट्टी का अपने 'मेकर' के प्रति। वह सिर्फ़ मिट्टी की कहानी नहीं है, यह आपकी कहानी है, यह मेरी कहानी है, यह सारी चेतन-सृष्टि की कहानी है—

कुछ भी न अभी तक बन पाया,
युग-युग बीते मैं घबराया,
भूलो मेरी व्याकुलता को निज लज्जा का तो ध्यान करो।
इस चक्की पर खाते चक्कर,
मेरा तन-मन जीवन जर्जर,
हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को और न अब हैरान करो।
कहने की सीमा होती है,
सहने की सीमा होती है
कुछ मेरे भी बस में मेरा कुछ सोच-समझ अपमान करो।
अब मत मेरा निर्माण करो।

बहुत-सी ऐसी कविताएँ हैं जिनका विश्लेषण करने पर शायद आपको पता लगे कि जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ या जो कुछ मैंने कहा है रूपक से वह मेरी अपनी ही बात नहीं है। उनके पीछे जो व्यक्तिगत प्रेरणाएँ रही हैं उनको तो बताने की आवश्यकता भी नहीं है और न कभी बताया जाता है। मगर यदि उसमें कुछ ऐसा है जो दूसरों के लिए है तो वही कविता है तब वह अपनी सीमाओं को, देश-काल की सीमाओं को तोड़कर दूसरे के पास जाती है, अपने समय को छोड़कर दूसरे समय में जाती है और बहुत समय तक जीती है, एक देश से दूसरे देश में जाती है। शेक्सपियर या कालिदास या तुलसीदास या ग़ालिब अपनी अनुभूतियों, अपने समय की सीमाओं को तोड़कर, अपनी भाषा की सीमाओं को तोड़कर दूसरे देश, दूसरी जमीन पर पहुँचते हैं, सुने जाते हैं, पढ़े जाते हैं। और उनकी अनुभूतियाँ जो हैं दूसरों की बनती हैं, दूसरों को प्रेरित या प्रभावित करती हैं।

नैयर : इससे पहले कि आज की यह शाम रात तक पहुँचे, मैं बच्चनजी का, आप सबका जो यहाँ पधारे हैं उनका शुक्रिया अदा करता हूँ, और बच्चनजी का ख़ासतौर से, क्षमा-याचना के साथ, हमने जो आपको यहाँ सताया है उसके लिए, गो हमने सिर्फ आपको सताया ही नहीं है, हमने आपको अपनी ताकत महसूस करने का एक माहौल दिया है। बहुत शुक्रिया।

कुछ साहित्यिक प्रश्न*

आपका पहला सवाल यह था, जहाँ तक मुझे याद है, कि क्या हिन्दी का लेखक बिना पूर्वरचित साहित्य का अध्ययन किये हिन्दी की मुख्य धारा से जुड़ा रह सकता है? बिल्कुल नहीं रह सकता! संकट यही है कि पूर्वरचित साहित्य तो जाने दीजिये, छायावाद युग के चार प्रसिद्धतम कवियों में से एक ने तो मुझसे यहाँ तक कहा कि उन्होंने तुलसीदास का 'रामचरितमानस' तक नहीं पढ़ा है। यह तो ऐसी बात है कि अंग्रेजी का कोई कवि कहे कि उसने शेक्सपियर नहीं पढ़ा है। यही नहीं, वे कवि तो बड़े विश्वास से यहाँ तक कह गये कि तुलसीदास की भाषा गँवारू भाषा है। हाँ कालिदास की बात और है। कालिदास के वे बहुत प्रशंसक हैं, क्योंकि प्रेरणा

* साक्षात्कारकर्ता : अनन्तकुमार पाषाण, मई, 1976

संस्कृत से लेते रहे हैं। तुलसीदास मामूली नीति के कवि नहीं हैं। बहुत बड़े टेक्नीशियन हैं। ध्वनि में बहुत पहुँचे हुए हैं। केवल ध्वनि के सहारे उन्हें पूरा बढ़ा जा सकता है। ध्वनि से ध्वनि जुड़ती चली जाती है। इस दृष्टि से उनका अध्ययन अभी नहीं हुआ है। यही नहीं, शब्दों के चयन में भी बड़ी सूक्ष्मता है। उदाहरण बहुत-से दिये जा सकते हैं। मनुष्य के जीवन के वे क्षण जिन्हें वह रोजमर्रा महसूस करता है, बहुत ही संक्षिप्त रूप में, मुख्तसर, मगर चुभती हुई शब्दावली में वे कह देते हैं। तभी तो उनका साहित्य अपढ़ गँवार भी आतमसात कर सके हैं।

'मैंने इस बात को उनसे सीखा है और जनता में मेरे प्रिय होने का एक कारण भी शायद यही है। एक उदाहरण लीजिये। तुलसी की पंक्ति है 'मन पछितहैं अवसर बीते' और मेरी—'बीता अवसर क्या आयेगा, मन जीवन-भर पछतायेगा।' तुलसी से हमने सीखा होता, तो जन-मानस से हम इतनी दूर न जा पड़ते। तुलसीदास के नीति-पक्ष और सामाजिक परिवेश की बहुत चर्चा होकर भी, उनका कला-पक्ष हमने उपेक्षित ही रहने दिया। तभी तो एक आधुनिक महाकवि का मुगालता है कि उनकी भाषा गँवारू है उससे हम कुछ नहीं सीख सकते। तुलसी के साहित्य का रक्त एक ओर तो हिन्दी के जन-मानस के राग-विराग से संचालित है और दूसरी ओर उनका कला-पक्ष बहुत ही सुदृढ़ है। मुहावरे का इतना प्रयोग करके भी नाद की, ध्वनि की अलंकृतियों से उनका काव्य भरा-पूरा है। उसको आत्मसात न करना स्वस्थ और प्रवहशील रक्त से वंचित होना है।

'केम्ब्रिज में जब मैं था, तो वहाँ एक मल्लाह ने भारतीय समझकर बड़े उद्वेग से मुझसे पूछा था—'आपने शेक्सपियर पढ़ा है?' और उसके बाद बहुत देर तक वह शेक्सपियर के उद्धरण मुझे सुनाता रहा! ऐसे भी लोग हमारी यूनिवर्सिटियों में हैं, जो खड़ी बोली के पहले का साहित्य पाठ्य क्रम से एकदम निकाल देना चाहते हैं। इस बात का विश्लेषण तो बहुत लम्बा हो जायेगा, मगर खड़ी बोली क्या है? कैसे बनी है? जब मैं तरुण था तो और लोगों की तरह जोश में सोचा करता था कि खड़ी बोली बहुत पहले बनी—कबीर तक ने 'हमन तो इश्क मस्ताना' जैसी कविताओं में खड़ी बोली का इस्तेमाल किया है। अब इतने दिनों के बाद जब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि संस्कृत से बोझिल करके हमने खड़ीबोली को जनता से दूर कर दिया। बोलचाल की भाषा से वह इतनी दूर हट गयी कि अच्छी-से-अच्छी कविता को साधारण आदमी मुँह-बाये सुनता है और वही आदमी उर्दू की मुश्किल शायरी सुनकर लोटपोट हो जाता है। अच्छी क्या, उर्दू का मामूली-से-मामूली शेर 'कामायनी' के सुन्दर से सुन्दर प्रसंग से ज्यादा असर पैदा करता है। मैथिलीशरण गुप्त ने जिस खड़ीबोली को शुरू किया वह गद्य की भाषा थी। जो बात वे कविता में कह रहे थे, वह गद्य में भी बखूबी कही जा सकती थी। मगर उर्दू से बहुत ज्यादा मुखालफत करने के कारण हम उसी विरोध को पकड़े बैठे थे। वली ने दक्खन से आकर बोलचाल की भाषा में मुहावरे की जो रवानगी पैदा की, असली खड़ीबोली तो वही है।

मैं क्योंकि कायस्थ हूँ इसलिए हिन्दी और उर्दू दोनों के प्रभाव में बड़ा हुआ हूँ। बाप से हम उर्दू में बात करते थे और माँ से हिन्दी में और मिलजुलकर बातें करते हुए उर्दू और हिन्दी दोनों में। आप खुद ही देखिये कि हिन्दी के जो कथाकार या लेखक जनता के हृदय के बहुत निकट पहुँच सके, वे सब उर्दू से आये थे। मसलन प्रेमचन्द या बालमुकुन्द गुप्त। जोधपुर युनिवर्सिटी में गया था। जहाँ 'कामायनी' पढ़ायी जाती है। अन्दर 'कामायनी' का पाठ चल रहा है और चारों तरफ पाँच

मील के घेरे में एक आदमी भी नहीं कि जिसने कामायनी का नाम भी सुना हो। यह सूफियाना अलगाव, माफ कीजियेगा मुदर्रिसों का पैदा किया हुआ है। आप भी मुदर्रिस हैं और मैं भी मुदर्रिस हूँ। जोर लगाकर आपाधापी में कवियों को यूनिवर्सिटी के कोर्स में लगाया जाता गया और चन्द सालों में वे कवि सिर्फ क्लास में पढ़ने-पढ़ाने की चीज रह गये। यही नहीं, बल्कि इसका एक पूरा तबका बन गया कि अमुक-अमुक कवि कोर्स में नहीं लगा, उसे लगाना है। फिर दस-पाँच आदमी एक कमरे में बैठकर चर्चा करते रहे कि शैली फार्म क्या है और यह क्या है और वह क्या है! जिन्हें हम हिन्दी-भाषी कहते हैं वे लोग चाहे उन कवियों का नाम भी न जानते हों, मगर कोर्स में कवि लगा कि छुट्टी हुई। उर्दू से परहेज करते-करते एक ऐसी बनावटी जबान पुख्ता होने लगी कि जिसका तथाकथित हिन्दीवालों की बोलचाल से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा।

मैं बोला—'आपकी कविता को खड़ी बोली की शुरुआत मानता हूँ मैं—खड़ी बोली याने सचमुच हिन्दी बोलनेवालों की भाषा!'

कुछ संकोच से बच्चनजी बोले—'खैर यह सोचना मेरा काम नहीं है। मगर मुझे 'मधुशाला' की एक रुबाई याद आ गयी:

> दो दिन ही मधु मुझे पिलाकर ऊब उठी साक़ीबाला,
> भरकर अब खिसका देती है बस मेरे आगे प्याला,
> नाज, अदा, अन्दाजों से अब हाय, पिलाना दूर हुआ!
> अब तो कर देती है केवल फर्ज़अदाई मधुशाला!

कितने ही लोगों ने इस रुबाई के अलग-अलग मतलब निकाले! हर मतलब ठीक! मगर अगर फर्जअदाई के बदले मैं संस्कृत का कोई शब्द ढूँढ़ता तो यह बात नहीं बनती।'

मुझे बहुत बढ़िया पंक्ति 'निशा-निमन्त्रण' की याद आ गयी—'आ रही रवि की सवारी। रात का राजा खड़ा है, राह में बनकर भिखारी।' मैं बोला तो बच्चनजी मुस्करा दिये। बोले—'अगर 'निशा-निमन्त्रण' की या 'मधुशाला' की हजारों प्रतियाँ बिकीं तो मुझे सन्तोष है कि जनता ने मुझे स्वीकार कर लिया! इसके लिए मैंने तो कुछ किया नहीं। मैंने लिखा, जनता ने ग्रहण किया—बल्कि हाथोंहाथ उसे उठाया और हृदय से लगाया। इसमें जनता की गुणग्राहकता की बुनियाद ही भाषा है। मैं उनकी भाषा में लिखता हूँ और वे मेरी बात समझ लेते हैं। संवाद मेरे लिए जरूरी है। मैं उनके मन की बात कहता हूँ, यही सन्तोष मुझे है।'

मैं हँसकर बोला—'हिन्दी के कुछ विद्वान तो 'कामायनी' को रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' से भी ऊपर की चीज मानते हैं।'

कुछ विचार-मुद्रा में वे बोले, 'दिनकर ने तो यह कहा था एक बार कि 'कामायनी' को कोर्स में से निकाल दीजिये तो बीस साल में उसका एक संस्करण न बिकेगा। मैं केम्ब्रिज से लौटते हुए वहाँ के पाठ्यक्रम की एक प्रति ले आया था। आपको मालूम है कि वहाँ पढ़ाया जानेवाला सबसे आधुनिक कवि कौन है? मैथ्यू आर्नल्ड! ईट्स, इलियट तक नहीं थे कोर्स में! इसका मतलब यह नहीं है कि अधुनातम कवियों का अध्ययन ही विद्यार्थी नहीं करते! उन पर अलग से व्याख्यान होते हैं। जब किसी कवि या लेखक को कोर्स में लगाया जाता है तो उसका लाभ सिर्फ यह होता है कि किताब की बिक्री बढ़ती है और लेखक को पैसा मिलता है। इसके अलावा आठ-दस लोग उस कवि या लेखक को लेकर बहस-

मुबाहसा करते हैं। मगर इन्हीं सब चीजों से जनता के सन्मुख ग्राह्य-अग्राह्य होने की परख निकल जाती है, हालाँकि हम जनता की, आम आदमी की तलाश की बात पदे-पदे करते हैं। नतीजा इतना हुआ है कि हिन्दी अब मुदर्रिसों की बहस की चीज़ रह गयी है, जन-जन की बोली नहीं।'

बहुत बढ़िया लस्सी उन्होंने मँगवायी थी; उसका घूँट लेते हुए मैंने कहा—' 'तारसप्तक' और उसके बाद के अज्ञेयजी के चेलों ने तो हिन्दी की मुर्गी को सिर्फ हलाल ही नहीं कर दिया, मगर उसका शोरवा तैयार करने को चिकनाई भी इकट्ठा करने लगे हैं। जो भाषा अज्ञेय लिखते हैं, उसका हिन्दी की भाषा-संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है।'

तपाक से बच्चनजी बोले—'अज्ञेयवाली बात तो बिल्कुल ठीक है, मगर क्या यही बात छायावाद की काव्य-भाषा पर लागू नहीं होती?'

'मगर अज्ञेयजी तो अंग्रेजी के बिल्कुल सतही प्रभाव से हिन्दी का रूप बिगाड़ रहे हैं!' मैंने कहा।

दूध के गिलास से एक घूँट लेकर बड़े इत्मीनान से वे बोले—'छायावाद ने संस्कृत को लेकर भाषा बनायी। अब अज्ञेय के सामने समस्या थी कि अपने व्यक्तित्व को अलग करने के लिए वे क्या करें। सो उन्होंने अंग्रेजी को पकड़ा!'

'मगर अंग्रेजी का गहरा ज्ञान कितना है उन्हें आप समझते ही हैं। अंग्रेजी के विद्वान होने के कारण इसका जज आपसे अच्छा कौन हो सकता है! अंग्रेजी साहित्य की कायदे से कोई स्टडी उनकी है?'

हँसकर बोले—'साइन्स स्टुडेन्ट रहे हैं। मगर हिन्दीवालों पर अंग्रेजी का रौब पड़ता है! और बाकी लोग जितनी अंग्रेजी जानते-समझते हैं, वे जानते हैं। उर्दू से हम परहेज़ करते रहे; मगर जब भाषा बिल्कुल ही मृत हो गयी, तो हालत यह है कि ग़जल और शेर कहना अब हिन्दी के नवीन लेखक के लिए बहुत जरूरी हो गया! अन्दर से जो एहसास होता है, लेखक उससे कैसे बच सकता है, दुष्यन्त कुमार शेर कहते थे। खुद निराला ने भी जब 'कुकुरमुत्ता' लिखा—जीवन के अन्त में, तब वह उस भाषा को पा सके जिसकी खोज शुरू से कर रहे थे!'

'यह तो अंग्रेजी के प्रभाव की बात, रोमेण्टिक कवियों के प्रभाव की बात विद्वान करते हैं इसमें कोई तत्व नहीं है! क्या आपको लगता है कि हिन्दी के कवि प्रभाव ग्रहण कर सकें, इतनी अंग्रेजी उन्हें आती है?' मैंने पूछा।

सामने बाग में पेड़ हिलाकर सूखे पत्ते गिराते माली को मैं देख रहा था। बच्चनजी ने मुझे देखा कि मैं क्या देख रहा हूँ। अपना विचार मैंने उनसे नहीं कहा कि हिन्दी के पेड़ पर जो सूखे पत्ते हैं उन्हें कौन झाड़ेगा!

उनकी तरफ देखा—'आपका क्या विचार है?'

'रायकृष्णदास जैसे हिन्दी की संस्कृति के हिमायती भी उर्दू में शेर कहने लगे हैं!' उन्होंने कहा।

'उनका कहना है कि अपनी पीढ़ी के बाद के कवियों में उन्हें आप सबसे ज्यादा पसन्द हैं। उन्होंने शायद आपको लिखा भी होगा!'

'हाँ, वह खत मैं फिर कभी आपको दिखाऊँगा। मतलब यही है कि उर्दू हिन्दी का ही अंश है; मगर फैशनेबिल अंग्रेजी कवियों की नकल में हम यह समझने लगे हैं कि जो कविता जितनी कम समझ में आये उतनी ही महान है। अंग्रेजी का प्रभाव बंगला से होकर आया। प्रसादजी बंगला बहुत अच्छी जानते-पढ़ते थे। पन्तजी भी। निरालाजी का तो जन्म ही बंगाल में हुआ था। हिन्दी की खोज में वे

लखनऊ आकर बस गये। रवीन्द्रनाथ ने अंग्रेजी से लिया, इन लोगों ने रवीन्द्रनाथ से लिया। इस तरह अंग्रेजी का प्रभाव सेकण्ड हेण्ड होकर आया। और अज्ञेय को तो छोड़ दीजिये। वे नये-नये आन्दोलन ही इसलिए चलाते हैं कि उसके केन्द्र वे स्वयं बन सकें।'

मैं बोला—'एक व्यक्तिगत प्रश्न। हिन्दी के स्वाभाविक मुहावरे और गीत-काव्य के इतने महान कवि होते हुए भी, जनता के हृदय में तो आप समा गये, मगर तथाकथित साहित्यिक विद्वान जानबूझकर आपकी रचनाएँ देखी-अनदेखी कर गये। मैं समझता हूँ कि 'निशा-निमन्त्रण' के गीतों के जैसे गीत फिर नहीं लिखे गये। फिर भी नन्ददुलारे वाजपेयी ने जब बीसवीं सदी के साहित्य पर किताब लिखी, तो दो-तीन पंक्तियों में ही आपको टाल गये। हिन्दी आलोचना का दिवालियापन इससे ही जाहिर है, कि आपके काव्य का कोई अच्छा अध्ययन उपलब्ध नहीं। क्या यह हिन्दी के ऊपर एक आरोप नहीं हो सकता?'

बड़े आत्मविश्वास से बच्चनजी बोले—'जनता ने मेरी रचनाएँ स्वीकार कीं, मेरे लिए यही काफी है! अब आलोचकों के बारे में मैं कुछ नहीं कहना चाहता।'

प्रश्न समाप्त-से हो रहे थे। अपने दिल की भड़ास निकालने के इरादे से मैंने कहा—'हिन्दी में समालोचना कभी रही ही नहीं। शुक्लजी भी निहायत मीडियॉ-कर मालूम होते हैं। कभी तो जात की दुनियाद रही कि हम कनौजिया हैं या कायस्थ हैं और कभी प्रान्त की कि 'हमऊँ डलमऊ के हैं।' या 'हमऊ जौनपुर के हैं!' एक नयी चीज बनी सरकारी ओहदा, कि अमुक-अमुक ने बड़े वक्त पे पाँच हजार का काम दिलवा दिया, अच्छे कवि हैं!' मैं आपको क्या बताऊँ—बम्बई के एक विद्वान हेडमास्टर आप पर थीसिस लिखने की गरज से नन्ददुलारे वाजपेयी की सेवा में पहुँचे। उन्होंने बड़ी मिस्कीनियत से टाल दिया। मैं आपको प्रसन्न करने की गरज से नहीं कह रहा, मगर हिन्दी जिसे कहा जाये, इसमें तो आप ही की कविता आती है—बाकी या तो कालिदास के भांजे-भतीजे हैं और या टी. एस. इलियट के नाती-पोते!'

बच्चनजी बहुत ही सहज भाव से कह गये—'अब यह जात-पाँत का भेद-भाव तो हिन्दुस्तान की संस्कृति में इतना गहरा गया हुआ है कि सौ साल तक नहीं निकल सकता। मगर पहले यह इतना न था। और पहले के छोटे-छोटे कवि भी उर्दू और संस्कृत दोनों में ही लिख सकते थे। मसलन 'सनेही' या त्रिशूल बहुत बड़े कवि शायद नहीं थे, मगर उनका उर्दू और हिन्दी पर समान अधिकार था! उसी वजह से उस युग के साहित्य की भाषा सबकी भाषा थी, केवल कॉलेज में पढ़ने की भाषा न थी!'

संध्या झुक आयी थी। उनके सुप्रसिद्ध सुपुत्र कन्धे के सख्त दर्द के कारण शूटिंग से जल्दी लौट आये थे। मैं खड़े होकर बोला—'जाते-जाते एक बात और, जहाँ संसार के महानतम आधुनिक कवि छन्द की ओर लौट रहे हैं, वहाँ हमारे यहाँ छन्द में लिखना आधुनिकता के विपरीत माना जाता है! आप क्या कहते हैं?'

'मैं तो छन्द को आधुनिकता के विपरीत नहीं मानता, और मानसिक गुलामी का तो कोई इलाज नहीं!'

कोई देश पददलित हुआ तो मैं उसके काव्य को देखूँगा*

रामकुमार कृषक : आपने तीन मधुकाव्य (मधुशाला, मधुबाला और मधुकलश) और फिर 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर'—खास तौर से यही, अपनी युवावस्था में रचे। उस बीच स्वाधीनता-संघर्ष की गूँज विशेष थी। ज्वालामुखीय उबाल-सा जन-मानस में था। पर मेरी समझ में आपके उक्त काव्य संग्रहों में राष्ट्र के तत्कालीन ज्वलन्त मानस का प्रतिबिम्ब न के बराबर है। आपका कवि उससे अछूता कैसे रह सका ?

बच्चनजी : यह आपका इम्प्रेशन है। लेकिन गलत है। आपका ख्याल है कि युग की उमंग उन काव्यों में नहीं पर अगर अधिक गम्भीरता से आप इस बात को देखें तो ठीक होगा। आप अगर राजनीति का ऊपरीपन उनमें देखना चाहेंगे तो निराशा होगी। चरखा, खादी, स्वदेशी उसमें नहीं होंगे। राजनीति का सूक्ष्म भाव, उसका मनस उनमें दिखायी देगा, पर तभी जब कोई तत्कालीन जन-मानस की साइकलोजी से देखेगा। समाज उस कविता में बराबर बिम्बित-प्रतिबिम्बित हुआ है। आप देखें। मुझे खेद है कि इस प्रकार का अध्ययन साहित्य में कम है। यह होना चाहिए। एक प्रश्न मैं आपसे करूँ ?

कृषक : जी हाँ…

बच्चनजी : रामचरितमानस में अकबर नहीं है, पर क्या वाकई नहीं है ?

कृषक : नहीं, वाकई तो है !…

बच्चनजी : हाँ, बस यही। तुलसी ने राजनीति के बजाय उसके मनस को अभिव्यक्ति दी है। तुलसी के दशरथ में भी अकबर है और रावण में भी। बात सिर्फ देख पाने की है।

कृषक : आज का यह वैज्ञानिक विकास और इसके दबाव। समाज तो इसमें केन्द्रित हो रहा है, मगर व्यक्ति विकेन्द्रित। टूट रहा है वह। ऐसे में कविता/साहित्य जो रचा जा रहा है, इसे किस मन से ले रहे हैं आप ?

बच्चनजी : घटनाओं का घटाटोप अधिक है। व्यक्ति सबसे प्रभावित हो रहा है। घिर गया है वह। ऐसे में सृजक का अस्तित्व ही बाहर आये, यह बहुत कठिन हो गया है। उसका व्यक्तित्व उसके सामने कठिनाइयाँ खड़ी कर रहा है। लेकिन इससे ऊपर उठना जरूरी है। निरपेक्ष होने की बात नहीं कहता। साहित्य समय सापेक्ष तो हो, पर कोरा समय न हो। घटनाएँ इतिहास का विषय हैं। काव्य का विषय हैं युग की सूक्ष्म भावनाएँ, घटनाओं का मनस और इस सबकी प्रतीति तब तक सम्भव नहीं जब तक सृजक बाह्य प्रभावों से मुक्त न हो। यह समस्या भारतीय साहित्य के समक्ष ही नहीं, समस्त विश्व-साहित्य के समक्ष है। सृजक जो आज स्थूल को पकड़ रहा है सृजन तो उसमें है पर उच्च कोटि का नहीं है, इसीलिए उसे एक बार पढ़कर दुबारा पढ़ने का मन नहीं होता।

कृषक : अगला प्रश्न गीत को लेकर। गीत, हिन्दी-गीत जिसे आपने भी ऊँचाइयाँ सौंपी हैं, आप जानते हैं आज नया मुहावरा और जमीन अख्तियार कर रहा है। इसके बारे में आपका क्या विचार है ?

बच्चनजी : गीत कविता की सर्वोच्च कोटि है। कविता की सूक्ष्म अभिव्यक्ति। मैं

* साक्षात्कारकर्ता : रामकुमार कृषक, 1976

मानता हूँ कि गीत की आन्तरिक भावनाओं में बदलाव तब तक असम्भव है, जब तक मानव-हृदय की मूलभूत भावनाएँ न बदल जाएँ ! हाँ, भावनात्मक गहराइयों में फर्क हो सकता है। उपकरणों में भेद हो सकता है और आधुनिक उपकरणों से भी कवि शाश्वत भावनाएँ जगा सकता है, पर यदि ऐसा नहीं तो गीत असफल होगा। गीत में यूनिटि ऑफ इमोशन आवश्यक है। यह नहीं है तो गीत क्यों लिखा जाय, नेरेटिव पोयट्री लिखिए। मैं गीत की बात जो कर रहा हूँ, वह आदर्श गीत की बात है। गीत जब तक गीत है, उसका बेसिक इमोशन एक होगा।······गीत का ह्रास भी हो सकता है, तब, जब बाह्य प्रभाव आदमी को अधिक पकड़ लेंगे। आज जो बौद्धिकता बेहद जाग गयी है उसमें भी, सम्भव है कोई प्रतिभा गीत के लिए सामने आ जाये और बौद्धिकता को इतना ताप दे कि वह भावनाओं को छू पाये। पर अभी गीत में ऐसा नहीं है। मेरी प्रत्याशा है कि ऐसा हो।

कृषक : 'नीड़ का निर्माण फिर' में एक जगह आपने लिखा है कि 'मेरी कविता मेरे जीवन की स्थितियों, उसकी आवश्यकताओं, उसकी आकांक्षाओं से सीधी उठी चीज है।' कविता के सीधे उठने से आपका अभिप्राय शायद उसकी अनुभूतिगत सहज अभिव्यक्ति से है ? तो क्या विचार, बौद्धिकता कविता के लिए एकदम अनावश्यक है ?

बच्चनजी : हाँ, अनावश्यक है। यहाँ दो बातों का अन्तर समझ लेना जरूरी है। विचार उधार के भी हो सकते हैं, संसार का सारा बौद्धिक साहित्य इसके लिए खुला हुआ है; लेकिन भावनाओं का उधार असम्भव है। मीरा को अगर चाट भी जाऊँ तो भी उसकी भावनाओं को अपना नहीं बना सकता, अनुभूत नहीं कर सकता। पर अगर नीत्शे को साल-भर पढ़ा जाय तो आप नीत्शे बन जायेंगे। अब सृजन की बात। सृजक का अस्तित्व उधारप्रिय नहीं हो सकता। उधार उसे नहीं भायेगा। उधार विकार है, सृजन उससे विकृत होगा। विचार और दर्शन सृजन-क्षणों में एकातमक नहीं होने देगा।··· देखिए, सारी बातें एक आदर्श को लेकर हम कर रहे हैं। पूर्ण सृजक होना बड़ा मुश्किल है। पर ऐसी बात करते समय एक आदर्श सामने रहेगा ही।

कृषक : आप देख रहे हैं, समकालीन साहित्य का मुख्य स्वर नकारात्मक है। वह सब कुछ के साथ स्वयं को भी नकार रहा है। राजनीतिक मतवाद बेतरह कलम पर हावी हैं। अन्तरंग को उद्घाटित करने के बजाय साहित्यकार बहिरंग को ज्यादा उघाड़ रहा है। इस दशा को किस दिशा का द्योतक मानेंगे आप ?

बच्चनजी : राइटर को छोड़ दें। कवि को लें। कवि का स्कोप कम है। कवि अगर बाहर से प्रभावित, आकर्षित और आतंकित रहा तो कविता का भविष्य बहुत अच्छा नहीं है। उन बातों के, जिनसे युग-मनस बन रहा है, भीतर जाकर सत्य को अभिव्यक्ति देना कविता का सही काम है। अच्छा कलाकार बाहर से बँधता नहीं, राह निकालता है—ऐसी सच्ची कि युग का प्रतिबिम्ब न होकर भी उसका प्रतिनिधित्व करे। आज की परिस्थिति में, जो परिस्थिति आज है, कविता बहुत सूक्ष्मता और ऊँचाइयाँ पा सकती है। क्योंकि नियन्त्रण संयम सौंपते हैं, अपूर्णता पूर्णता की जनक है। गति के लिए रफनैस जरूरी है। कविता के लिए आज बहुत बड़ी चुनौती का समय है। और कई बार पहले भी ऐसा हुआ है, जब कविता ने अपनी बात पूरी शक्ति से कही

और कोई पहचान न पाया। तुलसी फिर सामने आते हैं। अकबर न सही, अकबर का काजी तो उनके आस-पास रहता था, पर उनके विद्रोही स्वर को कोई नहीं आँक सका। इसलिए कि बाह्य परिस्थितियों का चेहरा उनके काव्य में नहीं है। उसे सहज पहचाना नहीं जा सकता। इसलिए कविता आज एक चुनौती ले रही है। बात तभी है जब बाह्य नियन्त्रणों के बीच कला की गहराइयों में हम उतरें और ऐसे कि कला की विकृतियाँ भी नष्ट हो जायें और युग की बात भी हो जाये। तुलसी ने अकबर के राज्य में रहकर राम-राज्य का स्वप्न सामने रक्खा। यह स्वयं में विद्रोह की बात है। तुलसी को इस दृष्टि से पढ़ा ही नहीं गया। ऐसी परिस्थितियों में सृजक कलाकार साहित्य की बड़ी ऊँचाइयाँ छू सकता है। देश पददलित हुआ, पर तुलसी कहाँ हुआ ? कोई देश पराजित हुआ तो मैं उसके कवियों से पूछूँगा, उसके काव्य को देखूँगा। कवि का इतना बड़ा महत्त्व है। वह अन्तिम अस्त्र और अन्तिम उपाय है।

कृषक : 'गद्यकार बच्चन' में 'अनन्तर' (डॉ. जीवनप्रकाश जोशी से हुई बात-चीत) के अन्तर्गत आपने कहा है—कहा है अपने उस मित्र के दुर्व्यवहार पर छटपटाते हुए जिसे उसके जीवन का सारा काव्य भी संस्कारित नहीं कर सका—कि उस मामले से असह्य वेदना आपको हुई। उससे आपके 'अन्दर जितना भी कोमल और स्वप्निल और जो कुछ भी था, सृजन के लिए जो कि बहुत आवश्यक है, सब भस्म हो गया।' कहते हैं वेदना कविता की जनक है, पर यह वेदना ? कवि की यह छटपटाहट व्यर्थ कैसे चली गयी ? और कविता के लिए क्या सिर्फ कोमल और स्वप्निल मनोभूमि ही आवश्यक है··· वह भस्म ही यदि कागज पर आती ?

बच्चनजी : जीवन में जिसे आयु कहते हैं, वह तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ करती है। बालपन की कोई घटना युवावस्था में जो प्रतिक्रिया करेगी, वह वृद्धावस्था में नहीं करेगी। यह जो घटना है जिसका संकेत प्रश्न में है, 60 से ऊपर की आयु में हुई है। इसलिए कविता के प्रति जो मेरा मोहभंग है उसे देखते हुए घटनाओं को ही मन में न रखें, मेरी आयु में भी जायें। यह घटना यदि युवा-वस्था में घटती तो शायद प्रतिक्रिया होती। कोमल भावनाओं को नष्ट करने से मतलब सिर्फ सृजक-व्यक्तित्व से है, मेरा व्यक्ति इसकी ज़द में नहीं आता।···

कृषक : मेरा मतलब सृजक से ही है।

बच्चनजी : हाँ, एक तीसरी बात और, और इसका सम्बन्ध भी आयु से है। बहुत-सा क्रोध आयु के साथ घटता-बढ़ता है। क्रोध को झेलने पर वेदना का जन्म होता है। मित्र से युवावस्था में निराशा हो, चोट पहुँचे तो वेदना अधिक होगी, पर यदि आक्रोश ही प्रबल हो उठे, क्रोध वेदना की ओर न जाये तो सृजन होगा कैसे ? 'बुद्ध और नाचघर' में मेरी एक कविता है 'दोस्तों के सदमें'···इस सन्दर्भ में आप उसे पढ़ें। क्रोध सृजन को बिखेरता है, सघन नहीं होने देता। हम प्रेम में एकात्म हो सकते हैं। इस मामले में मुझे वेदना नहीं, क्रोध अधिक रहा। वेदना अगर होती तो कविता शायद लिखता। और अन्यथा कुछ लिखता तो बात सतही होती। इसलिए बस मौन रहा।······

वे कह रहे थे—'किसी ने मुझसे कहा कि मूँगे की अँगूठी पहनिये, इससे आपकी सेहत ठीक होगी।' मैं बोला, 'भई ज्योतिष आदि को तो इतना नहीं मानता हूँ, मगर प्रेम की शक्ति में मेरा विश्वास अटूट है। मसलन अगर तुम मेरे हित की चिन्ता ही करते रहोगे, तो तुम्हारी चिन्ता से मेरा हित होगा, जरूर होगा। मैंने उन मित्र से कहा कि ठीक है, मूँगे की अँगूठी मैं पहनूँगा कि जिससे तुम्हारी याद आती रहे, और तुम्हारी सद्भावना से ठीक हो जाऊँ तो भी क्या आश्चर्य !'

मैंने मजाक में कहा—'मगर सुनते हैं कि मूँगा पहनने से बहुत गुस्सा आता है, सो अगर आपको बहुत गुस्सा आने लगा, तो हम लोग क्या करेंगे ?'

'वैसे गुस्सा बुरी चीज तो नहीं, अगर गुस्से में कुछ करने की ताकत हो !'

मैं बोला—'आपकी ताकत पर कम-से-कम मुझे कोई सन्देह नहीं है। हाँ, छुटभैये अवसरवादी नौसिखिये तो पुराने कवियों को बिल्कुल ही कुछ नहीं समझते। परम्परा के महत्त्व पर यदि आप कुछ कहते, तो अपनी भाषा का बड़ा हित होता !'

'मैं कैसे कह सकता हूँ ! इसका मतलब तो यह हो जायेगा कि मैं लोगों से खुद अपनी पैरवी कर रहा हूँ। जनता की मैंने हमेशा इज्जत की है और उसकी पसन्द-नापसन्द को महत्त्व दिया है। उसने मुझे प्यार किया है, यही मेरे जीवन का सबसे बड़ा सन्तोष है !'

मैंने कहा—'बेईमान अवसरवादियों से सम्पर्क तोड़ लेना क्या जरूरी नहीं है। क्या हमारा स्वार्थ ही नहीं है जो हमें रोके रहता है !'

बोले—'मनुष्य कहीं-न-कहीं से दुर्बल हो ही जाता है। मेरे जाने इस दुर्बलता को समझदारी देना ही समझदारी है !'

मैं बोला—'कहीं तो कुछ आदमी का अपना भी जाहिर करने का तरीका हो कि आदमी लड्डुओं की इस छीनाझपटी के बाहर है !'

'तुम लड्डू मत लूटो, बस ! जो लूट रहा है उसे लूटने दो, तुम शायद लड्डू की जरूरत से ऊपर उठ गये हो और वह नहीं उठा !'

इतने में उनकी प्रसिद्ध और कलामयी बहू जयाजी ने आकर बताया कि मुश्किल से फोन तो उन्होंने लगा लिया, मगर वहाँ कोई नहीं है। वहाँ के पुलिस आदि पहरों से घबराकर चली गयी होंगी। वे बोले—'क्या दिल्ली तेजीजी को ट्रंक कॉल किया था !' फिर कहा—'हाँ, मैं भी तो वहीं रहता हूँ। वहीं जहाँ इन्दिरा-जी ! इस वक्त उस बिल्डिंग के आसपास तो बड़ा शोर-शराबा होगा। मुमकिन है कि घबराकर वे चली गयी हों !' मैंने पूछा—'घबरानेवाली तो वे नहीं हैं !' कुछ हँसकर बोले—'नहीं, घबरानेवाली वे बिल्कुल नहीं हैं। जब मैं केम्ब्रिज में था, तब भी वे नहीं घबरायीं, तो अब क्या घबरायेंगी।' मैंने जरा हिचकिचाते-हिचकिचाते कहा—'तब हिन्दी साहित्य के आपके मित्रों ने तो आपकी जड़ें खोदने में कोई कोरकसर नहीं रखी। आपने तो सिर्फ एक ही का जिक्र किया है; मगर गौर से देखिये, कितने आपके निकटतम मित्र कुदाली लेकर इमारत गिराने में भिड़े हुए थे। अभी भी यही देखकर मुझे कोफ्त होता है। लोग आपके पास आते हैं, चाय-काफी आदि पीते-पिलाते हैं, जाने के पहले बहुत भाव से चरण-स्पर्श भी करते हैं; मगर एक बार बाहर निकले कि फिर वही सब प्रक्रिया उन लोगों के घरों में

* साक्षात्कारकर्ता : अनन्तकुमार पाषाण

जाकर दुहरायी जाती है, जो अकारण आपके शत्रु हैं !'

बच्चनजी बहुत विरक्त-से होकर बोले—'दुनिया बहुत छिछली है !'

मैं यह हिसाब लगा रहा था कि इण्टरव्यू शुरू हुआ या नहीं कि बच्चनजी ने पूछा—'आप कभी उग्रजी से मिले थे ?'

मैंने कहा कि हाँ मैं उन्हें जानता था तो बोले—'वे मेरी कविता के बड़े प्रशंसक थे। एक बार मैं उनसे मिलने गया तो उनके मकान के पचास कदम पहले ही गाड़ी खड़ी कर दी। जब उन्होंने मुझे देखा तो मैंने उन्हें अपनी 'जनगीता' की वह प्रति दी, जो साथ ले गया था। बोले—'कैसे आये ?' 'गाड़ी पर !' मैंने कहा। 'गाड़ी कहाँ है ?' उन्होंने पूछा ! 'वह मैंने ज़रा पचास कदम पहले ही खड़ी कर दी !' 'दुष्यन्त !' उन्होंने हँसकर कहा। उग्रजी हिन्दी के एकमात्र पुरुष थे, जिनका एक ही चेहरा था। ब्राह्मण होकर भी ब्राह्मणों से बहुत ही नाराज रहते थे। अछूत उन्हें बहुत प्रिय थे। जितना कुछ खामोशी से वे सह गये, वह कल्पना से अतीत है। मैं सोचता हूँ कि वैसे जीवट का आदमी दोबारा देखूँगा कि नहीं ! अतिशय संत्रास में भी कभी धैर्य उनके हाथ से नहीं छूटता था। कभी भी ऐसा नहीं लगा कि उग्रजी के मन में कुछ है और बाहर कुछ ! मेरी बड़ी इच्छा है कि कभी एक लेख उन पर लिखूँ।'

मैं चुपचाप उग्रजी की याद किये जा रहा था। भांग की ठण्डाई पीकर बड़े-बड़े दौनों में पकौड़ी लेकर एक तेज ताँगे पर सवार होकर रात को इन्दौर में वे निकलते थे और शबे-मालवा तो वैसे ही प्रसिद्ध है।

थोड़ी देर खामोशी रही। इतनी देर में नौकर बेसन के लड्डू ले आया। बच्चनजी बोले—'लीजिये आज मंगल है। हनुमानजी का प्रसाद है। घर में बनवाया जाता है ! मैं एक लेता हूँ, आप भी एक लीजिये !' मैंने एक लिया और मन ही मन संकल्प किया कि उनके यहाँ मंगल को ही जाया करूँगा। प्रसाद-वसाद खाकर ठण्डा पानी पीकर मैंने पेशेवर संवाददाता के तेवर से कहा—'बात यह है कि प्रसाद खाकर हम अपनी कार्यवाही शुरू करें ?' बच्चनजी ने बोर-सा होते हुए कहा—'करिये !'

मुझे इस तरह रस-चर्चा को खूँटों में बाँधना अखर रहा था। मगर क्या मजबूरी थी कि जो सवाल मैं उनसे पूछना चाहता था उनके जवाब सिवाय उनके हिन्दी में शायद ही कोई साहस से दे सकता। मैंने पूछा—'आप कवि के महत्त्वपूर्ण होने का, मेजर पोयट होने का निर्णय कैसे करते हैं ? उन्होंने सरलता से कहा—'मेजर पोयट वह है जो अपनी परम्परा को आत्मसात करके लिखता है। आगे परम्परा बनाने की, बढ़ाने की शक्ति भी दे जाता है ! जो परम्परा से ले तो सकता है, पर दे नहीं सकता, वह मेजर पोयट नहीं है !'

'पासिंग द टार्च !' मैंने कहा।

'बिल्कुल सही है। जो ले और दे। जब मशाल दी जाये तो सँभालने की शक्ति उसमें हो और वक्त आये तो आगे के हाथों में थमा भी दे !'

'तो क्या नयी कविता ने परम्परा से लिया। हिन्दी के नये कवियों ने पुराने कवि पढ़े ही कहाँ हैं। और आगे के कवियों को देने के लिए उनके पास क्या है, इसका निर्णय उनका विवेक ही कर सकता है। यूनिवर्सिटी में तो खड़ी बोली के साहित्य के पहले के साहित्य को साहित्य ही नहीं माना जा रहा है। 1910 या 1930 के पहले का सब साहित्य निकाला जाये, यह योजना डाक्टर और हकीम बना रहे हैं।'

'बनाने दीजिये ! साहित्य को मुदर्रिस जिन्दा नहीं रखता है। कोई कवि कोर्स में लगा है, इसलिए उसे जिन्दा नहीं माना जा सकता ! जनता जिसको अपने हृदय में स्थान देती है, जिन्दा वही रहता है ! मिल्टन को आलोचकों ने जिन्दा रखा है, क्योंकि उसके साहित्य के कुछ मूल्य ऐसे हैं, जिनका जीवित रहना जरूरी है !'

'मधुशाला' का चालीसवाँ संस्करण वैसे ही बिक रहा है, जैसा पहला बिका था।'

'खैर यह तो मेरे पाठकों की कृपा है।'

मैंने कहा—'कुछ हिन्दी के अधपढ़े लोग टी. एस. इलियट के परम्परावाद को ले उड़े हैं। इलियट क्योंकि अमेरिका से आये थे, इसलिए परम्परा का अभाव उन्हें अपने भीतर महसूस होना ही था। मगर स्वयं उन्हीं के जीवनकाल में डिलन टॉमस जैसा कवि हुआ, जिसने कविता सम्बन्धी उनकी सभी धारणाएँ झूठी कर दीं।'

'मैंने अपनी आत्मकथा के नये भाग में लिखा है कि सदियाँ आयें और चली जायें—वक्त गुजरे और सब कुछ बदल जाये; मगर इंगलैण्ड का पाठक, अंग्रेजी पाठक, हमेशा डिलन टॉमस जैसे कवि-व्यक्तित्व को ही स्वीकार करेगा ! उसके हलक के नीचे इलियट नहीं उतरेगा, क्योंकि हरेक राष्ट्र की एक कल्पना होती है कवि की; और अंग्रेज के हृदय में उस कल्पना पर उतरता है डिलन टॉमस का व्यक्तित्व !'

मैं बोला—'अगर मैं आपको गलत नहीं समझ रहा हूँ, तो यह आभास होता है कि प्रत्येक साहित्य में दो परम्पराएँ होती हैं। एक परम्परा होती है जिसे शिक्षक, विद्यालय, कोर्स आदि जिन्दा रखते हैं और दूसरी परम्परा जिसे जनता जिन्दा रखती है !'

'जनता जो रखती है जिन्दा तो उसी को कहा जा सकता है !'

'ऐसी स्थिति में भी जनता की जीवित परम्परा के विरुद्ध कुछ संकट आते ही हैं !'

उन्होंने जिज्ञासा से मेरी ओर देखा।

'मसलन जब प्रकाशन के साधन कुछ निहित स्वार्थवाले बुर्जुवा ग्रुपों में बँट जाते हैं, जब बाहर के पैसे से हिन्दुस्तान का साहित्य छपता है, मसलन कई फैशनेबिल प्रकाशन रहे हैं, जिनका पैसा अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय गुप्तचर विभाग (सी. आय. ए.) से आता है। ये लोग क्रान्ति का मखौल करते हैं और चरित्र की वक्रता के विश्लेषण को ही उच्च साहित्य का सबकुछ मानते हैं। ऐसी स्थिति में जनता से सम्पर्क करने का एक ही साधन रह जाता है। वह है कवि सम्मेलन ! अपने कवि सम्मेलनों की दशा क्या है आपसे ज्यादा कौन जानता है। ऐसी स्थिति में जनता में आस्था रखनेवाला लेखक जो शब्दों की कलाबाजियों से तंग आ गया है, जनता तक कैसे पहुँचे ?'

बच्चनजी ने एक और बात जोड़ दी—'बड़े-बड़े प्रकाशकों के यहाँ आधी पुस्तकें तो ऐसी हैं, जो पैसे देकर लेखक खुद छपवा रहे हैं और जब प्रकाशक के लिए लेखक की पूँजी उपलब्ध है, तो उसे क्या गरज है कि खुद अपनी पूँजी लगाये।'

'तो ऐसी अवस्था में जब सरकारी चमचों, सी. आय. ए. के एजेन्टों और पूँजीपतियों के पास जनता से सम्पर्क करने के समस्त साधन हैं, तो फिर लेखक जनता तक केवल अपने बलबूते पर कैसे पहुँच सकता है ? और तो और जनता के सामने साधनों की प्रचुरता से सम्पन्न नकली लोग गलत मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रचार भी कर सकते हैं।'

'करने दीजिये। उससे कुछ बिगड़नेवाला नहीं है। इतिहास उठाकर देख लीजिये। जब भी साहित्य को जनता से दूर ले जाने की साजिश की गयी है, जनता उसे फिर ठीक रास्ते पर ले आयी है।'

'मगर एक ईमानदार लेखक ऐसे समय में क्या कर सकता है ?'

'सृजन करता रहे और उपयुक्त समय की बाट देखे। भुलावा बहुत देर नहीं रहता, छलना बहुत देर तक नहीं टिकती !'

'मगर विद्वान आलोचक एक नुकसान तो कर ही सकता है। आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसीदासजी की श्रेष्ठता प्रमाणित करने को लोक-संग्रह को लिया। लोक-संग्रह कोई ऐसा गुण नहीं है, जो साहित्य के भीतर से उपजता है !'

'यही भूल प्रगतिवाद ने भी की। प्रशस्त मानववाद का तिरस्कार करके कम्यूनिज्म के सिद्धान्तों की कसौटी पर वे काव्य को देखने-परखने लगे।'

'मगर आचार्य शुक्ल ने तो दो नुकसान किये—एक तो तुलसीदासजी को समझने का, एप्रिशियेट करने का गलत तरीका उन्होने चला दिया और दूसरे बड़े-बड़े कवियों को दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया। नन्ददासजी प्राचीन हिन्दी के एकमात्र कवि थे, जिन्होंने तुर्की-बतुर्की सवालों से तर्कशास्त्र को रसमय किया था। सूर का श्रृंगार क्या किसी से कम है ? मीराबाई का वह बहता हुआ मुहावरा क्या किसी से कम है ? आचार्य शुक्ल ने सबको एक तरह से सेकेण्ड रेट करार कर दिया !'

'हाँ यह तो हुआ है, मुझे भी लगता है। सूर और मीरा बहुत बड़े कवि हैं ! उन्होंने जो चलन चलाया कि सूर और मीरा तुलसी से छोटे हैं, तो चला ही आ रहा है !'

'और जायसी ! महाकवि जायसी ! मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि जिसका उत्तर देने का साहस आपको छोड़कर शायद ही किसी में हो !'

'पूछिये !'

'कवित्व की दृष्टि से तुलसी और जायसी में कौन अधिक महान है ?'

'कवित्व की दृष्टि से जायसी ही !'

'और भाषा का जो आनन्द जायसी में उपलब्ध है वह तुलसी में कहाँ !'

बच्चनजी हँसकर बोले—'तुलसीदासजी संस्कृत से प्रभावित थे। जायसी में शुद्ध अवधी का मुहावरा है ! अवधी की मिठास जायसी में है, जनता की बोली तो वही थी, और वही है !'

'क्या फ़ारसी की मसनवियों का प्रभाव आपकी दृष्टि से जायसी पर पड़ा था ?'

'मैं ऐसा नहीं समझता ! सूफी मत इस्लाम के ही विद्रोही तत्व से मिलकर बना था और उसका जन्म भी अरब में ही हुआ था, विकास फ़ारस में हुआ यह और बात है !'

'तो जायसी की अवहेलना करके क्या तुलसीदास को समझा जा सकता है ?'

'बिल्कुल नहीं ! तुलसीदासजी जायसी से निश्चित ही परिचित थे। जनता की भाषा को समझने के लिए आपको गाँव के किस्सागो को सुनना पड़ेगा। उत्तर-प्रदेश के गाँवों में एक विदूषक, एक पण्डित, एक कथावाचक और एक किस्सागो होता था। जब किस्सा सुनाते-सुनाते थक जाता था, तो कहता था कि कुछ रबड़ी-मलाई की जुगत भिड़ाओ, कुछ हलक तर हो, तो किस्सा आगे बढ़े। आज से पचास साल पहले तक हमारे गाँवों में किस्सागो थे। किस्सागो की परम्परा बहुत प्राचीन है। ऐसे ही बालक तुलसी ने गाँववालों में बैठकर 'पद्मावत' की कथा किसी

किस्सागो से सुनी होगी। फिर अपनी उत्कट कल्पना से उन्होंने उसका लाभ अपनी कविता को दिया।

'कल्पना की उड़ान किसमें अधिक मोहक है—जायसी में या तुलसी में ?'

'निश्चय ही जायसी में ! जिस धर्म की प्रतिष्ठा तुलसी करना चाहते थे, वह उनके साहित्य के विकास को चारों ओर से रोकता था—उनकी प्रचण्ड प्रतिभा पर अंकुश लगाता था। मसलन माता पार्वती का श्रृंगार वर्णन करने से उन्हें एतराज था। महान कवि थे—चाहते तो श्रृंगार का वर्णन कालिदास की टक्कर का कर सकते थे। मगर अन-साहित्यिक तत्वों ने उनकी साहित्यिक प्रतिभा को चारों तरफ से बाँध रक्खा था। पंख बड़े थे, उड़ान की शक्ति भी थी, मगर उन पर सम्प्रदाय के तत्वों के पत्थर बँधे थे। यह बात जायसी में नहीं थी !'

'मसलन', मैंने कहा—'जायसी ने रत्नसेन के विवाह में सोने की पत्तलों का उल्लेख किया है, जबकि तुलसीदासजी सोने की थाली का करते हैं !'

'सोने (चाँदी) की थाली तो उत्तरप्रदेश में गरीब से गरीब लोगों के घर में होती है !' बच्चनजी ने हँसकर कहा।

मैं कुछ भावमुग्ध होकर बोला—'सोने की पत्तल ! कल्पना की बात है। सोने के पत्तों को सोने की सलाई से जोड़ा गया ! वाह !'

बच्चनजी भी बहुत भावविभोर लग रहे थे। बोले—'परम्परा जायसी की बहुत बड़ी है। परम्परा का अर्थ केवल लिखने-पढ़ने की परम्परा ही नहीं है। वातावरण में कितनी ही बातें होती हैं, जो बिना जाने हम आत्मसात कर लेते हैं। केम्ब्रिज के मेरे गाइड प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक टी. आर. हेन इस बात पर बहुत ही जोर देते थे। उनका कहना था कि ईट्स पर बचपन में इधर-उधर प्रचलित धारणाओं का जितना प्रभाव पड़ा, उतना ही पढ़ने-लिखने का। और आपको मालूम है इंसटिक्ट क्या होता है। चिड़ियें अण्डे देकर मर जाती हैं। जब उनके बच्चे निकलते हैं, तो ठीक अपने माता-पिता की ही तरह घोंसला बनाते हैं। आर्ट इज एन इंसटिक्ट। जैसे बिना सिखाये चिड़ियें अपने माता-पिता की तरह घोंसला बना लेती हैं, वैसे ही कलाकार अपने व्यतीत को अपने भीतर पाता है—यदि वह श्रेष्ठ कलाकार है तो ! मैं आपको बताऊँ कि उस दिन खुसरो का काव्य पढ़ रहा था, तो उनकी एक लय और ताल हूबहू मुझे अपने काव्य में मिल गयी। बचपन में उड़ते-उड़ते कभी पिता के मुँह से या और कहीं सुनी होगी !'

लड्डू का हाथ वैसे ही लिये बैठा था। उनके कमरे में धोने गया। सौरभ से मन-प्राण सिंच गये। नीचे हनुमानजी की मूर्ति के सामने उत्कृष्ट धूप जल रही थी। मैंने भाव-विभोर होकर प्रणाम किया। बाहर आकर बोला—'हनुमानजी के दर्शन से सारा शैशव अपनका सामने आ गया ! गाँव के किस्सागो की तरह तब श्री पं. राधेश्याम कथावाचक थे—उनका एक भजन था—बजरंगबली मेरी नाव चली···'

और बच्चनजी ने पंक्ति पूरी की—'ज़रा बल्ली कृपा की लगा देना।···जयाजी मंगल को यह पूजा करती हैं।'

दो कविता-पीढ़ियों का साक्षात्कार*

वह कह रहे थे—हर आदमी के पास अनुभव होता है, किन्तु उसे कविता में ढालने की कला उसके पास नहीं होती। अपने अहसास को अभिव्यक्त न कर पाने की कमजोरी ही उसे कवि और कविता की दुनिया की ओर ले जाती है। कविता को सुनते या पढ़ते हुए उसे लगता है कि कविता के माध्यम से कवि उससे अपनी नहीं, बल्कि उसी की बात कह रहा है और उसे महसूस होता है कि स्वयं को 'एक्सप्रेस' न कर सकने की मजबूरी की गिरफ्त से वह मुक्त हो रहा है। मुक्ति का यह अहसास ही काव्यानन्द है। शायद इसीलिए लोग ट्रेजेडी को भी पसन्द करते हैं। उन्हें लगता है कि उनकी यातना को शब्द मिल रहे हैं। वे अपनी त्रासदी से मुक्त होने की कोशिश करते हैं। एक और कारण भी है ट्रेजेडी पसन्द आने का। दूसरे के दुःख में आदमी सुख अनुभव करता है। यह अहसास कि वह यातना के दौर से नहीं गुजर रहा, उसे आश्वस्ति देता है। आकुल अन्तर के एक गीत में मैंने इस ओर इशारा भी किया है—'क्या करूँ संवेदना लेकर तुम्हारी ?'

क्या मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' आपकी नजरों से गुजरी है ?

याद नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आप कविता से जुड़े हैं और हिन्दी के वरिष्ठ कवि तो आप हैं ही। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी कविता कहाँ ठहरती है ?

बच्चनजी ने एक गहरी नजर मुझ पर डाली। मुझे लगा कि वह मुझसे जानना चाहते हैं कि मैंने उक्त सवाल उनसे क्यों पूछा ? मैंने सफाई दी—आज दुनिया छोटी हो गयी है और घटनाएँ आजकल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर घटती हैं, चाहे वे कार्टर की जीत से सम्बद्ध हों या दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद नीति से। यही वजह है कि बच्चन की कविता पर बात करते हुए, वार्तालाप के दायरे में हाइनरिख हाइने, रिल्के, नेरुदा भी आ जाते हैं। बच्चनजी मुस्कराये और कहने लगे—कोई भी देश जितना बड़ा होगा, उसका साहित्य भी उतना ही महान होगा। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जहाँ हिन्दुस्तान प्रतिष्ठित है, वहीं उसकी कविता भी। साहित्य में राष्ट्र प्रतिबिम्बित होता है। लिटरेचर ऑफ ए कण्ट्री इज ऐज ग्रेट ऐज इट्स पीपुल। राष्ट्र की महानता और साहित्य की महानता समान्तर चलती है। अकबर के जमाने के वैभव की तुलना तुलसी की कविता के वैभव से कीजिये। विक्रमादित्य के हिन्दुस्तान का ऐश्वर्य कालिदास की कविता में बोलता है। इसी प्रकार समकालीन हिन्दी कविता समकालीन भारत को 'रिफ्लैक्ट' करती है।

विज्ञान के युग में कविता की क्या सार्थकता है ?

विज्ञान का कविता से कोई विरोध नहीं है। दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं। विज्ञान का क्षेत्र वस्तु जगत तक सीमित है। कविता की दुनिया वस्तु जगत से शुरू होती है। कविता गहरे सूक्ष्म स्तरों पर चलती है और 'नरेशन' से अध्यात्म तक यात्रा करती है। जहाँ विज्ञान की पहुँच खत्म होती है, कविता की पकड़ वहाँ से शुरू होती है। प्रेम और घृणा जिस प्रकार मोह के दो ध्रुव हैं, विज्ञान और कविता भी उसी प्रकार जिन्दगी के दो ध्रुव हैं। उन्नीसवीं सदी में औद्योगीकरण के संक्रमणकाल में अंग्रेजी कवियों को महसूस हुआ कि वैज्ञानिक सत्य ही कविता के चेहरे की चमक है।

वस्तु जगत से परे देख सकना विज्ञान के लिए मुमकिन नहीं है, फिर भी लोग

* विनोद शर्मा, नवम्बर, 1977

उससे आकर्षित होते हैं, क्यों ?

लोग विज्ञान के नहीं, बल्कि उन सुविधाओं के प्रति आकर्षित होते हैं जो उन्हें वैज्ञानिक शोध के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं। साइंस सिद्धान्त देती है और टैक्नालॉजी उन्हें एप्लाई करती है। अन्तरिक्ष विज्ञान और राकेट टैक्नालॉजी में लोगों की कोई दिलचस्पी नहीं है। हाँ, राकेट यात्रा में उनकी दिलचस्पी 'क्रेज' की सीमा तक हो सकती है। विज्ञान के उन्नत होने से कविता को कोई फर्क नहीं पड़ता। अमेरिका में भी कविता के लिए काफी जगह है। कविता की जितनी चर्चा वहाँ या रूस में होती है, उतनी हमारे देश में नहीं होती।

कविता के भविष्य के बारे में आपका क्या विचार है ?

कविता अवकाश माँगती है। जहाँ फुर्सत होगी अर्थात जिन्दगी व्यस्त या फास्ट नहीं होगी, वहाँ आदमी को कविता की जरूरत महसूस होगी। भविष्य में विज्ञान आदमी को आज की तुलना में कुछ ज्यादा फुर्सत देगा। तब शायद आदमी कविता-कला के लिए ज्यादा समय निकाल सकेगा। इस खयाल को आप मेरा सुखद स्वप्न भी कह सकते हैं। यों कविता-कला की जरूरत हमेशा बनी रहेगी। भीतरी और बाहरी जरूरतों में सन्तुलन बिठाने के लिए आदमी को विज्ञान के साथ कविता को भी अपनाना पड़ेगा। प्रख्यात वैज्ञानिक आइंसटीन का बीथोविन के संगीत में गहरी रुचि लेना भी इसी ओर इशारा करता है।

हिन्दी कविता पर पाश्चात्य प्रभाव है। यह किस हद तक अच्छा या बुरा है ?

आज के युग में प्रभाव से बचना सम्भव नहीं है। और फिर हम तो बहुत वर्षों तक अंग्रेजों के अधीन भी रहे। अंग्रेजी की गिरफ्त से आज भी हम निकल पाये हैं क्या ? हम हमेशा अंग्रेजों एवं अंग्रेजी साहित्य को गर्दन उठाकर देखते रहे। अतः हमारी कविता पर अंग्रेजी कविता का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। जिन्दा रहने के लिए अपना आधार खोये बगैर प्रभाव ग्रहण करना साहित्य के लिए ही नहीं बल्कि सभ्यता एवं संस्कृति के लिए भी जरूरी है। अंग्रेजी से प्रभाव ग्रहण करके अंग्रेजी में कविता लिखनेवाला कवि नितान्त अमौलिक हो सकता है किन्तु हिन्दी में लिखना शुरू करते ही वह कुछ हद तक मौलिक हो जाएगा। भाषा की जरूरत उसे कुछ-न-कुछ मौलिकता प्रदान करेगी ही। अनुवाद में भी तो यही होता है। अनुवाद करते वक्त भाषा की जरूरत की ताकत को महसूस किया जा सकता है। सच तो यह है कि मौलिक कविता भी अनुवाद ही होती है। मौलिक कविता को कवि के अनुभव का उसकी भाषा में रूपान्तर कहा जायेगा। अनुभव की भाषा हर आदमी के पास होती है। किन्तु कविता की भाषा प्रत्येक व्यक्ति के पास नहीं होती। जो जितना बढ़िया अनुवाद करता है उतना ही बड़ा कवि माना जाता है।

'जाल समेटा' की घोषणा आपको याद होगी। आपने भविष्य में कविता न लिखने की घोषणा की थी। इससे क्या यह माना जाये कि कविता लिखना या न लिखना कवि के बस में होता है।

कविता लिखना भले ही न हो लेकिन कविता न लिखना कवि के बस में होता है। जीवन की जब नयी अनुभूतियाँ न हों या वे उस स्तर (अपेक्षित स्तर) तक न पहुँचें तो कविता नहीं लिखनी चाहिए। इस रचनात्मकता के मोड़ पर यदि कवि कविता से हाथ नहीं खींचता तो उसकी पुरानी शैली उसे घसीटने लगती है। कवि स्वयं को दोहराने लगता है। इस दयनीय स्थिति से बचने के लिए ही मैंने कविता लिखना बन्द कर दिया। नयी अनुभूति होते ही शैली स्वयं बदल जाती है।

गीत से कविता की ओर आने पर क्या यही बात लागू होती है ?

हाँ।

छन्द के बन्धन खोलकर फ्री वर्स की मुक्त दुनिया में आने में कोई असुविधा या सुख का अहसास जागता है ?

नहीं, कतई नहीं। एक कार से उतरकर दूसरी कार में बैठने जैसी बात समझ लो, इस कोशिश को। बच्चनजी यकायक उठ खड़े हुए और लान में घूमने लगे। फिर आकर कुर्सी पर बैठ गये और कहने लगे—सन् इकहत्तर में दिसम्बर में ऑपरेशन थियेटर की भयावहता ने मुझे विरक्त कर दिया था और मोहभंग का अहसास भी मुझमें पैदा किया था। इसलिए भी कविता लिखना मैंने छोड़ दिया।

क्या अब भी मोहभंग चल रहा है।

हाँ, एक मोड़ जिन्दगी में ऐसा आता है कि जिसे काटकर आदमी जिन्दगी को समभाव में ग्रहण करने लगता है। वह समदर्शी हो जाता है। आशा, निराशा, कुरूपता आदि विकारों को जिन्दगी के अंग मानने लगता है। इस धरातल पर आकर वह कविता छोड़कर योग से जुड़ जाता है। वह द्रष्टा हो जाता है। कविता आदमी के अधूरेपन का संकेत है। धीरे-धीरे आदमी अपने अधूरेपन को भरता जाता है। एक बिन्दु पर पहुँचकर कविता कवि के व्यक्तित्व को छोड़ देती है। तब वह मन्त्र हो जाती है। मन्त्र अपौरुषेय है और कविता पौरुषेय। केशवदास भी शायद इसीलिए तुलसी की चौपाई को मन्त्र कहते हैं। तुलसी को ऋषि भी इसीलिए कहा जाता है। अजन्ता के कलाकार का अपनी कृति के साथ अपना नाम न जोड़ना और माइकेल ऐंजलो का अपनी कृतियों के साथ अपना नाम जोड़ना भी अपौरुषेय और पौरुषेय कला का द्योतक है। कौन था एलोरा का इन्जीनियर, कोई जानता है ? कविता लिखी जाती है, मन्त्र देखे जाते हैं। कवि से मन्त्रद्रष्टा होने की यात्रा प्रत्येक महान कवि को खींचती है। शेक्सपियर ने 1606 में 'टैम्पेस्ट' रचा, दस साल तक वह पाइप पीता रहा, कहीं नहीं गया। चुपचाप देखता रहा दुनिया को। शायद हैमलेट से भी बड़ा रहस्य देख रहा था वह उन दिनों और उसे कविता में बाँधना उसे सम्भव प्रतीत नहीं हुआ। 1616 में उसकी मृत्यु हो गयी। काजी नजरुल इस्लाम का मौन भी शायद इसी बोध से जुड़ा था।

वेद मन्त्र अपौरुषेय हैं और समकालीन कविता पौरुषेय। तो क्या कविता ह्रासोन्मुखी है ?

दरअसल उत्थान और पतन के पहिये घूमते रहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो वेदों की भाषा बिना किसी पूर्वाभ्यास के अपने क्लाइमेक्स पर कैसे पहुँच सकती थी ? उससे पहले बहुत सदियों तक भाषा की काफी रगड़न्त हुई होगी।

नवगीत से क्या आप सन्तुष्ट हैं ?

कुछ क्षण बच्चनजी मौन रहे। फिर आँखें मूँदकर कुछ सोचने लगे। फिर यकायक उठ खड़े हुए और लान में पेड़ों की कतार के समान्तर चहलकदमी करने लगे। रिल्के की कविता 'पतझड़' की अन्तिम पंक्तियाँ मेरी स्मृति में कौंध गयीं··· 'और फिर लौट जायेगा वसन्त झरते पत्तों के साथ वृक्षवीथियों में बेचैन भटकने के लिए···' मैं भी उठ खड़ा हुआ और बच्चनजी के साथ-साथ टहलने लगा। मैंने अपना सवाल कुछ देर बाद दुहराया। वे बोले···नवगीत, नयी कविता की प्रतिक्रिया है। उसकी कोई उपलब्धि हो तो उसमें सन्तुष्ट होने की कल्पना की जा सकती है। फैशनेबुल आन्दोलन की क्या उपलब्धि हो सकती है···साहित्य में ? वक्त के साथ-साथ साहित्य भी बदलता है। सो गीत भी बदला। उसे नव के विशेषण से मढ़ने की जरूरत क्या है ? और फिर नवगीत की वह कौन-सी

विशेषता है जो उसे पुराने गीत से अलग करती है ? मूल जीवन्त भावनाएँ और तीव्र संवेदना या अनुभूति गीत में हमेशा रहे हैं। नवगीत, नयी कविता की नकल है। गीत पर सन्नाटा हावी है।

आपके बाद आपके पाए का कोई गीतकार नहीं हुआ। आप गीत पर हावी रहे। समकालीन नवगीतकार कोई कृति ऐसी नहीं दे पा रहा जो इस सन्नाटे को तोड़े। रमेश रंजक का नया गीत-संग्रह 'मिट्टी बोलती है' भी गीत की नयी जमीन तोड़ने की कोशिश-मात्र बनकर रह गया है। इसके क्या कारण हैं ?

अपनी प्रतिभा से अधिक महान कवि अपने समय की देन होता है। आज का समय गीत के बजाय कविता को 'बिलौंग' करता है। मुझे गीत के लिए उपयुक्त वातावरण मिला था। मैं गीत लिखता चला गया। उस वक्त देश करवट बदल रहा था। समय बदल रहा था। स्वतन्त्रता की माँग राष्ट्र की ही नहीं, व्यक्ति की भी थी। ऐसे वातावरण में, मैं जवानी में तीव्र भावनाओं की लहरों के साथ बह निकला और साथ बह निकली गीत के रूप में मेरी कविता।

पन्तजी को सन्त कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने के बाद, उन्हीं को लेकर अदालत के दरवाजे खटखटाने के पीछे क्या कारण थे ?

अंग्रेजी में ईट्स और हिन्दी में पन्तजी मेरे मनपसन्द कवि थे। पन्तजी ने अपना सारा वक्त कविता को दिया। 18 साल की उम्र से आज 76 वर्ष की उम्र तक निरन्तर लिख रहे हैं। उनकी कविता में निरन्तर विकास-बदलाव होता रहा है। बचपन से ही वह धार्मिक प्रवृत्ति के थे। नारी के सम्पर्क में वह कभी आये नहीं। नारी अर्थात माया, अनुभूति की दुनिया के द्वार पर खड़ी है। इस दरवाजे को तोड़े बगैर आदमी अनुभूति की दुनिया में नहीं प्रविष्ट हो सकता। मैं कम-उम्र में ही नारी के सम्पर्क में आ गया था, अतः मैं अनुभूति की दुनिया में चला गया और पन्तजी बाहर ही रह गये। नतीजा यह हुआ कि वह पेड़ों, पत्थरों, नदी, नालों पर कविता लिखते रहे और मैं मांसल सौन्दर्य गीत लिखता रहा। पन्तजी के सौ पत्र छपवाने के बाद मैंने उनके दो सौ पत्र और छपवाये। उनमें कुछ ऐसी बातें थीं जो पन्तजी नहीं चाहते थे कि प्रकाशित हों। उन्होंने बिना मुझे सूचित किये मुझ पर मुकदमा दायर कर दिया। उन्होंने कहा कि उनके अपने पत्र उनके लिटरेरी वर्क्स हैं और पत्र-साहित्य का कापीराइट लेखक का होता है। 'रेसीपिएण्ट' की तो लिखे कागजों की 'मास्ट्री' होती है। पन्तजी को पत्रों के कुछ अंश पसन्द नहीं आये। उन्हें लगा कि वे अंश उनकी 'इमेज' को तोड़ते हैं। उन्हें शायद यह भी महसूस हुआ कि मैंने उन्हें दुनिया की नजरों में जान-बूझकर गिराने के लिए वे पत्र प्रकाशित करवाये थे। सच्चाई ठीक इससे उल्टी थी। वे पत्र उनकी नहीं बल्कि मेरी 'इमेज' को धुँधलाते थे, क्योंकि उनमें पन्तजी ने मेरे खिलाफ काफ़ी कुछ लिखा था। मैं तो एक वी. आई. पी. के पत्रों को हूबहू छपवाना चाहता था। क्योंकि मैं पत्र-साहित्य के महत्त्व को समझता था। पन्तजी ने मेरे खिलाफ केस फाइल करवाते वक्त मेरे पिता का नाम गोल कर दिया। मैं नाराज हो गया। मैंने खुद को अपमानित भी महसूस किया। मेरी जीवनी भी प्रकाशित हो चुकी थी। पन्तजी से मेरे सम्बन्ध भी आत्मीय रहे थे। मैं उन्हें 'साईं दा' कहता था। इसके बावजूद मेरे पिता का नाम वह कैसे नहीं जानते थे···यह मेरी समझ में नहीं आया। इतना ही नहीं वह प्रकाशक के पिता के पास गये और उससे एक समझौतानामा भी लिखवा लिया। समझौतानामा पत्रों में से कुछ अंशों को निकालने की शर्त पर आधारित था। मेरे वकील ने ऐतराज किया

क्योंकि मेरा एग्रीमेण्ट प्रकाशक के पिता से नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त मेरे पास पत्रों को छपवाने की अनुमति भी थी। प्रकाशित पत्रों में शामिल अन्तिम पत्र की तारीख के बाद की तारीख का लिखा पन्तजी का पत्र मेरे पास था जिसमें उन्होंने लिखा था—तुम मेरे जितने पत्र चाहो छपवा सकते हो। पन्तजी ने मुकदमा वापिस ले लिया किन्तु मुझे इस समूचे प्रसंग ने बेहद तकलीफ पहुँचायी। 'जाल-समेटा' में मैंने पन्तजी पर दो-तीन कविताएँ भी लिखी थीं। उक्त प्रसंग से कविता लिखने के प्रति मुझमें मोहभंग पैदा हुआ। मुझे लगा कि पन्तजी ने अपने व्यक्तित्व पर देवत्व आरोपित किया हुआ था। यही वजह है कि वह सच्चाई को बर्दाश्त नहीं कर पाये। कविता से पन्तजी वर्षों से जुड़े थे लेकिन कविता ने उन्हें इतना संस्कार भी नहीं दिया कि वह अपनी कमजोरी को कह सकते। मुझमें इतनी 'बिटरनेस' भर चुकी थी कि मैं कविता से कोई अच्छा काम लेने योग्य नहीं रह गया था—ऐसा मुझे महसूस हुआ। कविता लिखना बन्द करने की घोषणा के पीछे यह भी एक कारण था।

कई नामी-गिरामी साहित्यकार आपके घनिष्ठ सम्पर्क में रहे किन्तु जीवन-प्रकाश जोशी की कृतियों को छोड़कर कोई 'जेनुइन' किताब आपके कृतित्व पर नहीं लिख गयी। इसकी वजह क्या हो सकती है ?

हिन्दी साहित्य में मैं 'आउटसाइडर' समझा जाता रहा हूँ। मैं अंग्रेजी से हिन्दी में आया। थीसिस भी मेरी अंग्रेजी में ही थी। साहित्यिक शिविरों और गप्प-गोष्ठियों से भी मैं दूर ही रहा। इन कारणों के अलावा मेरी कविता की तीव्र संवेदना भी आलोचकों को मेरी कविता पर लिखने से रोकती रही है। जिस कविता से आप अभिभूत हो जाते हैं, उस पर आप आलोचना नहीं लिख सकते। आलोचना के लिए तटस्थता जरूरी है।

'निशा निमन्त्रण' के गीतों की अनुभूति के साथ बहनेवाला उसकी समीक्षा नहीं लिख सकता। यही वजह है कि मैं कोर्स में भी नहीं रहा और मैंने अपनी कृतियों का विज्ञापन भी कभी नहीं किया। फिर भी मेरी कृतियों के दर्जनों संस्करण निकल चुके हैं। यों मुझ पर श्यामसुन्दर घोष और चन्द्रदेव सिंह ने पुस्तकें लिखी हैं, किन्तु जोशी ने बेहतर एवं व्यवस्थित ढंग से काम किया है। मगर उनके काम को भी सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

ऐसा आप किस आधार पर कह सकते हैं।

दरअसल जोशी ने मेरी कविता पर काम मेरी जीवनी के प्रकाशन से पहले किया है। जीवनी में मैंने अपने कवि के सन्दर्भसूत्र उजागर किये हैं, जिनकी रोशनी में जोशी को मेरी कविता का चेहरा बदला हुआ नज़र आयेगा। इसलिए उनके काम को सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

मुझे याद आया कि बच्चनजी ने कहीं लिखा है कि अच्छी कविता अपना रहस्य धीरे-धीरे खोलती है—प्रेमिका की तरह। मैंने उन्हें उनकी सूक्ति याद दिलायी और कहा, इसका मतलब यह हुआ कि मैं आपकी कविता का जो अर्थ आज ग्रहण करता हूँ, वह उस अर्थ से भिन्न है जो आज से पच्चीस वर्ष बाद मुझ तक पहुँचेगा। जवाब मिला—हाँ, अगर उस कविता में जिजीविषा होगी तो।

हिन्दी के अधिकांश चर्चित साहित्यकार फिल्मों में लिखना चाहते हैं। कमलेश्वर आदि लिख भी रहे हैं। आपने इस माध्यम को क्यों नहीं अपनाया ?

आदर्शवादिता एक कारण हो सकती है। 1954 में इंगलैण्ड से लौटने पर मुझे फ़िल्मों में गीत लिखने के आफ़र मिले थे। एक फ़िल्म के लिए गीत लिखकर

उन दिनों, मैं एक कार खरीद सकता था। मुझे पैसों की जरूरत भी थी। किन्तु मैंने सभी आफर ठुकरा दिये। मुझे गीत लिखने के लिए उत्स चाहिए था, अर्ज चाहिए थी, रुपया नहीं। कृत्रिम परिस्थितियों से मजबूर होकर फिल्मों के लिए लिखना मेरे बस की बात नहीं है। हिन्दी या साहित्य सेवा के लिए भी मैंने कभी नहीं लिखा। संगीतकार जयदेव ने फिल्म 'आलाप' में जसूदास की आवाज में मेरा गीत 'कोई गाता, मैं सो जाता' लिया है। फिल्म-लेखन से मेरी कीर्ति में, अब क्या कुछ इजाफा हो सकता है?

मैं उनके सवाल के उत्तर में खामोश रहा। वह मुस्कराये और गुनगुनाने लगे—'कोई गाता, मैं सो जाता।' वे गाते रहे मैं सुनता रहा। गीत खत्म होने पर कुछ क्षण मैं मौन साधे रहा फिर अगला सवाल उनसे पूछा।

क्या काफ्का की तरह साहित्य आपके अस्तित्व की बुनियादी शर्त है?

मैंने काफ्का को नहीं पढ़ा। इसलिए मैं काफ्का से अपनी तुलना नहीं कर सकता।

कविता के डिक्शन के बारे में आपके प्रतिमान क्या हैं?

डिक्शन के बारे में मैंने शायद ही कभी सोचा हो। डिक्शन से ज्यादा मैंने कवि के व्यक्तित्व के बारे में सोचा है। कवि का व्यक्तित्व उसकी कविता के डिक्शन को निर्धारित करता है—बशर्ते कि कविता सहज रूप में आये। सहज कविता में वचन-प्रवीणता या कृत्रिम कला नहीं होती। पन्तजी की कविता वचन-प्रवीणता की कविता है। उन्हें डिक्शन, डिक्शनरी से मिला है। डिक्शनरी को वह सिरहाने रखकर सोते हैं। जीवन को उन्होंने चिमटे से छुआ है। अंगारा उन्होंने हथेली पर नहीं रखा। शब्दावली उन्हें जिन्दगी से नहीं, किताब से मिली है। मैं शब्दावली जिन्दगी से लेता हूँ। सरल होना साधना है।

इस सन्दर्भ में भवानीप्रसाद मिश्र पर कुछ कहेंगे?

भवानी की कविता का डिक्शन, डायलागिक डिक्शन है। खड़ी बोली के 'रिद्म' को उन्होंने खूब पहचाना है।

कविता का कविताभ्यास से क्या सम्बन्ध है?

सहज अभिव्यक्ति हमेशा कविता नहीं होती। कुत्ते का भोंकना भी सहज है। मगर वह कला नहीं है। आपने सर्कस में किसी जिमनास्ट को देखा होगा। अपने जिस्म को सहजता से तोड़-मरोड़कर वह अपनी कला का प्रदर्शन करता है। किन्तु इस लचीलेपन को अर्जित करने के लिए उसका सालों का अभ्यास काम कर रहा होता है। यही बात कविता-कला पर लागू होती है। 'यू हैव टु मेक एफर्ट टु बी नेचुरल, टु द एक्सटेण्ट दैट योर एफर्ट शुड एपीयर टु बी एफ़र्टलेस'। यही साधना काव्याभ्यास कहलाती है।

कविता में विचार का क्या कोई अलग अस्तित्व है?

नहीं। कविता में विचार एवं भावना हमेशा विद्यमान रहते हैं। कभी भावना प्रबल होती है तो कभी विचार कविता पर हावी हो जाता है। भावना में बहना नदी में बहने की तरह है और बुद्धि का अनुसरण पहाड़ पर चढ़ने जैसा। भावना, विश्वास माँगती है और बुद्धि सतर्कता। अब समय बदल गया है। यह युग बौद्धिकता का है। इसलिए गीत को इण्टेलेक्चुअल पोयट्री ने विस्थापित कर दिया है।

कविता की समझ का अनुभव सम्पन्नता से क्या कोई सम्बन्ध है?

काव्यानन्द की अनुभूति की तीव्रता या कविता की समझ की गहराई इस बात पर भी निर्भर होती है कि अभिव्यक्ति किस स्तर पर काम कर रही है? यानी कि

वह मात्र सूचनात्मक है या सम्प्रेषण की खूबियों को लेकर चल रही है अथवा पाठक-श्रोता में कवि का अहसास जगा रही है। अभिव्यक्ति महान कविता में उद्बोधनात्मक (evocative) स्तर को छूती है । इसके लिए पाठक-श्रोता का कवि की तरह अनुभवसम्पन्न होना जरूरी है ।

कृति की सफलता आप इसमें मानते हैं कि वह लोगों को छेड़े, परेशान करे, बेचैन करे—इस दृष्टि से आपकी कौन-सी रचना आपको सर्वाधिक प्रिय है ?

'मधुशाला' एवं 'निशा निमन्त्रण'। मेरे युग में उल्लास जितना ऊँचा उठ सकता था, 'मधुशाला' में उठा और अवसाद जितना नीचे जा सकता था, 'निशा निमन्त्रण' में गया। दोनों कृतियाँ लम्बे समय तक जीवित रहेंगी। इन दोनों कृतियों में जिजीविषा है। अन्ततः पाठक को इनकी जरूरत काफी अर्से तक महसूस होती रहेगी।

जिजीविषा से आपका क्या अभिप्राय है ?

वह कौन-सी ताकत है कि कालिदास की रचनाएँ डेढ़ हजार वर्षों एवं शेक्स-पियर की कृतियाँ चार सौ साल बाद भी जिन्दा हैं ? महान कविता में जीने का इच्छा बल होता है—will to live । भिन्न काल खण्डों में भिन्न पाठकों को इसके अलग-अलग अर्थ आकर्षित करते हैं ।

कालिदास, शेक्सपियर से 1200 साल पहले कालजयी साहित्य लिख चुके थे। इसके बावजूद अक्सर यह क्यों सुनायी पड़ता है—कालिदास हिन्दुस्तान के शेक्सपियर हैं ?

इसका सीधा सम्बन्ध मानसिक गुलामी से है।

अकविता और अगीत के बारे में आपकी राय ?

रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से बंगला कविता को मुक्ति दिलाने के लिए कुछ कवियों ने अश्लील शब्दावली का सहारा लिया था। यह जरूरी था वर्ना बंगला कविता 'स्टैगनेट' हो जाती। हिन्दी की अकविता का उद्देश्य भी कविता के चालू साँचों को तोड़ना था। जिस प्रकार नवगीत, नयी कविता की प्रतिक्रिया है, उसी प्रकार अगीत अकविता की प्रतिक्रिया मात्र है।

हाल ही में आपके समूचे गद्य लेखन पर जोशीजी की आलोचनात्मक पुस्तक 'गद्यकार बच्चन' के शुरू में एक सूक्ति है'''गद्यं कवीनाम् निकषं वदन्ती। इस पर आप कुछ कहना चाहेंगे ?

पुराने लोगों की कही हुई बात हैं। इसमें अनुभव है। इसलिए मैं इसे मान लूंगा। गद्य में स्वतन्त्रता है, कविता में बन्धन। अभिव्यक्ति के जो गुण कविता में स्पृहणीय हैं, वही गद्य के लिए भी स्पृहणीय हैं।

जीवन जीना अपने आप में काफी है'''ऐसा आपने कहा है। इससे आपका अभिप्राय ? क्या सृजन भी जीने की प्रक्रिया मात्र है।

सृजन भी जीने का ही अंग है। लेकिन यदि सृजन न हो तो क्या जीवन जिया नहीं जाता ? बहुत-से लोग कविता जीते हैं, लिखते नहीं। वे कविता पढ़ते-सुनते हैं। कविता जिन्दगी की जरूरत है, फर्ज नहीं। जीवन जीना अपने-आप में बहुत बड़ी चीज है। 'कॉस्मॉस' आपसे क्या काम लेना चाहता है, आप कैसे जान सकते हैं ?

आपात्कालीन स्थिति के दौर में अच्छे साहित्य की रचना नहीं हो सकती ?

राजनीति दरअसल 'राजनीति' है। इसे सही-सही समझ पाना आम आदमी के लिए कठिन है। अतः शीघ्र ही कुछ भी राजनीतिक निर्णयों और आपात्कालीन

स्थितियों के बारे में नहीं कहा जा सकता। आपात्कालीन स्थिति को अनुशास पर्व की संज्ञा देकर विनोबाजी ने बहुत बड़ी बात कही थी। ऐसे दौर में वेह अच्छा साहित्य रचा जा सकता है। समर्थ कवि हर दौर में अपनी बात कहता है असमर्थ लोग शिकायत करते फिरते हैं। अकबर के जमाने में भी तुलसीदास अपनी बात कही ही थी।

आपात्कालीन स्थिति में साहित्य का दाय ?

अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करना साहित्य का फर्ज है, किन्तु असामा परिस्थितियों में समाज के अनुशासन को समझना एवं स्वीकारना जरूरी है आपात्कालीन मानस को समझकर, आपद्धर्म को अपनाकर मानस को सही रा पर लगाना ही इमरजेन्सी में साहित्यकार का दाय हो सकता है।

प्रश्न मेरे उत्तर बच्चन के*

प्रश्न---आपने अपनी आत्मकथा के प्रथम भाग 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में बहु ही साहसपूर्वक चम्पा के साथ अपने सम्बन्धों का उल्लेख किया है। विशेषत पृष्ठ 214 के प्रसंग को पढ़कर आलोचकों ने पूछा भी है कि आपने कोकशास् लिखा है अथवा पातक कथा ? पर मैं आपकी इस मान्यता से सहमत हूँ कि "ईमानदारी आत्मकथा की पहली शर्त है।" सच्चाई तो सच्चाई ही है, उ नैतिकता से बाँधना अनुचित है। इस सन्दर्भ में मैं जानना चाहती हूँ कि तेजी जी से विवाह के पश्चात् सुहागरात आदि के वर्णन के सन्दर्भ में जब आप य लिखते हैं कि हर बात को गद्य वहन नहीं कर सकता, पाठक यहाँ 'मिल यामिनी' खोल लें---तो क्या दोहरे मानदण्ड नहीं अपनाते ? चम्पा-प्रसंग क गद्य वहन कर सकता है तो तेजी-प्रसंग को क्यों नहीं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि चम्पा-प्रसंग को आप गद्य में इसलिए ढाल पाये कि उससे आपकी 'बोल्डनेस प्रमाणित होती है एवं तेजी-प्रसंग में आप इसलिए मौन हो गये कि व अशोभनीय होता ? ये दुहरे मानदण्ड क्या आत्मकथा की नैतिकता के समक्ष प्रश्नचिह्न नहीं लगाते ?

उत्तर---ऐसा करना दोहरा मानदण्ड अपनाना लग सकता है। पर समय, परिवेश और मनःस्थिति बदल जाने से सर्जक शायद 'मानदण्ड' बदलना आवश्य समझता हो। यह बदलाव भी उतना सचेतन में सम्भवतः न हो, जितन अवचेतन में। सृजन की नैतिकता और समाज की नैतिकता में कुछ अन्तर तो मानना होगा। सृजन की नैतिकता वस्तुतः जीवन-प्रवाह की नैतिकता है---और वह सामाजिक नैतिकता से परिसीमित नहीं।

प्रश्न---लोकशील का पालन करते हुए आपने ज्ञानप्रकाश जौहरी और उनकी पत्नी के सम्बन्धों पर बहुत ही संक्षेप में प्रकाश डाला है। परन्तु प्रकाशवती का वर्णन न केवल अत्यन्त विस्तृत है अपितु उन पर आक्षेप लगानेवाला भी है। 'प्रणय पत्रिका' के एक गीत में आपने लिखा है : 'पाप मेरे वास्ते है नाम लेकर आज भी तुमको बुलाना।' इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता

* साक्षात्कारकर्ता : कुमारी विभा सक्सेना, 1979

कि श्रीकृष्ण के प्रति आपके मन में सहानुभूति है। प्रकाशवती आपकी रचना से पूर्व और इस प्रसंग के पश्चात् एक सम्मानित महिला बन चुकी थीं। फिर उनके चरित्र का इस प्रकार अनावरण क्या लोकशील का उल्लंघन नहीं करता? क्या हम यह समझें कि जौहरी साहब आपके हितैषी थे, आपका गृहस्थ जीवन पुनः व्यवस्थित करने में उन्होंने सहयोग दिया था और प्रकाशवती ने आपके ग़लत भ्रमों को तोड़ा था, आपके दिल को आघात पहुँचाया था, इसी कारण यह भेद आपने बरता है। एक बात और। एक क्रान्तिकारी महिला से इस प्रकार की अपेक्षा कहाँ तक उचित थी? आप लिखते हैं कि वह बहुत कुछ छिपा सकती थी। फिर आप इतना सब कैसे जान पाये? अपनी ग़लती का फल आपको मिला—इस पर इतना आक्रोश क्यों?

उत्तर—मैंने लोकशील की उतनी ही सीमा मानी है जहाँ वह सच्चाई को विकृत न करे। परिस्थितियों के अनुसार, जिसका निर्णय लेखक का ही स्वत्वाधिकार है, यह सीमा कहीं ढीली भी की जा सकती है। उन सारे ब्यौरों में तो मैं न जाना चाहूँगा जिन्होंने कहीं मुझे सीमाओं को कसने और कहीं ढीली करने को प्रेरित या विवश किया है। इतना मान लूँगा कि लेखक की सच्चाई औरों की न भी हो।

प्रश्न—आपका एक गीत है—'तुम्हारे नील झील से नैन।' 'बसेरे से दूर' में आपने लिखा है कि यह गीत आपने उस समय लिखा जब रंगीन मौसम में आपको नैन्सी का सामीप्य मिला। 'नीड़ का निर्माण फिर' में आपने इस गीत के पीछे आइरिस की याद होने का उल्लेख किया है। कहीं ऐसा तो नहीं कि 'बसेरे से दूर' में आइरिस की याद को छिपाते हुए तेजीजी के प्रति अपनी निष्ठा ज़ाहिर करने में आपके मन में 'बीत गयी सो बात गयी' वाली वृत्ति रही हो? जो हो, इस प्रकार आप तेजीजी के प्रति भले ही अपनी निष्ठा का प्रदर्शन कर पाये हों, आत्मकथा की प्रामाणिकता इससे सन्दिग्ध हुई है। क्या मेरी इस प्रतिक्रिया से आप सहमत हैं?

उत्तर—सृजन के क्षण में कहाँ-कहाँ के संस्कार, सम्बन्ध (Association), स्मृतियाँ जग-मिलकर बोलती हैं इसे बताना बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिकों के लिए भी सहज नहीं है। सर्जक स्वयं उनसे अचेत रहता है। परिपूर्ण सृजन के क्षण में चेतन, अवचेतन और अतिचेतन का कितना योगदान होता है यह सर्जक के सिवा दूसरा अनुभव नहीं कर सकता।

प्रश्न—'प्रवास की डायरी' में आप लिखते हैं कि डैनिस आपकी कविताओं से इतना प्रभावित हुआ कि उसने लिखा: "It seems to me that something of the spirit of Gandhiji lives in you and finds expression in a very individual way wholly your own in your poetry and thought." इस कथन के बाद आपकी टिप्पणी है कि शोधार्थी इस बात को नहीं समझ पाते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आप बहुत धीमे से स्वयं को गांधीवादी विचारधारा का घोषित करना चाह रहे हैं। पर आप तो दावा करते हैं कि आपने अपनी कविताओं में निजी जीवनानुभवों को ही अंकित किया है, फिर यह गांधीवाद कहाँ से आ गया?

उत्तर—डैनिस ने Spirit of Gandhiji कहा था, यह गांधीवाद और गांधी-विचारधारा का पर्याय नहीं है। गांधी की Spirit ने अपने युग में एक-एक व्यक्ति को इतना Change किया था कि एक अर्थ में उससे उनका हत्यारा

नाथूराम गोडसे भी मुक्त नहीं था। जीवन के निजी से निजी अनुभव भी अपने युग परिवेश की छाया से अपने को बचा नहीं सकते।

प्रश्न—क्षमा कीजिएगा, एक नितान्त व्यक्तिगत प्रश्न पूछने की धृष्टता कर रही हूँ। आपने अपनी जीवनानुभूतियों से प्रेरित होकर काव्य रचना की है। अपने मनोविज्ञान का यत्किंचित विश्लेषण भी आपने किया ही होगा—तभी तो आपने यह कहा है कि आप में अन्तर्निहित नारी प्रबल है···। एक बात बताइये। आपके जीवन में जब भी कोई नारी आयी आप यह क्यों मान बैठे कि वह आपका प्यार पाने की आकांक्षिणी ही थी? क्या प्रेम के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता? आपके मस्तिष्क में चम्पा-कर्कल-बच्चन का त्रिकोण इतनी गहराई से जम गया है कि आप सभी को इसी त्रिकोणी-फ्रेम में फिट करना चाहते हैं। श्यामा से विवाहित होने के बावजूद प्रकाशो की ओर आकृष्ट होना, एक क्रान्तिकारी महिला के आपके घर में शरण पाने के लिए रचे गये ढोंग को सच मान बैठना और यथार्थ सामने आने पर उसके चरित्र को अशोभनीय ढंग से चित्रित कर प्रतिशोध लेना, आइरिस की ओर आकृष्ट होना, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और उनकी पत्नी के बीच स्वयं को देखना, उमा-आदित्य के बीच अपनी उपस्थिति का अहसास होना, श्यामा और अपने बीच मुक्तजी की उपस्थिति मानना, चम्पा-कर्कल के बीच उपस्थित रहना और तेजीजी की ओर अन्धगति से भागना एवं ओदेत का आकर्षण अनुभव करना—यह सब मनोवृत्ति का कोई असामान्य रूप तो नहीं है।

उत्तर—पुरुष-स्त्री का हर आकर्षण यौनाकर्षण होता है, इसे आधुनिक मनोविज्ञान ने माना है—फ्रायड का नाम इस खोज से सम्बद्ध है। भारत के मनीषियों ने तो अधिक खुले शब्दों में हज़ारों बरस पहले यह कहा था कि पुरुष को देखते ही स्त्री की योनि गीली हो जाती है। (शायद यह कभी महाभारत में मैंने पढ़ा था —शब्दावली में थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो सकता है —अब मुझसे पर्व, अध्याय, श्लोक संख्या न पूछें—खोजना मेरे लिए सम्भव नहीं—पर कोई खोजना चाहेगा तो मेरी बात को झूठ नहीं पायेगा।)

मेरे चेहरे में देखने को क्या है ?*

डॉ. हरिवंशराय 'बच्चन' का निवासस्थान, बम्बई में अमिताभ बच्चन का मकान। बच्चन से हमारी बातचीत।

प्रश्न—इस बार आपने अपना 73वाँ जन्मदिन कैसे मनाया?

उत्तर—बहत्तर शीत बसन्त दिखे भाग्य में कितने और लिखे?

मेरे पोते पोतियाँ यहाँ आ गये थे। मेरी पत्नी तो यहाँ आजकल है नहीं। घरवालों ने कुछ उपहार दिया। फिर हम लोगों ने बैठकर खाना-वाना खाया और इस तरह से जन्मदिन मन गया। और तो कोई खास नहीं। मैं

* साक्षात्कारकर्ता : हरेन्द्रसिंह भदौरिया, 1980

जन्मदिन पर बहुत उत्सव वगैरा मनाने के पक्ष में नहीं हूँ। निजी तरीके से मनाना चाहिए, यह ज्यादा अच्छा होता है, अपने परिवार के लोगों के साथ।

प्रश्न—आजकल आपकी दिनचर्या कैसी होती है ?

उत्तर—दैनिक दिनचर्या अब क्या हैं ! सिवाय इसके कि सुबह उठकर अपना घूम-घाम आये। अब कभी पाँच बजे या कभी छह बजे जागता हूँ। फिर उठकर घूमघाम आये। आकर नहाया-धोया। पूजापाठ किया, नाश्ता किया, फिर आप बैठे हैं, एक रिकार्ड करने के लिए। कोई नहीं होता, तो बैठकर अपना पढ़ते-लिखते हैं और फिर खाना-वाना खाकर सो जाते हैं। शाम को उठे, फिर थोड़ा घूमे-फिरे, किताबें आदि पढ़ीं। चिट्ठी-पत्री आती हैं, उसका जवाब वगैरा दिया।

प्रश्न—'दुख सुख सो बीती सो बीती
याद न कर बरबाद बही को'

यह आपने, अपने पत्र में मुझे लिखा है। इसका सादर स्पष्टीकरण चाहूँगा।

उत्तर—यह तो बहुत साधारण-सी बात है। जीवन में सुख-दुःख तो आते ही रहते हैं। उनकी स्मृति को, भार बनाना कोई बहुत अच्छी चीज नहीं है। उनको भूलते रहना चाहिए। विगत को बिसराइए। भविष्य अभी आया नहीं है। वर्तमान में जीना चाहिए। वर्तमान को ठीक करेंगे, तो उससे भविष्य भी बन जायेगा, और भूत भी ठीक रहेगा। लड़कपन में मैंने यह पढ़ा था, जानकीदास एक सन्त हुए हैं, उन्हीं की एक पंक्ति मैंने लिख दी थी—

बार-बार समझाय रही मैं
मान ले रे मन, मेरी कही को।
दुख-सुख सो बीती सो बीती
याद न कर बरबाद बही को।
जानकिदास सुमिरि श्री रघुवर
गयी सो गयी अब राख रही को।

प्रश्न—आप अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से विश्व के सम्मुख पूर्णरूपेण प्रस्तुत हो चुके हैं। इतने खुलकर पेश आने के बाद आपको किसी परेशानी का सामना तो नहीं करना पड़ा। यदि, हाँ तो कैसे ?

उत्तर—बात ये है कि जीवन कोई 'वेक्यूम' में तो होता नहीं। व्यक्तियों से सम्बन्ध तो होता ही है। और जिनसे सम्बन्ध आपके हो जाते हैं, उनके बारे में बिना कुछ कहे आप अपनी बात नहीं कह सकते। स्वाभाविक है कि हर एक आदमी ने, अपनी एक तसवीर बना रखी है। जब उस तसवीर के खिलाफ ज़रा भी बात होती है, जिनके बारे में आप लिखते हैं, तो उनको तकलीफ होती है। मेरी आत्मकथा में भी बहुत-सी ऐसी बातें हैं। कुछ लोग तो मर-मरा गये। वे अब क्या शिकायत करने आयेंगे? हालाँकि, कोशिश मैंने यही की है कि जिनके बारे में भी कहूँ, जो कुछ भी सच्ची बातें हैं, वे ही कहूँ, और जो लोग जीवित हैं, उनके बारे में बहुत सन्तुलन से कहूँ। कुछ लोगों को बुरा लगा जरूर और उन्होंने कुछ शिकायत भी की। आपने मेरी आत्मकथा देखी होगी। उसमें मैंने नामों को हटाने का पूरा प्रयास किया है। मैं नामों को नहीं दे रहा हूँ। क्योंकि नाम आप दीजिए, तो वे समझते हैं कि, हमारे बारे में एक अलग ढंग से जैसे हमको बदनाम करके, हमारी सूरत-शक्ल जो बनी हुई है, उसको गिराने के लिए या उसको खराब करने के लिए,

ये लिख रहे हैं। मगर, ऐसा मेरा ध्येय नहीं है। क्योंकि उनके बारे में न कहूँ, तो अपने बारे में भी नहीं कह सकता। मेरा उनका जीवन बँधा हुआ है। और मैंने उन्हीं लोगों के लिए कहा भी है, जिनके साथ मेरा जीवन बँधा हुआ है। ऐसे बहुत-से लोग आये-गये। उन बातों से लोगों के बारे में कुछ नहीं कहा मैंने। बल्कि बहुत-से लोगों को शिकायत है, कि हम तो आपके जीवन में, इतने समय में ऐसे-ऐसे आये और आपने मेरे बारे में कुछ भी नहीं लिखा। मैंने कहा—भाई ! सबके बारे में कहाँ तक लिखूंगा। फिर तो दुनियाभर का इतिहास हो जायेगा। मैं तो लाखों लोगों के सम्पर्क में आया हूँ। यह लिखने के बाद, मैंने इस बात का अनुभव किया है कि आत्म-कथा लिखना बहुत ही कठिन काम है। क्योंकि जिनके बारे में आप जो लिखते हैं, वे लोग अपनी जो शक्ल बनाये हुए हैं, उससे अलग शक्ल नहीं चाहते हैं। और बिना दूसरों के बारे में कहे हुए, अपने बारे में आप कह भी नहीं सकते। अपने बारे में आप कितनी बातें कहेंगे। जीवन तो सम्पर्क से चलता है न !

प्रश्न—आप अपने समय के लेखकों तथा नये हिन्दी लेखकों में आज क्या अन्तर या बदलाव पाते हैं ? राजनैतिक उथल-पुथल का क्या उन पर कोई प्रभाव पड़ा है ?

उत्तर—हर एक लेखक अपने युग से प्रभावित तो होता ही है। क्योंकि समय से प्रभावित होना ही चाहिए। और होना उसके लिए अच्छा भी है। युग के प्रति सचेत होना ही चाहिए। अब जो समसामयिक लेखक होते हैं, उसमे तरह-तरह की बातें होती हैं। कुछ से प्रेम हो जाता है। कुछ से प्रतिस्पर्धा हो जाती है। और कुछ से ईर्ष्या द्वेष भी हो जाता है। तो ये तीनों तरह के सम्बन्ध होते हैं। जितने भी साहित्यकार हैं, वे ये जानते हैं। कुछ साहित्यकार ऐसे होते हैं, जो उनके मित्र बन जाते हैं। उनको आपकी उन्नति-प्रगति में खुशी होती है। कुछ को स्पर्धा है कि आप ऐसा लिख रहे हैं। मैं आपसे बढ़कर लिखूंगा। ये भी एक अच्छी चीज है। मगर नीचे स्तर पर ईर्ष्या-द्वेष भी हो जाता है, एक दूसरे को गिराने का प्रयत्न। ऐसा हमेशा से चलता रहा है। हमारे देश में ही नहीं, संसार के सभी देशों में ऐसा होता रहा है। मैं तो संसार के बहुत-से देशों के साहित्य के इतिहास से परिचित हूँ। ये, मैं जानता हूँ कि दुनिया के सभी साहित्यकारों का, ऐसे लोगों से सम्पर्क होता है।

हर कोई लेखक जो बड़ा होगा, उसकी अपनी एक विशिष्ट शैली तो होगी ही। और इसके कारण ही अलग से जाना जाता है। भाई ! इतना न हो तो, उसके लिए लेखक होना ही बेकार है। अगर सभी की तरह सभी लोग लिखने लगें तो फिर यह एक बहती हुई धारा है। उसमें पता भी नहीं लगेगा, कि कौन क्या लिख रहा है। बच्चनजी अलग लिख रहे हैं। पन्तजी अलग लिख रहे हैं। निरालाजी अलग लिख रहे हैं। ये सब लोग अलग-अलग तरीके से लिख रहे हैं। उनकी अपनी अलग-अलग विशिष्टता होती है, लिखने की। उनका व्यक्तित्व उनमें झलकता है।

लेखकों पर राजनैतिक उथल-पुथल का प्रभाव जरूर पड़ता है। मगर कुछ लेखक हैं, वे इसके प्रभाव को अपने सृजन में अधिक लाते हैं। कुछ इसको दबाकर रखते हैं और इसकी उपेक्षा भी कर सकते हैं। बहुत-से ऐसे लेखक हुए हैं। यह हिन्दुस्तान में ही नहीं है। और देशों के इतिहास को भी मैं जानता हूँ। उन्होंने अपने समय की किसी घटना का जिक्र नहीं किया। ईट्स के बारे

में कहा जा सकता है, मगर उनको, राष्ट्रीय कवि नहीं कह सकते, हालाँकि वे अपने समय की बहुत-सी उथल-पुथल से गुजरे। मगर वे राजनैतिक कवि नहीं हैं। अपने देश की हवा, पानी, चिड़िया, फल-फूल के प्रति ही ये सचेत रहे हैं। इनको आप कह सकते हैं कि ये आइरिश पोयट यानी आयरलैण्ड के कवि हैं। मगर ये राजनैतिक घटनाओं का भी जिक्र करते चलें, ऐसा उनका कोई आग्रह नहीं है। और आप मेरे लेखों में भी ऐसा ही देखेंगे। हर एक राजनैतिक घटना को, प्रतिबिम्बित करना मेरा ध्येय नहीं रहा है। राजनैतिक घटनाओं के बीच में एक मेरा भी अपना जीवन चल रहा है। उसके भाव, उसके अनुभव, उसके विचार, समय की जो धारा है, इन सबका उस पर (लेखक पर) एक प्रभाव आता है। और उसकी प्रतिच्छाया पड़ती रहती है।

प्रश्न—आज हम अपने बीच तेजी से गिरते जीवन-मूल्यों की नब्ज को कहाँ टटोलें ? क्या सुधार सम्भव है ?

उत्तर—सुधार बहुत-से सम्भव हैं। सुधार करनेवाले लोग भी होते हैं। लेकिन लेखक से मैं यह प्रत्याशा नहीं करता कि वह कुछ ऐसा काम करेगा, ऐसा कुछ लिख देगा, जिससे संसार कुछ बदल जाये। लेखक को अपनी सीमाएँ भी समझनी चाहिए। कवि को अपनी सीमाएँ समझनी चाहिए। प्रत्याशा तो उससे बहुत कुछ की जाती है, जैसे युग को बदल देगा। ऐसा कम-से-कम मैं तो नहीं समझता। क्योंकि, कवि का प्रभाव किनके ऊपर पड़ता है ? केवल उन पर, जो पढ़े-लिखे हैं। अपने देश में पढ़े-लिखे लोग कितने हैं ? पढ़े-लिखे लोगों में हिन्दी पढ़े-लिखे लोग कितने हैं ? हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों में कितने ऐसे लोग हैं, जिनको साहित्य से प्रेम है ? कितने ऐसे लोग हैं जो किताबें लेकर (खरीदकर या जुगाड़ करके) पढ़ते हैं ? तो लेखक का क्या असर हो सकता है ? हिन्दी की किताबें कितनी छपती हैं ? मुश्किल से दो हजार छपती हैं। यहाँ साठ करोड़ की जनता में दो हजार किताबें पढ़ी भी गयीं, तो उससे क्या प्रभाव पड़ता है ? उससे कोई क्रान्ति हो सकती है ?

हाँ, राजनैतिक नेता हैं, सुधारक हैं, धर्मप्रचारक हैं, जो घूम-घूमकर अपना प्रचार करते हैं, अपनी वाणी के द्वारा अपने सन्देश पहुँचाते हैं। उनके अपने प्रचार के तन्त्र हैं। उनके जरिये कोई क्रान्ति वे ला सकते हैं। हाँ, इससे हम लोग भी प्रभावित होते हैं। हम ये कहें कि हम अपनी कविता से इस देश को बदल देंगे, गलत बात है। कवियों ने कभी देश को नहीं बदला। हाँ, संस्कृति के ऊपर कुछ उसका प्रभाव पड़ता है। अगर कवि में कुछ स्थायी भाव हैं, स्थायी गुण हैं तो वे संस्कार को बदलते हैं। उस संस्कार का प्रभाव राजनीति पर भी होता है। मगर तुलसीदास ने अकबर का राज तो नहीं उलट दिया।

प्रश्न—आज राजनैतिक पैंतरेबाजी के रुख के अनुसार लिखी जा रही पुस्तकें क्या पाठकों को दिग्भ्रमित नहीं कर रहीं ? क्या ऐसी पुस्तकों को, आप साहित्यिक उपलब्धि की संज्ञा देंगे ?

उत्तर—देखिए, यह कहना बहुत मुश्किल है, कि कौन-सी किताबें आगे के समय में ठहरेंगी। बात ये है कि आजकल लिखना और छपाना, बहुत आसान हो गया है। पहले जमाने में ऐसा होता था कि लेखक समझता था कि हमें कुछ देना है, वह बहुत श्रम के साथ लिखता था। लिखना एक श्रमसाध्य कार्य है। मगर, आजकल छपना बहुत आसान है। संसार क्या करेगा ? धरती

क्या करेगी ? वह कितना भार अपने ऊपर उठायेगी। तो यह सब नष्ट होता रहता है। और, ये नष्ट होना जरूरी है। बहुत जो कुछ लिखा जाता हैं, अखबार में रोज लिखा जाता है, "मैगजीन्स' छपती हैं, किताबें छपती हैं। अगर ये सब 'प्रिजर्व' रहे, तो मेरा ख्याल है, धरती इन्ही के भार से दब जायेगी। धरती बहुत होशियार है। वह मारती रहती है। कागज को कूड़ा बनाती रहती है, अगर ऐसा कोई लेख है, जो कूड़ा होने के लिए आया है, रोज का अखबार होता है, सुबह पढ़ते हैं, शाम को कूड़ेदान में फेंक देते हैं। अखबार को छापने के लिए कितने लोग होते हैं। रात भर मेहनत होती है। सुबह दो घण्टे का मनोविनोद, उसके बाद उसे लोग फेंक देते हैं। इसी तरह जिस तरह अखबार है, उसी तरह अखबार की कोटि की बहुत-सी पुस्तकें लिखी जाती हैं, उनको आपने देखा और देखकर फेंक दिया। बहुत-सी किताबे हैं। उनका क्या साहित्यिक महत्त्व है। जीवन के तत्व, जीवन के अनुभव, जीवन के मूल्य जिनके लिए जरूरी हैं, वे तो फिर से छपती रहेंगी। उनमें जो मुख्य होगा वह बचा रहेगा।

प्रश्न—आज आप अपने जीवन की उपलब्धियाँ तथा साहित्य-सृजन से कहाँ तक सन्तुष्ट हैं ? अगली कौन-सी ऊँचाई छूने की कामना है, आप में ?

उत्तर—देखिए, बात ये है कि सन्तोष जो है, वह मनुष्य को दिया ही नहीं गया। और असन्तोष में ही उसकी सारी प्रगति मौजूद है। जब चीजों से असन्तोष होता है तभी आप कुछ लिखते हैं। कुछ बनना चाहते हैं। आपके चारों तरफ परिस्थितियाँ हैं। उससे आप असन्तुष्ट हैं। इस असन्तोष से आप आगे बढ़ते हैं। अब मैं तिहत्तर वर्ष में पहुँच गया हूँ। मैंने जो कुछ भी किया है, उससे सन्तोष ही हो जाना चाहिए। क्योंकि, मैं जानता हूँ, मैं बहुत दिनों तक काम नहीं कर सकता। काम करने की क्षमता; मुझमें खत्म हो गयी है। अब सन्तोष कर लेना चाहिए कि, मुझ में जो योग्यता, क्षमता थी, उसका मैं पूरा उपयोग कर चुका हूँ, और मुझे उससे सन्तोष होना ही चाहिए।

प्रश्न—'अब तो दूसरों की दृष्टि से अपने को देखने का समय बीत चुका', यह उक्ति, जिसे आपने मुझे अपने पत्र में लिखा है, यह किस मनोभाव में आपने लिखी ?

उत्तर—इसके मायने ये हैं कि पहले शुरू-शुरू में आदमी जब जीवन में आता है, तब वह जानना चाहता है कि दूसरे लोग क्या राय रखते हैं। अगर हमने कोई कविता लिखी तो जानना चाहते हैं कि आपकी राय क्या है ? आप इसकी प्रशंसा करते हैं कि नहीं। और आपकी प्रशंसा से हमको सन्तोष होता है। जो नये लोग आते हैं, दूसरों को अपनी कविताएँ दिखाते हैं अखबार में उनकी तारीफ छप गयी, तो उनको बड़ी खुशी होती है। लेकिन, एक समय ऐसा आता है जबकि आदमी इसके ऊपर निर्भर नहीं रहता। दूसरों की राय से हम कहाँ तक प्रसन्न होंगे ? अपना भी कोई मूल्य होता है। कोई चीज अगर मैं लिखता भी हूँ; तो ऐसी अन्धी दृष्टि मेरी नहीं है कि जो मैं समझूँ कि ये कालिदास के जोड़ का लिखा हुआ है या कालिदास की टक्कर का है। अब मैं उसका मूल्यांकन खुद कर लेता हूँ। यही मेरा मतलब था। अब दूसरे मेरा मूल्यांकन करें, तब मैं अपना मूल्य समझूँ, ऐसा नहीं है। अपना मूल्यांकन मैं स्वयं कर लेता हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरी 'वर्थ' क्या है। मेरी योग्यता क्या है। मेरी कीमत क्या है। इसे मैं

जानता हूँ। आप बहुत कहें कि आप बहुत बड़े कवि हैं, तो मैं कहूँगा कि यह आपका अज्ञान है। मुझे खुशी नहीं हो सकती। क्योंकि मैं अपना मूल्य जानता हूँ। न अपना मूल्य घटाना है, न अपना मूल्य बढ़ाना है। अगर आकर कोई मेरी बुराई भी करे तो मैं जानता हूँ कि मेरे अन्दर ये बुराई है नहीं तो मैं क्यों बुरा मानूँ। यही मेरा मतलब है।

प्रश्न—आपको बम्बई का प्रवास सुहाना, रुचिकर लगा कि दिल्ली का। आखिर किन कारणों से ?

उत्तर— बात ये है कि ये जीवन का चौथा भाग है, अन्तिम भाग है। लड़के आकर यहाँ व्यवस्थित हो गये हैं। उन्हीं के साथ अब रहना है और अब कितने दिन रहना है।

जहाँ तक हो सके उनके साथ अब रहना चाहिए। इस दृष्टि से मैं यहाँ आ गया हूँ। अच्छा लगता है। अपने बेटे-बहू, पोते-पोतियों के साथ रहता हूँ। ये भी एक सुख है।

प्रश्न—एक बहुत ही व्यक्तिगत प्रश्न।

उत्तर—हाँ, बोलिए-बोलिए, मैं गोल कर जाऊँगा। हँसी के साथ।

प्रश्न —मधुशाला के मराठी अनुवाद के विमोचन हेतु आपका तथा जया का पूना आगमन हुआ था। आपको, एक ताक में रखकर भीड़ जयाजी की तरफ टूटी पड़ रही थी। फिल्म प्रीमियर हो तो ठीक है। लेकिन ऐसे साहित्यिक समारोहों में एक वरिष्ठ हिन्दी के दिग्गज की उपेक्षा क्या शोभनीय थी ? यह सब देखकर आपको कैसा लगता है ?

उत्तर—मैं इसको उपेक्षा नहीं समझता। भाई, आजकल जो हवा चल रही है, उसमें सिनेमावालों के लिए अधिक आकर्षण हैं। क्योंकि जो सिनेमा का एक्टर है, उसका अपना चेहरा है। और, कुछ तो है नहीं। जब चेहरा निकल गया तब और कुछ नहीं है पाने को। और कवि के पास तो बहुत कुछ है। यानी मैं चला भी जाऊँगा, तो लोग मेरी कविताएँ पढ़ेंगे। जया को तो उसी वक्त लोग देख लेंगे।

उसके बाद, वे जब चली जायेंगी तो उनके पास कुछ नहीं है। सिवाय इसके कि लोग उन्हें पर्दे पर देखें। लेकिन जब मैं हूँ, तो इस बात को तो लोग समझते हैं, कि इनकी तो कविताएँ हैं। इनको तो बाद में भी पढ़ सकते हैं। मेरे चेहरे में देखने को क्या है। चेहरा तो बहुत अच्छा नहीं है। मगर कविताएँ ज्यादा अच्छी हैं, तो वे कविताएँ पढ़ते हैं। जिनके पास सिर्फ चेहरा है, वे चेहरा ही दिखायेंगे। आप मुझे देख लेंगे तो क्या पायेंगे। मगर कविता पढ़ेंगे, तो शायद ज्यादा पायेंगे। मगर अभिनेता का तो सिर्फ चेहरा है।

अमिताभ : मेरे जीवन की कविता*

मेरा बेटा तो एक करिश्मा है। अभी मैं बंगलौर में एक लेख पढ़ रहा था, 'अमिताभ : व्हाट आर यू डूइंग टु अवर चिल्ड्रेन' (अमिताभ, तुम हमारे बच्चों पर

* साक्षात्कारकर्ता : नेमिशरण मित्तल, 1982

क्या जादू डाल रहे हो) ! दो कालम का यह लेख एक दैनिक में निकला है। न जाने कितने माता-पिता ने अपने बच्चों के बारे में लिखा है कि चार-चार वर्ष के बच्चे भी अमिताभ को चाहते हैं, और न जाने कितने बच्चों को कहें कि अमिताभ यह खाना खाता है तो वे वह खाना खा लेंगे और कहते हैं कि अमिताभ को हम तुमसे मिला देंगे, तुम यह काम करो तो वे कर देते हैं। क्या है उस (अमिताभ) में ? वह तो एक करिश्मा है।

असल में व्यक्ति बहुत छोटी चीज होता है। वह देखता है कि जन-जीवन का एक विशाल रूप उसके सामने खड़ा होता है। उसमें विद्रोह की भावना भी होती है। हमारे जीवन में न जाने कितनी बातें हैं जिनसे हमने विद्रोह किया, और आज मुझे सन्तोष है कि मैंने विद्रोह किया। उसका कुछ असर तो अमिताभ पर पड़ा ही होगा। और अमिताभ की सारी एक्टिंग का मुख्य आधार शायद रिबेलियस होना है, विद्रोही होना है।

टहनी पर बैठी गौरैया

उसके मन में एक विद्रोह है, और विद्रोह तब अधिक प्रबल होता है, जब वह संघर्ष झेल चुका होता है। समर्थ लोग कितने होंगे ! देखना तो यह है कि कितने बड़े फोर्स के सामने आप खड़े हो सकते हैं। मगर उसकी जेनुइननेस उसी समय प्रकट होती है जबकि फोर्स कितना भी बड़ा क्यों न हो, आप अपनी छोटी-सी ताकत से उसका विरोध करने के लिए खड़े हों। और, यह तो आपको मेरी कविताओं में बीसों जगह मिलेगा, रिबेलियन का, असरशन का, अपनी स्मालनेस के—अपने छोटेपन के बावजूद अपने अस्तित्व को जताने का—

टहनी पर बैठी गौरैया,
चहक-चहक कर कहती भैया,
नहीं कड़कते बादल का ही,
मेरा भी अस्तित्व यहाँ है।
अब घन-गर्जन गान कहाँ हैं ?

तो वह छोटी-सी गौरैया जो है, उसका भी अपना अस्तित्व है।

एक चिड़िया, चोंच में तिनका लिये जो जा रही है,
वह सहज में ही पवन उनचास को नीचा दिखाती है।

वह चुनौती देती है, तुम बिगाड़ो और मैं बनाती हूँ।

मेरा ख्याल है कि अमिताभ ने इस चीज को संस्कार से ग्रहण किया है, और अपनी कला से उसको प्रोजेक्ट भी करते हैं। आजकल हर आदमी यह महसूस करता है कि वह अपने चारों तरफ की भीड़ से छोटा है, मगर उसे भी खड़ा होने की जगह तो होनी ही चाहिए। वह कम-से-कम अपना विद्रोह तो दिखा ही सके। शायद इस चीज ने लोगों को प्रभावित किया हो।

मगर कलाकार को लचीला होना चाहिए

मगर फिल्मी अभिनेता के जीवन में अभिनय की कला का अपना अलग स्थान है। उसकी खूबी इसी बात में है कि वह जिस रूप में भी अपनी कला को ढालना चाहे ढाल दे, वरना वह स्टीरियो टाइप हो जाता है। कोई भी अच्छा अभिनेता टाइप नहीं होना चाहता। उसकी अपनी महत्त्वाकांक्षा होती है कि वह जितनी विविधता

पेश कर सकता हो, पेश करे। जितने भी कला के पक्षों को दे सकता हो, दे।

जीवन के पक्ष भी तो अनेक होते हैं। उनका तो कोई अन्त ही नहीं है। मैं अमिताभ के जीवन को देखते हुए कह सकता हूँ कि अमिताभ महज एक एंग्रीमैन नहीं, एक भावुक व्यक्ति, एक सहृदय व्यक्ति, एक रोमाण्टिक व्यक्ति भी तो है। जीवन के बहुत-से रूप होते हैं। और···मैं तो अभिनेता का अर्थ ही यह समझता हूँ कि अभिनय में उसका अपना व्यक्तित्व कुछ न हो। वह हर रूप में ढल सके। वह अपने अहम् को तिरोहित कर दे। मगर जो अभिनेता ईगोइस्ट (अहम्मन्य) होता है, वह तो अपना ही रूप प्रोजेक्ट करता है। अभिनेता अहम्मन्य नहीं हो सकता। अगर वह ईगोइस्ट होगा तो दूसरे का रूप प्रोजेक्ट नहीं कर सकेगा।

अभिनेता अरूप होता है

एक व्यक्ति के नाते अमिताभ का अपना व्यक्तित्व होना ही चाहिए—इसमें कोई सन्देह नहीं है। मगर कला की दृष्टि से उसे अपना अहम् दबाना होगा। आदर्श अभिनेता किसी रूप में बँधता नहीं है, वह अहम्-शून्य होता है। वह हर रूप में ढल सकता है, वह हर रूप में ढल जाता है। वह बहुरूपी होता है। उसका अपना कोई रूप नहीं, फिर भी जब उसे किसी ऐसे चरित्र की भूमिका मिले जो उसके व्यक्तित्व के साथ मिलता-जुलता हो तो शायद उसके अभिनय में ज़्यादा जान आ जायेगी। यह स्वाभाविक ही है। उसमें वह अपना पूरा रूप उँड़ेल सकता है। अमिताभ के जो चरित्र रहे हैं अभी तक की फिल्मों में, शायद उसके व्यक्तित्व के साथ उनकी समरूपता किसी-न-किसी तरह रही है।

लोकप्रियता के खतरे

इसके साथ ही हमारे लिए दूसरी समस्याएँ हैं। हजारों आदमी उसके पीछे रहते हैं। अभी हम काठमाण्डू गये थे, अमिताभ जिधर से निकलता था हजारों आदमी उसे देखने के लिए खड़े होते थे। जहाँ शूटिंग हो, या जहाँ कहीं जाओ, हजारों की भीड़ रहती थी। दो-चार सौ पुलिसमैन लगाने पड़ते थे भीड़ को हटाने के लिए, कि वे कैमरे के सामने से तो हटें। शूटिंग दूरदराज में होती तो वहाँ भी लोग पहुँच जाते.।

हमें पूरे पहरे में रहना पड़ता है, नहीं तो अमिताभ को लोग उठा ले जायें। मेरे घर पर तो पहरा नहीं रहता था। मुझे तो इसका डर भी नहीं था, मगर अमिताभ के लिए तो करना पड़ता है क्योंकि तरह-तरह के लोग हैं। ईर्ष्या बहुत ज्यादा है, और वह हर तरह से हानि पहुँचाने की कोशिश करती है। आजकल जमाना ही बहुत खराब है।

जहाँ अमिताभ के लिए प्रशंसा का भाव है, वहीं तरह-तरह के खतरे भी बन गये हैं। बहुत-से लोग हानि पहुँचाने की कोशिश करते हैं। जान-बूझकर हानि पहुँचानेवाला पूरा-का-पूरा दल है। उससे अपने-आपको बचाना तो पड़ता है। और यह फिल्म का क्षेत्र तो बहुत ही होड़-भरा है। यह तो रैट-रेस है। एक-दूसरे से आगे बढ़ जाने की प्रतियोगिता और एक-दूसरे को पीछे रखने की कोशिश है। इसके लिए साम, दाम, दण्ड और भेद हर तरह की नीति अपनायी जाती है।

मगर मुझको एक प्रकार का सन्तोष भी होता है कि मेरा लड़का कुछ कर रहा है। उसने कुछ किया है। जिस कला में भी गया, उसने अपनी जगह बनायी। पिछली बात फिर से याद आती है—

धन्य भाग जगतीतल तासू,
पितहि प्रमोद सुजस सुन जासू।

संस्कार की प्रबलता

लोग मुझसे पूछते हैं कि भाई, आपकी लाइन तो दूसरी थी, अमिताभ किसी प्रबल संस्कार से इस लाइन में चला गया ? वह तो एक्जीक्यूटिव आफिसर बनने के लिए कलकत्ता चला गया था, वर्ड कम्पनी में था, ब्लेकर्स में था। छह बरस तक एक्जीक्यूटिव जाब में था। मगर उसमें कहीं अभिनय के संस्कार थे। उसको नाटकों में शुरू से रुचि थी। स्कूल के दिनों में उसे अभिनय के लिए 'केण्डल कप' मिला था। जब अमिताभ बारह बरस का था, तब उसने गोगोल के इंस्पेक्टर-जनरल का पार्ट किया था। मैंने शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद किया, मैकबेथ-ओथेलो को मैं स्टेज पर भी लाया। ओथेलो में अमिताभ ने केसियस का पार्ट किया था। कलकत्ता में भी जब वह रहा तब वहाँ के ड्रामेटिक क्लबों में अभिनय करता रहा। भाई, उसका संस्कार था, फिल्म में चला गया।

अमिताभ मेरी कविता है

तेजीजी भी अमिताभ की इस सफलता पर खूब प्रसन्न हैं। अपना बच्चा कोई अच्छा काम करे तो प्रसन्नता होती ही है। अमिताभ हमारे जीवन की एक कविता है। हमने एक जिम्मेदारी उठायी थी अपने बच्चों की, वह पूरी हुई। आज जब उनको जीवन में सफल देखते हैं तब बहुत बड़ा सन्तोष होता है।

अब हम तो असमर्थ हैं, भाई ! हमारी चिन्ता वह करें। अभी हम गये थे शूटिंग पर, उनकी शूटिंग कई जगह थी। हमने कहा, 'भाई तुम्हारे दो बच्चे हैं, दो बूढ़े माता-पिता हैं, तो हम तो तुम्हारे बच्चों की फिक्र नहीं कर सकते, तुम अपने बच्चों की फिक्र करो और हमारी भी करो।' वैसे मैं इस मामले में बहुत ही सौभाग्यवान हूँ कि हमारे लड़के हमारा बहुत ही ख्याल रखते हैं। आजकल लड़के इतना कहाँ करते हैं। उन्हें कुछ अच्छे संस्कार परिवार से मिले; इसीलिए ऐसा है।

डा. बच्चन से साक्षात्कार*

ज्योति सबरवाल : बच्चनजी आपका जीवन बहुत रोचक पर बड़ा विरोधाभासी रहा है। आप युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ाते रहे; ईट्स के काव्य पर शोध करके आपने केम्ब्रिज़ युनिवर्सिटी से पी-एच. डी. की डिग्री ली; पर लेखन के लिए आपने हिन्दी का वरण किया। क्यों ?

:डा. बच्चन : मेरी ऐसी धारणा है कि कविता केवल अपनी मातृभाषा में लिखी जा सकती है; किसी परायी भाषा में नहीं। अंग्रेज़ी न मेरी मातृभाषा है और न हो सकती है। जब मैंने कविता लिखनी चाही तो स्वाभाविक ही मेरे मन में आया कि मुझे हिन्दी में लिखना चाहिए।

सबरवाल : ईट्स में आपने ऐसा क्या पाया कि उनकी ओर आप इतने आकर्षित

* साक्षात्कारकर्ता : ज्योति सबरवाल

हुए। आपके समालोचकों का कहना है कि ईट्स की और आपकी कविता में, जहाँ तक शैली और तकनीक का सम्बन्ध है, बड़ी समानता है।

डा. बच्चन : पहली बात तो यह है कि ईट्स आयरी पुनर्जागरण के कवि थे। आयरी लोग लगभग छह-सात सौ वर्षों से अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहे थे। गांधी और टैगोर से प्रेरित हमारी पीढ़ी उनके इस संघर्ष के प्रति अधिक सचेत थी। ईट्स राजनीतिक कवि तो नहीं थे, पर उनकी कविता में आयर-देश की आत्मा बोली है। उनकी और मेरी शैली तथा तकनीक की समानता पर कुछ निर्णय देना बहुत मुश्किल काम है। जिस समय मैं अपनी भाषा ढाल रहा था, अपने रूपकों की तलाश कर रहा था, उस समय ईट्स ने मुझे प्रभावित नहीं किया। लेकिन उनकी कविता में जो जीवन की निकटता थी, जीवनानुभवों के प्रति जो ईमानदारी थी, अपनी बात को प्रभावकारी बनाने के लिए रूपकों की खोज में जो उनकी मौलिकता थी, उसने मुझे अवश्य आकृष्ट किया। उदाहरण के लिए, उन्होंने आयरी दन्तकथाओं से कुहूलन को खोज निकाला जो अपनी तलवार से समुद्र की तरंगों से युद्ध करता हुआ मर जाता है। शत्रु के समक्ष यह उसके नृशंस शौर्य का रोमांचक प्रदर्शन है। शौर्य, अंग्रेज़ी दन्तकथा के नायक किंग आर्थर में भी है, पर आयरी भावना का यह आवेग वहाँ कहाँ। ईट्स ने बहुत-से व्यक्तिगत प्रतीकों की भी खोज की।

मेरा ऐसा विचार है कि आपके प्रतीकों को इतना व्यक्तिगत नहीं होना चाहिए कि वे दूसरों के लिए कोई अर्थ ही न व्यक्त कर सकें। प्रतीकों का चुनाव, यथासम्भव, जानी-मानी साहित्यिक परम्पराओं से किया जाना चाहिए। बिल्कुल नये प्रतीकों को अर्थ-समर्थ बनाने के लिए कुछ कलागत उपाय करने होंगे। मैंने भी बहुत-से प्रतीकों का उपयोग किया है, लेकिन मैंने इस बात का ध्यान रखा है कि वे कुछ ऐसा ही अर्थ दें जो प्रचलित परम्परा में उनसे लिया जाता रहा है। अगर आपके प्रतीक परम्परा से नहीं आये हैं तो उनका इस्तेमाल इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वे केवल आपके लिए अर्थपूर्ण होकर न रह जायँ, बल्कि पाठकों के लिए भी अपना अर्थ उजागर कर सकें। कविता लिखते समय कवि के मस्तिष्क में, निश्चय ही, साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रहती है। कविता समझने के लिए इसकी कुछ जानकारी पाठक को भी होनी चाहिए। अगर मैं किसी ऐसे प्रतीक का उपयोग करता हूँ जो पहले कालिदास, सूरदास या तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त हो चुका है तो मैं यह प्रत्याशा करूँगा कि मेरा पाठक उस प्रतीक से परिचित हो। अगर वह परिचित नहीं है तो वह मेरी कविता का सतही अर्थ भले ही जान ले, उसका पूरा आनन्द नहीं उठा सकता; यह उसकी गहराई तक नहीं पहुँच सकता। अब छन्द पर आइए। मैंने अपने कुछ गीतों में एक ऐसे छन्द का उपयोग किया जिसे जयदेव ने अपने 'गीत गोविन्द' में किया था। उसे लोग करीब-करीब भूल ही चुके थे। 'तुम गा दो' शीर्षक से मेरा एक प्रसिद्ध प्रेम गीत है। अब जयदेव की एक पंक्ति से मेरे गीत की एक पंक्ति का वजन मिलाइये :

'धीर समीरे यमुना तीरे बसति बने बनमाली'

'सुन्दर और असुन्दर जग में मैंने क्या न सराहा'

अगर आप साहित्यिक भावप्रवणता में दीक्षित हैं तो आपको अधिक आनन्द आयेगा, और आपकी समझदारी में गहराई होगी।

[अग]रवाल : कवियों पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि वे अपने में ही मगन रहते हैं, अपनी ही खुशी में खुश; जानना चाहूँगी कि आपका सृजन कितना व्यष्टिगत है कितना समष्टिगत।

[डॉ]. बच्चन : देखिए, सारे अनुभव एक ही प्रकार के नहीं होते। किसी-किसी अनुभव से आपको फौरन यह प्रतीति होती है कि ऐसा ही अनुभव औरों को भी होगा, या औरों को भी हो सकता है। आप कह उठते हैं—

'मेरी हाला में सबने पायी अपनी-अपनी हाला !'

कुछ अनुभव बिल्कुल निजी होते हैं, बिल्कुल व्यक्तिनिष्ठ। मैं उनको सतही अनुभव कहना चाहूँगा। ऐसे अनुभव न तो अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करते हैं और न कविता या कला में सरलता से बँध पाते हैं। उन्हें अभिव्यक्त करना तभी अनिवार्य होता है जब उनमें गहराई होती है और अब वे आप तक ही सीमित नहीं रहते; जब आप ऐसा महसूस करते हैं कि उनमें औरों को भी समभागी बनाया जा सकता है, औरों को भी शामिल किया जा सकता है। इतना श्रेय तो आपको कवियों को देना ही होगा कि उनमें कुछ ऐसी सहज-बुद्धि होती है जो उन्हें बताती है कि उनके कौन-से अनुभव सार्वजनीन होंगे। हो सकता है कि आपका कोई अनुभव केवल व्यक्तिगत हो, लेकिन अगर उसमें गहराई हो तो वह सार्वजनीन भी हो सकता है और सर्वोपरि भी। ऐसे अनुभवों से उच्चकोटि की कविता लिखी जा सकती है, और कवि अपनी कृति को एक व्यापक आयाम देने में सफल होता है। उदाहरण के लिए मेरी एक कविता है 'प्याले का परिचय'।

'मिट्टी का तन, मस्ती का मन
क्षण भर जीवन, मेरा परिचय।'

यहाँ प्याला अपने को अभिव्यक्त कर रहा है; मगर यह केवल प्याला ही नहीं है; यह कवि भी है, मनुष्य भी है। इसको पूरी तरह समझना तभी सम्भव हो सकता है जब पाठक कवि की मनोभूमि पर उतर सके, कवि की-सी भाव-प्रवणता अपने में जगा सके। अपनी ओर से मैं ऐसा समझता हूँ कि इस कविता में प्याला, कवि और मानव—इन तीनों को साथ लेकर चलने में मैं सफल हो सका हूँ। ऐसी सफलता कवि के लिए दुर्लभ होती है। आप कहती हैं कि कवि अपने में ही मगन रहनेवाले लोग होते हैं। यह ठीक नहीं है। अगर ऐसा हो तो वे लिखेंगे ही क्यों। थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि कुछ कवि ऐसे होते हैं जो अपने बिल्कुल निजी अनुभवों के बारे में लिखते हैं, तो उनको पढ़ने कौन जाता है ? अगर पढ़े भी गये तो वे केवल अपने सतही अर्थों का सम्प्रेषण कर सकेंगे; गहरे भावों का उद्‌बोधन नहीं कर सकेंगे। कहने का मतलब है कि अपने पाठक को वे उसी भाव-धारा में नहीं बहा सकेंगे जिसमें कि वे स्वयं बह रहे हैं। मैं आपको एक घरेलू उदाहरण दूँ। मान लीजिए कि मेरे सिर में दर्द है। दर्द की कोई भाषा नहीं होती। अगर मैंने कहा कि मेरे सिर में दर्द है तो बस एक शब्दहीन भावना शब्द में बँध गयी। अभिव्यक्ति हो गयी। फिर आप आये, मैंने कहा, मेरे सिर में दर्द है; मेरे दर्द की सूचना आपको मिल गयी, यह सम्प्रेषण हो गया। पर अगर मैं अपना दर्द इस तरह कहूँ कि आपके सिर में भी दर्द हो जाय तो यह उद्‌बोधन हो गया, कविता हो गयी।

[अग]रवाल : आपकी कविताओं में एक बेचारगी और नाउम्मीदी का स्वर बार-

बार क्यों उठता है ? क्या आप अपने विषाद को बढ़ा-चढ़ाकर कहके पाठकों की संवेदना पाना चाहते हैं ?

डा. बच्चन : नहीं। मेरी ऐसी धारणा है कि तनाव की स्थिति में सृजनशक्ति अपनी चरम सीमा पर होती है। तनाव इस बात पर निर्भर करेगा कि आपका जीवन कैसा रहा है और आपका भावप्रवण मन उस पर कैसी प्रतिक्रिया करता रहा है। मैंने सर्वदा यह अनुभव किया है कि विषाद के क्षणों में अपने को अभिव्यक्त करने के लिए मन पर एक दुर्निवार दबाव पड़ता है। अपनी खुशी आप आसानी से अपने भीतर समेटकर रख सकते हैं लेकिन अपनी पीड़ा, अपने दुख में आप अपना सहभागी खोजते हैं। पीड़ा की तीव्रतम अनुभूति में अभिव्यक्ति स्वाभाविक हो जाती है। आप लिखने को बाध्य हो जाते हैं। आप लिखे बग़ैर रह नहीं सकते।

मैं कहना चाहूँगा कि हम शब्दों के द्वारा एक तरह की राहत खोजते हैं। शब्दों में बड़ी शक्ति होती है। शब्द किस-किस प्रकार और किस हद तक मानव-जीवन, मानव-स्वभाव, मानव भावना की सेवा करते हैं इसे बताना बहुत कठिन है। उनकी सेवाएँ अपरिमित हैं। शब्द आपको राहत ही नहीं पहुँचाते, आप पर छा जाते हैं। शब्द आपको मदमत्त कर देते हैं; आप उनमें खो जाते हैं।

शायद यत्किंचित शब्द-शक्ति के भरोसे ही एक दिन मैंने कहा था,

'दुनिया से मानी, अपने से मैंने हार नहीं मानी है।
मैंने शान्ति नहीं जानी है।'

यह मेरे जीवन के एक समय का उद्घोष था। अब मैं 76 का हो रहा हूँ। लगभग 50 वर्षों के लेखन-काल में मैं बहुत-से पहलुओं से होकर गुज़रा हूँ। लेकिन मैंने कभी दुखों के सामने सिर नहीं झुकाया। सदा उनसे ऊपर उठने के प्रयत्न में लगा रहा हूँ। यह विश्वास मैंने कभी नहीं खोया कि मैं भी कुछ हूँ, जैसाकि आप 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' के दो-ढाई सौ गीतों में स्वयं देख सकते हैं। ऐसे विश्वास से केवल व्यक्ति नहीं, मानवता जीती है। यह दावा तो मैं नहीं करूँगा कि इनमें से प्रत्येक गीत सार्व-जनीन है। पर जब इनमें से बहुतों की बहुत दिशाओं से प्रतिध्वनियाँ आती हैं तो मन में यह आत्मविश्वास जागता है कि सम्भवतः ये गीत किसी ऊँचे स्तर से लिखे गये हैं।

सबरवाल : मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि मनुष्य के मस्तिष्क में चेतन, अवचेतन और अचेतन में हमेशा खींच-तान बनी रहती है। मनुष्य अपने एक रूप से तो अनुभवों से गुज़रता है और दूसरे रूप से अनुभवों से सृजन करता है; आपने इन दो रूपों में सामंजस्य कैसे स्थापित किया ?

डा. बच्चन : जिस समय सृजन-प्रक्रिया चल रही हो उस समय मनो-प्रक्रिया का विश्लेषण करना सम्भव नहीं होता। मैं ऐसा समझता हूँ कि सृजन-प्रक्रिया मनो-प्रक्रिया से बचने का एक अवसर प्रदान करती है। उस व्यक्ति से जो कष्ट सहन कर रहा है, हटकर आप अपने को उस व्यक्ति में समाहित करते हैं जो सृजन कर रहा है; इस प्रकार आप कष्ट सहन से बच जाते हैं। सहनशील से आप सृजनशील बन जाते हैं। यह एक संक्रमण की स्थिति है। मान लीजिए किसी ने एक शोक-गीत लिखा है। आप इसे क्यों पढ़ते हैं ? आपका अपना

शोक-सन्ताप ही क्या कम है कि आप उसमें दूसरों का भी जोड़ना चाहते हैं। यह परदुख से सुखी होनेवाली प्रवृत्ति भी नहीं है। वास्तविकता यह है कि सर्जक अपने शोक-सन्ताप से किसी आनन्द-उल्लास की वस्तु को जन्म देता है। आप उसके पास इस आशा से जाते हैं कि शायद आप भी अपने शोक-सन्ताप में कुछ आनन्द-उल्लास का अनुभव कर सकें।

सृजन की इस प्रवृत्ति के पीछे रहस्य शायद यह है कि व्यक्ति में सन्निहित मानव उसमें सन्निहित कवि के ऊपर हावी हो जाता है। उसका तर्क कुछ इस प्रकार का होता है कि सारी मानवता ही शोक-सन्ताप सहने के लिए बनी है; जैसे मैं शोक-सन्ताप-ग्रस्त हूँ, ऐसे ही और लोग भी शोक-सन्ताप-ग्रस्त हो सकते हैं या हैं। कुछ इसी प्रकार का तर्क मेरे मन में उठा होगा जब मैंने लिखा था :

"हर जगह जीवन विकल है।
तृषित मरुथल की कहानी,
हो चुकी जग में पुरानी,
किन्तु वारिधि के हृदय की प्यास उतनी ही अटल है।"

वर्जिल ने लिखा था, 'सुंत लैक्रिमे रेरुम', हर जगह इन्सान का दामन आँसुओं से भीगा है। मनुष्य को नियति से, प्रकृति से, परिवेश से संघर्ष करना पड़ता है। कितने लोगों की जीत होती है? कितने लोग जीवन में सफल होते हैं?

सबरवाल : अपने प्रेम-गीतों के सन्दर्भ में आपको रूमानी कवि कहा जायगा; पर आपने रूमानी कवियों के स्कूल के उसूलों का अनुसरण नहीं किया। आपने इस संस्थिति का सामना कैसे किया?

डा. बच्चन : मैंने केवल कल्पना को बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया। यदि आप मेरे पूर्ववर्ती कवियों को देखें —जैसे प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी को —तो आप पायेंगे कि उनके यहाँ कल्पना का प्राचुर्य है। लेकिन इनके बाद आनेवाले कवि, मेरे समवर्ती, जीवन के अधिक निकट हैं। उनके यहाँ कल्पना भी जीवनानुभूतियों पर आधारित है। हमारी कविता, केवल कल्पना की नहीं, हमारी भोगी-झेली अनुभूतियों की उपज है। आस्कर वाइल्ड ने कहा था, 'जीवन साहित्य का अनुसरण करता है।' मैं कहना चाहूँगा, 'साहित्य जीवन का अनुसरण करता है।'

सबरवाल : अपने जीवन के विषय में आप बहुत खुले रहे हैं। लोग आत्मकथा लिखना क्यों चाहते हैं? क्या आपके जीवन के कोई ऐसे निजी पक्ष नहीं रहे हैं जिन्हें आप अपने कवि के लोक-जीवन से अलग सँजोकर रखते?

डा. बच्चन : आप आत्मकथा इसलिए लिखते हैं कि आप दूसरों के विषय में बात करना चाहते हैं। यह एक बड़ा रोचक विरोधाभास है। दूसरों के विषय में चर्चा करने के लिए आत्मकथा सर्वोत्तम माध्यम है, क्योंकि व्यक्ति शून्य में तो नहीं रहता। उसकी सत्ता ही सम्बन्धों के आधार पर बनती है। अगर आप केवल अपने बारे में बात करना चाहें तो कविता लिखें। अपनी आत्मकथा में, मैं तो ऐसा समझता हूँ कि मैंने अपने बारे में बहुत कम कहा है। मैं हर समय अपने उस रूप को देखता हूँ जो मेरे और मेरे समाज, मेरे पड़ोस, मेरे परिवार, मेरी माँ, पत्नी, बेटों, दोस्तों, दुश्मनों के सम्बन्ध से बना है।

सबरवाल : मोटे तौर पर आपको संशयात्मा करार दे दिया गया है। आपकी तमाम रचनाओं से जो स्वरूप आपका उभरता है वह है मान्यता-इन्कारी (non-conformist) का। आपने ऐसा रुख क्यों अपनाया?

डा. बच्चन : जब मैंने भगवद्‌गीता पढ़ी तो उसमें न तो मेरे किसी जीवन-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर मिला और न मुझे जीवन से विराग ही हुआ। लोग ऐसा समझते हैं कि वे किसी निर्णय पर पहुँच गये हैं या उन्होंने कोई परिणामी स्थिति प्राप्त कर ली है। होता है यह केवल आत्म-सम्मोहन। इसलिए मैं दर्शन की हर शाखा के प्रति, या दार्शनिकों के प्रति उदासीन हो गया हूँ। कोई भी निश्चयपूर्वक यह कह सका कि उसने जीवन के रहस्य को पा लिया है? नहीं!

> तर्कोऽप्रतिष्ठतः स्मृतियो विभिन्नः
> नैको ऋषिर्यस्य मतः प्रमाणम् (महाभारत)

शंकराचार्य के प्रश्न आज भी उत्तर की प्रतीक्षा में खड़े हैं

> कोऽहं, कथं, केन, कुतः समुद्‌गतो,
> यास्यामि चेतः क्व शरीर संक्षये,
> किं मेस्ति चेहागमने प्रयोजने,
> वासोम मे स्यात कति वासराणि वा।

यह रहस्य बूझ की सीमा से परे है। अच्छा है कि यह रहस्य सदा अनुद्‌घाटित ही रहे। इसे समझने की आकांक्षा अवश्य होती है कि जीवन क्या है, मृत्यु क्या है, इस सृष्टि का स्रष्टा कौन है, इस सृष्टि का प्रयोजन क्या है, या यह केवल अनादि-अनन्त प्रक्रिया है।

हमारे लिए इसका पूरा अर्थ खुल नहीं सकता, क्योंकि हम इसको अपने जीवन की अल्प अवधि में ही देखने-सुनने का अवसर पाते हैं। हमारा व्यक्तित्व काल-सीमित होता है। हम समाज के इतिहास में थोड़ा-सा योग-दान देकर इस दुनिया से विदा हो जाते हैं। अगर जीवन की कोई निरन्तरता है तो हमारा स्वल्प योगदान सामाजिक परिवेश या जीवनानुक्रम में समाहित हो जाता है। हम कह सकते हैं कि महावीर, बुद्ध, दयानन्द, गांधी, जवाहरलाल सब अब विश्व व्याप्त ऊर्जा में विलीन हो गये हैं; अब उनका व्यक्तित्व कहीं भी नहीं है।

सबरवाल : क्या आप काल-निरपेक्ष प्रतीक मदिरा के द्वारा किसी सुनिश्चित सिद्धान्त की खोज में निकले थे? क्या आप बता सकते हैं कि आपकी 'मधुशाला' को इतनी लोकप्रियता क्यों मिली?

डा. बच्चन : 'मधुशाला' लिखने के लिए एक बड़ी प्रबल प्रेरणा मेरे अन्दर उठी थी; सच पूछें तो वह एक उन्माद की अवस्था में लिखी गयी थी। मुझे ऐसे लगता था जैसे मैं हवा में उड़ रहा हूँ; उस समय मेरे मन-मस्तिष्क पर कौन-कौन-सी शक्तियाँ काम कर रही थीं, मुझे खुद नहीं मालूम। यह बिल्कुल प्रेरणावश लिखी हुई चीज़ है। कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है और मैं इसका विश्लेषण करने का प्रयत्न करता हूँ कि 'मधुशाला' में क्या ऐसी विशिष्टता है कि वह इतनी लोकप्रिय हो गयी है। यह तो बहुत बाद को मुझे प्रतीत हुआ कि इसके द्वारा मैं धुर वेदों से लेकर पुराचीन-मध्यकालीन-अर्वाचीन साहित्य-दर्शन तक सबको सूक्ष्म रूप से प्रतिध्वनित कर रहा हूँ, निष्प्रयत्न, अनजाने।

यह सब कहीं मेरे संस्कार में होंगे। मुझे बिल्कुल नहीं मालूम कि यह कैसे सम्भव हुआ। जैसे मेरे सिर पर भूत सवार हो गया था, मैं लिखता ही चला गया। मेरे मानस में उठनेवाली तरंगों से जैसे जन-मानस में उठनेवाली तरंगें एकाकार हो गयीं। जैसे मेरे मानस में कुछ ऐसे प्रतीक सजग हो गये जिनका आदि मूल जन मानस में पुराकाल से प्रसुप्त पड़ा था। रुबाइयात पढ़ने के बाद मुझे ऐसा लगा कि हाला, प्याला, मधुबाला, मधुशाला, एकार्थी नहीं, बहुअर्थी, विविधार्थी प्रतीक हैं। मैंने उमरख़ैयाम पर एक कविता लिखी है। मुझे ऐसा लगा कि उस अवस्था तक के मेरे सारे अनुभव (उस समय मैं 25 वर्ष का था) इन प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त हो सकते हैं। 'मधुशाला' लिखने में मेरा परिपूर्ण व्यक्तित्व संलग्न था। इतनी संलग्नता से शायद मैंने कोई दूसरी कविता नहीं लिखी।

सबरवाल : क्या आप मदिरा का गुणगान करने का प्रयत्न कर रहे थे ? आपके कुछ मित्र आपको 'वेकस' कहते थे। कुछ समझते थे कि आप मदिरा में आकण्ठ डूबे रहते हैं।

डा. बच्चन : इसके विपरीत, तब तक मदिरा की एक बूंद भी मैंने न छुई थी। इस विषय में मेरे समकालीनों को बड़ा कौतूहल था। वे जानना चाहते थे कि मैं कितना पीता हूँ और इन प्रश्नों से मुझे घृणा हो गयी थी। तब तक तो मैं मदिरा का स्वाद भी नहीं जानता था। बाद को मैंने जाना, पर मैं इसके प्रति सदा सचेत था कि मैं केवल मदिरा नामधारी द्रव का गुणगान नहीं कर रहा हूँ।

> 'मधुशाला वह नहीं जहाँ पर मदिरा बेची जाती है
> भेंट जहाँ मस्ती की मिलती मेरी तो वह मधुशाला।'

इस प्रतीक को विश्वसनीय बनाने की दृष्टि से कहीं-कहीं मैंने इसकी व्याख्या भी की, कहीं-कहीं इस पर स्थूलता भी आरोपित की, पर मैं अपने अन्दर सदा सुस्पष्ट था कि मैं शराब की तारीफ़ नहीं कर रहा हूँ। 'मधुशाला' की पहली ही पंक्ति है,

> 'मृदुभावों के अंगूरों की आज बना लाया हाला।'

केवल एक पंक्ति में यहाँ काव्य रचना की सारी प्रक्रिया सन्निहित कर दी गयी है। मदिरा का रूप लेने के पहले अंगूरों को कितने दर्जों से होकर गुजरना पड़ता है। आपके अनुभवों का रस पककर मदिरा बने, यही कविता का मूल तत्त्व है। सौ गैलन अंगूरों के रस से मदिरा की एक बोतल तैयार होती है। फिर कवि कहता है,

> 'प्रियतम, अपने ही हाथों से आज पिलाऊँगा प्याला,
> पहले भोग लगा लूँ तेरा फिर प्रसाद जग पायेगा;'

यह समर्पण है; कविता समर्पण है।

तुलसीदास रचनाकारों की दो श्रेणियाँ मानते हैं। एक को वे 'कवि' कहते हैं, दूसरों को 'वचन-प्रवीण'। वचन-प्रवीण अपने मस्तिष्क से बोलता है, कवि अपने सम्पूर्ण, सजीव व्यक्तित्व से।

संस्कृत में तो कविता को कवि का 'वाङ्मय शरीर' कहते हैं—शब्द-शरीर—जो बोलता हो, जिसमें जीवन की धड़कनें हों। आप अपने काव्य को

सफ़ाई से छपी, सुन्दरता से जिल्दबँधी पुस्तक का रूप दे दें; अगर उसमें जीवन की धड़कनें नहीं तो वह मुर्दा है।

सबरवाल : क्या आधुनिक कविता में जीवन की धड़कनें सुनायी पड़ती हैं ?

डा. बच्चन : अगर कविता केवल मस्तिष्क से लिखी गयी है तो उसमें जीवन की धड़कनें नहीं सुनायी पड़ेंगी। आज से पचीस-तीस वर्ष पहले मैं केम्ब्रिज में था; वहाँ कविता के दो स्कूल थे; एक का प्रतिनिधि ईट्स को, दूसरे का, इलियट को माना जाता था। ईट्स जीवन और उसके अनुभवों के बहुत निकट थे; इलियट रचना-कला-कौशल में पारंगत। इलियट बौद्धिकता और विद्वत्ता के कवि थे। ईट्स कभी विश्वविद्यालयों के निकट नहीं गये थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा जीवन के विद्यालय में हुई थी। यही उनका गुण-विशेष बन गया। इलियट बहुभाषाविद् थे, उन्हें संस्कृत का भी ज्ञान था। उन्होंने उच्चकोटि की समालोचनाएँ लिखीं। इलियट जब कविता लिखते थे, उनका सम्यक स्वाध्यायी मस्तिष्क जागरूक और सक्रिय रहता था। इसी के बल पर उन्होंने नयी कविता यानी बौद्धिक कविता की नींव डाली।

कविता जीवन के लिए ऐसी ही सुलभ होनी चाहिए जैसे रोटी और कपड़ा। उसका विद्वत्तापूर्ण होना ज़रूरी नहीं। यदि वह ऐसी हुई तो साधारण मनुष्य की पहुँच से बाहर हो जायगी। विद्वत्ता भी कुछ विशिष्टों के आनन्द का विषय हो सकती है। पर कविता को जन-साधारण का आनन्द बनना चाहिए। मेरे प्रिय कवि शेक्सपियर और तुलसीदास हैं। शायद इसीलिए कि वे जन-प्रिय हैं। ईट्स का लिखा हुआ प्रत्येक शब्द मैंने पढ़ा है। स्वयं इलियट ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि ईट्स युग के सबसे बड़े प्रतिनिधि कवि हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक समाज के बौद्धिक और तार्किक विकास को प्रक्षिप्त करने में इलियट का बड़ा योगदान है, पर ईट्स के भावना-लोक के बिना हम जीवन में बहुत-कुछ से वंचित रह जाते।

आधुनिक जीवन की बौद्धिकता और तार्किकता अब हमारे लिए अति की सीमा पर पहुँच गयी है। ये प्रवृत्तियाँ अंग्रेजी और हिन्दी कविता पर भी छायी हुई हैं। कविता अब शायद मर रही है। विद्वान लेखक जिस तेज़ी से अपनी कृतियों को बौद्धिक बना सकते हैं उस तेज़ी से पाठकवर्ग— सामान्य पाठकवर्ग— बौद्धिक नहीं बन सकता। यही कारण है कि सामान्य पाठकवर्ग अब भी भावना के स्तर पर है जबकि लेखक बौद्धिकता के स्तर पर पहुँच गया है और इस प्रकार दोनों के बीच एक अघट खाई खुद गयी है।

सबरवाल : क्या बौद्धिकता की अति हमारी नैसर्गिक प्रवृत्तियों का हनन कर रही है ?

डा. बच्चन : निश्चय : विज्ञान जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित कर रहा है। यह सच है कि बहुत से दर्जों पर हम ऐसा अनुभव करते हैं कि केवल भावनाएँ हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी नहीं सिद्ध होतीं। लेकिन अगर भावनाएँ हमारे जीवन से बिलकुल निकल जायें तो फिर शेष रह क्या जायगा। क्या इनके अभाव में सभ्यता और मानवता अपना सार अंश ही नहीं खो बैठेंगी ? एक समय ऐसा आ सकता है कि हम मानवता और मानवीय भावनाओं से बिलकुल वंचित हो जायें। खैर, अभी तो मानवता का वह तत्त्व हममें बचा है जो कहता है कि हमें आणविक अस्त्रों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। लेकिन 'रोबोट' को तो परिणाम की कोई चिन्ता नहीं। वह तो एक

ऐसी मशीन है कि अगर उसे हीरोशीमा और नागासाकी को दुहराना पड़े तो वह तनिक भी विचलित न होगी। सुना है कि अब हमारी मानसिक प्रतिक्रियाओं को भी कम्प्यूटरों से जानने का प्रयत्न किया जा रहा है ! हम लेखक और कवि जो मानवों को मानवोचित मार्गों पर चलाने का प्रयत्न करते रहते हैं, हम जानते हैं कि हमारी शक्तियाँ बहुत सीमित हैं; पर हम यह भी जानते हैं कि अगर मानव पथभ्रष्ट भी हो गया तो उसे कभी-न-कभी मानवता की ओर लौटना पड़ेगा। इसीलिए हम एक पगडण्डी बनाये चले जा रहे हैं कि जब मानव मानवता की ओर वापस आना चाहे तो उसे एक रास्ता तो दिखायी दे।

यह शुभ लक्षण है कि अमरीका और इंग्लैण्ड में कविता को भावना-सिक्त करने के नये प्रयोग हो चले हैं। पहले कविता मुक्तछन्द से गद्यात्मकता की ओर जा रही थी। अब छन्दों को वापस लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। अंग्रेजी साहित्य में गाकर कविताएँ पढ़ने की प्रथा बहुत पहले समाप्त हो गयी थी। लेकिन ईट्स अपनी कविताओं को गाकर सुनाते थे। संगीत तार्किक प्रवृत्तियों को सुला देता है।

युग का प्रभाव मुझ पर भी पड़ा। केम्ब्रिज से लौटने के बाद मुझमें भी गीतात्मक प्रवृत्तियाँ मन्द पड़ने लगीं। ऐसा लगा, छन्दों में बँधकर जीवन कृत्रिम होता जा रहा है। गद्य में वह अधिक स्वाभाविक गति से प्रवाहित हो सकेगा। लेकिन मैंने ऐसा कभी नहीं सोचा था कि अगर मैं गद्य को अपनी भावना का माध्यम बनाऊँगा तो मैं गद्यात्मक हो जाऊँगा। फिर भी ऐसा बहुतों के साथ हुआ है। गद्य में अपने को अभिव्यक्त करना बहुत सरल हो गया। हर आदमी कविता लिखने लगा, हर आदमी अपना कवि हो गया। इससे पहले किसी युग ने एक साथ इतने कवि नहीं देखे।

इसके विपरीत मैं ऐसा मानता हूँ कि गद्य की लय के प्रचलित और परिष्कृत हो जाने पर कविता लिखना बहुत कठिन हो गया है—जब तक कवित्व अपने विशुद्ध रूप में आप में न हो आप कविता नहीं लिख सकते। बहुतों में कवित्व का वह विशुद्ध तत्व तो नहीं है, पर छोटी-बड़ी गद्य-पंक्तियों का एक ढाँचा तो वे खड़ा ही कर देते हैं। हमारी रचनाओं के 10-10—12-12 संस्करण हुआ करते थे। आज संग्रहों की 500 प्रतियाँ छपती हैं; उनका विमोचन होता है, उन पर गोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं, कवि का कुछ नाम हो जाता है, पर उसकी कविता की कोई प्रतिध्वनियाँ जीवन से नहीं आतीं; शायद इसलिए कि वे अपने लिए ही लिखी जाती हैं, और दूसरों के लिए उनमें कुछ नहीं होता। जो कविता मैंने 25 वर्ष पहले पढ़ी थी, आज उसे फिर पढ़ता हूँ तो आनन्द आता है। जो कविता मैंने कल पढ़ी थी, आज उसे फिर पढ़ता हूँ तो लगता है मैं पुराना अखबार पढ़ रहा हूँ।

[...]बरवाल : क्या आपने कभी फिल्मों के लिए गीत लिखने का प्रयत्न नहीं किया ?

[...]ा. बच्चन : जब मैं इंग्लैण्ड से लौटा, बम्बई के कई फिल्म प्रोड्यूसरों ने मुझसे गीत लिखाना चाहा। लेकिन मैंने कहा, मेरे पहले से लिखित और प्रकाशित गीतों में से आप किसी या किन्हीं को लेना चाहें तो मैं सहर्ष देने को तैयार हूँ, पर किसी दी हुई फिल्मी परिस्थिति के लिए मैं गीत न लिख सकूँगा। पैसे के लिए मैंने कभी नहीं लिखा। पैसा पैदा करना बहुत मुश्किल काम नहीं है। कविता लिखने के लिए जितनी प्रतिभा चाहिए उसका दशमांश भी पैसा पैदा

करने के लिए आवश्यक न होगा। लेकिन प्रकाशक आपकी ओर आँख उठा-कर भी न देखेगा अगर आप उसके लिए आमदनी का ज़रिया नहीं बन सकते। या फिर आप स्वयं अपने प्रकाशक बनिये। उस हालत में आप व्यापारी हो जाते हैं; लिखने के बजाय आप अपना हिसाब-किताब देखने लगते हैं। प्रकाशक आपकी पुस्तक की दस हज़ार प्रतियाँ बेचकर आपको केवल दो हज़ार की रायल्टी दे सकता है; और वह इसको बेईमानी नहीं कहेगा, व्यापार कहेगा; क्योंकि आपको बेचने के लिए उसे आपको विज्ञापित भी तो करना पड़ेगा, गो यदि एक बार आप लोकप्रिय हो गये तो आपको विज्ञापित करने की आवश्यकता न रह जायगी।

सबरवाल : फिल्मों पर बात आ गयी है तो मैं पूछना चाहूँगी कि क्या आप अमिताभ में अपने ही स्वप्नों, अपनी ही लोकप्रियता का विस्तार नहीं देखते ?

डा. बच्चन : वह मेरा बेटा ही है। यदि उसमें मेरे विचारों अथवा मेरे व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया मिलती है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। अपने समय में मैं भी व्यवस्था के प्रति विद्रोही था। छोटा होकर भी बड़े से टक्कर ली थी, कुछ आत्मविश्वास के बल पर,

'टहनी पर बैठी गौरैया
चहक-चहककर कहती, भैया,
नहीं कड़कते बादल का ही, मेरा भी अस्तित्व यहाँ है।'

हमारी भी कुछ हस्ती है, हमारा भी कोई दावा है। अमिताभ ने निश्चय परिवार से कुछ संस्कार पाये हैं। उसका व्यक्तित्व फिल्मों के माध्यम से विकसित हुआ है। फिल्मों में उसका योगदान केवल अभिनय तक सीमित है। अगर उसे पैसा कमाना है तो वह अपनी भूमिकाओं का चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। इस मामले में उसे एक कठपुतली-सा बनकर रहना पड़ता है। कहानी किसी दूसरे की होती है, कथोपकथन कोई दूसरा लिखता है, निर्देशन कोई और करता है, गीत कोई और गाता है। मेरी कविता शुरू से आखीर तक मेरी होती है। मुझे किसी की कठपुतली नहीं बनना पड़ता। मैंने अमिताभ को प्रभावित करने का प्रयत्न नहीं किया। मैंने उसे अच्छी शिक्षा दिलायी और उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया। वस्तुतः वह तो इंजीनियर होना चाहता था। मुझे लगता था कि वह एक अच्छा फौजी अफ़सर बनेगा। जब उसने सीनियर केम्ब्रिज की परीक्षा पास की तब मैं उसे खड्गवासला सैनिक अकादमी में भेजना चाहता था। वह कद में लम्बा, शरीर से हृष्ट-पुष्ट था। जब वह छोटा था, हम उसको फ़ील्डमार्शल अमिताभ कहते थे। उस समय रेल-यात्रा में 4 वर्ष की उम्र तक के बच्चों का टिकट नहीं लगता था। पर अमिताभ तो 2 वर्ष की उम्र में ही 5 का मालूम होता था, और रेलवे-अधिकारियों से वाद-विवाद करने से बचाने के लिए हम उसका टिकट खरीद लेते थे।

सबरवाल : पिता की हैसियत से क्या आपने कभी अमिताभ से इस विषय पर बातचीत की कि उसे मार-धाड़वाली फ़िल्मों में काम नहीं करना चाहिए, विशेषकर हाल की दुर्घटना के बाद जो उसके लिए प्राणाघाती सिद्ध हो सकती थी ?

डा. बच्चन : फिल्मों के बारे में मैं अधिक नहीं जानता। इतना ही जानता हूँ कि

अमिताभ बहुत ही कठिन परिश्रम करता है। मैं उसकी प्रत्येक फिल्म देखता हूँ। उसे अपनी जीविका के लिए क्या-क्या नहीं करना पड़ता—सड़कों पर नाचना, बर्तन-भाँड़े तोड़ना, दीवालें फाँदना, जैसा भी फिल्म के डांस-मास्टर या फ़ाइट-मास्टर उससे करायें। आप कल्पना नहीं कर सकते कि जब उसे चोट लगी तो उसे कितनी मर्मान्तिक पीड़ा, संकट, कष्ट से होकर गुज़रना पड़ा। यह चमत्कार ही था कि वह बच गया।

अपनी भूमिकाओं के सम्बन्ध में वह स्वयं निर्णय ले। वह मेरा क्षेत्र नहीं। उस पर मैं बातचीत नहीं करना चाहता। अमिताभ की महत्ता इसी में है कि इतनी सीमाओं के बावजूद वह पर्दे पर अपना व्यक्तित्व प्रक्षिप्त करने में सफल होता है। क्यों? क्योंकि उसकी प्रतिभा तो अभिनय में ही उजागर होती है।

सबरवाल : लोगों का ऐसा कहना है कि जब से आप नेहरू-परिवार के सम्पर्क में आये तब से आपके लिए उन्नति-प्रगति के दरवाज़े खुल गये—सोवियतलैण्ड-नेहरू एवार्ड, राज्यसभा की सदस्यता, पद्मभूषण। इन आरोपों पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

डा. बच्चन : ऐसा समझना ख़ामख़याली है। योग्यता को उसका प्राप्य दिया गया है। क्या किसी साहित्यकार को सम्मानित नहीं किया जाना चाहिए? क्या मैं इसका अधिकारी नहीं था? मैं नेहरूजी से 1942 में मिला जब सरोजिनी नायडू तेजीजी को और मुझे आनन्द-भवन लिवा ले गयीं—तब तक इन्दुजी का विवाह भी नहीं हुआ था। पण्डितजी ने मुझसे कहा था, तुम्हारे फ़ैन तो हमारे घर में भी हैं। इस परिवार से मेरा परिचय केवल संयोगवश हुआ जिसने कालान्तर में निकटता का रूप लिया। सच्चे मित्र की भाँति मैं सर्वदा उनका साथ देना चाहूँगा। सच्चा कवि राजनीति से प्रेरित या प्रभावित नहीं होता। सच्चा पुरस्कार कवि को तब मिलता है जब उसकी कविता समाज के विभिन्न स्तरों को भेदती हुई निम्नतम स्तर तक पहुँच जाती है। मेरा सच्चा पुरस्कार मुझे उस दिन मिलेगा जिस दिन किसी गली में फिरते बावले को मैं अपनी कविता गुनगुनाते सुनूंगा। सत्ता आपको कवि या अभिनेता नहीं बना सकती। उसके लिए आपमें कुछ ठोस गुण होना चाहिए।

> 'छप चुकीं मेरी किताबें पूरबी औ' पच्छिमी दोनों तरह के अक्षरों में,
> औ' सुने भी जा चुके हैं भाव मेरे देश और परदेस दोनों के स्वरों में,
> पर ख़ुशी से नाचने को पाँव मेरे उस समय तक हैं नहीं तैयार जब तक
> गीत अपना मैं नहीं सुनता किसी गंगो-जमुन के तीर फिरते बावले से।'

सबरवाल : आपके सृजनशील जीवन की ओर लौटें तो आपसे पूछना चाहूँगी कि उम्र के साथ क्या कभी आपको अपनी शक्ति के ह्रास का भी आभास हुआ?

डा. बच्चन : जी, लेखन से विदा ले लेने की बात मेरे मन में ज़रूर उठी। मुझे ऐसा लगा कि मुझे जो कहना था वह मैं कह चुका। मेरी भाव-प्रवणता में वह धार नहीं जो पहले थी, गो मेरे अन्दर कभी-कभी प्रेरणा का उबाल उठता है। अभी एक दिन आसमान में मैंने एक एकाकी तारा देखा और उससे टूटते तारे का रूपक मेरे मन में जुड़ गया। एक दूसरे दिन सन्ध्या को मेरी दृष्टि पच्छिम की ओर गयी जहाँ अभी-अभी डूबे सूरज की लालौंछ छायी हुई थी

और वह मुझे अपनी ही अन्तर्ज्वाला की प्रतीक लगी। जब अमिताभ अस्पताल से लौटा तब मैंने एक कविता लिखी थी —एक चमत्कार—'धर्मयुग' में छपी थी; शायद आपने देखी हो।

उम्र के साथ कवि की शक्ति के ह्रास की बात चलायी थी आपने, पर ईट्स का तो कहना था

···जब शायर बूढ़ा होता
उसकी कविता तब नौजवान हो जाती है।

ईट्स का मतलब था कि जब कवि युवक होता है, नया होता है, तब उसकी कविता कमज़ोर होती है, जब वह वृद्ध हो जाता है तब उसकी कविता ज़ोरदार हो जाती है। इसका अनुभव स्वयं मैंने 17-18 वर्ष की अवस्था में किया था, जब मुझे लगता था कि मैं अपने को अभिव्यक्त न करूँगा तो मैं जी नहीं सकूँगा, पर मैं अपनी कविता की कमज़ोरी से भी अनवगत न था।

सबरवाल : कभी आपने स्वयं अपनी रचना का मूल्यांकन किया है ?

डा. बच्चन : जी नहीं; कवि को स्वयं अपनी कविता का रसास्वादन नहीं करना चाहिए। कवि तो अपनी कविता का जनक होता है, उसका पिता। मैंने संस्कृत का एक श्लोक पढ़ा था जिसका अर्थ था कि पिता को अपनी पुत्री के सौन्दर्य पर नहीं रीझना चाहिए; यह दूसरे करें तभी उचित। इसके बड़े संकेत हैं।

सबरवाल : जब आप अपने अतीत की ओर मुड़कर देखते हैं तो अपने जीवन की उपलब्धियों पर आपकी क्या प्रतिक्रिया होती है ?

डा. बच्चन : असन्तोष मानव जीवन का एक बड़ा प्रबल तत्व है। मनुष्य हमेशा यह अनुभव करता है कि जो कुछ उसने प्राप्त किया उससे अधिक वह प्राप्त कर सकता था।

'मिल गया माँगा बहुत कुछ पर कहाँ सन्तोष मन में'

मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ; क्योंकि स्वप्न और सत्य के बीच फ़ासला हमेशा बना रहता है। और कवि स्वप्न देखना नहीं छोड़ सकता। सन्तोष सन्तों के लिए है, कवियों के लिए नहीं।

बच्चन से साक्षात्कार*

हरीश मेहता : श्रीमन्, मैं एक अंग्रेज़ी-भाषा पत्रिका की ओर से आया हूँ। क्यों न हम अपनी बातचीत अंग्रेज़ी में करें ?

डा. बच्चन : आप हमारी बात-चीत का अनुवाद अंग्रेज़ी में कर लें। मैं हिन्दी का लेखक हूँ : हिन्दी में बात करना चाहूँगा।

मेहता : पर आपने तो केम्ब्रिज युनिवर्सिटी से पी-एच. डी. अंग्रेज़ी साहित्य पर ली थी।

डा. बच्चन : बजा, लेकिन रोटी कमाने के लिए मुझे कुछ तो करना ही था।

* साक्षात्कारकर्ता : हरीश मेहता ('जंटिलमैन'—बम्बई), 1983

मेहता : केम्ब्रिज में आपकी शोध का विषय था, 'ईट्स एण्ड हिज़ ओकल्टिज़्म'। क्या आप उसके विषय में हमें कुछ बताना चाहेंगे ?

डा. बच्चन : मेरा शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो चुका है। उसके दो संस्करण निकल चुके हैं और मेरा ख़्याल है तीसरा जल्द ही निकलेगा। मैंने यह पुस्तक 1965 में प्रकाशित करायी थी, जब ईट्स की जन्मशती मनायी गयी थी। यह एकमात्र पुस्तक है जो मैंने अंग्रेज़ी में लिखी। ईट्स ने अपने तमाम जीवन 'ओकल्टिज़्म' यानी रहस्य विद्या में गहरी रुचि ली थी। ईट्स को ओकल्टिज़्म का काफ़ी ज्ञान भी था और उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी दोनों तरह की ओकल्टिज़्म का अध्ययन किया था। उन्होंने ओकल्टिज़्म का उपयोग अपनी कविता में भी किया था। मूलरूप से मेरा शोध-प्रबन्ध ईट्स की कविता के विषय में है, पर मैंने उन विभिन्न विधियों और विविध रीतियों का भी विश्लेषण किया है जिनसे ईट्स की कविता प्रभावित हुई थी।

मेहता : और आपकी पुस्तक खूब बिकी।

डा. बच्चन : आजकल योरोप और अमरीका में 'ओकल्टिज़्म' बड़ा लोकप्रिय विषय है, इसलिए मेरे प्रकाशक ईट्स पर मेरी पुस्तक का तीसरा संस्करण भी निकालना चाहते हैं।

मेहता : आपने अपनी सभी पुस्तकें भारतीय प्रकाशकों के यहाँ से छपाई; केवल आपकी 'मधुशाला' का अंग्रेज़ी अनुवाद 'दि हाउस आफ़ वाइन' फ़ारचून प्रेस, लन्दन से छपा।

डा. बच्चन : जी हाँ, ईट्स पर मेरी पुस्तक के प्रकाशक हैं, मोतीलाल बनारसी-दास; वे मुख्यतया भारत-विद्या पर पुस्तकें प्रकाशित करते हैं; पहले लाहौर में थे; देश-विभाजन के पश्चात दिल्ली आये।

मेहता : जब आप केम्ब्रिज युनिवर्सिटी से अंग्रेज़ी साहित्य पर पी-एच. डी. लेकर भारत लौटे तब आपने इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ाना आरम्भ किया, पर आपने लिखा हिन्दी में। क्यों ?

डा. बच्चन : केम्ब्रिज जाने के पहले भी मैं इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेजी साहित्य पढ़ाता था। शुरू से ही इन दोनों भाषाओं में मुझे रुचि थी, और मैं दोनों भाषाएँ सरलता से पढ़-लिख सकता था। मेरा लेखकीय जीवन क़रीब पचास वर्षों का है। मेरी कविताओं का प्रथम संग्रह 'तेरा हार' नाम से 1932 में प्रकाशित हुआ था। दो साल हुए, अपनी कविताओं का एक संकलन मैंने 'मेरी कविताई की आधी सदी' के नाम से छपाया। मैं अपनी सम्पूर्ण रचना-वली के प्रकाशन के सिलसिले में दिल्ली आया हूँ। राजकमल प्रकाशन मेरी सारी रचनाएँ 9 खण्डों में प्रकाशित करेगा; हर खण्ड में लगभग 500 पृष्ठ होंगे; कुल रचनावली में 5000 से ऊपर पृष्ठ होंगे।

मेहता : क्या आपने हाल में कोई कविता लिखी है ?

डा. बच्चन : कवि में लिखने की इच्छा तो सदा ही बनी रहती है। मैं यदा-कदा कुछ लिखता रहा हूँ, पर इन दिनों मैं अधिक नहीं लिख पाता। कोई विशेष अवसर मुझसे कुछ लिखा लेता है, लेकिन आजकल लिखने में मैं कुछ कष्ट अनुभव करता हूँ। 76 का हो भी तो चुका हूँ। मैंने कभी टाइपिस्टों की सहायता नहीं ली। जो कुछ मुझे लिखना हुआ है, मैंने अपने हाथ से लिखा है। आज भी जो कुछ मैं लिखता हूँ, कविता, अथवा लेख, मैं अपने हाथ से ही लिखता हूँ। यही कारण है कि लिखना मेरे लिए एक समस्या बन गयी है;

आखिर लिखने में उँगलियाँ तो थकती ही हैं।

मेहता : क्या आप नियमित रूप से, प्रतिदिन दो या तीन घण्टे लिखते हैं ?

डा. बच्चन : जी नहीं। लिखने का काम, जब भी करना हुआ, मैं सवेरे के घण्टों में समाप्त कर देता हूँ; दिन के भोजन के बाद मैं दो या तीन घण्टे सोता हूँ। आज भी अभी थोड़ी ही देर पहले मैं सोकर उठा हूँ। शाम को मैं थोड़ा टहलता हूँ, अगर मौसम अच्छा हुआ। रात का खाना मैं ज़्यादा देर से नहीं खाता और खाकर मैं सोने चला जाता हूँ। सुबह भी उठकर मैं घूमने निकल जाता हूँ। दिन के भोजन के पहले-पहले मैं अपना काम खतम कर लेता हूँ।

मेहता : क्या आप दफ़्तर नहीं जाते ?

डा. बच्चन : दफ्तर !

मेहता : हमने सुना है, आप समाचार भारती, न्यूज़ एजेन्सी, के निदेशक हैं।

डा. बच्चन : नहीं साहब। मैं सारे दिन घर पर रहता हूँ। जब मैंने यह पद स्वीकार किया, मैंने कह दिया, आप मेरे नाम का उपयोग करना चाहें तो कर सकते हैं, लेकिन मैंने स्पष्ट कर दिया, मैं काम करने में असमर्थ हूँ। अगर वे किसी मसले पर मेरी सलाह चाहते हैं तो उनका स्वागत है।

मेहता : वे आपको परेशान करते होंगे।

डा. बच्चन : बिल्कुल नहीं। उन्होंने मेरे पास आकर कहा, आप समाचार भारती के निदेशक बन जाइए, मैंने कहा, ठीक है, लेकिन मैं कोई काम न करूँगा। हाँ, किसी मामले में अगर वे मेरी राय चाहते हैं तो वे मेरे पास आ सकते हैं; मैं कहीं नहीं जाऊँगा।

मेहता : आप किन विषयों पर समाचार भारती को सलाह देते हैं ?

डा. बच्चन : मैं उसके बारे में कुछ भी तो नहीं जानता। कुछ दिन हुए मेरे पुराने मित्र श्री अक्षयकुमार जैन मेरे पास आये और उन्होंने मुझसे कहा, हम चाहते हैं, आप हमारी संस्था से सम्बद्ध हों। मुझे उसके बारे में कुछ भी पता नहीं था। अभी तक न तो मैंने उसका दफ्तर देखा है, और न उसकी किसी मीटिंग में भाग लिया है।

मेहता : शायद आपको अच्छी तनख्वाह देंगे तथा और भी कुछ सुविधाएँ।

डा. बच्चन : मुझे कुछ पता नहीं। खैर, जो भी हो, मैं कोई तनखवाह नहीं चाहता।

मेहता : आपने यह काम कब से उठाया ?

डा. बच्चन : काम ! मुझे पता नहीं कि मुझे कुछ काम भी करना पड़ेगा। मैं कोई काम अपने ऊपर नहीं लेना चाहता। मैं अब कोई काम करने लायक नहीं हूँ। अगर वे अपनी सलाहकार समिति का सदस्य मुझे बनाना चाहते हैं, या मेरी सलाह लेना चाहते हैं तो मेरे पास आकर ले सकते हैं।

मेहता : शायद वे आपके नाम को इस्तेमाल करके अपनी साख जमाना चाहते हैं।

डा. बच्चन : अगर मेरे नाम में कोई करिश्मा हो, और वे चाहते हों तो खुशी से मेरा नाम इस्तेमाल करें। मगर इस तरह का काम मेरी समझ में तो आता नहीं।

मेहता : आपकी लोकप्रिय कविता मदिरापान के सम्बन्ध में है, और आपको मदिरा से परहेज़ है। फिर, मदिरा पीनेवाले की भावना क्या होती है, इसे आप कैसे जानते हैं और इतनी खूबी से।

डा. बच्चन : यह प्रतीकात्मक है। मैं तो समझता हूँ उमरख़ैयाम भी मदिरा नहीं पीते होंगे। बहुत-से ऐसे शायर हुए हैं, जिन्होंने मदिरा छुई तक नहीं, मगर

उन्होंने कविता लिखने के लिए मदिरा का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है। एक वड़े उर्दू शायर ने लिखा है : 'बनती नहीं है सागरो—मीना कहे बग़ैर'। कहने का मतलब है कि बिना प्याले और सुराही के उर्दू कविता नहीं लिखी जा, या अच्छी नहीं लिखी जा सकती। तो मैंने भी इस प्रतीक का उपयोग किया है। आप तो जानते होंगे, लखनऊ के रहनेवाले हैं, कि मदिरा को प्रतीक रूप में प्रयोग करने की उर्दू और फ़ारसी में, एक लम्बी परम्परा है। और आपको एक बात और बताऊँ, हिन्दी में भी इसकी परम्परा खोजी जा सकती है।

मेहता : हिन्दुस्तान में कविता पढ़नेवालों की संख्या बहुत कम है। लोग कविता पढ़ते ही नहीं।

डा. बच्चन : लोग अंग्रेज़ी कविता न पढ़ते हों, पर हिन्दी कविता, खासकर पुरानी कविता काफ़ी पढ़ी जाती है। मुशायरों और कवि-सम्मेलनों के द्वारा कविता काफ़ी सुनी भी जाती है। लेकिन कवि-सम्मेलनों का स्तर आज बहुत गिर गया है।

मेहता : आपकी तीन काव्यकृतियाँ, 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' खूब बिकी हैं।

डा. बच्चन : वे अब भी बहुत लोकप्रिय हैं, लेकिन मुझे अब पैसे की परवाह नहीं है। तीनों में 'मधुशाला' सबसे अधिक लोकप्रिय हुई। जब इसका अनुवाद अंग्रेज़ी में छपा तब पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने उसके लिए प्राक्कथन लिखा। आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी में एक लड़की बी. लिट् के लिए शोध कर रही थी; उसी ने इसका अनुवाद किया और इसे 'दि हाउस आफ़ वाइन' नाम दिया जो लन्दन से 1950 में छपा। तब तो आपका जन्म भी नहीं हुआ होगा। 'मधुशाला' का अनुवाद मराठी, मलयालम और बंगला में भी प्रकाशित हो चुका है, उसके कुछ पद रूसी में अनूदित हो चुके हैं।

मेहता : आप आक्सफ़र्ड में थे ?

डा. बच्चन : मैं केम्ब्रिज में था।

मेहता : मैं केम्ब्रिज ही कहने जा रहा था।

डा. बच्चन : केम्ब्रिजवालों और आक्सफ़र्डवालों में नोक-झोंक चला करती है। मैं सेण्ट कैथरीन्स कालेज में था।

मेहता : तब आप अंग्रेज़ी कविता लिखा करते थे ? तब क्या आप अंग्रेज़ कवियों के सम्पर्क में आये ?

डा. बच्चन : जी नहीं; मैं केम्ब्रिज गया था अपना शोध कार्य पूर्ण करने, और मैंने नियत समय से पहले अपना काम पूरा कर लिया। पी-एच. डी. करने के लिए मुझे वहाँ तीन साल रहना था लेकिन मैंने अपना शोध-कार्य दो बरस, तीन महीने में पूरा किया। वहाँ मैंने सौ से ऊपर कविताएँ भी लिखीं, और 500 पृष्ठों की एक डायरी भी। वह मेरे सृजनशील जीवन का सबसे अधिक सक्रिय काल था। कविताएँ और डायरी हिन्दी में लिखी गयी थीं; थीसिस लगभग 500 पृष्ठों की अंग्रेज़ी में।

मेहता : अपना शोध-प्रबन्ध लिखते हुए क्या आपने तत्कालीन अंग्रेज़ी काव्य-परिदृश्य की भी खोज की ?

डा. बच्चन : मेरे पास इतना समय कहाँ था। मुख्य रूप से मुझे थीसिस लिखनी थी। लेकिन मेरा ऐसा अनुभव है कि जब मनुष्य आलोचनात्मक कार्य करता है तब उसकी सृजनात्मक प्रवृत्ति भी उद्‌बुद्ध होती है। यह एक बड़ी रहसिल

और पेचीली बात है। मुझे स्वयं इस पर बड़ा आश्चर्य होता, और मैं अपने से कहता, मैं इंग्लैण्ड आया हूँ आलोचनात्मक कार्य करने के लिए और मैं सृजनात्मक कार्य क्यों कर रहा हूँ। खैर, मेरी डायरी, जो मैंने इंग्लैण्ड में लिखी थी, वहाँ से मेरे लौटने के कई साल बाद प्रकाशित हुई। कविताएँ जल्द ही प्रकाशित हो गयीं।

मेहता : क्या आप केम्ब्रिज किसी छात्र-वृत्ति पर गये थे ?

डा. बच्चन : जी नहीं। मैं अपने पैसे से गया था, लेकिन भारत सरकार ने मुझे आंशिक सहायता दी थी। इसका विस्तार से वर्णन मैंने अपनी आत्मकथा में किया है जो तीन भागों में है, नाम हैं, 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'नीड़ का निर्माण फिर' और 'बसेरे से दूर'।

मेहता : क्या आपकी त्रिभागी आत्मकथा आपके समकालीन लेखकों के जीवन और काल की भी चर्चा करती है ?

डा. बच्चन : आदमी 'सुन्न महल' में तो रहता नहीं। यह तो किसी बनवासी के लिए ही सम्भव हो सकता है। अगर आप नगर में रहते हैं तो आप नगर-निवासी, अपने पड़ोसी; अपने समकालीनों के सम्पर्क में आते ही हैं। किसी प्रसिद्ध लेखक का कथन है कि 'आत्मकथा दूसरों के विषय में लिखने का सबसे अच्छा माध्यम है।'

मेहता : आप राज्यसभा के मनोनीत सदस्य थे। क्या आप अपनी सदस्यता के समय के बारे में कुछ कहना चाहेंगे ?

डा. बच्चन : मैं राज्यसभा में 1966 में गया, श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रधान मन्त्री होने के कुछ ही दिनों बाद, और 1972 में मेरी सदस्यता समाप्त हो गयी।

मेहता : 1966 से श्रीमती गांधी में जो परिवर्तन आया है, क्या उसकी ओर भी आपका ध्यान गया है ?

डा. बच्चन : आप अपनी बातचीत मुझ तक ही सीमित रखें तो अधिक उपयुक्त होगा।

मेहता : आप नेहरू-सरकार के हिन्दी सलाहकार थे। क्या यह कोई नियमित नियुक्ति थी ?

डा. बच्चन : बिलकुल। मैं हिन्दी विशेषाधिकारी-पद पर नियुक्त था, और मेरा काम था विदेश मन्त्रालय में उत्तरोत्तर हिन्दी के प्रयोग में सहायता-सहयोग देना।

मेहता : इस दिशा में श्री वाजपेयी ने भी कुछ प्रयत्न किया था, पर कोई विशेष परिणाम नहीं निकला।

डा. बच्चन : इसके पीछे कुछ कारण हैं। नौकरशाही की शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हुई है, और वह उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। नौकरशाही हिन्दी में काम करने से कतराती है क्योंकि शुरू-शुरू में हिन्दी में काम करना मुश्किल होगा। विदेश मन्त्रालय में किसी भाषा में कही या लिखी बात समझने में मुश्किल नहीं होगी, क्योंकि वहाँ अनुवाद की सुविधाएँ हैं। पर अनुवाद की भाषा और मौलिक चिन्तन की भाषा में अन्तर होना लाज़िमी है। मौलिक चिन्तन की चुनौती को स्वीकार करने के लिए कोई तैयार नहीं है। इसके अलावा और भी समस्याएँ हैं। इस देश में किसी एक भाषा के लिए सबकी सहमति नहीं है। उत्तर से दक्षिण और पूरब से पच्छिम तक हमारे

देश में 15 अलग-अलग भाषाएँ हैं जिनके आधार पर हमारे प्रान्त बनाये गये हैं। हर प्रान्त यह चाहता है कि उसका सारा काम उसकी अपनी भाषा में हो। हमें एक ऐसी भाषा की तलाश है जो सारे भारतीयों को समस्वीकार्य हो। यह भाषा या तो कोई विदेशी भाषा हो सकती है या फिर कोई देशीय भाषा। अगर हमें अपनी आज़ादी का कुछ गर्व-गुमान हो तो हमारी अक्लमन्दी और कौमियत का यह तकाज़ा है कि वह भाषा हमारी अपनी हो, अपने देश की हो। हाल ही में हमने अपने यहाँ गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन का आयोजन किया। और प्रत्येक राष्ट्र के अध्यक्ष ने अपना भाषण अपने राष्ट्र की भाषा में दिया। फाइडेल कैस्ट्रो इस्फ़हानी में बोले और यहाँ आप मुझसे अंग्रेज़ी में साक्षात्कार करने आये हैं और आप लखनऊ में रहते हैं। आप अपनी भाषा नहीं बोल सकते।

मेहता : बोल सकते हैं, साहब।

डा. बच्चन : मगर आप इस साक्षात्कार को अंग्रेज़ी में अनूदित करने जा रहे हैं। आप एक अंग्रेज़ी पत्रिका निकालते हैं। आपको हिन्दी में लिखना चाहिए। भाषा को आप जितना ही शान पर चढ़ायेंगे उसकी धार में उतनी ही तेज़ी आयेगी। सबसे बड़ी बाधा यह है कि हमारे यहाँ के बेहतर दिमाग़वाले लोग न हिन्दी में सोचते हैं, न हिन्दी बोलते हैं। वे समझते हैं कि हिन्दी तो चपरासियों की भाषा है। तो वह चपरासियों की भदेस भाषा होकर रहेगी। मैंने भारतीय नौकरशाही के साथ दस बरसों तक काम किया है। मैं इसको गौर से देखता था कि जब अफ़सरों को चपरासियों से कुछ कहना होता था तो वे हिन्दी बोलते थे, पर अपने सहयोगियों से बातचीत अंग्रेज़ी में करते थे। अंग्रेज़ी के साथ एक विशेषाधिकार जुड़ा है। वह गौरव-प्रतिष्ठा की भाषा रही है। वह हमारे शासकों की भाषा थी। गोरी चमड़ी वाले शासक तो चले गये। उनकी जगह काली चमड़ीवाले शासक आ गये और उन्होंने उनका-सा रोब-दाब बनाये रखने के लिए अपने भूतपूर्व गोरे मालिकों की भाषा अपना ली।

मेहता : हिन्दी साहित्य को आपकी देन बहुत बड़ी है, लेकिन पिछले पाँच वर्षों में न तो आपने कोई बड़ी किताब लिखी, न कोई बड़ी कविता। ऐसा क्यों?

डा. बच्चन : आदमी लिखते-लिखते थक जाता है। अगर आप लेखक होते तो आप इसे ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकते थे। दो सूरतें सामने आती हैं। एक तो यह कि जब लेखक समझ लेता है कि वह अपना सर्वश्रेष्ठ दे चुका, तब वह अपनी क़लम रख देता है। वह अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ वर्ष लेखन को दे चुका और अब उसके पास कुछ विशेष कहने को नहीं है। दूसरी सूरत में, अगर वह लगातार लिखता चला गया तो यह ख़तरा है कि वह अपने को दुहराने लगेगा। तब वह अपने पिछले अनुभवों के ईंधन से अपनी कल्पना की ज्वाला जगाये रखता है। मुझे तो ऐसे लेखक पर बड़ा तरस आता है जो सिर्फ़ एक चलता-फिरता कलम घिस्सू बनकर रह जाता है। साहित्य का कोई दृश्य इससे अधिक दयनीय नहीं हो सकता कि कोई लेखक अपनी घिसी-पिटी शैली को पिछुआता चला जा रहा हो, जो अपनी पुरानी यादगारों में जी रहा हो जो उसका पीछा न छोड़ रही हो, जो अपनी मृत-मूर्च्छित अभिव्यंजना में नया प्राण फूंकने में असमर्थ हो। मैं बहुत-से हिन्दी लेखकों को जानता हूँ जिनके पास नया कहने को कुछ नहीं रह गया, पर वे पुरानी संजोई हुण्डियों को

भुनाते चले जा रहे हैं। नतीजा यह है कि जो वे पहले लिख चुके हैं उसी को दुहराते हैं, या जो पहले खा-चल चुके हैं उसी की जुगाली करते हैं। किसी भी लेखक की प्रगति का सबूत उसकी शैली है। जब शैली विकसित होती है तब उसका मतलब यह होता है कि लेखक प्रगति कर रहा है। अगर आपकी शैली परिवर्तित अथवा विकसित नहीं होती तो जाहिर है आप एक ही जगह पर अटक गये हैं। जब शेक्सपियर ने 'लव्ज़ लेबर लॉस्ट' लिखा तब उसकी एक शैली थी, जब 'मैकबेथ,' तब उसकी शैली का दूसरा आयाम उदघाटित हुआ, जब उसने 'टेम्पेस्ट' लिखा, तो एक भिन्न शैली सामने आयी हर दर्जे पर उसकी प्रगति की साक्षी भरती हुई। जिस दिन उसने समझ लिया कि अब उसके पास नया कुछ देने को नहीं है उस दिन से उसने लिखना बन्द कर दिया। अपने जीवन के प्राय: अन्तिम दस वर्षों में वह सिगार पीता रहा और दुनिया को देखता रहा। उसने 1606 के आसपास 'टेम्पेस्ट' लिखा था, गो यह बहुत बाद को छपा; उन दिनों नाटक कई-कई वर्षों तक खेले जाने के बाद प्रकाशित किये जाते थे।

मेहता : आपने अपने लेखकीय जीवन में रंगमंच की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, क्यों ?

डा. बच्चन : मेरे पास समय नहीं था। मुझे मालूम था कि हिन्दी कविता लिखकर कोई सुविधा-पूर्ण जीवन नहीं बिता सकता। कविता से कोई कवि कितना धन कमा सकता है ? इसलिए मैंने अपने साहित्यिक तरकस में दो तीर रखने की योजना बनायी। मैंने सोचा कि इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी साहित्य के लेक्चरर के रूप में काम करके मैं अपनी जीविका चलाऊँगा और अपना सृजनात्मक कार्य मैं हिन्दी गद्य और पद्य लिखकर पूरा करूँगा। मैंने शेक्स-पियर के चार नाटकों का अनुवाद किया और दो को मैंने रंगमंच पर भी प्रस्तुत किया। 'मैकबेथ' में मेरी पत्नी ने लेडी मैकबेथ की भूमिका अदा की और 'ओथेलो' में अमिताभ ने कैसियो की।

मेहता : यह आपने कब किया ?

डा. बच्चन : शायद 1959 या, 60 में, मुझे ठीक याद नहीं। हाँ याद आया 'मैकबेथ' 1958 में दिल्ली में रंगमंच पर खेला गया था। मैंने दो और नाटकों का अनुवाद किया—'हैमलेट' और 'किंग लियर' का।

मेहता : आपने शाब्दिक अनुवाद किया या आपने कुछ कलागत स्वतन्त्रताएँ भी लीं ?

डा. बच्चन : अनुवादों को पढ़कर देखें।

मेहता : अपनी आत्मकथा का चौथा भाग प्रस्तुत करने में आपने बड़ी देर लगा दी। क्यों ?

डा. बच्चन : लेखक को अपनी आत्मकथा किसी-न-किसी समय तक लाकर समाप्त करनी ही होती है। 1972 से मेरा जीवन बहुत अव्यवस्थित रहा। राज्य सभा में मेरा कार्यकाल समाप्त हो गया और मुझे बम्बई जाना पड़ा। दिल्ली में मैं जिस प्रकार के साहित्यिक परिवेश का अभ्यस्त था उसमें व्याघात पड़ गया। 1971 के अन्त में मुझे एक बड़ा आपरेशन कराना पड़ा, और उससे जो कमज़ोरी आयी उससे मुक्त होने में कई वर्ष लग गये। आत्म-कथा लिखना श्रम-साध्य कार्य है—और अब मुझसे अधिक परिश्रम नहीं किया जाता। 1977 में जब मेरे स्वास्थ्य में सुधार हुआ, तब मैंने तीसरा

भाग पूरा किया। आत्मकथा, कोई भी, जीवन के अन्तिम दिन तक की तो नहीं लिखता, लिख भी नहीं सकता। अब मैं दिल्ली वापस आ गया हूँ। अगर मेरा मूड ठीक रहा, और मेरी सुधियों ने साथ दिया, और मैं लेखन-सामर्थ्य जुटा सका तो मैं अवश्य ही चौथा भाग भी देना चाहूँगा।

मेहता : क्या आपको कभी ऐसी प्रेरणा नहीं हुई, या आपसे किसी ने कहा नहीं कि आप कोई ऐसी उच्चकोटि की पटकथा दें जिससे भारतीय सिनेमा में युगान्तर उपस्थित हो जाये ?

डा. बच्चन : इस प्रकार के कार्य के लिए बड़ा अनुभव चाहिए; और सिनेमा का मुझे कोई अनुभव नहीं।

मेहता : आपने अपनी कविताओं में एक तरह से मृत्यु का उपहास किया है कि आपकी अर्थी ले जानेवालों के पद, मद-डगमग होते हों, और वे 'रामनाम सत्य है' न कहें, बल्कि 'सच्ची मधुशाला' कहते चलें, और आपकी चिता पर घी की जगह मदिरा के प्याले उंडेले जायें। लेकिन जब आपके पुत्र अमिताभ की हालत नाज़ुक थी, जब यमदूत अपने भयावह रूप में उसके सन्मुख खड़ा था, तब आपकी आँखों में आँसू थे। इस परिवर्तन का रहस्य क्या है ? तब आपकी निर्भीकता कहाँ चली गयी थी ? तब आपको मृत्यु का क्या अहसास हो रहा था ?

डा. बच्चन : (धीमे से) मुझे खुद पता नहीं।

मेहता : तब मौत के मुँह पर उसका मज़ाक उड़ानेवाला उग्र-उदग्र हरिवंश राय बच्चन कहाँ था, जब अचानक आपका पुत्र अपनी भरी जवानी में काल का ग्रास हो सकता था ? तब अपनी पूरी दुनिया को चकनाचूर होते देख क्या आप धैर्यपूर्वक खड़े रह सकते थे ? तब आपकी कवि-कल्पनाएँ कहाँ अन्तर्धान हो गयी थीं ?

डा. बच्चन : मैं उसका विश्लेषण नहीं कर सकता। हम सबके लिए वह एक महा-भयंकर अनुभव था ! (आह भरकर)। कैसे वे घड़ियाँ आयीं और चली गयीं, हम अब भी इसका विवेचन नहीं कर सकते। कैसे अमिताभ ने उनका सामना किया···कैसे डाक्टरों ने उनका सामना किया···कैसे हमने उनका सामना किया···मुझे खुद नहीं पता। हमारा सारा परिवार एक अद्भुत मानसिक तनाव की हालत में जी रहा था, लगता था हमारे पैर ज़मीन से उखड़ गये हैं। हम, कहना चाहिए, क्षण-क्षण जी रहे थे। हम अन्तिम स्थिति—बुरी-से-बुरी स्थिति के लिए तैयार थे, और नहीं भी तैयार थे, हम बेचारगी से उसका इन्तजार कर रहे थे, और नहीं भी कर रहे थे। इंटेंसिव केयर यूनिट में जाना बड़ा ही भयप्रद अनुभव हुआ करता था जहाँ अमिताभ के सारे बदन में जगह-जगह नलियाँ और सुइयाँ लगी रहती थीं; और वे संज्ञाहीन अवस्था में पड़े रहते थे। उन्हें देखने के बाद उनका पक्षाघात-हत-सा शरीर दिन भर-रात भर आँखों-आँखों नाचता था। हम बिल्कुल मजबूर थे; हम कुछ भी नहीं कर सकते थे; अगर कुछ किया जा सकता था तो उसे केवल डाक्टर लोग जानते थे। और प्रार्थना भी क्या है ? मनुष्य की असमर्थता की शरण भर है। इस मामले में मैं बड़ा सन्देहवादी हूँ। अगर अल्लामियाँ हैं, तो क्या वे हमारी प्रार्थना भी सुनते हैं, उन्हें इस अनादि-अनन्त संसार में कितना कुछ करने को है। अगर उन्होंने आपके पुत्र का अन्त करने का ही निर्णय कर लिया है तो क्या वे आपकी प्रार्थना सुनकर उससे अन्यथा करने को तैयार होंगे। लेकिन

जब मनुष्य निस्सहाय हो जाता है तब वह झुक जाता है। झुकना ही शायद प्रार्थना है। प्रार्थना ही शायद झुकना है। उन तमाम दिनों में जब अमिताभ की दशा गम्भीर थी, मेरे मुँह से यह नहीं निकला, हे भगवान, मेरे लड़के को अच्छा कर दो। क्या वे मेरे कहने से मेरे लड़के को अच्छा कर देंगे ? क्यों कर देंगे ? वे मेरे क्लार्क नहीं हैं कि जो मैं कहूँ, इच्छा करूँ उसे वे पूरी कर ही दें। अगर वे उसे अच्छा करना चाहेंगे तो मेरे बग़ैर कहे भी अच्छा कर देंगे। इस तुमुल-कोलाहल भरे संसार में आपकी क्षीण प्रार्थना कहाँ सुनी जायगी ? फिर आपकी प्रार्थना का मतलब क्या है ? यह केवल आपकी असमर्थता की प्रतिध्वनि है। यह एक सार्वभौम निःशक्तता को बहलाने का अच्छा ख़्याल भर है कि अगर दवा नहीं काम करेगी तो दुआ करेगी।···उन दिनों मैं बिल्कुल चुप रहता था। और जब भी किसी पराशक्ति का ध्यान आता था तो मेरा मौन उससे इतना ही कहता था —तेरी इच्छा पूरी हो ! हे राम —राम जो सबमें रमा है —तुम्हारी जय हो ! 'They will be done' !...

मेहता : हिन्दी सिनेमा यथार्थ को विकृत करता है। एक फिल्म में दिखाया गया था कि भगवान की आँखों में आँसू छलछला रहे हैं।

डा. बच्चन : फिल्म बनानेवालों का ध्येय पैसा बनाना है। पैसा बनाने के लिए वे आपके भोलेपन का फ़ायदा उठाना चाहते हैं, और आप उन्हें उठाने देते हैं।

मेहता : यह मैं स्वीकार करना चाहूँगा कि इसके लिए हम सब गुनहगार हैं।

डा. बच्चन : अगर यह आपकी कमज़ोरी है, तो फिर उसकी क़ीमत अदा कीजिये। और ऐसी क़ीमत उसूल करनेवाले दुनिया में कम नहीं हैं। कोई दावा करत है कि ईसामसीह ने अमिताभ को अच्छा किया···कोई कहता है, नहीं, भगवाना कृष्ण ने,···कोई कहता है, नहीं, नहीं, दुर्गा माता ने। अब आप ही बताइये मैं किसकी बात मानूँ। हज़ारों लोगों ने हमें ख़त लिखे कि अमिताभ के लिए उन्होंने कैसी-कैसी प्रार्थनाएँ कीं, कहाँ-कहाँ तीर्थयात्राओं पर गये। उनकी सद्भावना के लिए हमारा रोम-रोम आभारी है।···पर कुछ लोगों ने अमिताभ की बीमारी में—यह जानकर कि यह हमारी कमज़ोरी का क्षण है —हमें धोखा देने का भी प्रयत्न किया। किसी ने होशियारपुर से लिखा कि हमें इतने सोने के पत्र भेजो तो हम उस पर मन्त्र लिखकर फ़लाँ देवता को चढ़ायेंगे और उससे अमिताभ निश्चय अच्छा हो जायेगा ! कई घर पर आये, हमें 500) दीजिये, हम बकरा ख़रीदकर कालीमाता के सामने बलि चढ़ायेंगे और अमिताभ तुरन्त अच्छा हो जायेगा। क्या काली इतनी भूखी हैं कि वे बकरे को खा-अघा मेरे लड़के को अच्छा कर देंगी। अब आप ही बताइये कि बकरे की मौत और अमिताभ की ज़िन्दगी में क्या सम्बन्ध है। किसी ने लिखा, अमिताभ के वज़न का चना बन्दरों को खिला दीजिए तो अमिताभ अच्छा हो जायेगा। किसी ने लिखा कि हमें अमिताभ के कपड़े भेज दो तो हम उसे अच्छा कर देंगे। इसी प्रकार के न जाने कितने सुझाव हमको दिये गये। उन दिनों इण्टेंसिव केयर यूनिट में सैकड़ों गण्डे-तावीज़ आये कि उन्हें पहना दिया जाय तो अमिताभ की रोग-बला छू-मन्तर हो जायेगी। मैं मानता हूँ कि बहुत-से लोग अमिताभ के लिए दिल से चिन्तित थे, पर बहुत-से लोग हमारे नाजुक वक्त का लाभ भी उठाना चाहते थे; अपने मिथ्यान्ध विश्वासों से हमें भी भरमाना चाहते थे। अब तक लोग हमारे पास आते हैं, साहब, हमने अमिताभ की बीमारी में यह किया था, वह किया था, आप हमारे

लिए'''अब मानिए आप उनका एहसान, चुकाइये आप उनके एहसान का बदला'''

मेहता : तो हम मान लेते हैं कि आदर्शवादिता का जो सन्देश आपकी कविताओं में फैला हुआ है, वह अमिताभ की बीमारी से नहीं बदला। लेकिन दुनिया के बारे में आपकी राय बदली। जीवन के व्यापक परिवेश में कविता का क्या उपयोग है ?

डा. बच्चन : कविता का कोई उपयोग नहीं है। जीवन में भद्दी, भदेस, भड़भड़िया चीज़ों की बड़ी उपयोगिता है। उदाहरण के लिए ईश्वर का क्या उपयोग है। बिना ईश्वर के आपका जीवन बड़े मज़े में चल रहा है, बड़े उम्दा तरीक़े से। आप अपने साथ मेरा साक्षात्कार रेकार्ड कर रहे हैं, चाय पी रहे हैं, दिल्ली में कार चला रहे हैं : कहाँ ज़रूरत पड़ती है आपको ईश्वर की ? दुनिया, बिना ईश्वर के, जीने का धन्धा बड़ी खूबी से कर रही है। प्रेम की क्या उपयोगिता है ? जो लोग प्रेम नहीं करते वे अपनी ज़िन्दगी बड़े मज़े में गुज़ार रहे हैं। संगीत का क्या उपयोग है ? या कला का ? अजन्ता की गुफाओं का क्या उपयोग है ? हज़ारों लोग ऐसे हैं जो नहीं जानते कि अजन्ता क्या बला है।'''

कला आपको इन्सान बनाती है—'आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्सां होना'। कुत्ते को कला की आवश्यकता नहीं, क्योंकि कला का ज्ञान न होने से कुत्ता कम कुत्ता नहीं। लेकिन जिस आदमी ने ताजमहल या अजन्ता का सौन्दर्य नहीं जाना क्या उसका दिमाग़ कम खूबसूरत नहीं ? जिन लोगों ने तुलसीदास या शेक्सपियर नहीं पढ़ा वे कम पढ़े लोग हैं। अगर आप तुलसीदास को पढ़ेंगे तो आप बेहतर दिमाग़वाले होंगे, शेक्सपियर या दान्ते को भी, तो और ज़्यादा। यह उपयोगिता नहीं है। आनन्द है। जीवन में अधिकतम मूल्यवान वस्तुओं का कोई उपयोग नहीं है। वे आपको केवल बेहतर इन्सान बनाती हैं। वे जीवन की अमूल्य या मूल्योपरि विभूतियाँ हैं। आप मुझे किसी कविता के लिए एक लाख रुपया दे दें। यह उसका कोई मूल्य होगा ? नगण्य। कविता लिखने का आनन्द एक क्या, पन्द्रह लाख रुपया भी नहीं दे सकता, पन्द्रह लाख से भी नहीं खरीदा जा सकता—'सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्'। आप मुझे एक लाख रुपया देकर कहें, एक कविता लिख दीजिए; मैं नहीं लिख सकता। मैं सृजन नहीं कर सकता, मैं प्रेरित नहीं हुआ हूँ। पैसा मुझे प्रेरणा नहीं दे सकता। कवियों ने जाग-जागकर रातें काटी हैं, भूखों मरे हैं, गली-गली-मारे-मारे फिरे हैं, खून-पसीना एक किया है। वैन गॉग चार दिनों तक खाना न खाकर, पैसे बचाता था कैनवस, कूची, रंग ख़रीदने के लिए, क्योंकि वह सृजन करना चाहता था। वह सृजन करता था केवल अपने आनन्द के लिए गो आज उसके चित्र लाखों में बिकते हैं। लेकिन वह भूखों मरा। फिर भी वह चित्र बनाता रहा। क्यों ? उपयोग के लिए ? किस उपयोग के लिए ?

मेहता : आपके बेटे लेखक या कवि नहीं बने। क्या आप चाहते थे कि वे बनें ?

डा. बच्चन : मैंने हमेशा अपने बेटों को स्वतन्त्रता दी है। किसी तरह का पेशा अपनाने के लिए मैंने उनको कभी बाध्य नहीं किया। अमिताभ इंजीनियर बनना चाहते थे। मैं चाहता था कि वे फ़ौज में जायें। जब वे छोटे थे हम उनको 'फ़ील्ड मार्शल अमिताभ' कहा करते थे। कारण शायद यह था कि जब वे पैदा हुए उसके तुरत बाद मुझे यू. टी. सी.—युनिवर्सिटी ट्रेनिंग कोर में जाना पड़ा। अब उसे कुछ और कहते हैं।

मेहता : एन. सी. सी.।

डा. बच्चन : हाँ, तो मेरा विवाह सिक्ख परिवार में हुआ था। दूसरा विश्वयुद्ध चल रहा था। मेरी पत्नी के परिवार का हर मर्द-सदस्य फ़ौज में था। आये दिन कोई-न-कोई हमारे घर मेहमान होता, फ़ौजी वर्दी में। मैंने अपने मन में कहा, मैंने सैनिकों की जाति में विवाह किया है। मेरा लड़का निश्चय फ़ौज में जायेगा। जब मैं यू. टी. सी. में गया तो मैंने समझा कि अमिताभ के संस्कार ही मुझे फ़ौज में भेज रहे हैं। शायद नक्षत्रों का यह विधान है कि अमिताभ फ़ौज में जाये। जब अमिताभ ने अपना सीनियर कैम्ब्रिज कर लिया तो मैंने उसे राय दी कि वह नेशनल डिफेन्स एकेडमी, खड्गवासला में भर्ती के लिए प्रार्थना-पत्र भेजे। उन्हीं दिनों मेरे एक मित्र कर्नल हबीबुल्ला मेरे घर आये। उन्होंने अमिताभ की कद-काठी और उसका कैशोर्य-भव्य चेहरा देखकर मुझसे कहा, 'अमिताभ को मुझे दो और मैं उसे एक शानदार फ़ौजी अफ़सर बना दूंगा।' लेकिन मैंने अमिताभ पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला और वह फ़ौज में नहीं गया। उसने बी. एस.सी. करने के लिए साइंस कालेज में नाम लिखा लिया; लेकिन परीक्षा में उसके नम्बर उतने प्रतिशत नहीं आये जितने इंजीनियरिंग कालेज में प्रवेश पाने के लिए आवश्यक थे। तो मैंने उसे प्राइवेट फ़र्म में काम खोजने के लिए कहा। अमिताभ ने कलकत्ता की एक कम्पनी में छह वर्ष काम किया। इस बीच मेरा छोटा बेटा अजिताभ भी बी. ए. कर कलकत्ता की एक फ़र्म में काम पा गया था। उसने अमिताभ को फिल्मों में जाने के लिए प्रेरित किया। अमिताभ से अधिक अजिताभ इस बात के लिए उत्सुक था कि अमिताभ फिल्मों में जाये। उसने अमिताभ को यदा-कदा शौकिया नाटक-कम्पनियों के मंच पर अभिनय करते देखा था; उसने उसकी तस्वीरें लीं। एक दिन उसने अमिताभ से कहा, 'भाई, तुम्हारा चेहरा फ़ोटो में बहुत अच्छा आता है, तुम्हें फिल्मों में प्रवेश के लिए प्रयत्न करना चाहिए।' अजिताभ उसके लिए अपने भाई से बराबर अनुरोध करता। उसी ने अमिताभ के कुछ चित्र ख़्वाजा अहमद अब्बास के पास भेजे। अब्बास साहब ने अमिताभ को साक्षात्कार के लिए बम्बई बुलाया और पहले-पहल अपनी फिल्म 'सात हिन्दुस्तानी' में उसे एक भूमिका दी। अब्बास साहब मेरे नज़दीकी दोस्त हैं। जब अमिताभ उनके पास काण्ट्रैक्ट पर दस्तख़त करने के लिए गया तो उन्होंने कहा, 'रुको! हरिवंश राय बच्चन मेरे दोस्त हैं। तुम घर से भागकर तो नहीं आये? मैं तुम्हें फ़िल्म के लिए तभी 'साइन' करूँगा, जब उनकी अनुमति मुझे मिल जाय।' अब्बास साहब का एक फ़ौरी ख़त मेरे पास आया तो मैंने उनको लिखा, 'अगर अमिताभ को फ़िल्मों में जाना है तो मैं चाहूँगा कि वह आपके निर्देशन में काम शुरू करें।' मेरी सहमति पाने पर ही अब्बास साहब ने अमिताभ को 'साइन' किया। मैंने अपने लड़कों से कभी नहीं कहा कि उन्हें क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। और मैं अपने लड़कों को लेखक बनने के लिए भी राय न देना चाहूँगा।

मेहता : तो अजिताभ ने उद्योग के क्षेत्र में प्रवेश किया।

डा. बच्चन : अजिताभ शा वैलेस कम्पनी में कार्यकारी अधिकारी के रूप में काम करते थे। उन्हें कम्पनी की ओर से जहाजरानी में प्रशिक्षण प्राप्त करने को सिर्फ़ एक वर्ष के लिए जर्मनी भेजा गया। जब वे लौटे तो उन्होंने अपना उद्योग-धन्धा आरम्भ किया। इस समय उनके हाथ में तीन कारखाने हैं—त्रपु एण्टर-

प्राइज़ेज़, टीन के डिब्बे बनानेवाला, इपका, दवाएँ बनानेवाला और रेमन पेण्ट्स, एक पुरानी कम्पनी जो पहले गुजरातियों के हाथ में थी। ये तीनों कम्पनियाँ बम्बई में हैं। अजिताभ अपने काम में बड़ा होशियार है। वह प्रतिभावान उद्योगपति है और उसने अपने कारखानों के लिए अथक परिश्रम किया है। जब उसने त्रपु एण्टरप्राइज़ेज़ की नींव डाली तब उसने मशीनों को अपने कन्धों पर उठा-उठाकर रखा। अजिताभ के जीवन के इस पक्ष का मैं प्रशंसक हूँ। मुझे ऐसा आदमी पसन्द है जो किसी काम को उसके निम्नतम स्तर से आरम्भ करता है क्योंकि तब वह अपने काम के हर पहलू को जानता-समझता है। उसके कामगार मुझसे आकर बताते थे कि अजिताभ साहब भारी-भारी मशीनें अपने कन्धों के बल उठाकर यथास्थान रखते हैं। अजिताभ मज़दूरों के साथ खुद मज़दूरों की तरह काम करता था। तभी वह जान सका कि कौन मशीन क्या काम करती है और कैसे उसे चलाया जाता है, कैसे वह टीन काटती-जोड़ती है। मशीनों को समझने के लिए पहले उसने उन्हें खुद चलाया। उसने सबकुछ अपने अनुभवों से सीखा। अजिताभ बहुत ही व्यावहारिक व्यक्ति है। अमिताभ की बीमारी के दौरान, देखकर आश्चर्य होता था, कैसे वह उसके पास दिन-दिन रात-रात खड़ा रहता था, कोई दूसरा ऐसा नहीं कर सकता था। हम वृद्ध लोग तो घबराये हुए थे। हम से तो कुछ न हो सकता था। लेकिन अजिताभ ने ठण्डे दिमाग़ से सोचा : कहाँ अमिताभ का इलाज हो सकता है; कहाँ अच्छे-से-अच्छे डाक्टर उपलब्ध हैं, कहाँ से अच्छी-से-अच्छी दवाएँ, कहाँ अमिताभ को ले जाना चाहिए, और उसके लिए क्या-क्या इन्तज़ाम करना चाहिए। 24 घण्टों के अन्दर यह भारी योजना बनी। और इस बीमारी में अमिताभ केवल अजिताभ की बात सुनता था। एकमात्र व्यक्ति जिसका कहना वह मानता था, अजिताभ था; क्योंकि अमिताभ जानता था कि बच्चन-परिवार में अजिताभ एकमात्र व्यक्ति है जिस पर निर्भर रहा जा सकता है। हम पति-पत्नी अब वृद्ध हैं प्रायः थके-हारे लोग और अभिषेक (अमिताभ का पुत्र) कुछ करने लायक नहीं था; वह तो अभी बच्चा है, सिर्फ़ सात बरस का।

मेहता : अमिताभ और अजिताभ में क्या अन्तर है?

डा. बच्चन : मेरे दोनों लड़कों में अन्तर बड़ा रोचक है। अमिताभ को अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ, अपना मस्तिष्क, अपना मनस् समझने में समय लगा। उसकी प्रवृत्ति सृजनशील थी। अभी कुछ वर्ष पहले तक वह चित्रांकन करता था, वह सितार भी बजाता था, और रंगमंच का वह अच्छा अभिनेता तो था ही।

(तेजी बच्चन, हाथ में टार्च लिये आती हैं, दिल्ली के बहुत लोग ऐसा करते हैं, अचानक बिजली चले जाने की आशंका से; वे कहती हैं दिल्ली में गर्मी बढ़ रही है और हमारे पास बैठ जाती हैं।)

डा. बच्चन : अमिताभ को यह समझने में काफ़ी लम्बा समय लगा कि वह फ़िल्मों में काम करने में समर्थ है। शेरवुड कालेज में उसे अभिनय के लिए केण्डल कप मिला था। जब वह केवल 15 वर्ष का था तब उसने 50 वर्ष के इन्सपेक्टर जनरल की भूमिका निभायी थी और उसको अभिनय के लिए प्रथम पुरस्कार मिला था। जब वह कलकत्ता में था तब वह शौकिया-नाटक-मण्डलियों में अभिनय करता था। उसमें प्रतिभा थी, पर उसे लम्बा समय लगा यह समझने में कि

वह फिल्मों का सफल अभिनेता हो सकता है। इसका बोध उसे अजिताभ ने कराया। अमिताभ को अजिताभ के प्रति बहुत कृतज्ञ होना चाहिए।

मेहता : अमिताभ कुशल अभिनेता है; पर लगता है वह अपनी प्रतिभा घटिया फिल्मों में बर्बाद कर रहा है। वह ऐसे दर्जे पर पहुँच गया है जहाँ से वह अपनी फिल्मों का चुनाव अधिक सतर्कता से कर सकता है।

डा. बच्चन : यह अमिताभ का क्षेत्र है। उसके फिल्मों की सीमाएँ क्या हैं ? उसे क्या करना पड़ता है ? वह क्या करना चाहता है ? ये सब उसके जीवन के प्रश्न हैं। मैंने एक दूसरे क्षेत्र में काम करते हुए अपना जीवन बिताया है। अमिताभ ने न मेरी राय माँगी, न मैंने अपनी राय दी कि उसे किस तरह की फ़िल्मों में काम करना चाहिए। मैंने उससे कभी नहीं कहा कि उसे कला-फ़िल्मों में काम करना चाहिए कि व्यापारिक फ़िल्मों में। वह अपने बारे में स्वयं सोच सकता है। जब आपका पुत्र सोलह वर्ष का हो जाता है तब वह आपका मित्र हो जाता है— 'प्राप्ते तुषोडषे वर्षे पुत्रो मित्रवदाचरेत्'। अमिताभ अब मेरे दोस्त की तरह है। तो एक दोस्त दूसरे दोस्त को कहाँ सलाह दे सकता है।

मेहता : क्या 'सिलसिला' के बाद आपकी पुत्रवधू जया बच्चन ने फ़िल्मों की दुनिया से हमेशा के लिए विदा ले ली है ?

डा. बच्चन : मैं तो ऐसा ही समझता हूँ।

मेहता : तो वह घर-गिरस्ती में बँध गयी है ?

डा. बच्चन : मेरी राय में उसे घरेलू जीवन से प्रतिबद्ध होना चाहिए। अपने परिवार की देख-रेख करना बहुत मुश्किल काम है। आप मेरी पत्नी से पूछ सकते हैं कि यह काम कितना कठिन था। यह तो वे ही बता सकती हैं कि एक कवि-पति की देख-रेख करना कितना मुश्किल होता है।

तेजीजी : बच्चनजी, आपने दूध नहीं पिया ?

डा. बच्चन : मेरे दूध में मक्खी पड़ गयी थी, इसलिए मैंने दूसरा गिलास मँगाया है, अभी पीता हूँ।

तेजीजी : अभी माने कब ?

डा. बच्चन : लो, गिलास उठाता हूँ।···तो मैं कह रहा था कि अपने घर-बार, अपने बच्चों की देख-रेख करना किसी माँ के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण काम है। अगर आप साथ-ही-साथ फ़िल्मों में भी काम कर रही हैं तो आप अपने इन कर्तव्यों की ओर समुचित ध्यान नहीं दे सकतीं। फ़िल्म बनाना बहुत आसान है, लेकिन अपनी सन्तान को इन्सान बनाना बहुत मुश्किल काम है। इसलिए यह अच्छी बात है कि जया ने फ़िल्मों में काम करना बन्द कर दिया है। मैं तो ऐसा ही समझता हूँ। अगर कोई स्त्री चाहती है कि वह अपने पुत्र को एक भला आदमी बनाये और अपनी पुत्री को एक सुशीला महिला तो वह अपने घर को ही समर्पित होकर यह काम कर सकती है। यह काम इतनी तल्लीनता माँगता है कि फिर और किसी काम के लिए उसके पास समय-सामर्थ्य नहीं बचता। फिर एक कलाकार-पति की देख-सँभाल करना तो और भी मुश्किल काम है। अमिताभ जैसे पति और श्वेता और अभिषेक जैसे बच्चों की देख-भाल-सँभाल जया के ऊपर भारी दायित्व डालती है। और अभी कल तक हम पति-पत्नी भी उनके साथ रह रहे थे।

मेहता : क्या आप कल ही बम्बई से आये ?

डा. बच्चन : मुहावरा है। हम लोग इस वर्ष पहली फरवरी को इस मकान में आये। अपने माँ-बाप की देख-रेख करना आसान काम नहीं है। उनकी माँगें कम नहीं होतीं (हँसकर)।

मेहता : तो तेजीजी और आप यहाँ अकेले रहते हैं ?

डा. बच्चन : यह भी पूछने की कोई बात है ? मेरे बेटे फिल्म और फ़ैक्टरियों में काम कर रहे हैं; उनके बच्चे स्कूलों में पढ़ते हैं। बहुओं को घर-परिवार की देखरेख करनी होती है। सब लोग अपनी-अपनी जगह व्यस्त हैं। वे हमारे पास आकर कैसे रह सकते हैं। फिर हम लोग अकेले कहाँ हैं, हम दो हैं, तेजी को मेरा संग-साथ मिलता है, मुझे उनका। कहावत है एक-और-एक मिलकर दो नहीं ग्यारह बनते हैं। फिर दो-चार नौकर-चाकर। (कुछ रुककर) आपके लिए काफ़ी का एक और प्याला मँगाऊँ ?

मेहता : जी नहीं।

डा. बच्चन : मैं भी काफ़ी नहीं पीता। मैं दूध में कम्प्लान मिलाकर पीता हूँ, केवल। और पानी के अलावा मैं और कोई पेय नहीं लेता।

मेहता : आपने कभी शराब नहीं पी ? क्या शराब से आपको बिल्कुल परहेज है ?

डा. बच्चन : कभी मैंने शराब पी थी। मैंने इसके बारे में आत्मकथा में लिखा है। पढ़ें कभी।

मेहता : मुल्क में ज़ोरों से यह अफ़वाह फैल रही है कि अमिताभजी राजनीति के क्षेत्र में उतरनेवाले हैं। क्या यह सच है ?

डा. बच्चन : मैं भी ऐसी अफ़वाहें सुनता हूँ कि अमिताभ राजनीति में प्रवेश करनेवाले हैं। मैं इसके बारे में क्या जानूँ ? क्या मैं यह जानता था कि अमिताभ हिन्दी फिल्मों में प्रवेश करेंगे ? तो मैं कैसे भविष्य में झाँककर बतला दूँ कि अमिताभ राजनीति में प्रवेश करेंगे या नहीं। और फिर राजनीति ही क्यों ? अगर अमिताभ कुछ और करना चाहते हैं तो वे अपने को राजनीति तक ही क्यों सीमित रखें ! वे और बहुत कुछ कर सकते हैं। आप राजनीति को ही क्यों बहुत अच्छी या बहुत बड़ी चीज़ समझते हैं। वे एक अच्छे लेखक बन सकते हैं।

तेजीजी : वह तो अब भी एक अच्छा लेखक है।

डा. बच्चन : जब मैंने अपनी आत्मकथा लिखी तब मैंने उस पर यह लिखकर अमिताभ को भेजा था कि जब तुम अपनी आत्मकथा लिखोगे तो लोग मेरी आत्मकथा भूल जायेंगे। अमिताभ में विकासोन्मुखी लेखकीय प्रतिभा है। मैंने इसके चिह्न उनके पत्रों में पाये हैं जो वे हमें लिखते हैं। उनके विचार, उनकी भावनाओं और उनके शब्दों में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता और यह लेखक के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है।

मेहता : श्रीमती बच्चन, अमिताभ और अजिताभ में किसके प्रति आपका स्नेह अधिक है ?

तेजीजी : आप अभी नवयुवक हैं, इन बातों को न समझेंगे। एक मेरी दाहिनी बाँह है, दूसरी मेरी बायीं; अगर आप मेरी दाहिनी बाँह काट दें तो सिर्फ़ बायीं से मैं काम न कर सकूँगी। एक मेरा राम है, एक मेरा लक्ष्मण है। जब वे छोटे थे तब मैं यही कहकर उन्हें पुकारती थी। अब मेरे लक्ष्मण ने सिद्ध कर दिया है कि वह सचमुच लक्ष्मण है। स्वभाव में भी वे राम-लक्ष्मण के समान हैं। मेरे दो ही लड़के हैं, वे दोनों मेरे लिए भगवान के वरदान के समान हैं। मैं

उनमें कोई अन्तर नहीं देखती। हम अपने परिवार में एक दूसरे से बड़ी निकटता से जुड़े हैं।

मेहता : अमिताभ चूँकि बड़े हैं, इसलिए शायद उन्होंने महसूस किया हो कि उनके साथ आपने ज़्यादा कड़ाई बरती है।

तेजीजी : आपकी बात किसी अंश में ठीक हो सकती है; पर यह तो अमिताभ ही था जिसने अपने लाड़-प्यार से अजिताभ को बिगाड़ा। अगर मैं कभी अजिताभ को सजा देती थी तो वह कहता था, 'नहीं माँ, यह उसका नहीं मेरा क़सूर है।' बड़ा भाई होने के नाते वह सारा कसूर अपने ऊपर ओढ़ लेता था।

मेहता : आपने अमिताभ को शेरवुड कालेज, नैनीताल में भेजा ?

तेजीजी : दोनों साथ गये। पहले वे ब्वायज़ हाईस्कूल, इलाहाबाद में थे। फिर हम दिल्ली आ गये जब मेरे पति की नियुक्ति विदेश मन्त्रालय में हुई। लोगों ने हमें डराया कि दिल्ली के स्कूलों में हमारे लड़कों को दाख़िला न मिलेगा। शेरवुड कालेज के अंग्रेज़ प्रिंसिपल उन्हीं दिनों इलाहाबाद आये। उन्होंने हमारे लड़कों की रिपोर्टें देखीं, बोले, 'कोई समस्या नहीं, आप उन्हें शेरवुड भेज दें, मैं अपने कालेज में इन्हें ले लूँगा।' अपने बारे में ही सोचती तो शायद मैं उन्हें आँखों से इतनी दूर न करती। मगर लड़कों की पढ़ाई में हर साल का महत्त्व होता है और मैं नहीं चाहती थी कि उनकी शिक्षा में व्याघात पड़े।

डा. बच्चन : जब वे शेरवुड में गये तब अमिताभ तेरह का था और अजिताभ आठ का। दोनों की उम्र में साढ़े चार वर्ष का अन्तर है।

तेजीजी : सीनियर केम्ब्रिज के बाद अमिताभ ने दिल्ली युनिवर्सिटी में साइंस के विषय लिये— फिज़िक्स, केमिस्ट्री, मैथेमेटिक्स। हम चाहते थे कि वह आर्ट्स ले—विशेषकर अंग्रेज़ी साहित्य। उसके पिता ने केंब्रिज युनिवर्सिटी से अंग्रेज़ी साहित्य में डाक्टरेट ली थी। मुझे लगता था कि उसमें साहित्यिक अभिरुचि है—शायद वह भी कविता लिखे।

डा. बच्चन : मगर हमने उस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला।

तेजीजी : अंग्रेजी साहित्य लेने से उसने इन्कार कर दिया। वह युग था जब लड़के अपने मन का करना चाहते थे। हमने अपने लड़कों का मार्गनिर्देशन किया, लेकिन अन्तिम निर्णय उनका अपना था। माँ की दृष्टि से मैं उनकी छोटी-छोटी बातों से उनकी प्रवृत्तियाँ परखने का प्रयत्न करती थी। जब वे शेरवुड से छुट्टियों में घर आते तो मेरे साथ 'शापिंग' के लिए जाने का आग्रह करते। अजिताभ सारे छुट्टे पैसे मुझसे माँग लेता और एक डिब्बे में जमा करता जाता। जब वह स्कूल वापस जाने लगता तो उसके डिब्बे से ढाई-तीन सौ रुपयों की रेजगारी निकलती ! अब वह मुझसे कहता है, 'ओ माँ, आपको मुझे कामर्स में डालना था।'

डा. बच्चन : उसने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया।

तेजीजी : लेकिन 'कामर्स' का नहीं। तब हमें कोई समझ-बूझ नहीं थी कि आज के युग में 'कामर्स' का क्या महत्त्व है।

डा. बच्चन : तेजी कहती हैं कि अमिताभ उनके पिता पर गया है और मैं कहता हूँ कि मेरे पिता पर।

तेजीजी : जब बच्चे छोटे होते हैं तब वे किसी से विशेष रूप से नहीं मिलते।

डा. बच्चन : पर वह मेरे पिता से मिलता था, क्योंकि वे भी लम्बे क़द के थे।

तेजीजी : यह तो ठीक है। और जिन्होंने मेरे पति को 30-30, 40-40 हज़ार

की जनता को अपसे काव्य पाठ से मन्त्रमुग्ध करते देखा है, उनका कहना है कि अमिताभ की आवाज़ अपने पिता से बहुत मिलती है।

मेहता : फिल्म उद्योग के बहुत-से लोगों का ख़्याल है कि अमिताभ भविष्य में भारत का प्रधानमन्त्री हो सकता है।

तेजीजी : देखिए हमने जीवन का लम्बा सफ़र तै किया है, और हम काफ़ी तजुर्बेकार लोग हैं। कोई नहीं जानता कि अगले क्षण क्या होने जा रहा है; आपका जीवन किस तरह का मोड़ लेने को है, कोई नहीं बता सकता।

डा. बच्चन : '''पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः—

तेजीजी : किसके भाग्य में क्या लिखा है, कोई नहीं जानता। पर इस समय मुझे प्रसन्नता होगी अगर अमिताभ अपने को राजनीति से अलग रखे।'''उसका मानसिक दृष्टिकोण, उसका मानसिक ढाँचा राजनीतिज्ञ का नहीं है।

मेहता : क्या अमिताभ के 'सुपर स्टार' हो जाने के बाद बच्चन-परिवार के अन्तर-सम्बन्धों में कोई परिवर्तन आया है ? क्या उसके सुपर स्टार पद से उसके और उसके बच्चों के सम्बन्ध पर कुछ प्रभाव पड़ा है ? उस पिता के प्रति बच्चों के क्या भाव हैं जो सम्भवतः भारत का सबसे अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति है ?

तेजीजी : बच्चों पर सम्भवतः कुछ प्रभाव पड़ता है जब वे स्कूल जाते हैं जहाँ दूसरे बच्चे उनसे कहते हैं कि उनका पिता एक प्रसिद्ध अभिनेता है। लेकिन घर में तो कोई ऐसी स्थिति नहीं आती। वह बच्चों का पिता है, हमारे परिवार का सदस्य, हमारा बड़ा लड़का। हमारा उसका सम्बन्ध उतना ही साधारण और सामान्य है जितना आपका अपने माता-पिता के साथ होगा। मैं सौगन्ध-पूर्वक कह सकती हूँ, कि अमिताभ अपने को किसी ऊँचे घोड़े पर सवार नहीं समझता; वह अहंमन्यता की चोटी पर चढ़कर नहीं बोलता, उसको पंख नहीं लग गये हैं। जब तक वह अपने सेट पर है वह अभिनेता है, पर घर में पाँव रखते ही वह भूल जाता है कि वह अभिनेता है। अमिताभ इधर अधिक मिलनसार हो गया है। हाल की दुर्घटना से उसका सम्पूर्ण मानसिक और भावनात्मक सन्तुलन हिल गया है। इतनी जल्दी ऐसी मनोदशा के ऊपर उठ जाना आसान नहीं। अमिताभ वह आदमी है जिसने मौत को अपनी सचेत आँखों से देखा है। नहीं, उसे भुलाना सरल नहीं। अजिताभ विनोद में उससे पूछता है, 'भैया, तुम तो ऊपर तक हो आये हो। बताओ परमात्मा कैसा है, कैसा दिखायी पड़ता है !' यह उसकी प्रबल इच्छाशक्ति और परिवार की सुदृढ़ता थी जिसने उसको बचा लिया। अमिताभ बड़ी भावुक आत्मा है।

मेहता : क्या अमिताभ अब कम फ़िल्मों में काम करने जा रहा है ? क्या वह अब सिर्फ़ चुनिन्दा फ़िल्मों में काम करेगा ?

तेजीजी : मैं समझती हूँ कि वह ऐसा ही कुछ करेगा। पहले, अवश्य, वह कई-कई फ़िल्मों में एक साथ काम करता था।

डा. बच्चन : बम्बई में मुझसे कई लोगों ने कहा कि अमिताभ फिर ख़तरे उठा रहा है।

तेजीजी : उसके फेफड़े अभी तक बिल्कुल ठीक नहीं हैं। हमने उससे कहा था, 'बेटा, अब ख़तरे मत उठाओ, अगर अपने लिए नहीं तो हम सबके लिए।' और बच्चनजी, आपको याद है, जब बंटी (अजिताभ का प्यार का नाम) हमारे पास बैठा था एक दिन और अमिताभ ने हमें मद्रास से फ़ोन किया था तो

बंटी ने क्या कहा था, 'दा, मैं सुनता हूँ, आप फिर ख़तरेवाले दृश्यों में काम कर रहे हैं !' और अमिताभ ने जवाब दिया था, 'नहीं तो, पर मुझे बार-बार टोंकना-कोंचना बन्द करो, तुम सब लोग।' इसपर बंटी ने कहा 'देखो दा, अगर तुम मनमानी करते गये तो मैं आकर तुम्हारी सब शूटिंग की तारीख़ें रद्द कर दूँगा।' लेकिन इसे अमिताभ के दृष्टिकोण से देखो। इस दुर्घटनाजन्य दुर्बलता से उसे कितना भयंकर मानसिक आघात लगा था। वह अपने से पूछा करता था, 'क्या मैं ऐसा फिर कर सकूँगा?' 'क्या मैं फिर पहले जैसा चुस्त-दुरुस्त हो सकूँगा?'—आप ज़रा सोचिए, उसके अन्दर कितना मानसिक भय समा गया था।

डा. बच्चन : फिल्म में जो भूमिका वह अदा कर रहा होता है उसमें वह अपने आपको पूरेपन के साथ समो देता है। कला इतना आत्मसात करनेवाली होती है कि कलाकार किसी और चीज़ के बारे में सोच ही नहीं सकता। जब वह अभिनय करता है तब वह भूल जाता है कि वह अमिताभ है—तब वह 'विजय' हो जाता है, 'एण्टोनी' हो जाता है, इक़बाल कुली हो जाता है। यही उसकी सफलता का रहस्य है। कभी-कभी जब मैं उसके सेट पर जाता हूँ और उसकी ओर देखता हूँ तो मुझे लगता है कि वह मुझे नहीं पहचान रहा है, वह इतनी गम्भीरता से अपनी भूमिका में समाया रहता है। शायद उन क्षणों में न तो उसे अपने प्राणों की परवाह रहती है, न अपनी सुरक्षा की, न अपने बच्चों की या बीबी की या माँ-बाप की। वह केवल वह होता है जिसकी भूमिका में वह उतरा होता है। उसके दिमाग़ में यह आता ही नहीं कि उसे ख़तरनाक स्थितियों से अपने को बचाना चाहिए।

मेहता : क्या आप अमिताभ की सब फिल्में देखती हैं ?

तेजीजी : एक-एक।

डा. बच्चन : मैं कभी हिन्दी फिल्में नहीं देखता था, पर अमिताभ की मैंने एक-एक फ़िल्म देखी है। सब।

तेजीजी : मुझे भारतीय और विदेशी दोनों तरह की फिल्में देखने का शौक रहा है।

मेहता : क्या आप फिल्मी पत्रिकाएँ पढ़ते हैं ?

डा. बच्चन : थोड़ी बहुत। मैं केवल साहित्यिक पत्रिकाएँ पढ़ता हूँ। मेरी पत्नी फिल्मी पत्रिकाएँ भी पढ़ती हैं।

मेहता : क्या फिल्मी-दुनिया से आपका रब्त-ज़प्त है ?

डा. बच्चन : बहुत कम।

मेहता : क्या आपके साहित्यिक दोस्त-अहबाब हैं ?

डा. बच्चन : बम्बई में तो इने-गिने थे। दिल्ली में मैं बहुत-से लोगों को जानता हूँ।

मेहता : श्रीमती बच्चन, आप एक भारतीय पत्नी और माँ के नमूने के रूप में रही हैं। आपने बाहर का भी कभी काम किया है ?

तेजीजी : 'काम' एक सापेक्ष शब्द है। अक्सर लोग 'काम' उसे मानते हैं जिससे कुछ कमाया जा सके। 'काम' को केवल पैसे के साथ क्यों जोड़ा जाय ? लोग जोड़ते रहे हैं यह और बात है। घर में पैसा लाये बग़ैर आप पैसा बचा सकते हैं, या जो घर में पैसा आया है उसका वाजिब उपयोग कर सकते हैं। मैंने कहीं पढ़ा था, जीवन की सार्थकता, पैसा कमाने के तरीक़े पर नहीं, पैसा खर्च करने के सलीके पर निर्भर करती है। अगर काम से वह अर्थ लिया जाय जो मैं उसका लगाती हूँ तो मैं तमाम ज़िन्दगी काम करती रही हूँ। लोग मुझसे पूछते

हैं, 'आजकल आप क्या काम कर रही हैं?' मैं उनसे कहती हूँ 'मैं अब काम से छुट्टी पा गयी हूँ (हँसती हैं) मेरी दो-दो बहुएँ हैं, अब वे घर और बच्चों की देख-रेख करें। मेरे जीवन में तो इतना कुछ करने को रहा कि 24 घण्टे का वक्त बहुत कम मालूम होता था। आज की स्त्रियों को जब मैं कहते सुनती हूँ कि मैं घर में ऊब रही हूँ तो मुझे ताज्जुब होता है। मैंने तो कभी ऊबने का मतलब ही नहीं समझा। अगर आपको घर में ही रहना पड़ता है तो जब घर का काम खत्म कर लीजिए तो कुछ पढ़िए। दुनिया में पढ़ने को कम है? पढ़कर कुछ नया सीखिए, गुनिये।'

मेहता : तो क्या मैं यह समझूँ कि आपके जीवन का एकमात्र लक्ष्य अपने बच्चों की देखभाल करना रहा है?

तेजीजी : मेरा लक्ष्य रहा है जीवन की प्राथमिकताओं को समझना और उन्हें सिलसिलेवार रखना। सबसे पहले मैं अपने कवि पति को रखती थी। कवि की देख-रेख करना आसान काम नहीं है; क्योंकि जब वह सृजन में डूबा रहता है तो वह अपने चारों ओर की दुनिया को भूल जाता है। वह अपनी ही दुनिया में रमा रहता है, क्योंकि उसे कला को जन्म देना है। उसके बाद मेरे बच्चे आते थे। मैं उनकी पूरी देखभाल-सँभाल करती थी। लोग अब भी मुझसे पूछते हैं, 'आप तो पढ़ी-लिखी थीं, आपने कहीं काम क्यों नहीं किया?' चूँकि मैं सुशिक्षित थी, इसीलिए मैं अपने परिवार को समझ सकी। अपने लड़कों को निकटता और समझदारी दे सकी। उनके मेरे बीच कोई दुराव-छिपाव नहीं था। यहाँ तक कि जब वे बड़े हुए और वे लड़कियों के सम्पर्क में आये तो मेरे पास आकर कहते थे, 'ओ माँ, फलाँ लड़की मुझे पसन्द है, पर उसमें यह कमी है, वह कमी है।' और मैं उनको समझाती, 'सुनो बेटो, दुनिया में न तो कोई आदर्श नारी है और न कोई आदर्श पुरुष...।'

नाटकों में अभिनय करने में मेरी शुरू से रुचि थी। अब भी है। अपने कालेज के दिनों में, लाहौर में, जहाँ उतना पर्दा था, हमने कई पुरानी प्रथाएँ तोड़ीं। तब लड़कियाँ स्टेज पर आती ही नहीं थीं, लड़कियों का पार्ट लड़के करते थे; हमारे नाटक में लड़कियों ने लड़कियों का ही पार्ट नहीं किया, लड़कों का भी पार्ट किया। फिर मेरी शादी हुई और मैं इलाहाबाद आयी जो उस समय प्रचण्ड बौद्धिक नगर था। बौद्धिक केन्द्र होने के अतिरिक्त वह राजनीति का भी गढ़ था। नेहरू-परिवार वहीं रहता था। वहाँ जो नाटक हमने खेले उसमें लड़कियाँ-लड़के साथ पहली बार रंगमंच पर आये। वहीं अमिताभ पहले-पहल साहित्य और रंगमंच के सम्पर्क में आया। मेरा ऐसा विचार है कि बालकों के व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए उन्हें सब तरह के सांस्कृतिक प्रभावों के लिए खुला रखना चाहिए। इलाहाबाद में मैंने आल-इण्डिया विमेन्स कान्फ्रेन्स की सेक्रेटरी के रूप में सामाजिक कार्य भी किया। देश की खाद्य-स्थिति सन्तोषजनक न थी। हमने फूड कौंसिल की तरफ़ से अन्नपूर्णा-आन्दोलन चलाया। देश में जहाँ भी संकट पड़ता था, हम सेवा-कार्य के लिए तैयार रहते थे। विभाजन के दिनों में इलाहाबाद में हमने रेलवे-स्टेशन पर किचन चलाकर शरणार्थियों की सहायता की। जब मैं दिल्ली आयी तो मेरे नाटक और समाज-सेवा सम्बन्धी कार्यों में वृद्धि ही हुई। बच्चों के नैनीताल चले जाने से मुझे फुरसत भी काफी थी। फिर मेरे पति ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया, पहली मर्तबा हिन्दी पद्य में। जब उन्होंने

पाण्डुलिपि मुझे दिखायी तो मैंने उसके रंगमंच पर सफल होने की सम्भावना देखी। हम 'मैकबेथ, और 'ओथेलो' मंच पर लाये। बच्चनजी ने हैमलेट अमिताभ को समर्पित किया। मैं अब भी उसे रंगमंच पर लाने की आशा सँजोए हूँ। चीनी आक्रमण और पाकिस्तानी युद्धों के समय हमने नर्सों की टोलियाँ बनाकर अस्पतालों में घायलों की सेवा की।···

बच्चों से हम बराबर पत्र-सम्पर्क बनाये रहे। बीच-बीच में नैनीताल जाकर उनसे मिलते रहे। मैंने हमेशा ऐसा सोचा है कि बच्चे पौधे और फूलों के समान होते हैं। उन्हें आपके प्यार, आपका ध्यान और आपकी देख-रेख की ज़रूरत है। आप जितना ही उन्हें देंगे उतना ही वे बढ़ेंगे-बौरेंगे।

मेहता : दिल्ली में आप अपना समय कैसे गुज़ारती हैं ?

तेजीजी : अभी तो हमारा एक पाँव बम्बई में रहता है, एक दिल्ली में; इसलिए हम दोनों जगह की हलचलों से कटे-कटे हैं।

मेहता : श्रीमती बच्चन, अभी आपने कहा था कि आपको आशा है कि एक दिन अमिताभ लेखक बनेगा। किस आधार पर ?

तेजीजी : जिस उम्र से उसने पत्र लिखना शुरू किया, उसमें एक सुस्पष्ट, संवेदनशील, गीतात्मक शैली देखी गयी। मैंने उसके सब पत्र जुगाकर रखे हैं। इसी आधार पर; किसी ज्योतिषी की भविष्यवाणी पर नहीं। हमारे परिवार में किसी तरह का अन्धविश्वास नहीं चलता। हमने अपने पुत्रों की जन्मपत्रियाँ नहीं बनवायीं, गो दूसरे हमें भेजते रहते हैं। मुझे ईश्वर में विश्वास है, प्रार्थना के प्रभाव में विश्वास है, बिना किसी रूढ़ कर्मकाण्ड के। मेरा विश्वास है कि एक अज्ञात शक्ति है जो हमारे बग़ैर जाने कुछ करती रहती है, चुपचाप हमारे भाग्य को निरूपित करती। मैंने ऐसे ही संस्कार अपने बच्चों को दिये हैं। दर्शन और मनोविज्ञान की विद्यार्थी होने के नाते मैंने बड़े-बड़े दार्शनिकों से बहुत कुछ सीखा है। लेकिन बड़े से बड़े लेखक और दार्शनिक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके हैं— तारे कहाँ से आते हैं ? हमारी धरती कहाँ से आयी ? पशु-पक्षियों का स्रष्टा कौन है ? हमें किसने बनाया ?

मेहता : आपने 'दि बिग बैंग थियरी' (महाविस्फोट सिद्धांतों) के विषय में सुना होगा। फिर 'ई. टी.' की कल्पना की गयी है—रहस्यपूर्ण इण्टर गैलाक्टिक ट्रैवेलर' (आकाशगंगातर यात्री)—एक सत्ता जिसके हज़ार मस्तिष्क हैं और जो हज़ार ब्रह्माण्डों की यात्रा करता है। उसके बारे में आप क्या सोचती हैं ?

तेजीजी : यह आपको क्यों प्रस्फुरित करता है, यह 'एक्सट्रा टेरेस्ट्रियल' (पराभौमिक) क्यों आपके मर्म को स्पर्श करता है, मैं नहीं बता सकती; मैं कोई मेधावान नहीं।

मेहता : कोई नहीं बता सकता। ईश्वर है तो वस्तुतः निराकार है, ईश्वर है तो ऊर्जा है, ज्ञान है। लेकिन अज्ञात मानव शक्तियों का उपयोग करना और चरम बुद्धि-विचक्षण बनना सम्भव है।

तेजीजी : अबूझ होकर भी यह आकर्षक है। आइंस्टीन ने भी यह कहा था कि एक सीमा पर पहुँचकर मैं कोई समाधान नहीं दे सकता।

डा. बच्चन : उसने यह भी कहा था, 'ईश्वर सृष्टि के साथ पाँसे का खेल नहीं खेलता।' पर खेल तो सकता ही है।

समीक्षाएँ

दीवाने ग़ालिब*

हिन्दी के साहित्यकारों ने सदा यह बात मानी है कि उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है जिसमें फ़ारसी और अरबी शब्दों का बाहुल्य रहता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं उर्दू के कवि थे और 'रसा' के तख़ल्लुस से लिखा करते थे। उन्होंने अपनी किसी कविता में फ़ारसी पढ़ने की आवश्यकता पर जोर दिया है। द्विवेदी युग में भी हिन्दीवालों को उर्दू से परिचित कराने के उपाय बराबर होते रहे। सरस्वती में उर्दू कवियों पर लेख निकलते थे। इण्डियन प्रेस से उर्दू कवियों के ऊपर कई पुस्तकें निकली थीं। हिन्दी पत्रिकाओं में उर्दू कविता के स्तम्भ बरसों तक चला किये हैं। 'चाँद' में यह स्तम्भ 'केसर की क्यारी' नाम से छपता था और उसका सम्पादन प्रयाग के उर्दू शायर 'बिस्मिल' साहब करते थे। बाद को एक संग्रह भी छपा जो बहुत प्रचलित हुआ। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' में एक भाग उर्दू का भी रक्खा। आधुनिक समय में श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय ने 'शेर ओ शायरी' और 'शेर-सुखन' जैसी पुस्तकों से उस परम्परा को कायम रक्खा। हिन्दी-वालों में उर्दू कविता की रुचि देख उर्दू के कई शायरों ने अपनी रचनाएँ नागरी लिपि में छपाईं। चकबस्ते का 'सुबह वतन' फ़िराक़ का 'इन्द्रधनुष' और 'सागर' का 'रस सागर' उनमें प्रमुख। मैंने कुछ अच्छे शायरों के और संग्रह भी देखें हैं। आधुनिक शायरों के परिचय देनेवाले कई संकलन भी इधर प्रकाशित हुए हैं। हिन्दी के लिए यह प्रवृत्ति बड़ी स्वस्थ है और उसे बनाये रखना चाहिए और मजबूत बनाना चाहिए।

कुछ समय से ऐसी भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि प्रसिद्ध उर्दू शायरों के प्रामाणिक परिपूर्ण संग्रह भी प्रकाशित किए जायँ। स्वाभाविक है कि मिर्ज़ा ग़ालिब की ओर लोगों का ध्यान गया। लहर प्रकाशन —प्रयाग ने सम्भवत: इस दिशा में पहला प्रयास किया और मिर्ज़ा ग़ालिब की कविता का सबसे बड़ा संग्रह छपाया। पूरा तो यह नहीं था; बहुत कठिन चीजें छोड़ दी गयी थीं और शुद्धता की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। प्रस्तुत पुस्तक—'दीवाने ग़ालिब'—जैसा कि प्रकाशक ने कहा है—'हिन्दी में ग़ालिब का पूरा दीवान ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करने का पहला प्रयास है।' इस प्रयास के लिए प्रकाशक और सम्पादक—दोनों बधाई के पात्र हैं। उर्दू समालोचकों में इस विषय में दो मत नहीं हैं कि मिर्ज़ा ग़ालिब उर्दू के सबसे बड़े कवि हैं। बड़ा कवि किताबों की जिल्दों में नहीं बन्द रहता। ग़ालिब के न जाने कितने शेर लोगों की जबान पर हैं और जीवन की अनेकानेक परिस्थितियों में लोग उन्हें कहकर, गुनगुनाकर अपने भावों को व्यक्त करते हैं। उन्होंने कभी ग़ालिब के दीवान को नहीं पढ़ा। कोश लेकर उनके शब्दों के अर्थ नहीं लगाये,

* सं. मुगनी अमरोहवी और नूरनबी अब्बासी

किसी समालोचक की सहायता से उनकी खूबसूरती नहीं देखी, समझी। उन्होंने कहीं सुना है, किसी को कहते, किसी को गुनगुनाते और उनकी पंक्तियों को अपनी स्मृति में बाँध लिया है। मैं भी अपने आपको इन्हीं लोगों में समझता हूँ। कुछ समय हुए मैंने ग़ालिब पर एक कविता लिखी थी। उसके एक पद में यही भाव मैंने व्यक्त किया था।

मैंने तुमको है पढ़ा नहीं मुर्दा जिल्दों
मैं बैठ बल्ब के नीचे काली रातों में,
मैंने तुमको है सुना ज़िन्दगी के मुँह से
मन के सौ आघातों में, प्रत्याघातों में,
    शब्दों से मैंने राज़ तुम्हारा कब पूछा ?
    पूछा है मैंने दिल्ली से, मेहरौली से,
    जिसकी सड़कों के ऊपर तुम भटके-भूले,
    जिसकी गलियों के तुमने फिर-फिर मोड़ गिने
ग़ालिब, वह ग़ल्बा ला दो मेरे जीवन में
जिससे मेरा अन्दाज़े बयाँ कुछ और बने।

—आरती और अंगारे

ग़ालिब की समस्त उर्दू रचनाओं को पहली बार पढ़ने का अवसर मुझे 'दीवाने ग़ालिब' से ही मिला है। आशा है कि इस प्रकार का सन्तोष मेरे जैसे बहुत-से लोगों को मिलेगा, जो फ़ारसी लिपि से अनभिज्ञ हैं।

आरम्भ में सम्पादकों ने मिर्ज़ा ग़ालिब की एक संक्षिप्त जीवनी भी दी है जो बड़ी सरल और सीधी-सादी भाषा में है पर इतने से भी वह मिर्ज़ा के प्रति पाठक की रुचि और सहानुभूति जगा देती है। मेरे कुछ मित्रों की राय थी कि पुस्तक के साथ ग़ालिब के काव्य-सौन्दर्य पर एक विवेचनात्मक निबन्ध भी होना चाहिए था। दीवान बहुत बड़े आकार का नहीं है और 20-25 पेज़ जुड़ जाने से पुस्तक कोई ज्यादा मोटी न हो जाती। इसमें मेरा मतभेद है। किसी ने डाक्टर जानसन से पूछा था कि शेक्सपियर के नाटकों का अध्ययन करने के लिए किसकी टिप्पणियाँ अथवा आलोचनाओं का सहारा लिया जाय और उन्होंने कहा था कि शेक्सपियर को समझने के लिए किसी की टिप्पणी और आलोचना की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। मैं समझता हूँ कि आलोचनात्मक निबन्ध के अभाव में पुस्तक में कोई कमी नहीं आयी। साहित्यिक सुरुचिसम्पन्न व्यक्ति जो ग़ालिब के शेरों में न पायेगा, उसे समालोचक क्या बता पायेंगे ! पुस्तक इम्तहान में बैठनेवाले विद्यार्थियों के लिए नहीं प्रस्तुत की गयी।

पुस्तक के अन्त में कठिन शब्दों के अर्थ दे दिये गये हैं। यह उचित ही था। नागरी लिपि में पुस्तक उन्हीं लोगों के लिए है जो उर्दू-फ़ारसी नहीं जानते। शब्दों के चुनाव में कुछ अधिक उदारता बरती जाती तो ज्यादा अच्छा होता। मुझे दो-चार शब्द ऐसे मिले जिनके अर्थ मुझे नहीं मालूम थे और जो टिप्पणी में नहीं दिये गये। सम्भव है, उर्दू जाननेवालों में वे साधारण शब्द समझे गये हों। नागरी लिपि में छपी उर्दू पुस्तकों में प्रथा यह है कि शब्दार्थ फुटनोट में दिये जाते हैं। मेरी दृष्टि में पाठक के लिए यह अधिक सुविधाजनक होता है। उसी पेज़ पर शब्द है, उसी पेज़ पर अर्थ। अन्त में अर्थ होने से सारी पुस्तक को उलटकर देखना पड़ता है।

उर्दू के शेरों को देवनागरी लिपि में लिखने की कुछ कठिनाइयाँ हैं। शेरों में बहुत-से शब्द ऐसे आते हैं जिन्हें लिखा तो जाता है पूरी मात्रा में और पढ़ा जाता है आधी मात्रा में। या लिखा जाता है आधी मात्रा में और उच्चारण में आधे और पूरे के बीच का समय लिया जाता है। कुछ शब्द लिखे तो जाते हैं अलग-अलग पर पढ़ने के प्रवाह में उन्हें एक करके पढ़ा जाता है। देवनागरी लिपि में उन्हें व्यक्त करने के संकेत नहीं हैं। उदाहरण के लिए एक शेर लीजिए :

'हूँ तिरे वादा न करने में भी राज़ी कि अभी'

यहाँ 'तिरे', (तेरे) में 'ते' की दो मात्रा को एक करने के लिए 'ते' को 'ति' कर दिया गया है। इसी तरह 'मेरे' को 'मिरे' लिखा गया है। लेकिन यह समस्या का कोई हल नहीं हुआ। शेर में आगे के शब्दों को देखिए 'वादा' को पूरा बोला जाय तो शेर का प्रवाह बिगड़ जाय। उसे 'वाद' कहा जाय तभी ठीक बैठेगा। यहाँ सम्पादकों ने 'द' को आधा उच्चारण करने का कोई संकेत नहीं दिया। इसी तरह 'में' भी दो मात्रा की जगह एक मात्रा का उच्चारण हो तभी प्रवाह ठीक आयेगा। इसका भी कोई संकेत नहीं। फिर 'तेरे' को 'तिरे' करने का ही क्या तुक। दूसरा उदाहरण लीजिए :

'गलती की कि जो काफ़िर को मुसलमाँ समझा' या
'निगहे नाज नाज है सुरमें से खफ़ा मेरे बाद'

इन पंक्तियों में 'गलती' और 'निगहे' में 'ल' और 'ग' पर अगर एक मात्रा से अधिक न रुका जाय तो प्रवाह में त्रुटि आ जायगी। इसका भी संकेत कहीं नहीं।

अब तीसरा उदाहरण लीजिए—

'वां खुद आराई को था मोती पिरोने का ख़याल'

इस पंक्ति का प्रवाह तभी ठीक होगा जब इसे 'खुदाराई' पढ़ें। हलन्त, और दीर्घ मात्राओं के लघु उच्चारणों के संकेत प्रयुक्त किये जा सकते हैं, पर इससे छपाई की कठिनता बहुत बढ़ जाती है। मेरा इस मामले में एक सुझाव है कि ग़ज़ल के आरम्भ में बहर ठीक-ठीक लघु-दीर्घ के द्वारा व्यक्त कर दी जाय। बाद को शब्द पूरे-पूरे लिख दिये जायँ। पाठक बहर का आधार लेकर जैसा लघु-दीर्घ उचित होगा, लगा लेगा। अवधी और ब्रज भाषा के छन्दों में इसी प्रथा से लघु-दीर्घ का निर्णय होता है। तब 'तेरे' को 'तिरे' लिखने की ज़रूरत न होगी।

इस पुस्तक में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ शब्दों को यदि उसी तरह पढ़ा जाय, जिस तरह वे लिखे हैं तो बहर में पढ़ना मुश्किल होगा। दो उदाहरण दे रहा हूँ :

'नहीं गर सर्व बर्गे इदरा के मानीं'

अगर इसे 'मुबारक मुबारक सलामत सलामत' की बहर में पढ़ना है तो 'सर्व' को 'सरव' पढ़ना पड़ेगा। और

'कमाले गर्मिए सईए तलाशे दीद न पूछ' में 'सईए' को 'सइए' किये बग़ैर बहर ग़ायब रहेगी।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि उर्दू को नागरी लिपि में अवतरित करने के लिए जिस वैज्ञानिक रीति का अनुसरण करना चाहिए था, उसकी ओर सम्पादकों ने ध्यान नहीं दिया। एक ही शब्द एक जगह पर 'ब्रहमन' है दूसरी जगह पर 'बिरहमन', एक जगह 'प' दूसरी जगह 'पे'। इन कारणों से ग़ालिब के नागरी मूल-

पाठ को हम आदर्श नहीं कहेंगे। इसमें सुधार की बहुत गुंजाइश है। छापे की कुछ गलतियों की ओर संकेत करना बड़ी मोटी बात होगी, पर प्रूफ की ओर लापरवाही दिखाकर हम ग़ालिब ऐसे शायर के प्रति बड़ा भारी अन्याय कर सकते हैं। उन्हें सौ रुपया माहवार 'रायपुर' से नहीं 'रामपुर' से मिलते थे। मूलपाठ में छापे की गल्तियों से जो अर्थ का अनर्थ हुआ होगा, वह उर्दू दां ही बता सकेंगे। हिन्दी जाननेवाले तो गलती को ही सही मान लेंगे।

ग़ालिब उर्दू में क्लासिक्स के दर्जे पर पहुँच गये हैं। उनकी कविता पर समय ने अपनी राय दे दी है। अब हमा-शुमा को उस पर कुछ कहने का अधिकार नहीं रह गया। इसे मैं हिन्दी जाननेवालों का सौभाग्य कहूँगा कि ऐसे प्रकाशनों के द्वारा वे फ़ारसी लिपि न जानने पर भी उर्दू के ऐसे महारथी की रचनाओं का रसास्वादन कर सकते हैं। आशा है दोनों भाषाओं के जाननेवाले भविष्य में ग़ालिब को अधिक शुद्ध और प्रामाणिक रूप में हमारे सामने उपस्थित करेंगे।

आज के उर्दू शायर और उनकी शायरी*

संसार में शायद भारतवर्ष ही ऐसा राष्ट्र है जिसमें लगभग एक दर्जन भाषाएँ हैं, जिनमें सभी में उच्चकोटि का साहित्य है। इन विभिन्न भाषाओं के साहित्य में भारत की एक आत्मा बोलती है। एकता की भावना युगों से अनेकानेक सूक्ष्म उपकरणों के द्वारा जाग्रत रक्खी गयी है। इसको अधिक पुष्ट और संगठित बनाने के लिए यह आवश्यक है कि एक भाषा के पढ़े-लिखे लोग दूसरी भाषा के साहित्य वैभव से परिचित हों। प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक प्रयास है।

वैसे तो हिन्दी-उर्दू एक ही भाषाएँ हैं। दोनों का उद्गम खड़ी बोली से हुआ है। उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुलता है, हिन्दी में संस्कृत के तत्सम अथवा तद्भव शब्दों की। पर लिपि की विभिन्नता के कारण हिन्दी-उर्दू का आदान-प्रदान इतना नहीं हुआ, जितना होना चाहिए था और जो हिन्दी-उर्दू दोनों के लिए हितकर सिद्ध होता। हिन्दी जाननेवालों में उर्दू के साहित्य से परिचित होने की लालसा पुरानी है। यह दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है। राष्ट्रभाषा का पद पाने से हिन्दी की ज़िम्मेदारी और बढ़ गयी है। इसे राष्ट्रभाषा के माध्यम से देश-भर के साहित्य के लिए सेतु का काम करना है। इसे अन्य भाषाभाषियों को हिन्दी से ही अवगत कराना नहीं बल्कि हिन्दी के माध्यम से देश के अन्य साहित्यिक वैभवों से भी अवगत कराना है।'आज के उर्दू कवि' के समान 'आज के तमिल कवि', 'आज के गुजराती कवि', 'आज के आसामी कवि' आदि पुस्तकें भी निकलनी चाहिए और मुझे विश्वास है, निकलेंगी। हिन्दी अपने उत्तरदायित्व को समझती है।

भाषा की दृष्टि से हिन्दी के निकट होने पर भी उर्दू का स्वतन्त्र साहित्य है, इसकी अपनी परम्परा है, उसके विकास का अपना ढंग है। भारत की अन्य भाषाओं के समान आज भी उसका साहित्य फूल-फल और बढ़ रहा है। आज भी इसमें अच्छे गद्य लेखक और कवि हैं।

प्रस्तुत संकलन में उर्दू के आधुनिक 25 कवियों से परिचय कराया गया है।

* सम्पादक—प्रकाश पण्डित

इनके नाम हैं : जोश मलीहाबादी, जिगर मुरादाबादी, फ़िराक़ गोरखपुरी, हफ़ीज़ जालन्धरी, अख्तर शीरानी, अब्दुलहमीद अदम, साग़र निज़ामी, मजाज़ लखनवी, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, नून-मीम राशिद, मुईन अहसन जज़्बी, सरदार जाफ़री, मख़्दूम मुह्युद्दीन, अहमद नदीम क़ासमी, जां निसार अख़्तर, साहिर लुधियानवी, वामिक़ जौनपुरी, गुलाम रब्बानी 'ताबां', जगन्नाथ आज़ाद, अर्श मलस्यानी, मख़्मूर जालन्धरी, अख़्तर उल-ईमान, सलाम मछलीशहरी, मजरूह सुलतानपुरी और क़तील शफ़ाई। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि संकलनकर्ता ने कई ऐसे शायरों को भी रक्खा है जो अब पाकिस्तान में हैं। पाकिस्तान बनने के पूर्व बहुत-से उर्दू शायर उस भाग में रहकर उर्दू में लिखते थे। कुछ पाकिस्तान बनने के बाद इधर से ही गये। भारत और पाकिस्तान के मुशायरों में दोनों देशों के उर्दू शायर आज भी साथ बैठकर कविताएँ सुनाते हैं। इन कारणों से यह उचित ही था कि आधुनिक उर्दू कविता पर विचार करते हुए राजनीतिक संकीर्णता को प्रश्रय न दिया जाता।

श्री प्रकाश पण्डित ने आरम्भ में एक छोटी-सी किन्तु सारगर्भित भूमिका दी है जिसमें उन्होंने 1857 के बाद की उर्दू शायरी पर प्रकाश डाला है। इस संकलन में वे कवि रक्खे गये हैं जो प्राय: 1935 के लगभग या उसके बाद चमके।

कवियों को प्रस्तुत करने का ढंग संकलनकर्ता ने इस प्रकार रक्खा है : पहले वे पाँच-छ पृष्ठों में कवि का परिचय देते हैं और फिर उसकी शायरी से चुनकर ग़ज़ल, नज़्म, शेर अथवा रुबाई पेश करते हैं।

इन परिचयों के लिए मैं श्री पण्डित को बधाई देना चाहूँगा। उन्होंने कवि को समालोचक की रूखी दृष्टि से नहीं देखा। बहुत-से कवियों के साथ उनका व्यक्तिगत परिचय है : उनके साथ वे मिले-बैठे हैं। ऐसा लगता है, एक दोस्त दूसरे दोस्त का परिचय दे रहा है—बड़े घरेलू ढंग से, बेतकल्लुफ़ी के साथ। पढ़ते-पढ़ते कवि का सजीव चित्र सामने खड़ा हो जाता है।

परिचय के पश्चात 8-10 पृष्ठों में कविताओं का संकलन है। कठिन शब्दों के अर्थ फुटनोट में दे दिये गये हैं। संकलन में सम्पादक महोदय ने सुरुचि से काम लिया है। किसी भी संकलन से सबको सन्तुष्ट करना असम्भव है। लोगों को विशेष कारणों से किसी कवि की विशेष रचना पसन्द आ जाती है। उसे संकलन में न देखकर निराशा होती है। पर मेरा ऐसा विश्वास है कि इन शायरों से पहले-पहल परिचय करनेवालों को संग्रह सन्तोषजनक प्रतीत होगा।

पुरानी उर्दू शायरी की विशेषता ग़ज़लों में रही है। यह इतनी मज़बूत परम्परा है कि उर्दू के आधुनिक शायर भी इससे पल्ला नहीं छुड़ा सके; पर नज़्म और गीतों के भी सफल प्रयोग इधर हुए हैं। मुक्त छन्द में भी कविताएँ लिखी गयी हैं। शायद ही कोई ऐसा पाठक हो जो आधुनिक उर्दू शायरी के भाव और रूप की विविधता से प्रभावित न हो।

चाँदनी चूनर*

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमती शकुन्त माथुर की 55 कविताओं का संग्रह है। प्रारम्भ में लेखिका ने एक वक्तव्य देकर कविता के सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ व्यक्त की

* लेखिका—शकुन्त माथुर

हैं। फ्लेप पर कविश्री सुमित्रानन्दन पन्त की सम्मति दी गयी है। लेखिका ने वक्तव्य में बतलाया है कि ये कविताएँ उसकी पिछले बीस वर्ष की रचनाओं से चुनी गयी हैं।

श्रीमती शकुन्त माथुर के नाम से हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के पाठक अपरिचित नहीं हैं। इनके माध्यम से उनकी रचनाएँ यदा-कदा सामने आती रही हैं। इनकी रचनाओं से प्रभावित होकर श्री अज्ञेय ने अपने दूसरे सप्तक में उन्हें भी स्थान दिया था।

'गोरी बातें' और 'तुम सुन्दर हो, घर सुन्दर हो' शीर्षक दो रचनाओं को छोड़कर शेष कविताएँ उस शैली के मुक्त छन्द में हैं जिसको आज की नयी कविता के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त किया जाता है। मुक्त छन्द की पंक्तियों के विषय में एक प्रकार की अराजकता फैली है। प्रत्येक कवि किसी पंक्ति को छोटी-बड़ी जैसी चाहे बना दे। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि एक ही शब्द के अक्षरों को अलग-अलग कर एक-एक को स्वतन्त्र पंक्ति की सत्ता दी जाती है। कवि से पूछा जाय तो शायद इस प्रवृत्ति के पीछे वह कोई विशेष कलात्मक कारण बता सके। हर पाठक कवि से पूछने नहीं जा सकता, पर उससे यह प्रत्याशा की जाती है कि वह यह विश्वास रक्खे कि कवि ने ऐसा किया है तो उसके पीछे कला की कोई माँग है। यदि उसमें काव्य-विवेक या कला की परख हुई तो, सम्भव है, वह उसको समझ सके, गो देखने में यही आता है कि पाठक प्रायः उसे कवि की सनक समझकर छोड़ देता है।

पंक्तियों के अकारण छोटी-बड़ी होने का हिन्दी पाठक प्रायः अभ्यासी होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त इन कविताओं में लेखिका ने एक और रुचि-वैषम्य का प्रयोग किया है। उसने सब प्रकार के विराम-चिह्नों को कविता के संसार से बहिष्कृत कर दिया है। यह कवयित्री का सर्वथैव अभिनव प्रयोग तो नहीं है; मुझे याद पड़ता है कि मैंने कुछ और कविताएँ भी इसके पूर्व देखी हैं जिनमें विराम चिह्नों को एकदम हटा दिया गया था। आधुनिक हिन्दी कविता में सबसे पहले विराम चिह्नों के हटाने का सेहरा किसके माथे पर बाँधा जाये इसकी घोषणा कोई शोध का विद्यार्थी ही कर सकता है। विराम-विरोध हिन्दी से पहले मैंने अंग्रेज़ी में देखा था, अंग्रेज़ी से पहले यह फ्रांसीसी में चला होगा, मुझे निश्चय है। योरोप में बाल-ब्लाउज़ और बाद के नये फैशन फ्रांस से ही आरम्भ होते हैं। विराम-चिह्नों का विरोध कविता की भाषा और लहजे की बोलचाल को भाषा के अधिक निकट ले जाने के लक्ष्य से किया गया। योरोप में हर 40-50 वर्ष पर यह आन्दोलन चलता है। साहित्य की भाषा पिछड़ जाती है, जनता की भाषा आगे बढ़ जाती है। तर्क यह दिया गया कि क्या हम बोलचाल में कुछ शब्दों पर रुककर कहते हैं— 'कामा' या 'सेमी-कोलन' या 'कोलन' या 'फुलस्टाप'? नहीं कहते, तो कविता को भी अगर वार्तालाप की स्वाभाविकता देनी है तो विराम-चिह्नों को हटा दिया जाय। इससे काफी गड़बड़ी फैली। बोलचाल में हमारा थोड़ा-अधिक रुकना ही सेमीकोलन या 'फुलस्टाप' है। परिष्कार करने के लिए कुछ समर्थ कवियों ने कविता के रेकार्ड बनवाये, जिससे कविता आँख से न पढ़ी जाय, सुनी जाय, और सुनाने में यथास्थान, यथावश्यक रुका जाये, जैसाकि अच्छे काव्य-पाठ में होता है। सबके लिए यह सम्भव नहीं हो सका और धीरे-धीरे अंग्रेज़ी में विराम-चिह्न लौटने लगे।

हिन्दी में यह मात्र अन्धानुकरण था या गुणग्रहण, कौन कहे! कविता में आयी अस्पष्टता, दुरूहता, निरर्थकता। कविता छापने को कोई तैयार नहीं, रेकार्ड कौन

बनाये ! और इन कविताओं को सुनकर भी जनता कैसे समझे ! हिन्दी में साहित्य की भाषा आगे चलती है, जनता की भाषा पिछड़ जाती है। यहाँ तो समय-समय पर यह आन्दोलन होना चाहिए कि बोलचाल की भाषा को साहित्य की भाषा के समीप लाओ।

खैर, प्रस्तुत पुस्तक में विराम-चिह्नों के अभाव से पढ़नेवाले को काफ़ी दिक़्क़त उठानी पड़ती है। ग़नीमत यह है कि श्रीमती शकुन्त माथुर की भाषा सरल और घरेलू है, रूपकों में उन्होंने व्यक्तिगत-अनुभूति-जन्य, असाधारण और अपरिचितों को अधिक प्रश्रय नहीं दिया, और उनकी अभिव्यक्ति में पेचीदगी अथवा उलझाव नहीं है। प्रत्येक कविता में उन्हें जो कुछ कहना है और पाठक पर जैसा प्रभाव छोड़ना है, उनके मस्तिष्क में स्पष्ट है। वे अपने काव्य-संसार को सजग रहकर देखती हैं और अपने पाठक से प्रत्याशा करती हैं कि उसके बारे में वे जो कहें, उसे वह सचेत रहकर सुने। भावुकता में कभी-कभी वे स्नान तो करती हैं, पर उसमें डूबना या बह जाना उनकी रुचि के अनुकूल नहीं। उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में किसी को ग़लतफहमी नहीं हो सकती। उनका कवि-व्यक्तित्व अल्प-काय है पर बिलकुल सुस्पष्ट (क्लियर कट)।

संक्षेप में हम उन्हें घर और बाहर की कवयित्री कह सकते हैं। बाहर दो तरह का—एक छोटी परिधि का, जो घर की ही किसी ऊँची खिड़की से देखा जा सकता है और एक बड़ी परिधि का जिसमें हम अपने देश और युग को भी देखते हैं। मैं अभी निर्णय नहीं कर सका कि शकुन्तजी का विशेष क्षेत्र कौन है।

घर की विशिष्ट रचना मैं 'बरस बीत गया' और 'कुछ नयी बात' को मानता हूँ। 'बरस बीत गया' में एक साधारण गृहिणी के क्रिया-कलाप का वर्ष बड़ी ही परिचित, रूपमयी भाषा में चित्रित किया गया है, साथ ही इनके पीछे नारी का भावनामय किन्तु परिवार-संयमित हृदय भी झलकता है, जैसे किसी ताजे बने हुए तैल-चित्र में तैल। (एक ही बात इसमें मुझे खटकी 'कैसी हुई अंगिया / बसन्त में गेंदे के फूल-सी'; अपने देश में गेंदा जाड़े में अपनी पूरी जवानी पर रहता है, बसन्त में जीर्ण हो जाता है।) 'कुछ नयी बात' में रात के शान्त वातावरण का चित्रण नये पर उच्चवर्गीय गृह में परिचित प्रतीकों से किया गया है।

खिड़की से दिखलायी देनेवाली दुनिया की दो श्रेष्ठ रचनाएँ हैं 'दो शब्द चित्र' और 'बस स्टैण्ड'। 'दो शब्द चित्र' में पनघट के रंगीन वातावरण से नल के गद्यात्मक 'क्यू' की तुलना की गयी है। (उसमें भी दो एक खटकनेवाली बातें हैं, कुएँ की 'मेड़' नहीं होती, 'जगत' होती है। 'टोकनियों' से कहाँ पानी भरा जाता है ? जो पानी भरने आयेंगी वे 'सजल मटकियाँ' लायेंगी कि खाली ? नल कल से निकलनेवाली आवाज़ से 'पुनि बार' का क्या मतलब है ?)। 'बस स्टैण्ड' में 'क्यू' में खड़े लोगों का चित्रण बड़ा सजीव है। देखिए एक का

'ओंठ रूखे पत्थर से
काठ सा घुना हुआ शरीर
जान जिस पर चिपकी थी छिपकली सी।'

बड़ी परिधि की कविताओं में मुझे 'कुर्सी', 'लीडर का निर्माता' और 'विपर्ययों की दुनिया' ने विशेष आकर्षित किया। प्रथम दो कविताओं में कवयित्री ने देश और काल को बड़े असन्तोष की दृष्टि से देखा है और बड़े बोलते और मर्मस्पर्शी रूपकों से उसे व्यक्त किया है। पर उन दोनों से अच्छी है 'विपर्ययों की दुनिया'—जिसे शायद इस संग्रह की सबसे अच्छी कविता कहा जा सकता है। जीवन की निष्ठा

आज जितनी विकृत हो गयी है उसे साकार करनेवाली इससे अच्छी कविता मैं हिन्दी में नहीं जानता।

कुछ छोटी कविताएँ भी अच्छी हैं जिन्हें वक्रोक्ति या व्यंग्योक्ति कह सकते हैं जैसे—'नये जुआरी। 'नयी कसौटी' चुहल मात्र है। 'सूत्र' शीर्षक रचनाओं में सामान्योक्तियाँ हैं।

संग्रह में भाषा की अनेक त्रुटियाँ भी हैं।

कुछ शब्दों में स्थानीय लहजों का प्रयोग मुझे अच्छा नहीं लगा जैसे 'क्यूं' (क्यों); 'ये' (यह), 'नदि' (नदी), 'उभड़े' (उभरे या उभारे), 'बाहिर' (बाहर), 'पहिन' (पहन)।

कुछ प्रयोग मुझे चिन्त्य लगे। 'सीमा की सरहद' (सीमा की सीमा!), 'कहीं चक्कर घूमते हैं' (चक्कर मारना, लगाना, काटना मुहावरा है 'घूमना' नहीं), 'चाँदनी की सित उज्ज्वलता' (सित के अर्थ हैं उज्ज्वल। उज्ज्वल उज्ज्वलता कैसी!), 'घर साफ पड़ा है' (घर गन्दा पड़ा है तो सुना जाता है; साफ पड़ा है —कौन कहता है), 'विचके कस्बों में' (बिचले ठीक है, बिचके का अर्थ है 'बिगड़े')

वाक्य-रचना में, विशेषकर जब वाक्य ज़रा लम्बा हो जाये, लेखिका प्रायः असफल रही हैं: दो उदाहरण:

> 'इन्द्रधनु के रंग भी जब-जब तुम पर पड़े हैं
> कठले पर आने को मोती परस्पर लड़े हैं
> तुम दीप्त हो दुगुनित रंगों से उन किरणों को
> स्वीकारतीं'··· (पृ. 108)

> 'किन्तु तूफ़ान जो छिपा था
> रंग लिये काले भीतरी पर्दों में
> श्मशान बना डाली
> पाँच नदियों की मिली पंजाब' (पृ. 67)

'पंजाब' के साथ ही 'समीर' और 'गीत' को भी कवयित्री ने स्त्रीलिंग बना दिया है।

रूपक के अपूर्ण ग्रहण का एक उदाहरण है 'भविष्या' जिसके विषय में दो बार लिखा है कि वह 'मौन' आती है। पर बीच में लिखा है 'शंख बजाती' / 'घण्टा रव करतीं'/खूब 'मौन' है। इसी प्रकार 'बदली का चाँद' में लिखा है, 'अधरात सुनसान / बाहर सूनेपथ पर / रात है निकलती'। आधी रात को रात का निकलना क्या है?

अन्त में मैं यह कहना चाहूँगा कि इन त्रुटियों के बावजूद 'चाँदनी चूनर' की कविताएँ शकुन्तजी में वह काव्य-प्रतिभा सिद्ध करती हैं जो यदि संयम और साधना से विकसित की जाय, तो आधुनिक हिन्दी काव्य पर अपनी स्पष्ट छाप छोड़ सकती है।

13 विलिंगडन क्रिसेण्ट, **बच्चन**
नयी दिल्ली-11

अभिषेकिता*

आधुनिक हिन्दी कवियों में शायद ही कोई और कवि हो जिसकी कविताओं के इतने संचयन निकले हों जितने श्री सुमित्रानन्दन पन्त के।

'पल्लविनी', 'चिदम्बरा', 'रश्मिबन्ध', 'आधुनिक कवि-2', 'कविश्री,' 'आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि -- सुमित्रानन्दन पन्त' से हिन्दी पाठक और विशेषकर पन्तजी की कविताओं के प्रेमी परिचित हैं। अब 'अभिषेकिता' नाम से उनका नवीनतम और सातवाँ संचयन सामने आया है।

ऊपर के संचयन या तो पन्तजी द्वारा स्वयं किये गये थे या किसी एक व्यक्ति द्वारा। 'अभिषेकिता' की विशेषता यह है कि यह संचयन किसी एक व्यक्ति द्वारा न किया जाकर एक ऐसी समिति द्वारा किया गया है जो पन्तजी की षष्टीपूर्ति के अवसर पर नियोजित की गयी थी, साथ ही पन्तजी से भी अन्तिम स्वीकृति ले ली गयी थी, जैसा कि श्री रामचन्द्र टण्डन प्रस्तावना में लिखते हैं। चयन कई अधिकारी साहित्यिकों और स्वयं कवि के परामर्श से हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि यह संचयन कई दृष्टियों से पन्तजी की रचनाओं का सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्तिगत पूर्वाग्रह से मुक्त रहने के कारण पन्तजी की रचनाओं का एक ऐसा संचयन तैयार हो सका जो प्रायः सभी विवेकशील एवं सुरुचिपूर्ण व्यक्तियों को सन्तुष्ट कर सकेगा। समिति का एक सदस्य होने के नाते मैं यह बता दूँ कि संचयन में उन्हीं कविताओं को स्थान दिया गया है जिनके लिए सभी अथवा प्रायः सभी लोगों की सहमति रही हो। इस संचयन का अनुवाद भारत की ग्यारह अन्य भाषाओं में भी हो चुका है, और बहुत-सी भाषाओं में तो पुस्तक-रूप में प्रकाशित भी हो चुका है। एक सज्जन इन कविताओं का अनुवाद अंग्रेज़ी में भी कर रहे हैं और आशा है शीघ्र ही वह भी पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया जायेगा।

संचयन को पुस्तक-रूप में देखकर रचनाओं के क्रम से मुझे कुछ असन्तोष हुआ। न जाने किसके आदेश अथवा निर्णय से रचनाओं में किसी प्रकार का क्रम नहीं रक्खा गया। पन्तजी सन् 1918 से आजतक बराबर लिख रहे हैं और उनकी रचनाओं में विषय, शैली, दृष्टिकोण आदि सृजन के विभिन्न अंगों का एक क्रमिक विकास है। उचित तो यही था कि उनकी रचनाओं को रचना-क्रम में ही रक्खा जाता जिससे पाठक को शुरू से आखीर तक पढ़ते हुए उस विकास का आभास मिलता। संचयन में पहले की कई रचनाएँ बाद को, बाद की कई रचनाएँ पहले, बीच की रचनाएँ कई पहले, कई बाद को, बिना किसी तरतीब के, रख दी गयी हैं। रचना-क्रम के अतिरिक्त विषय-क्रम की भी एक तरतीब हो सकती थी। पर उसका भी ध्यान नहीं रक्खा गया। जैसे किसी ने सब शीर्षकों को साथ रखकर उछाल दिया है और बटोरते समय जो पहले हाथ में आ गया है, उसे पहले, जो बाद को हाथ में आया है, उसे बाद को रख दिया गया है। अगर किसी प्रकार का क्रम न रखना ही ध्येय था, गो ऐसा करने का कोई कारण मैं नहीं समझ सकता, तो कम-से-कम हर रचना के साथ उसका रचनाकाल अथवा जिस संग्रह से वह ली गयी है उसके नाम का संकेत कर देना था। पाठक कहीं से भी पुस्तक खोलकर पढ़ता, कम-से-कम इतना तो जान लेता कि कवि की किस अवस्था की अमुक रचना है -- जो कवि 20 वर्ष की अवस्था में लिखता है, वह तो 60 वर्ष की अवस्था में

* श्री सुमित्रानन्दन पन्त की कविताओं का संचयन

नहीं लिखता। किसी भी निर्दिष्ट क्रम के अभाव में यह एक बहुत अच्छा संग्रह त्रुटिपूर्ण रह गया है। फिर भी साधारण पाठक को इससे सन्तोष कर लेना चाहिए कि ये रचनाएँ ऐसी हैं जो समय-सिद्ध हो चुकी हैं, जन और विद्वज्जन की स्वीकृति पा चुकी हैं, एक-एक अपने-आप में पूर्ण और एक-दूसरे से निरपेक्ष हैं--क्या हुआ जो कोई पहले लिखी गयी, कोई बाद को।

सुश्री शान्ति जोशी और श्री नरेन्द्र शर्मा द्वारा लिखा गया कवि-परिचय पन्त-जी के जीवन और काव्य-विकास की संक्षिप्त रूप-रेखा उपस्थित करता है और साधारण पाठक को दृष्टि में रखकर सरलता और स्पष्टता से लिखा गया है। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि उस परिचय में भी कुछ भूलें की गयी हैं।

पन्तजी के सबसे बड़े भाई का नाम 'हरनन्दन पन्त' दिया गया है; जबकि उनका नाम हरदत्त पन्त है।

'कालिदास' को 'कालीदास' प्रेस के भूतों का उत्पात ही मानना होगा।

पन्तजी की तीन रचनाओं की प्रथम प्रकाशन तिथियाँ ग़लत बतायी गयी हैं।

'अतिमा' 1955 में छपी थी, उसका प्रकाशन 1956 का दिया गया है। इसी प्रकार 'वाणी' का प्रकाशन सन् 1957 का न होकर 1958 का है और 'कला और बूढ़ा चाँद' का 1960 का न होकर 1959 का है। लेखकद्वय ने पुस्तकों में छपी तिथियों को देखने का कष्ट किया होता तो ऐसी भूलें न रह जातीं।

पन्तजी की कविताओं के मूलपाठ में भी कई अशुद्धियाँ रह गयी हैं; उदाहरणार्थ पृ. 25 पर छपा है 'अगणित बार पढ़ा उदधि ने' इसे होना चाहिए 'अगणित बाहें बढ़ा उदधि ने' पृ. 94 पर छपा है 'रोये गाये, हंस बढ़े हुए !' इसे होना चाहिए 'रोये गाये हँस बड़े हुए।'

अन्त में एक बात और। पन्तजी के 60 वर्ष पूरे करने पर जो उत्सव किये गये, उनमें कहीं तो 'षष्ठिपूर्ति' का प्रयोग किया गया और कहीं 'षष्टीपूर्ति'। इस पुस्तक में भी प्रस्तावना में 'षष्ठिपूर्ति' लिखा गया है। मैं संस्कृत का विद्वान नहीं, पर मुझे किसी संस्कृत के विद्वान ने बताया है कि शुद्ध शब्द 'षष्टीपूर्ति' है। जानकार लोग शुद्ध शब्द के विषय में अपना निर्णय व्यक्त करें तो इस बहुप्रयुक्त शब्द का भ्रमात्मक रूप निश्चयात्मक हो।

13 विलिंगडन क्रिसेण्ट,
नयी दिल्ली

बच्चन

काव्यकला*

होरेस की 'आर्स पोएतिका' का हिन्दी अनुवाद देखकर बहुत प्रसन्नता हुई। अरस्तू की 'पोएटिक्स' के साथ इस पुस्तक ने योरोपीय काव्य-समालोचना की आधार-शिला रक्खी है। राष्ट्रीय साहित्य के लिए राष्ट्रीय मानदण्डों के अतिरिक्त अन्तर्-राष्ट्रीय मानदण्डों को भी दृष्टि में रखने की आवश्यकता है, इसे आज की प्रतिपल निकट होती हुई दुनिया में सब समझदार लोग मानते हैं। ऐसी पुस्तकों के हिन्दी में

* रूपान्तर—महेन्द्र चतुर्वेदी, डा. रांगेय राघव

सुलभ होने से हिन्दी समालोचना का दृष्टिकोण व्यापक होगा, इसमें मुझे सन्देह नहीं। मैं श्री महेन्द्र चतुर्वेदी को सारगर्भित भूमिका और गद्यान्तर, और डॉ. रांगेय राघव को गद्य-सुस्पष्ट पद्यान्तर के लिए बधाई देना चाहता हूँ।

बच्चन

नेपाल और नेपाल नरेश*

हिन्दी के प्रख्यात निबन्धकार श्री राजनाथ पाण्डेय लिखित 'नेपाल और नेपाल नरेश' पढ़कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इससे निश्चय ही हमारे यात्रा-साहित्य में एक बहुमूल्य अभिवृद्धि हुई है।

स्वतन्त्रता के पश्चात इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम संसार के विभिन्न देशों को अपनी आँखों से देखें और उनकी समस्याओं-आकांक्षाओं को गहराई के साथ समझें। अपने पड़ोसी देशों को तो हमें विशेष रीति से देखना-समझना है। उसमें भी कतिपय सांस्कृतिक, भौगोलिक और राजनीतिक कारणों से हमें नेपाल को अत्यन्त निकटता से समझना है। यह बड़े खेद और दुर्भाग्य की बात है कि इस पुस्तक के पूर्व केवल एक या दो पुस्तकें हिन्दी में नेपाल के विषय में लिखी गयी हैं जबकि अंग्रेज़ी में ऐसी पुस्तकों की संख्या लगभग सौ के है।

यह बड़े हर्ष का विषय है कि श्री राजनाथ पाण्डेय ने इस परम आवश्यक विषय की ओर ध्यान दिया। ऐसा करना उनके लिए स्वाभाविक ही था। उनके साहित्य से परिचित सभी लोग जानते होंगे कि 'घुमक्कड़ी शास्त्र' में उन्होंने अपनी दीक्षा श्री राहुल सांकृत्यायन से ली थी और एक बार उनके साथ तिब्बत की यात्रा भी की थी जिसका वर्णन उन्होंने अपने निबन्धों में किया है।

श्री राजनाथ पाण्डेय ने दो वर्ष से अधिक नेपालियों के बीच रहकर उनके देश का सूक्ष्म अध्ययन किया है। साथ ही उन्होंने नेपाल पर उपलब्ध साहित्य का भी अवलोकन किया है। सहृदयता और सहानुभूति के बिना किसी को भी जानना असम्भव है। राजनाथ पाण्डेय ने जहाँ एक ओर नेपाल को सम्यक सहानुभूति दी है वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपने विवेक को सजग और सतर्क रक्खा है। पुस्तक अत्यन्त रोचक है और उससे नेपाल का जो चित्र हमारे सामने खड़ा होता है वह सजीव, रोचक और जिज्ञासावर्द्धक है। सच तो यह है कि इस छोटी-सी पुस्तक से न मन सन्तुष्ट होता है और न शान्त। काश यह छोटी-सी पुस्तक उस बड़ी पुस्तक की महज भूमिका होती जिसमें वे नेपाल और नेपालियों को हमें अधिक विस्तार और गहराई से समझने की दृष्टि दे सकते! इस पुस्तक का खुले हाथों स्वागत कर ही हम श्री पाण्डेयजी को इससे बड़ी रचना देने को प्रेरित कर सकते हैं। क्या हिन्दी के पाठक अपना कर्त्तव्य निभायेंगे?

मैं श्री राजनाथ पाण्डेय को 'नेपाल और नेपाल नरेश' प्रस्तुत करने के लिए बधाई देता हूँ। जो लोग इस पुस्तक को पढ़ने बैठेंगे निश्चय ही नेपाल के विषय में एक नयी दृष्टि लेकर उठेंगे।

13, विलिंगडन क्रिसेण्ट, नयी दिल्ली-11

बच्चन

* **लेखक**—राजनाथ पाण्डेय

अंकित होने दो*

आज के नये साहित्य को जिन उदयोन्मुख प्रतिभाओं द्वारा सत्ता एवं इयत्ता मिली है उनमें श्री अजितकुमार का नाम अल्पज्ञात नहीं। स्वभाव से कुछ लज्जालु होने के कारण वे न अधिक बोलते हैं, न अधिक लिखते हैं, कम-से-कम प्रकाशित उन्होंने अधिक नहीं किया है। परन्तु पत्र-पत्रिकाओं में जब भी उनकी कहानियाँ, कविताएँ अथवा उनकी डायरी के पृष्ठ प्रकाशित हुए हैं तब उन्होंने सजग पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है और उन पर अपनी विशिष्टता की छाप छोड़ी है।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, अजितकुमार का पहला प्रकाशन था 'कविताएँ 1954' जिसमें उन्होंने पहली बार नवीन भावना एवं चेतना से स्फुरित एक वर्ष की कविताओं को संकलित करने का प्रयत्न किया था। काल-सीमित संकलन शायद यह पहला नहीं था, पर सामग्री में नव-जागरूकता को पहचानने का प्रयास इससे पूर्व नहीं हुआ था।

उनकी मौलिक कविताओं का संग्रह दो-तीन वर्ष हुए 'अकेले कण्ठ की पुकार' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। मैंने अक्सर सोचा है कि उसके नामकरण में कुछ भूल कर दी गयी थी—उसका उपयुक्त नाम होना चाहिए था 'नये कण्ठ की पुकार', पर हाँ, जिसमें पुराने कण्ठों की क्षीण प्रतिध्वनियाँ भी कभी-कभी सुनायी पड़ती हैं। शायद यही कारण था कि नये साहित्य के पैरोकार आलोचकों ने उसका स्वागत दोनों हाथ पसारकर नहीं किया था। पर ऐसा भी नहीं हुआ कि उनकी पुकार अनसुनी गयी हो।

अब भारतीय ज्ञानपीठ, काशी की 'नये साहित्य स्रष्टा' ग्रन्थमाला में उनका एक सम्यक संग्रह 'अंकित होने दो' के नाम से सामने आया है। मेरी ऐसी धारणा है कि इस संग्रह के द्वारा हम अजितकुमार के लेखक-व्यक्तित्व की एक सुस्पष्ट झाँकी पा सकेंगे। इस ग्रन्थमाला की योजना कुछ ऐसी है कि इसमें लेखक की सभी रचना-विधाओं की थोड़ी-बहुत बानगी प्रस्तुत कर दी जाती है। 'अंकित होने दो' में अजित की 13 कहानियाँ-रेखाचित्र हैं, 33 कविताएँ हैं—जो प्रायः 'अकेले कण्ठ की पुकार' के बाद की हैं—और 78 डायरी अथवा नोट्स के किस्म के अंकन हैं। व्यक्ति के विविध पहलुओं की मनोवैज्ञानिक स्वीकृति के पश्चात लेखक की अभिव्यक्ति-विविधता अधिक स्वाभाविक समझी जानी चाहिए।

डायरी अथवा नोट-लेखन स्वतन्त्र कला-विधान माना जाने लगा है। अजित के अंकन में विविधता और विस्तार दोनों हैं। सजग, सचेत, साहित्य-रुचिसम्पन्न के अनुभव में जो भी आकर्षक प्रतीत हुआ है उसे अजित ने बड़े रोचक और उद्‌बोधक ढंग से अंकित कर दिया है। कहीं ये भावों में भिगाते, कहीं विचारों को उत्तेजित करते हैं। ये इस बात को सिद्ध करते हैं कि जीवन में ऐसा साधारण कुछ भी नहीं जिसे एक विशेष दृष्टिकोण से देखने पर असाधारणता न दी जा सके।

कहानी को रेखाचित्र से मिलाकर उन्होंने एक ऐसे प्रदेश की कल्पना की है जहाँ कहानी कथानक के दायरे से बाहर चली जाती है और रेखाचित्र भी एक प्रकार के कथानक का आश्रय लेकर स्पष्ट होता है। कहानी के लिए जिस सुबोध गद्य शैली की आवश्यकता है, अजित उसमें सिद्धहस्त हैं। कहानी-रेखाचित्रों का रस है वह संवेदन जो वे अपने पात्रों को देते हैं और अपने पाठक में जगाते हैं।

* लेखक—अजित कुमार

संवेदन, जो ऊपर उठकर नीचेवाले को दिया जाता है ऐसा नहीं, बल्कि वह जो एक भुक्तभोगी दूसरे भुक्तभोगी को देता है। ज़रा-सा ध्यान देने से यह प्रकट हो जायेगा कि प्रत्येक कहानी में किसी न किसी रूप में वे स्वयं मौजूद हैं।

इस संकलन में विशेष आकर्षण की सामग्री है उनकी कविताएँ। अजित के लेखक-व्यक्तित्व की विविधता का संकेत मैंने ऊपर किया है, पर मुझे सब मिलाकर अजित को एक नाम से पुकारना हो तो मैं उन्हें कवि ही कहूँगा। कविता आज की साहित्य-समालोचना का बड़ा विवादास्पद विषय है। अजित अपने पारिवारिक संस्कार से—वे छायावादोत्तर काल की कवयित्री श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा के सुपुत्र हैं, अपने भावप्रवण काल में निरालाजी की निकटता भी उन्हें मिली थी—आज के युग की पूर्ववर्ती कविता से कम प्रभावित नहीं हैं। इस प्रभाव से निकलने में उन्हें साहस और श्रम करना पड़ा है, परन्तु जाने-अनजाने वे उसके तन्त्र-कौशल के सद्प्रभाव को आत्मसात करके बाहर निकले हैं। नये काव्य-बोध के आलोचक इसको गुण कहेंगे कि अवगुण, मैं नहीं कह सकता, परन्तु उसकी विशिष्टता से इनकार नहीं किया जा सकेगा। वे अपनी उपमा, रूपक, प्रतीक, मूर्तिविधान, उक्ति से चौंकाते नहीं, स्तब्ध नहीं करते, पर बहुत-से परिचित को अपरिचित और नया-सा करके उन्होंने हमारे सामने खड़ा किया है और उसके प्रति हमारी संवेदना जगायी है। 'लघु मानव' की चर्चा बहुश्रुत है पर उसकी जैसी विशेषता, असाधारणता, संवेदना-पात्रता मुझे अजित की कविताओं में मिली है, वैसी अन्यत्र नहीं। संक्षेप में, अजित ने कवि-रूप में नयी कविता का अपना वृत्त खींचने के बजाय पूर्ववर्ती काव्य की परिधि को बढ़ाया है और साहित्य के विकास की इस विधि को मैं अधिक स्वस्थ, सन्तुलित और सांगिक मानता हूँ।

अजित 'स्लोली' मगर 'स्टेडिली' अपना विकास कर रहे हैं। मुझे विश्वास है, उनकी गतिविधि में अधिकाधिक लोग रुचि लेंगे।

13 विलिंगडन क्रिसेण्ट, **बच्चन**
नयी दिल्ली
1-3-62

प्रारम्भिक रचनाएँ

तीसरा भाग : कहानियाँ

[सन् 1929-'33 में लिखित]

'प्रारम्भिक रचनाएँ' : प्रथम प्रकाशन 1946; भारती भण्डार, इलाहाबाद, से प्रकाशित।

भाई यादवेन्द्र,

तुमने जो मुझे ठोंक-पीटकर कहानीकार बनाने का प्रयत्न किया था उसमें तुम किस प्रकार असफल रहे, इसके सबूत में यह कहानियाँ मैं तुम्हें समर्पित करता हूँ।

सस्नेह तुम्हारा
बच्चन

माता और मातृभूमि*

काबुल शहर जहाँ ख़तम होता है उससे कोई एक आधे मील चलकर ज़हूरी फ़िर्क़े की एक छोटी-सी बस्ती है। ज़हूरियों की क़ौम आमतौर से अंगूरों का रोज़गार करती है। कुछ लोग फ़ौज में भी नौकरी करते हैं। लड़ने-भिड़ने का माद्दा तो हर अफ़ग़ानिस्तानी में रहता है।

इसी बस्ती के एक किनारे पर एक छोटे-से मकान में उमर और उसकी माँ रहते थे। उमर के पिता फ़ौज ही में नौकर थे। वे उम्र-भर बड़ी वफ़ादारी से काम करके एक लड़ाई में मारे गये। अफ़ग़ान सरकार उनकी सेवाओं से प्रसन्न थी। वह बेवा अज़मतुन को बराबर गुज़र-बसर करने योग्य रक़म माहवारी देती थी। इसी से घर का काम चलता था।

अज़मतुन थोड़ा-बहुत पढ़ी-लिखी थी। जब उमर के पिता की मृत्यु हुई, वह बहुत छोटा था। जब कुछ बड़ा हुआ, उसके पड़ोसियों ने उसे अंगूर के रोज़गार में लगा दिया। कुछ बरसों तक वह उसमें रहा। अज़मतुन को यह बात कभी अच्छी न लगी। वह अपने लड़के को पढ़ाना-लिखाना चाहती थी। पर अफ़ग़ानिस्तान में जो स्कूल थे उनमें अमीरों के ही लड़के पढ़ सकते थे। उन्हीं का पढ़ना ज़रूरी समझा जाता था। सभी पढ़ लेंगे तो पढ़ने की क़दर ही क्या रह जायगी ? नीची क़ौमों के लोग पढ़-लिख लेंगे तो नीचे काम फिर कौन करेगा ? ऐसे-ऐसे विचार फैले थे। अपने देश में भी तो ऐसी-ऐसी कहावतें हैं; सभी कुत्ते बनारस चले जायेंगे तो पत्तल कौन चाटेगा ? ज़हूरियों की क़ौम एक नीची क़ौम समझी जाती थी। उनके लिए पढ़ने में नमाज़ और लिखने में मामूली जोड़, बाकी, गुणा, भाग काफ़ी समझा जाता था और इसके लिए किसी उस्ताद या मरदसे की ज़रूरत क्या थी ? हर बाप अपने लड़के को यह सिखा सकता था।

परन्तु अज़मतुन की इच्छा पूर्ण होनेवाली थी। तख्त पर बैठने के कुछ ही बरसों के अन्दर सरदार अमानुल्ला ख़ाँ ने बहुत-से स्कूल खुलवाये, और इस बात की मुनादी करा दी कि, सब लोग, चाहे नीची क़ौम के हों या ऊँची क़ौम के, रईस हों या ग़रीब, इन स्कूलों में पढ़ सकते हैं। ग़रीबों को बिना फीस के भी शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया। अज़मतुन ने ज़रा भी देर न की। उमर को अंगूर के रोजगार से निकाल लिया। उसका जी पहले से भी उसमें न लगता था। काबुल के एक स्कूल में भरती करा दिया। पास-पड़ोस के लोगों को अज़मतुन का यह काम अच्छा न लगा। औरतें कहतीं, 'ख़ानदान में किसी ने पढ़ा है कि तुम्हारा ही लड़का चला पढ़ने।' कोई-कोई ताने मारतीं, 'अरे भाई, माँ पढ़ी है, बाप-दादे बे-पढ़े थे तो क्या हुआ।' कोई कुछ कहता, कोई कुछ सुनाता, कोई डराता। पहले-पहल अपने देश में

* प्रयाग विश्वविद्यालय हिन्दी-परिषद् के प्रथम गल्प सम्मेलन [सन् 1929] में पठित।

भी तो जब सभी को पढ़ने का बराबर अधिकार दिया गया था, इसी तरह की बातें होती थीं। गाँवों में तो अब तक होती हैं। लोग अज़मतुन को धमकाते कि कोई उसके लड़के की शादी न करेगा, वह फ़िर्क़े से निकाल दिया जायगा पर उसे तो इस समय उसकी शिक्षा की ही चिन्ता थी। वह इन बातों से ज़रा भी न डरी। अपने मन का ही कर डाला। उमर रोज़ स्कूल जाने लगा। हर साल पास होता, हर साल खेलकूद में भी उसे तमग़े और इनाम मिलते। अज़मतुन बड़ी खुश रहती। उमर अपनी माता को हृदय से धन्यवाद देता कि उसने उसे पढ़ने-लिखने में लगाया, नहीं तो उसकी सारी जिन्दगी बर्बाद हो जाती।

[2]

उमर की अवस्था इस समय कोई बीस-इक्कीस वर्ष की हो गयी थी। अफ़ग़ानों में प्राय: सत्रह-अठारह वर्ष के लड़कों का विवाह हो जाता है, पर उमर अभी तक अविवाहित था। इसका कारण यह नहीं था कि लोग एक पढ़े-लिखे जहूरी के साथ अपनी लड़की का ब्याह करना नहीं चाहते थे। उसकी माँ ने भी उसे कभी विवाह करने के लिए मजबूर न किया। वह हिन्दुस्तान की उन मूर्ख माताओं के समान न थी, जिनके जीवन का मानो ध्येय ही यह होता है कि वे बेटे का विवाह देख लें, चाहे बेटे का इस विवाह के कारण सर्वनाश ही क्यों न होता हो!

अज़मतुन की उम्र अब क़रीब साठ के हो गयी थी। अब उसका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। उसके पैरों में एक ऐसा दर्द उठना आरम्भ हुआ कि उसका चलना-फिरना कठिन हो गया। हालत दिन-ब-दिन खराब ही होती गयी। कुछ दिनों में यह हालत हो गयी कि बिना किसी की सहायता के न उठ सकती थी, न बैठ सकती थी। उमर मिडिल पास हो चुका था। माता की दशा को देखकर उसने सोचा कि उसका घर पर रहना ही बहुत जरूरी है। उसने स्कूल छोड़ दिया और घर पर रहकर माता की सेवा-सुश्रूषा करने लगा। उमर माता की सेवा में बड़ा आनन्द पाता। उनको हर तरह से आराम पहुँचाने का सदा प्रयत्न किया करता। दवा-दारू करने से और सब हालतें तो सुधर गयीं पर पैर की तकलीफ दूर न हुई और यही सबसे बड़ी तकलीफ़ थी।

उमर को स्कूल छोड़े क़रीब दो ही तीन मास हुए होंगे जब अफ़ग़ानिस्तान में क्रान्ति आरम्भ हुई। अमानुल्ला के सुधारों का मौलवी-मुल्तानों ने विरोध करना आरम्भ किया। उनके स्त्री-सम्बन्धी तथा अन्य सुधारों को इस्लाम धर्म्म के प्रति-कूल बतलाया जाने लगा। अमानुल्ला ने पहले तो इस विरोध की कुछ भी परवाह न की। पर जब मुल्लाओं ने उन्हें खुल्लमखुल्ला काफ़िर कहना आरम्भ किया और उनके सारे परिश्रम को मिट्टी में मिलाने पर ही उतारू हो गये तो उन्होंने दो-एक को प्राणदण्ड भी दिया। इन धर्म्म के ठेकेदारों ने दीन के दीवाने, मिथ्यान्धविश्वासी और केवल आडम्बर मात्र को धर्म्म समझनेवाले मुसलमानों को भड़काना आरम्भ कर दिया। छिपे-छिपे हर जगह फ़तवे भेज दिये कि अमानुल्ला क़ाफिर है और अफ़ग़ानिस्तान का एक बहुत बड़ा भाग अमानुल्ला का विरोधी बन बैठा। फल यह हुआ कि एक दिन एकाएक काबुल घेर लिया गया और अमानुल्ला को राजमहल छोड़कर क़िले में शरण लेनी पड़ी। परन्तु थोड़े दिनों में क़िला भी छोड़ना पड़ा। राजधानी हाथ से निकल गयी। कुछ स्वामिभक्त फौजों, फ़िर्क़ों और अफ़ग़ानिस्तान के कुछ नवयुवकों ने अमानुल्ला का साथ देने का वादा किया। इन्हीं की सहायता से वह लड़ने को तैयार हुए।

[3]

अज़मतुन अमानुल्ला के सुधारों को बड़े आदर की दृष्टि से देखती थी। वह कहा करती, 'अमानुल्ला आदमी नहीं कोई फ़रिश्ता है जो अफ़ग़ान क़ौम को एक दिन तरक्क़ी के एक बुलन्द दर्जे पर पहुँचा देगा।' जब उसने अमानुल्ला के इस तरह राजधानी से भगाये जाने का समाचार सुना तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। दो-तीन दिन तक मारे शोक के उसने खाना न खाया। बिस्तर पर पड़े-पड़े यही प्रार्थना करती रही कि, 'ऐ ख़ुदा, अमानुल्ला के दुश्मनों को जल्द बर्बाद करके उसे फ़तह-याबी दें।' उसे पूरा विश्वास था कि बहुत जल्द अफ़ग़ानिस्तानी अपनी ग़लती को समझ जायेंगे और अमानुल्ला को बुलाकर तख़्त पर बिठायेंगे और उनके हुक्म को मानेंगे।

पर होनेवाला कुछ और ही था। दिन बीतते गये। अज़मतुन को रोज़ उमर अख़बार लाकर सुनाता। पढ़ने से यही मालूम होता कि अमानुल्ला की शक्ति दिन-दिन घटती ही जाती है। जहाँ अमानुल्ला की हार का समाचार अज़मतुन सुनती, रो पड़ती, उसे क्रोध आ जाता, उसका चेहरा लाल हो जाता, वह दाँत पीसने लगती। अगर अज़मतुन के अन्दर युवावस्था की शक्ति मौजूद होती तो क्या आश्चर्य था यदि अज़मतुन स्वयं हथियार हाथ में लेकर दुश्मनों से लड़ने जाती और एक अफ़ग़ानिस्तानी जोन आफ़ आर्क का उदाहरण उपस्थित करती? अज़मतुन दिन-रात चिन्ता-मग्न रहने लगी।

उमर अमानुल्ला के स्कूल में बरसों पढ़ चुका था। इन स्कूलों में कोरी पढ़ाई ही नहीं होती थी बल्कि हर विद्यार्थी को यह भी सिखाया जाता था कि वह राष्ट्रीयता को अपने हृदय में सबसे ऊँचा स्थान दे और देश की उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहे, सामाजिक कुरीतियों को दूर करे और मिथ्यान्धविश्वासों के प्रतिकूल क्रान्ति मचाये। विद्यार्थियों की हर कापी पर यह लिखा रहता था 'मादरे अफ़ग़ानिस्तान अपने हर बच्चे से यह उम्मीद रखती है कि वह उसके ख़तरों में दिलोजान से उसकी मदद करेगा।' अपने गुलाम देश की तरह वहाँ यह नहीं कहा जाता था, कि बच्चे देश को संकटों में देखकर अपनी आँखों के सामने किताबों के पर्दे खींच लिया करें। अफ़ग़ानिस्तान पर इस समय संकट आ गया था। उमर ने देखा कि माँ-अफ़ग़ानिस्तान का अंचल चारों ओर से खींचा जा रहा है, उसकी दुर्दशा हो रही है, वह बिलख-बिलखकर रो रही है और आशापूर्ण नयनों से अपने नवयुवकों की ओर देख रही है। माँ पूछती, 'उमर, क्या तुम न जाओगे?' उमर क्या उत्तर देता? जन्मदात्री माता के प्रति भी उसका कर्त्तव्य था। उसकी इच्छा होती, मैं दो उमर हो जाऊँ, एक से इस माँ की सेवा करूँ और एक से उस माँ की। उसका चित्त उद्विग्न-सा रहने लगा। रात को उसे नींद न आती। चारपाई पर पड़े-पड़े ज़ोरों से हाथ चलाने लगता मानो तलवार चला रहा है। सोते-सोते चिल्ला पड़ता—'ये दुश्मन आये—वो फ़ौज आयी—मारो-काटो।' अज़मतुन जाग पड़ती। पूछती, 'क्या ख्वाब देखते थे बेटा?' उमर कह देता, 'कुछ नहीं माँ, तुम्हारी तबियत तो अच्छी है, कुछ चाहिए?' अज़मतुन 'कुछ नहीं' कहकर अनेक विचारों में मग्न हो जाती।

[4]

'अख़बार लोगे साहब, ताजे अख़बार।'

उमर ने झट दौड़कर 'तरक्क़ी' अख़बार खरीदा। यह अमानुल्ला पक्ष का

अख़बार था। माँ के पास पहुँचा। माँ विस्तर पर बैठी थी। ऊपरही मोटे-मोटे हरूफ़ों में छपा था, 'नौजवान अफ़ग़ानिस्तान से अमानुल्ला खाँ की अपील।' उमर ने उसे देखा, बिना पढ़े ही पेज उलट दिया। दूसरे पेज पर पढ़ने लगा। माँ ने टोका, 'बेटा, उन मोटे हरूफ़ों में क्या 'अपील' छपी है?'

उमर जो अपनी माँ से छिपाना चाहता था वही उसे सुनाना पड़ा। बड़ी दर्द-भरी अपील थी! मालूम होता था कि उसका एक-एक अक्षर अमानुल्ला के आँसुओं से लिखा गया था। पढ़ते-पढ़ते उमर का गला रुँध गया। किसी तरह ख़तम किया। अज़मतुन बीच में कई बार सिर हिलाती गयी। और हार-जीत की खबरें पढ़ी गयीं। अज़मतुन की आँखों में आँसू भर आये पर आज उसके चेहरे पर एक अनोखी प्रसन्नता थी। न आज उसको क्रोध आया, न उसकी आँखें लाल हुईं, और न उसने होठ दबाये। उमर से बोली, 'उठो बेटा, खाना लाओ।' उमर ने उसके लिए खाना परोसकर चारपाई पर रख दिया। अपने लिए नीचे परोसकर रक्खा। माँ ने कहा, 'बेटा, आज मुझे भूख कम है, आ मेरे साथ ही खा ले, नहीं तो बहुत-सा खाना ख़राब होगा। अपना हिस्सा शाम के लिए रख दे।' माँ-बेटे एक साथ खाना खाने बैठ गये। माँ बड़ी प्रसन्न हुई।

जब दोनों खा चुके, अज़मतुन बोली, 'बेटा आज, हक़ीम साहब के यहाँ जाना होगा, ज़रा ऐसे वक्त से जाना जिसमें चिराग़ जलने के पेश्तर ही लौट आओ।' उमर ने माता की आज्ञा का उल्लंघन करना सीखा ही न था। फ़ौरन बोल उठा, 'अच्छा माँ, अभी जाता हूँ, क्या हाल कह दूँगा?'

'कुछ सेहत है। अभी क्यों जाओगे, थोड़ी देर आराम कर लो, अभी ही खाना खाया है।'

'नहीं माँ, मैं अभी जाता हूँ, मुझे कोई तकलीफ न होगी, पानी तुम्हारे सिरहाने रख दिया है। और कुछ चाहिए? जहाँ तक होगा जल्द ही आऊँगा।'

'बेटा, तूने मेरी बड़ी खिदमत की, खुदा तुझे सलामत रक्खे' यह कहते हुए अज़मतुन ने उसकी पीठ पर हाथ फेर दिया। उमर जल्दी कपड़े पहनकर चल दिया, माँ बड़ी देर तक बेटे की तरफ़ देखती रही यहाँ तक कि वह आँखों से ओझल हो गया।

उमर का ओझल होना था कि अज़मतुन चारपाई पर से उतर पड़ी। हफ्तों से वह अपने-आप न उठ पाती, लेकिन आज उसे न जाने कहाँ से इतनी ताकत आ गयी। दीवार पकड़कर उमर की किताबों की आलमारी तक पहुँची। एक कापी से एक पेज कागज़ फाड़ा, कलम-दवात उठाई। फिर चारपाई पर आयी; और बैठकर कुछ लिखने लगी। उसके हाथ काँप रहे थे। जल्दी लिखना खतम करके उसने क़ागज को ठीक दरवाजे के सामने, उसका एक कोना एक किताब से दबाकर रख दिया। जल्दी से उठी, किवाड़ों को भीतर से बन्द कर दिया।

[5]

कोई चार-साढ़े चार का वक्त होगा। उमर थका-माँदा दवाएँ लिए हुए घर आ पहुँचा। दूर ही से देख रहा था कि दरवाजा बन्द है। समझा, हवा से बन्द हो गया होगा। मगर जब उसने दरवाजे पर हाथ रखकर उसे ढकेला तो मालूम हुआ कि भीतर से किसी ने बन्द कर लिया है। उमर बड़ा हैरान हुआ—माँ कैसे उठी होंगी। कौन आया होगा? बुलाया—'माँ—माँ—और कोई है?' कोई आवाज न आयी। फिर बुलाया। और जोर से बुलाया, 'माँ कौन है भीतर? खोलो जल्दी।'

उमर ने दवाएँ दरवाजे पर रख दीं। मकान नीचा था ही। बगल की दीवारें ख़ासतौर से नीची थीं। उमर कूद-फाँद में एक था। झट दीवार को कूद गया। आँगन में पहुँचा। माँ—माँ—कहता हुआ बाहरवाले कमरे में झपटा, इसी में अज़मतुन की चारपाई रहा करती थी। कमरे में अँधेरा था। बाहर का दरवाज़ा खोला। चारपाई पर नज़र गयी कि चिल्ला पड़ा :

अरे, खून—माँ—माँ—अरे छुरी—गले में—अरे माँ—किसने—अरे यह तो अब्बावाली—किसने भोंका—माँ—माँ—खुद क्या—अरे—क्यों अरे माँ—अँ—अँ—आँ—

एकाएक कागज़ पर दृष्टि पड़ी।

'अरे यह तो माँ का लिखा...'

कागज़ को उठा लिया। पढ़ने लगा। आँखों में आँसू भर-भर आते। उमर उनको पोंछता जाता, पढ़ता जाता।

"प्यारे बेटा उमर, सलामत रहो। मैंने खुदकुशी कर ली है। मुझे मरने में बड़ी खुशी हुई। रंज सिर्फ़ इस बात का था कि तुम्हें अब न देखूंगी। जब मादरे अफ़ग़ानिस्तान को उसके बच्चे-बच्चे की ज़रूरत है मैं तुम्हें अपने पास रोकना नहीं चाहती। क्या अफ़ग़ानिस्तान मेरी माँ नहीं है? उसके लिए मैं क्या कर सकती थी। मैं सिर्फ़ तुम्हें उसे दे सकती थी। मैं फ़िजूल जीकर तुम्हें रोक रही थी। इसी से मैंने अपनी जान दी। मेरे मरने से कुछ नुक़सान न होगा। प्यारे उमर, तुम मेरे मरने का अफ़सोस न करना। तुम्हें अब मैं एक बड़ी माँ की गोद में सौंप रही हूँ। तुम अब उस माँ की ख़िदमत करना। खुदाबन्द क़रीम तुम्हारे बाज़ुओं में ताकत दे कि तुम अफ़ग़ानिस्तान के दुश्मनों को जल्द हराओ। अल्ला तुमको उमरदराज़ करे। मैं तुम्हें दुआ देती हूँ।"

पत्र को एक बार पढ़कर, उमर फिर उसे पढ़ने लगा।

संकोच-त्याग*

जिस समय बसन्त ने बी. ए. पास किया था उसी समय से लोग उसके विवाह के लिए उसकी माँ को मजबूर करने लगे थे। बसन्त था तो ग़रीब पर लोग उसकी शिक्षा और उसके शील-स्वभाव पर लट्टू थे। उसे छात्रवृत्ति मिली थी। इस शानदार कामयाबी ने इरादे ऊँचे कर दिये थे। उसका इरादा था कि वह एम. ए. तक पढ़कर किसी कालिज में प्रोफेसरी करे। बिना अपने आदर्श तक पहुँचे वह अपनी शक्तियों को किसी और दिशा में बिखरने नहीं देना चाहता था। इस बात के उसे कई उदाहरण मिल चुके थे कि बहुत उच्च श्रेणी के लड़के भी विवाह करते ही बहुत नीचे गिर जाते हैं। इस कारण वह विवाह नहीं करना चाहता था। उसके विवाह न करने का एक और कारण था। वह जानता था कि विवाह में एक अच्छी रक़म खर्च हो जायेगी और फिर एक आदमी का ख़र्च और बढ़ जायेगा। वह उसके लिए तैयार न था। उसकी माता तो ब्याह के लिए हर समय तैयार रहती थी; पर उसकी इच्छाओं की वे कभी अवहेलना न करती थीं।

* हंस—सितम्बर, 1931

बसन्त के सबसे ज़्यादा पीछे पड़े थे, लाला अम्बाशंकर। वे इसी गली के एक मकान में रहते थे, जीवन का उन्हें कुछ कटु अनुभव था। उनके एक ही कन्या थी। स्त्री के मरने पर उन्होंने अपना दूसरा विवाह न किया था। उनकी इच्छा थी कि जितनी जल्दी हो सके वे अपनी कन्या का विवाह करके किसी लम्बी तीर्थयात्रा को निकल जायें। बसन्त उनकी आँखों में जँच गया था। उन्होंने बसन्त की माँ से अपने यहाँ की महरी और महराजिन के द्वारा बातचीत करना आरम्भ किया। यद्यपि बसन्त की माँ उसके विचारों को पूर्णरूप से जानती थी, फिर भी पुत्र-विवाह सम्बन्धी बातें करने में उसे बड़ा आनन्द आता था। वहू के रूप-गुण के विषय में भाँति-भाँति के प्रश्न करती, दान-दहेज की चर्चा भी आ जाती। लाला ने समझा कि अब पड़ाव मार लिया। एक दिन क़लमी आमों की एक टोकरी सौगात भेजी। बसन्त ने देखा मामला बढ़ता जाता है तो उसने माँ से साफ़ कह दिया --'मैं अभी चार वर्ष विवाह का नाम न लूँगा।' अम्वाशंकर ने यह सुना तो निराश हो गये। उसी दिन से यह सिलसिला बन्द हो गया।

एक दिन की बात है कि पानी दिन-भर ख़ूब बरसा था। बसन्त की गली में ख़ूब कीचड़ हो गया था। सिर्फ़ किनारे-किनारे थोड़ी-सी जगह थी। चार-साढ़े चार का वक्त था। बसन्त अपने कमरे के सामनेवाले बरामदे में टहल-टहलकर पढ़ रहा था, उसने देखा कि सड़क की ओर से एक बड़ी सुन्दर लड़की कन्धे पर छाता लटकाये चली आ रही है। हाथों ने चट किताब बन्द कर दी। आँखें तो उस लड़की की ओर इतनी आकर्षित हो गयी थीं कि उन्होंने अपना स्वभाव-जन्य साधारण कर्तव्य—यह देखना कि किस स्थान तक पढ़कर किताब बन्द की गयी—भुला दिया। बसन्त के जीवन में शायद यह पहला अवसर था कि जब उसने किसी नव-युवती को इतने ग़ौर से देखा था। एकाएक वह चारों ओर पल-भर में देख गया कि उसे कोई देख तो नहीं रहा है। एक पतंगे की भाँति जो चारों ओर घूमकर फिर दीपक की लौ पर आ गिरता है—बसन्त की पुतलियाँ चारों ओर घूमकर उसी नव-युवती के मुख मण्डल पर आ गड़ीं। वह बसन्त के मकान के सामने पहुँची ही थी कि पानी फिर बड़े जोरों से आ गया। उसके एक हाथ में किताबें थीं। किताबें बग़ल में दबाकर वह दोनों हाथों से छाता खोलने का प्रयत्न करने लगी। जल्दी में छाता भी न खुला और किताबें भी बगल से खिसक पड़ीं। बसन्त दौड़कर उसके पास पहुँचा। उसकी किताबें समेटते हुए उसने उससे कहा—'आप थोड़ी देर के लिए बरामदे में रुक जायें। पानी जल्दी ही निकल जाता है।'

वह चली आयी। बसन्त को उसे बरामदे में बिठालना कुछ अनुचित-सा लगा। उसने अपना कमरा खोल दिया। लड़की ने अपना छाता ठीक से बन्द किया। एक तीली उसके बालों में उलझ गयी थी जिससे उसके कई बाल टूट-टूटकर ज़मीन पर गिर पड़े। वह कुर्सी पर बैठ गयी। बसन्त मेज़ पर पैर लटकाकर बैठ गया और लगा उस लड़की की किताबों और कापियों को उलटने-पलटने। कापियों पर स्कूल का नाम—'गर्ल्स मिशन हाई स्कूल' लिखा था। एक किताब पर उसका पता लिखा था—

Miss Prabha
C/o Mr. Amba Shankar
277 Arora lane,
Station Road,
Cawnpore.

बसन्त को कुछ पहले ही से यह शंका हो गयी थी कि शायद यह लाला अम्बाशंकर की लड़की है। आज गली में पहिया फँस जाने के भय से गाड़ीवाला इसे सड़क ही से उतारकर लौट गया पर अब तो निश्चय हो गया। उसकी आँखें तो दर्शन-धन बटोरने में यह मनाती हुई लग गयीं कि हे भगवान थोड़ी देर और बरसो पर हृदय भय से धक-धक कर रहा था कि कहीं माताजी या कोई और न आ जाये। एक जी कहता था कि प्रभा बैठी रहे तो अच्छा है; एक कहता—प्रभा चली जाये तो अच्छा। एक ही मनुष्य में एक ही समय दो परस्पर विरोधात्मक भाव! फिर हमें तर्कशास्त्र यह क्यों बतलाता है कि दो परस्पर विरोधात्मक भावों का अस्तित्व ही नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद है। सम्भवत: शास्त्र और विज्ञान जीवन की जिस हद तक थाह ले सकते हैं, वह उससे कहीं गहरी वस्तु है। जल्द ही पानी धीमा हो चला। वह बोली—'अब मैं जाऊँगी, देर होगी, तो पिताजी नाराज़ होंगे।'

बसन्त ने पूछा—'आप अपने पिताजी से बहुत डरती हैं?'

वह बोली—'बहुत!'

उसने किताब उठायी, छाता ताना और प्रणाम करके चलते-चलते कहा—'कृपा के लिए धन्यवाद।' बसन्त ने भी प्रणाम के लिए हाथ उठाया, पर वह कुछ बोल न सका। कुछ देर वह उसी की ओर देखता खड़ा रहा। एक बार वह फिर पीछे फिरी। बसन्त और प्रभा की आँखें चार हुईं। वह आँखों से ओझल हो गयी।

कमरे में आते ही जो पहला काम बसन्त ने किया, वह उन बालों को इकट्ठा करना था, जो प्रभा के छाते से टूटकर गिर पड़े थे। उसके मुँह से अंग्रेज़ी कविता की यह लाइन निकल पड़ी—And beauty draws us with a single hair. और उसने उन बालों को चूमकर उन्हें हिफ़ाज़त से रख लिया।

बसन्त कुर्सी पर बैठकर सोचने लगा—वास्तव में इन्द्रलोक की परी है, पर है तो अब मुझे क्या? सुन्दर स्त्री बड़े भाग से मिलती है। मैंने ऐसी स्त्री को पाकर अपनी ज़िद्द से छोड़ दिया। अब मुझे ऐसी स्त्री काहे को मिलेगी? क्या उसके पिता उसे चार वर्ष तक कुमारी रख सकेंगे? मैंने क्यों चार बरस ब्याह न करने की प्रतिज्ञा कर ली? क्या स्त्री मना कर देती कि पढ़ो-लिखो मत। एक सुन्दर स्त्री घर में हो तो मैं और पढ़ूँ। जब पढ़ने-लिखने से ऊबूँ, तो उसके पास बैठकर दो-चार बातें कर लूँ और दिमाग़ फिर ताजा हो जाय; पर अब क्या हो सकता है? माताजी से फिर तो नहीं कह सकता कि अच्छा, अब मैं जल्दी विवाह करने को राज़ी हूँ। अवश्य ही वह मन में सोचेंगी कि इतनी जल्दी कौन-सी ऐसी बात हो गयी कि मैं विवाह करने को लौट पड़ा। अरे! बड़े शर्म की बात होगी। फिर अब माँ को ही अपनी ओर से कहलाना पड़ेगा कि वे विवाह करने को राज़ी हैं। लालाजी भी कहेंगे कि इनकी माँ भी कैसी हैं कि घड़ी में कुछ कहती हैं और घड़ी में कुछ। फिर माँ कहेंगी भी नहीं। लड़केवाला ब्याह के लिए लड़कीवाले से नहीं कह सकता। एक बार यदि लाला अम्बाशंकर फिर शादी का प्रस्ताव करते…

× × ×

उस दिन की घटना बसन्त के हृदय-सरोवर में पहली हिलोर थी। जीवन-नौका हिली-डुली, आगे बढ़ी, पीछे हटी। नाविक कुछ घबराया। दिशाओं का उसे कुछ देर तक परिज्ञान न रहा। निर्दिष्ट चिह्न भी थोड़ी देर के लिए उसने छोड़ दिया। पर कुछ समय पश्चात झकोरे हल्के, और हल्के होने लगे। वह फिर अपने पहलेवाले मार्ग पर आ गया। पर, उसके चित्त को अभी विचलित करनेवाली एक चीज़ बाकी थी। वह थी इन झकोरों की स्मृति। बसन्त अभी जीवन से अनभिज्ञ था। वह

समझता था कि यह स्मृतियाँ भी एक दिन धुँधली होकर अदृष्ट हो जायेंगी; पर बात ऐसी नहीं हुई। स्मृतियाँ अमर हैं। उनमें दिन-दिन रंग चढ़ने लगा। प्रभा तो बसन्त के यहाँ एक ही बार आयी थी और कुछ ही मिनटों तक बैठी थी पर उसकी स्मृतियाँ प्रभा को जब चाहतीं तब अपने कमरे में बुला लातीं और घण्टों बिठाल रखतीं।

बसन्त सोचता कि क्या प्रभा को भी उसकी इतनी याद आती होगी? उसका हृदय कहता—अवश्य। उसकी कल्पना सत्य थी। एक दिन सन्ध्या समय जैसे ही प्रभा की गाड़ी की चुरमुराहट उसे सुनायी पड़ी, वह अपने कमरे से एक किताब हाथ में लेकर निकला और बरामदे में पढ़ने का बहाना-सा करते हुए टहलने लगा। जैसे ही गाड़ी उसके मकान के सामने आयी, गाड़ी का एक पर्दा खुला और उसने प्रभा को प्रणाम करते देखा। बसन्त का भी हाथ उठ गया। कोई उसके हृदय में कह पड़ा कि प्यारी प्रभा प्रतिदिन सुबह-शाम, इसी तरह पर्दे को उठाकर और निराशापूर्ण नयनों से देखकर चली जाती होगी। आज उसकी अभिलाषा पूर्ण हुई। उस दिन से बसन्त का नित्य का नियम हो गया कि प्रभा की गाड़ी जब आती तब वह अपने बरामदे में चला आता और प्रभा के दर्शनों का अपूर्व सुख उठाता।

पर प्रभा और बसन्त का प्रेम इन झाँकी-दर्शनों तक ही परिमित न रहा। प्रेम जहाँ खड़ा होने की जगह पाता है, वहाँ बैठने की जगह पाने का प्रयत्न करने लगता है। इस विषय में सम्भवत: प्रेम का नम्बर अंग्रेज़ों से भी बढ़ा-चढ़ा है। बसन्त और प्रभा में परस्पर पत्र-व्यवहार भी होने लगा। जब प्रभा को बसन्त के पास कोई पत्र भेजना होता, तो वह पत्र को लिखकर उसे मींज-मरोड़कर एक रद्दी कागज की तरह गाड़ी से गिरा देती। और जब गाड़ी चली जाती तब बसन्त जाकर चुपके से उसे उठा लाता। बसन्त की गली में लोगों की आवाजाही इतनी न रहती थी कि कोई उसे कागज उठाते देख लेता। बसन्त को जब उत्तर लिखना होता, तो वह भी जब गाड़ी को आते देखता, उसी तरह पत्र को सड़क के आगे फेंक देता और प्रभा को इशारा कर देता। गाड़ी वहाँ पहुँचती, तो कभी वहाँ प्रभा की पेंसिल गिर पड़ती और कभी उसका इन्स्ट्रूमेण्ट बाक्स। प्रभा उतरती और इन चीज़ों को उठाने के बहाने पत्र को भी उठा ले जाती।

प्रभा और बसन्त कोई असाधारण प्रेमी न थे। उनके पत्रों में भी वही बातें रहा करती थीं जिनसे प्राय: सभी प्रेमीगण पेज-के-पेज रँगा करते हैं। पहले तो पत्रों में हेर-फेरकर यही बातें रहा करती थीं कि किसने किसको पहले प्रेम करना आरम्भ किया, और कैसे प्रेम करना आरम्भ किया और कौन-किसको ज़्यादा प्रेम करता है। लोग प्रेम क्यों करते हैं? क्या प्रेम कभी टूट सकता है, और वे क्या एक-दूसरे को सदा एक-समान प्रेम करते जायेंगे? पश्चात के पत्रों में वे एक-दूसरे के वियोग में दुखी होते, एक-दूसरे की याद करते और रात में एक-दूसरे को स्वप्न में देखते। परस्पर चित्रों के परिवर्तन भी हुए। मामला और आगे बढ़ा, तो पत्रों में इस बात की चर्चा चली कि यदि उन दोनों का परस्पर विवाह न हुआ तो एक-दूसरे को कैसे प्यार करेंगे। कभी बसन्त अपने चार बरस तक विवाह न करने की प्रतिज्ञा पर पश्चात्ताप प्रकट करता, कभी प्रभा अपने पिता की उसे जल्दी ब्याह देने की इच्छा पर चिन्ता दिखलाती। कभी एक-दूसरे से इस बात पर परामर्श करते कि वे अपने विचार अपने माता-पिता से स्पष्ट रूप से क्यों न प्रकट कर दें; पर हिम्मत किसी में न थी। एक को लज्जा लगती तो दूसरे को शर्म मालूम होती थी।

× × ×

प्रभा के पिता बसन्त की माँ से जवाब पाकर चुप न बैठे थे। और-और जगह ब्याह लगाने की फ़िक्र में थे। जब कहीं से जन्मपत्री आती और प्रभा के पिता उसे देख-भालकर चिट्ठी-पत्री लिखते तो उसे बड़ी चिन्ता होती। वह स्वयं अपने पिता से तो कुछ न पूछ सकती थी पर महराजिन से उन सब बातों का पता लगता रहता था। इस विषय में महराजिन ही उसके पिता की प्राइवेट सेक्रेटरी थीं। एक दिन की बात है कि बसन्त को प्रभा का एक पत्र मिला। पत्र था—

'प्यारे बसन्त,

प्यार, महराजिन से मुझे पता लगा है कि मेरा ब्याह जबलपुर के एक व्यक्ति से होना निश्चय हो गया है। और शीघ्र ही पिताजी पण्डितजी को बरिच्छा लेकर वहाँ भेजेंगे। प्यारे, पहले तुमने ही मुझे अपनी शरण में लेकर अपनी प्रेम-पात्री बनाया था। वह दिन याद है? मैं आज भी तुम्हारी शरण में हूँ। क्या तुम आज मुझे अपनी शरण से हटा दोगे? मैं तुम्हारी हूँ, मुझे किसी ग़ैर की होने से बचाओ। मैं असमर्थ हूँ, यह तो तुम जानते ही हो।

तुम्हारी प्यारी—

प्रभा

प्रेमी बड़ा आशावादी होता है। बसन्त समझता था कि यदि प्रभा का उसके लिए और उसका प्रभा के लिए सच्चा प्रेम होगा, तो संसार की कोई शक्ति उन्हें अलग न कर सकेगी। वह समझता, एक साल बीत ही रहा है, दो-तीन साल और बीत जायँगे। प्रभा का विवाह कहाँ जल्दी लगा जाता है। हम दोनों का विवाह फिर तो निश्चित है। जब उसे यह पत्र मिला, तो उसकी आशा का स्वप्न ऐसा भागा जैसे सूर्य की किरणों से कुहरा भाग जाता है। वह अपने सामने एक व्याव-हारिक संसार देखने लगा, जो आदर्शवादियों के संसार से बिल्कुल भिन्न था। साक्षात् उसकी वस्तु एक दूसरा लिये जा रहा था; पर यदि वह शोर मचाता तो वही चोर बन जाता, और चोर शाह। अजीब उल्टी दुनिया है। उसे कुछ सूझ न पड़ता था कि क्या करना चाहिए। प्रभा ने रुक्मिणी अथवा संयुक्ता के समान पत्र भेजा था; पर बसन्त न कृष्ण था और न पृथ्वीराज।

लाला अम्बाशंकर हाथ पर हाथ रखकर भाग्य के भरोसे बैठनेवाले आदमी न थे। इधर से जवाब पाते ही उन्होंने दूसरे घरों से बातचीत शुरू कर दी और अन्त में जबलपुर में एक जगह बात पक्की करके लग्न भेजने की तैयारी कर रहे थे।

सहसा प्रभा आकर उनके समीप खड़ी हो गयी। अम्बाशंकर ने पूछा—'क्या है बेटी, मुझसे कुछ कहना चाहती हो?'

प्रभा ने सकुचाते हुए कहा—'मैं आपसे एक प्रार्थना करने आयी हूँ। आज्ञा हो तो कहूँ।'

अम्बाशंकर ने सन्दिग्ध स्वर में कहा—'क्या कहती हो, कहो।'

'यह मेरी धृष्टता है पर आशा है आप मुझे माफ़ करेंगे। आप मेरे पूज्य हैं, मैं जानती हूँ कि आप जो कुछ भी करने जा रहे हैं वह मेरे ही उपकार के लिए; लेकिन मैं अभी विवाह नहीं करना चाहती। मैं अभी दो-चार साल और पढ़ना चाहती हूँ। गृहस्थी में पड़कर मेरा पढ़ना छूट जायेगा और मैंने जीवन की जो धारणाएँ बना ली हैं वह नष्ट हो जाएँगी। मैं आपकी तीर्थ-यात्रा में बाधा नहीं देना चाहती। आप मुझे छात्रालय में भेज दें। मुझे वहाँ कोई कष्ट न होगा। मैं बड़ी किफ़ायत से रहूँगी। आपको विशेष चिन्ता न करनी पड़ेगी। मैंने विवश

होकर यह निर्लज्जता की है। मुझे इसके लिए क्षमा कीजिए।'

अम्बाशंकर ने खिन्न होकर कहा – 'कितने दिन और पढ़ना चाहती हो।'

'चार वर्ष।'

'चार वर्ष?'

'मैं एम. ए. होना चाहती हूँ।'

'एम. ए. होकर तुम्हें क्या करना है। मैं समझता हूँ कि जितना तुम पढ़ चुकी हो उतना तुम्हारे लिए काफी है।'

'अभी तो मैंने कुछ भी नहीं पढ़ा।'

'अच्छा मैं सोचूंगा।'

× × ×

एक अठवारा बीत गया।

बसन्त चिन्ताकुल बैठा हुआ सोच रहा था, क्या करूँ। विवाह हो जाने पर भी तो पढ़ सकता हूँ। क्या प्रभा कुछ दिनों कष्ट उठाने के लिए तैयार न होगी।

उसने सोचा क्यों न आज ही लाला अम्बाशंकर के पास जाकर कह दूँ कि मैं राजी हूँ। माना कि छात्र जीवन और गृहस्थ-जीवन में बहुत बड़ा अन्तर है। लेकिन प्रभा जैसी स्त्री के लिए यदि छात्र-जीवन का अन्त भी करना पड़े तो क्या हर्ज। विद्याध्ययन का उद्देश यही तो है कि जीवन सुखी हो। सुखी जीवन के लिए प्रभा जैसी स्त्री से बढ़कर और क्या वस्तु हो सकती है।

वह इसी चिन्ता में बैठा हुआ था कि प्रभा आकर खड़ी हो गयी। वह हड़बड़ाकर खड़ा हुआ। प्रभा ने खड़े-खड़े कहा —'मैंने तो आज दादाजी से कह दिया।' बसन्त ने प्रश्न की आँखों से उसकी ओर देखा। 'पिताजी को अब मेरे विवाह की जल्दी नहीं है।'

बसन्त ने खुश होकर पूछा—'क्या अब तीर्थ करने न जायँगे?'

प्रभा बोली—'जायँगे तो लेकिन मुझे बोर्डिंग-हाउस में छोड़ जायँगे। मैं भी पढ़ती रहूँगी, तुम भी पढ़ते रहना।'

'जब हम दोनों सरस्वती से वरदान पा चुकेंगे तो...' प्रभा और आगे न बोल सकी।

बसन्त ने गद्‌गद होकर कहा—'धन्य हो प्रभा। तुमने मेरा बेड़ा पार लगा दिया। मैं तो डूबा जाता था। अब मेरा जीवन सुफल हो गया, मगर अपने दादा से यह कहते हुए शर्म तो बहुत आयी होगी?'

प्रभा ने कहा—'शर्म की तो कोई बात न थी। जहाँ शर्म न करना चाहिए वहाँ शर्म करने ही मे तो हमारा जीवन नष्ट हो जाता है। दादाजी को तो यही भ्रम होगा कि मैं विवाह न होने से दुखी हूंगी, शायद मन में उन्हें कोसती हूँगी कि मेरा विवाह क्यों नहीं करते, अपनी अन्य बहनों का ब्याह होते देखकर मुझे भी विवाह की लालसा होगी। जब मैंने उनसे स्पष्ट अपने मन की बात कह दी तो उनका भ्रम मिट गया। संकोच करते तो कितना बड़ा अनर्थ हो जाता।'

अंचल का बन्दी*

शहर के एक किनारे पर उसकी कोठी थी। वह हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े महाजनों में गिना जाता था। दैवयोग से उसके सब भाई-बन्धु मर गये। मनोरमा ही उसकी अकेली सन्तान थी। मनोरमा की माता उसके बचपन में ही मर गयी थी। सेठ मोहनचन्द के धन का कुछ ठिकाना न था। उसके मरने के बाद मनोरमा ही इस सब धन की अधिकारिणी होगी। सेठ लड़कों के न होने के कारण अपनी लड़की को लड़के ही जैसा प्यार करता था। मनोरमा को वह लड़कियों के बजाय लड़कों की पोशाक में रखता था। पुत्रवान होने की कुचली हुई अभिलाषा मनोरमा की मर्दानी लिबास में बहुत दिनों तक दिखायी दी। मनोरमा मोहनचन्द की वृद्धावस्था में प्राप्त हुई कन्या थी। अभी कन्या दस-ग्यारह वर्ष की हुई होगी कि सेठ को शारीरिक दुर्बलता ने घेरना शुरू कर दिया। जीने की इच्छा किसे नहीं होती? सेठ चाहता था कि वह तब तक तो कम से कम जीवित रहे, जब तक उसकी कन्या बालिग़ होकर सब धन पर अधिकार न प्राप्त कर ले।

पर समय यदि हर मनुष्य का सुभीता देखकर काम करता तो संसार में कोई दुखी ही क्यों होता। सेठ ने देखा कि उसका शरीर गिरता ही जा रहा है। उसे मरने का इतना भय नहीं था, जितना अपनी कन्या को अकेली छोड़ने का। उसके मन में यह प्रश्न बार-बार उठता था कि मरने के समय वह अपनी कन्या किसको सौंपे। उसे केवल एक ही मनुष्य ऐसा दिखायी पड़ता था, जिसके हाथों में वह अपनी कन्या निःसंकोच सौंप सकता था और वह था उसका मुनीम---हीराचन्द।

हीराचन्द बड़ा मेहनती आदमी था। उसने मोहनचन्द के साथ छोटी उम्र से काम किया था। लाखों रुपये का हिसाब उसके हाथ में रहता था, पर कभी एक पाई का फ़र्क न आया। हीराचन्द के भी कोई फ़र्क न था और वह मोहनचन्द के साथ ही रहता था। बाहरवालों को प्रायः इस बात का धोखा हो जाता था कि हीराचन्द मोहनचन्द का भाई है। हीराचन्द सदा अपने मन की ही करने में प्रसन्न रहता था। उसकी इच्छाओं के सामने कभी-कभी मोहनचन्द को भी सिर झुका देना पड़ता था; क्योंकि आदमी सच्चा और वफ़ादार था। वह अधिकार चाहता था, अधिकार से लाभ उठाने की उसकी कभी अभिलाषा न होती थी। मोहनचन्द हीराचन्द की ईमानदारी से इतने प्रसन्न थे कि कभी-कभी उनकी तुलना हरिश्चन्द्र से करने के लिए उन्हें बजाय हीराचन्द के हरीचन्द कहते थे। अपने मरने पर मोहनचन्द अपनी लड़की को उसी आदमी की संरक्षता में छोड़ना चाहते थे।

सेठ बीमार पड़ गये। हज़ारों रुपये दवा-दरमत में ख़र्च हो गये, पर उनकी दशा न सुधरी। सेठ सोचने लगे, शायद अब न बचेंगे। एक दिन उन्होंने मनोरमा को अपने पास बुलाया। हीराचन्द भी वहीं बैठा था। मनोरमा की ओर देखकर सेठ की आँखों में आँसू आ गये। हीराचन्द ने उनके आँसू पोंछते हुए कहा—"क्यों मन छोटा करते हो? अच्छे हो जाओगे। बिटिया को दुखी करना ठीक नहीं।"

सेठ बोले—"मुझे अब जीने की आशा नहीं है। मेरी शक्ति पल-पल क्षीण हो रही है। इससे मैं चाहता हूँ कि जो कुछ कहना है, जल्द कह दूँ, शायद मेरी ज़बान बन्द हो जाये।"

सेठ कुछ देर के लिए रुके। चारपाई पर बैठी मनोरमा के सिर पर हाथ फेरते

* माधुरी—जुलाई, 1932

हुए बोले —"हीराचन्द, अब शीघ्र ही हमारा-तुम्हारा सदा के लिए वियोग होगा। और बेटी, अब तेरे पिता हीराचन्द हैं। मैं अब अधिक दिन नहीं जीऊँगा।" मनोरमा पिता के गले से लिपटकर रोने लगी।

हीराचन्द ने लड़की को खेलने के लिए बाहर भेज दिया। मोहनचन्द ने हीराचन्द को लड़की की शिक्षा, सदाचार, विवाह आदि के विषय में आदेश किया और फिर धन और जायदाद सम्बन्धी बातें कीं। हीराचन्द ने अपने मालिक को विश्वास दिलाया कि वह तन-मन से मनोरमा की रक्षा करेगा। और अवस्था प्राप्त होने पर उसका विवाह किसी उच्च कुल में करके सारी जायदाद उसे सौंप देगा।

इसके पश्चात एक दिन सेठ मोहनचन्द का स्वर्गवास हो गया।

× × ×

सेठ नूतन विचारों का आदमी था। उसने हीराचन्द से यह कह दिया था कि मनोरमा जितनी भी ऊँची शिक्षा पाना चाहे उसे दिलाने की सुविधा दी जाये। इसी प्रकार विवाह की भी कोई जल्दी करने की उसकी इच्छा न थी। विवाह मनोरमा की ही इच्छा से होने को था। हीराचन्द ने मनोरमा की शिक्षा का बड़ा अच्छा प्रबन्ध किया। स्कूल में तो पढ़ने जाती थी ही, घर पर भी शिक्षिकाएँ आकर उसे पढ़ातीं और संगीत तथा अन्य कलाओं की शिक्षा देतीं। एक सुयोग्य अध्यापिका दिन-रात उसकी संरक्षिका के तौर पर रहती थी। हीराचन्द स्वयं अपना सारा अनुभव उसकी निगरानी में लगाता था। सेठ मोहनचन्द से भी अधिक उसको मनोरमा के मंगल और उन्नति की चिन्ता रहती थी। वह अपना उत्तरदायित्व खूब समझता था और उसे अच्छी तरह निभाता था।

इसका परिणाम यह हुआ कि मनोरमा हर साल पास होती गयी। अब उसकी अवस्था लगभग सत्रह वर्ष की हो गयी। उसने एफ. ए. पास कर लिया। मनोरमा के पास होने पर एक बड़ी दावत की और अपने कालिज की सब अध्यापिकाओं और सहेलियों को आमन्त्रित किया। जब यह सब ख़त्म हो गया तो एक दिन हीराचन्द ने मनोरमा को गद्दी पर बुलाया और सब नौकरों-चाकरों को हटाकर कहा—"बेटी, तुम्हें वह दिन याद है जब तुम्हारे पिता ने तुमको मुझे सौंपा था। तुमने अब बहुत ऊँची शिक्षा प्राप्त कर ली। अब मेरी इच्छा है कि तुम्हारा ब्याह कर दूं। मुझे अपना पिता ही समझो और निःसंकोच जो कहना है सो कहो।"

"पर मेरी इच्छा तो अभी विवाह करने की नहीं है।" मनोरमा ने ज़रा तेजी से कहा।

हीराचन्द ने समझा था कि विवाह का नाम सुनकर कन्या लज्जा से अपना सिर नीचे कर लेगी और चुपचाप उठकर चली जायगी, जिसका अर्थ यह होगा कि वह जैसा चाहे वैसा कर दे। लेकिन एफ. ए. पास लड़की जिसने कालिज में लेक्चर झाड़े थे, लाजिक पढ़ी थी और इतिहास का अध्ययन किया था, कब ऐसा व्यवहार कर सकती थी? मनोरमा की बात सुनकर वह ठिठक रहा। अभी उसका आश्चर्य समाप्त न हुआ था कि मनोरमा फिर बोली—"मैं अभी और पढूँगी और विवाह की आप कोई फ़िक्र न करें, पढ़ाई ख़तम करके मैं इस पर विचार करूँगी।"

हीराचन्द अवाक् रह गया, पर लड़की की शिक्षा आदि का प्रभाव सोचकर फिर बोला—"बेटी, तुम्हें नहीं मालूम कि हमारे यहाँ विवाह कम अवस्था में ही होते हैं। तुम्हारी अवस्था की कन्याएँ कुमारी रहती हैं, तो लोग हँसते हैं।"

"विवाह कम अवस्था में होते हैं, तो अब न होंगे। जो मेरे ऊपर हँसेगा, मैं भी उसके ऊपर हँसूंगी।"

"देखो कलकत्ते के एक सेठ का लड़का'''।"

मनोरमा बात काटकर बोली, "मैंने कह दिया कि मैं अभी विवाह की कोई बात नहीं सुन सकती।"

मनोरमा हीराचन्द के उत्तर के लिए भी न रुकी, उठकर चली गयी। हीराचन्द ने दाँतों तले अपनी जीभ दबाई और सोचने लगा, पढ़ाने-लिखाने का यह नतीजा हुआ। क्या उसने लड़की को आवश्यकता से अधिक स्वतन्त्रता दे दी, जो उसके विचार इतने उच्छृंखल हो गये। उसने विदेशी शिक्षा के दूषित प्रभाव की कहानियाँ सुनी थीं। अब उसने अपनी आँखों से देखना आरम्भ किया। मनोरमा का वाक्य 'पढ़ाई ख़तम करके मैं इस पर विचार करूँगी' उसके कानों में खटक रहा था। रुपये की कुंजी अभी उसके ही पास थी। उसने संरक्षिका को हटा दिया, और भी अध्यापिकाओं को छुड़ा दिया। पर वह उसका कालिज में दाखिल होना न रोक सका। कालिज का वातावरण उसके विचारों को पुष्ट करने में और भी सहायक हुआ। साथ ही साथ नवीन सभ्यता के आमोद-प्रमोद जैसे—टेनिस खेलना, सिनेमा जाना आदि भी आरम्भ हुए। महीने-पन्द्रह दिन में कोठी पर चाय-पार्टी होती, जिसमें मनोरमा के कालिज के सहपाठी और प्रोफेसर लोग भी सम्मिलित होते। हीराचन्द को यह सब फूटी आँखों न सुहाता, पर क्या करता। जितना वह इन बातों से चिढ़ता, मनोरमा उसे उतना ही और चिढ़ाती। बूढ़ा चाहता था कि मनोरमा उसकी उँगली के इशारों पर चले और उसे अपना बड़ा समझे। मनोरमा हीराचन्द को अपना नौकर समझती थी और उसके कहने का केवल इतना ही ध्यान रखती थी जितना किसी पागल या सनकी के कहने का। बूढ़े ने दो-एक बार मनोरमा को विवाह के लिए जोर डाला, पर उसने ऐसा उल्टा-सीधा जवाब सुनाया कि उससे कुछ और कहते न बना। अपमान सहना उसने कभी न सीखा था। अपनी आज्ञा की अवहेलना उसे अपने मालिक के सामने भी स्वीकार नहीं थी और अब तो एक प्रकार से सोलहो आने स्वयं मालिक था। उसे मनोरमा की उपेक्षा तनिक भी न अच्छी लगती। सारी जायदाद पर लात मारकर चल देने की सोचता; पर वृद्ध हो गया था, जोश में आकर कोई काम करना उचित न समझता था। अपने मृत मालिक और मित्र के आदेशों का ख्याल करके वह अपने ग़ुस्से को दबा जाता और काम में लग जाता। ईश्वर से प्रार्थना करता कि मनोरमा ठीक मार्ग पर आकर अपना विवाह कहीं ठीक-ठिकाने से कर ले और सुख से रहे।

× × ×

शुरू से नूतन विचार वाली योग्य अध्यापिकाओं के पास रहकर, कालिज में शिक्षा पाकर और स्वयं अध्ययन करके मनोरमा अत्यन्त स्वतन्त्र विचार की हो गयी थी। अपने विवाह के लिए उसने यह सोचा था कि वह अपनी शिक्षा समाप्त करके करेगी। वह लीक पीटनेवाला विवाह न करेगी बल्कि ऐसे मनुष्य से करेगी जिससे उसे सच्चा प्रेम हो। उसका विचार था कि बिना इस पारस्परिक प्रेम के विवाह एक व्यर्थ का बन्धन होगा। और उस अवस्था में, सुख के सभी साधनों की उपस्थिति में भी जीवन दुखपूर्ण होगा। सच्चा प्रेम ही उसके विवाह की भित्ति होगी। उसे प्राप्त करके वह किसी और बात की चिन्ता न करेगी।

कालिज के जीवन से ही उसका लड़कों के साथ पढ़ना-लिखना शुरू हुआ, पर उसके हृदय का कोई चोर न मिला। बड़े-बड़े बुद्धिमान लड़के मिले, बड़े-बड़े तन्दुरुस्त और सुन्दर लड़के मिले, बड़े-बड़े धनी लड़कों से उसका परिचय हुआ, उनसे मित्रता हुई पर वह इस दर्जे तक न पहुँची कि उसमें से किसी को वह अपने जीवन

का साथी चुन सके। बहुतों ने अपने को उसके लिए अर्पण करना चाहा पर वे उसकी तराज़ू पर पूरे न उतरे और उन्हें निराश होना पड़ा। मनोरमा के धन और रूप पर कौन लट्टू न था, पर मनोरमा को सच्चे हृदय का प्रेमी कोई न मिला। उसकी आँखें उसी की खोज में रहती थीं।

प्रेम जताकर नहीं आता। एक दिन मनोरमा के जीवन में अचानक वह समय आ गया। उसका प्रेमी एक ऐसी जगह पर मिला जहाँ उसके पाने की शायद ही कोई आशा करता। वह उसे ईसाइयों के क़ब्रिस्तान के पास मिला—एक भिखारी के वेश में।

मनोरमा की बी. ए. की परीक्षा समीप आ गयी थी। दिनभर पढ़ने के बाद शाम को मनोरमा पैदल ही चल पड़ी। उसकी कोठी से थोड़ी ही दूर पर एक ईसाइयों का पुराना क़ब्रिस्तान था। उसने देखा कि क़ब्रिस्तान के एक कोने पर एक नवयुवक भिखारी खड़ा है। भिखारी का क़द लम्बा था। सिर पर लम्बे-लम्बे बाल थे, चेहरा लम्बा और गोरा था, होठों और गालों पर मुलायम-मुलायम बाल निकल रहे थे, आँखें बड़ी-बड़ी थीं और उनमें भावुकता भरी थी। गर्दन से लेकर उसके शरीर का सारा निचला भाग एक लम्बे, मैले फटे लबादे से ढका हुआ था। फटे हुए स्थानों से उसका गोरा शरीर झलक रहा था। मनोरमा ने ईसामसीह की तस्वीरें देखी थीं। एक पत्थर के क्रास के पास खड़ा हुआ यह मनुष्य उसे ईसा-मसीह के समान ही मालूम हुआ। उसने सोचा कि उसकी आँखों को भ्रम तो नहीं हो रहा है। वह उसकी ओर टकटकी बाँधे बढ़ती ही गयी। उसके पास पहुँचकर उसने अपना मनीबैग खोला और फ़कीर के हाथ में एक अठन्नी रख दी। युवक मुसकराया। उसने अठन्नी ले ली। क्षणभर अपने दाता की ओर देखकर उसने आँखें नीची कर लीं। मनोरमा को ऐसा लगा जैसे उस अठन्नी के साथ कोई और भारी चीज उसके पास से निकल गयी। वह कौन-सी वस्तु थी?

मनोरमा घर आयी। उस फ़कीर की सूरत उसकी आँखों में नाचने लगी। जब कभी वह अँधेरे की ओर देखती तो वही दो कविता-भरी आँखें दिखायी देतीं और ऐसा लगता मानो वे मनोरमा को अपनी ओर बुला रही हैं। मनोरमा ने सोचा, क्या भिखारी मिस्मरेज़्म जानता था कि उसने उसको मन्त्रमुग्ध कर लिया। स्नेह किस मिस्मरेज़्म से कम है?

मनोरमा को सोते समय भी उस भिखारी का ध्यान बना रहा। उसने स्वप्न में देखा कि वह भिखारी एक राजकुमार हो गया। उसके गर्द भरे लम्बे बाल घुँघराले और चमकीले हो गये हैं और उसका मैला-फटा लबादा चमचमाता मखमल का जामा हो गया है। फिर उसने देखा कि उस राजकुमार के साथ उसका ब्याह हो रहा है, वेद-मन्त्र पढ़े जा रहे हैं, भाँवरें दी जा रही हैं, हवन हो रहा है। फिर दिखायी दिया कि एक खूब सजा हुआ शयन-कक्ष है, जिसमें वही राजकुमार प्यासी आँखों से उसकी बाट देख रहा है। वह वहाँ पहुँचायी गयी है और उसी राजकुमार ने उसे सस्नेह गोद में भरकर···। उसके पश्चात वह जाग पड़ी। उसने अपनी खिड़की से झाँका, उसे लगा जैसे वही भिखारी कहीं दूर पर खड़ा है। उस रात को उसे फिर नींद न आयी। किसी तरह सवेरा हुआ।

परीक्षा के दिन थे। मनोरमा सवेरे का सारा समय पढ़ने में ही लगाती थी, पर आज वह सवेरे ही सवेरे घूमने को निकल पड़ी। क़ब्रिस्तान पर जाकर उसे भारी निराशा हुई। भिखारी वहाँ नहीं था। वह कुछ दूर और गयी, शायद यह देखने के लिए कि कहीं भिखारी और आगे न चला गया हो, लेकिन उसे भिखारी के दर्शन

न हुए। वह लौटने लगी। अपने ही घर के समीप उसे भिखारी दिखायी दिया। भिखारी एकटक मनोरमा की ओर देख रहा था जैसे उसे पहचानने का प्रयत्न कर रहा हो। मनोरमा बोली—"मुझे नहीं पहचाना ?"

"सन्ध्या की दात्री।"

"हाँ।"

"कहाँ गये थे सवेरे-सवेरे ?"

"तुम्हारी खोज में।"

यह उत्तर सुनते ही मनोरमा का हृदय धड़कने लगा। मनोरमा ही सवेरे-सवेरे भिखारी की खोज में निकली थी। वह सोचने लगी, क्या भिखारी हृदय की बात जाननेवाला है जो व्यंग से उसने उसी के हृदय की बात कही है। मनोरमा ने लज्जा से अपना सिर नीचे कर लिया। भिखारी ने पूछा—"और तुम कहाँ निकली थीं ?"

अब तो मनोरमा को पूरा विश्वास हो गया कि भिखारी व्यंग को स्पष्ट करना चाहता है और उसके मन की बात जानता है। उससे छिपाना कठिन है। एकाएक उसके मुँह से यही निकल पड़ा, भिखारी के ही शब्दों में—"तुम्हारी खोज में!"

भिखारी मुसकराया। मनोरमा शरमाई। उसने अपने मनीबैग से एक अठन्नी निकाली और उसके हाथों पर रख दी। जाने को हुई पर रुकी, पूछ बैठी—

"तुम स्थायी रूप से इस क़ब्रिस्तान में रहोगे ?"

"ऐसा दाता छोड़कर कहाँ जाऊँगा!"

× × ×

मनोरमा की परीक्षा समाप्त हो गयी। अब तो सुबह भिखारी, दोपहर भिखारी, सन्ध्या भिखारी—आठो पहर भिखारी! उसी का ध्यान मनोरमा को हर समय बना रहता। उसी के विषय में सोचना उसे अच्छा लगता। उसे अब ज्ञात हो गया कि वह उसे प्यार करती है और कदाचित् भिखारी भी···।

कभी-कभी वह अपनी सारी भावुकता को छोड़कर सोचने का प्रयत्न करती—मैं क्या कर रही हूँ ? उसका मेरा क्या सम्बन्ध ? उसे मैंने अपनी दया का पात्र बनाया था; वह मेरे प्रेम का पात्र कैसे हो गया। वह उससे स्वयं प्रेम करती है या साधु ने कोई मन्त्र उस पर फूँक दिया है। लेकिन मस्तिष्क अधिक समय तक बलवान नहीं रहता। हृदय की भावुकता जाग्रत होते ही वह वही स्वप्न देखने लगती जो उसने भिखारी के प्रथम दर्शन की रात्रि में देखा था। वह अपने आप कहती—"क्या वह स्वप्न सम्भव नहीं हो सकता ?"

उसकी मुलाकात अब भिखारी से बढ़ गयी। वह भिखारी से इस बात को जानने का प्रयत्न करती कि वह कौन है ? किस जाति का है ? किस कारण उसने भिखारी का बाना पहना है ? और आगे उसका कहाँ जाने और क्या करने का विचार है ? पर, महीने भर की मुलाकात के बाद भी मनोरमा इन प्रश्नों का कोई उत्तर न पा सकी। प्रायः वह चुप ही रहता। उसका भाषण जो कुछ भी होता शिष्टतापूर्ण होता, उसका व्यवहार शिक्षित मनुष्यों जैसा होता, उसकी चितवन में आकर्षण और स्नेह झलकता। इसके पीछे सब रहस्य था।

मनोरमा के हृदय में एक प्रश्न उठा। उसने जब-जब तन्दुरुस्त भिखारियों को अपने द्वार पर देखा था, तब-तब उसने कहा था कि तुम कोई काम क्यों नहीं करते ? यहाँ तक कि उसने अपने यहाँ इस बात की सख़्त ताकीद कर दी थी कि उसके द्वार पर कोई भी तन्दुरुस्त और नौजवान आदमी भीख न माँग पाये। पर, अपना वह प्रश्न इस नौजवान भिखारी के सामने वह भूल गयी थी। प्रेम में मनुष्य

इसी प्रकार अपने सिद्धान्तों को भूल जाता है। आज उसने सोचा कि यही प्रश्न वह अपने भिखारी से भी करेगी। दूसरे दिन शाम को जब वह भिखारी के पास गयी तो उसने पूछा—"क्यों भिखारी, तुम भीख क्यों माँगते हो, काम क्यों नहीं करते ?"

"तुम अपने यहाँ काम दोगी ?"

"हाँ-हाँ।"

"और मज़दूरी क्या दोगी ?"

"जो तुम चाहोगे।"

"जो ?"

"हाँ।"

मनोरमा ने थोड़ा रुककर पूछा—"और तुम काम कौन-सा करोगे ?"

"जो तुम कहोगी।"

"जो ?"

"हाँ।"

मनोरमा को इस बात की प्रसन्नता हुई कि अब वह अपने प्रेमी को दिन-रात अपने साथ रक्खेगी और इस अवस्था में उसे उसके विषय में और बातें जानने का सुभीता होगा। वह भिखारी को अपने साथ लायी। उसे आज्ञा दी कि वह अपने बाल क़ायदे से बनवाये और स्नान करके नये कपड़े पहने। भिखारी ने कुछ इन्कार किया। मनोरमा ने कहा—"यही तुम्हारे लिए काम है। तुमने प्रतिज्ञा की है कि मेरी सब आज्ञा मानोगे।" भिखारी मान गया। स्नान करके स्वच्छ वस्त्रों में जब वह मनोरमा के सामने उपस्थित हुआ, तो उसे अपने स्वप्न का राजकुमार याद आ गया। भिखारी ने पूछा—"अब मेरा काम ?"

"तुम्हारा काम यह है कि जहाँ मैं रहा करूँ, वहाँ तुम भी रहा करो, जहाँ मैं जाया करूँ, तुम भी चला करो।"

कमरे की अंग्रेज़ी सजावट के वातावरण का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि भिखारी के मुख से निकल पड़ा—'थैंक्स'!

मनोरमा पूछ उठी, "हैं, क्या तुम अंग्रेज़ी भी जानते हो ? व्यवहार से तुम पढ़े-लिखे जान पड़ते हो, पर अंग्रेजी भाषा का भी तुम्हें ज्ञान है, यह मैंने अब जाना।"

भिखारी ने कुछ उत्तर न दिया। धीरे से एक रहस्यपूर्ण हँसी हँसकर सिर नीचा कर लिया।

मनोरमा सोचने लगी, सचमुच उसने गुदड़ी में से लाल ढूंढ निकाला। वह उसका···होने योग्य है।

कोठी के नौकर-चाकर सभी को यह पता लग गया था कि बीबीजी एक भिखारी को लायी हैं और उसे भलामानुस बनाकर अपने पास रख लिया है। हीराचन्द को जब यह समाचार मिला कि वह नौजवान भिखारी अब बाबू बना हुआ मनोरमा के कमरे में बैठा है, तो उसे बड़ा अचम्भा हुआ। वह मनोरमा के कमरे में पहुँचा। उसे देखते ही युवक कुछ सकपकाया, पर अपने स्थान से न हटा। हीराचन्द ने भी अक्सर उस भिखारी को क़ब्रिस्तान के पास देखा था। आते ही उसने उस भिखारी से पूछा—"क्यों बे, तू यहाँ कैसे आया ?"

उसने बिना कुछ उत्तर दिए मनोरमा की ओर संकेत किया। हीराचन्द का अपमानजनक सम्बोधन उसके हृदय में तीर की तरह लगा। उसने तनिक क्रोध के

साथ हीराचन्द को देखा। हीराचन्द ने उसकी ओर कड़ी दृष्टि करके पूछा—"क्योंजी, यह कौन आदमी है ?"

"भिखारी था, मैं इसे यहाँ नौकर रक्खूँगी। तब भीख माँगकर खाता था, अब काम करके खायेगा। मेरे कमरे की देख-भाल करेगा।"

"इस आदमी को तुम नौकर नहीं रख सकतीं। नौकर-चाकर रखने का काम मेरा है। यह तो बाबू मालूम होता है। भिखारी का वेश सिर्फ़ बनाये था। देखती नहीं हो, कैसी बदमाश की-सी आँखे हैं। यह कोई लुटेरा डाकू है। इसी वक्त इसे निकाल बाहर करो।"

"लुटेरा नहीं, किसी भले घर का है। भाग्य के फेर से भिखारी हो गया है। मैं इसकी कुछ सहायता करना चाहती हूँ।"

"सहायता करना चाहती हो तो दस-पाँच रुपये देकर हटाओ। इसका घर में रहना और तुम्हारे पास, मैं नहीं बर्दाश्त कर सकता।"

"वह मेरे ही पास रहेगा, तुम इसे नहीं निकाल सकते।"

हीराचन्द ने देखा कि मनोरमा का ग़ुस्सा बढ़ता जा रहा है तो उसने शान्ति से काम लेना चाहा। मनोरमा को अलग लिवा ले गया, और उसके कान में चुपके-चुपके कहने लगा—"बेटी, तुमने अभी दुनिया नहीं देखी। अनजान आदमी को घर में रख लेना ठीक नहीं है। न-जाने कैसा आदमी हो, चोर हो, लुच्चा हो, बदमाश हो। सूरत से मालूम होता है कि आदमी कुछ भेद वाला है। कौन जाने बेटी, कोई क्रान्तिकारी हो; आजकल पुलिस के डर से बहुत भागे-भागे फिरते हैं। कल को कोई चीज़ उठाकर चल दे तो उसे कहाँ ढूंढते फिरेंगे। पुलिस को पता लगा, तो मुफ़्त की परेशानी होगी। एक बूढ़े आदमी की बात मानो। तुम सयानी हो। उस आदमी का तुम्हारे साथ रहना— चार आदमी क्या कहेंगे ? सब अपने मन की ही न करना चाहिए, कुछ दुनिया की भी सुनना चाहिए।"

"मुझे तो आदमी में कोई बुराई नहीं मालूम होती। देखने में बड़ा सीधा है। क़िस्मत के फेर से उसकी ऐसी दशा हो गयी, नहीं तो पढ़ा-लिखा है और अंग्रेजी भी अच्छी जानता है। मेरी किताबें देखीं, तो एक पर बड़ी देर तक आँखें गड़ाये रहा। अगर योग्य हुआ तो इसे मैं अपनी लाइब्रेरी का इन्चार्ज बनाऊँगी या अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लूँगी।"

हीराचन्द अब और घबराया। यह पढ़ा-लिखा आदमी भिखारी के वेश में क्यों ? इस बात को सोचकर वह समझ गया कि ज़रूर कुछ दाल में काला है। उसने कुछ देर रुककर कहा—"बेटी, मेरा कहना न मानोगी तो धोखा खाओगी।"

पर मनोरमा अपनी ज़िद पर रही।

हीराचन्द ने खीझकर कहा—"जब धोखा खाओगी, तब सीखोगी, न मानो बूढ़े की बात। बी. ए. हो गयी हो, बूढ़े तो अब तुम्हारे सामने बेवकूफ़ हैं।"

× × ×

एक महीने भिखारी को आये हो गये हैं। उसे अब कोई देखे तो कभी नहीं कह सकता कि वह एक मास पहले शरीर पर चिथड़ा लपेटे सड़क पर पड़ा रहा होगा। पढ़े-लिखे आदमियों के-से उसके कपड़े हैं। मनोरमा ने उसका नाम अपने नाम से मिलता-जुलता मनोहर बाबू रख दिया है। मनोरमा के ही कमरे के बग़ल में उसका अलग कमरा है। नाम मात्र को कमरा अलग है, कभी मनोहर मनोरमा के कमरे में रहता है और कभी मनोरमा मनोहर के कमरे में। कभी दोनों पियानो के सामने बैठे दिखायी देते हैं और कभी कैरम-बोर्ड के। टेनिस दोनों साथ-साथ खेलते हैं।

सिनेमा साथ-साथ जाते हैं। एक ही टेबिल पर खाने की तश्तरियाँ बिछ जाती हैं—दो सेट पर—कभी मनोरमा मनोहर की तश्तरी में से उठाकर खा लेती है और कभी मनोहर मनोरमा की तश्तरी में से। मनोरमा मनोहर को उसी शान-शौकत से रखती है जिस तरह अपने को। मनोहर कभी इन्कार करता तो वह कह देती है, तुम्हारे लिए यही काम है, प्रतिज्ञा याद करो मानना होगा। मनोहर सिर झुकाकर करता है।

बूढ़ा हीराचन्द यह सब देखता है और जलता है। जब कभी मनोहर को अकेले पा जाता है धमकाता है—"आवारा आदमी, भाग जा यहाँ से, नहीं तुझे पकड़वा दूंगा। और ऐसे जुर्म में फाँस दूंगा कि दस बरस को चला जायगा।" मनोहर चुपचाप सुन लेता है। मनोरमा से भी नहीं कहता। सारे नौकर-चाकर इस भेद को नहीं जान पाते कि यह भिखारी क्यों इतना सम्मानित है। बुढ़िया महरी नौकरों से कभी-कभी यह फुसफुसाते सुनी जाती है कि भिखारी ने बीबीजी के ऊपर कोई जोग-जादू चला दिया है, पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि चूं कर जाय।

एक दिन मनोरमा और मनोहर पास बैठे थे। मनोरमा ने पूछा—"मनोहर, तुमने अपने विषय में मुझसे अभी तक कुछ नहीं बतलाया, आज अपने पूर्व जीवन की कथा बताओ।"

"मनोरमा, मेरा पूर्व जीवन एक कहानी है। वर्तमान भी एक कहानी है और शायद भविष्य भी ऐसा ही होगा। मेरे चारों ओर भी एक दिन चमचमाता संसार था। मैंने एक आदर्शमय भावुकता में आकर उसकी परीक्षा लेनी चाही। तब इस संसार के सारे व्यवहार में स्वार्थ ही स्वार्थ दीख पड़ा। मेरे धन पर, मेरे रूप पर, मेरे गुण पर, मेरे यश पर सब मोहित थे, मैं जानना चाहता था कि मुझ पर कोई मोहित है या नहीं। अपनी सारी चीज़ें छिपाकर सिर्फ़ अपने को खोलकर विश्व के बाज़ार में बैठ गया। मेरा मोल किसी ने न किया सिवा······।"

इतना कहते-कहते भिखारी का गला रुँध गया। आँसू भरी आँखों से उसने मनोरमा को देखा। मनोरमा ने कहा—'हाँ, कहते चलो।"

"उसके आगे तुम स्वयं जानती हो।"

"नहीं जानती।"

"तो जान जाओगी।"

"पर एक महीने तो मुझे तुम्हारे साथ रहते हो गये। मैंने अभी तक कुछ नहीं जाना।"

मनोहर ने बात का रुख बदला—"क्या मुझे तुम्हारे यहाँ रहते एक महीना हो गया? मुझे ऐसा लगता है जैसे एक हफ्ता भी नहीं बीता। तब तो मुझे अपने एक मास की तनख़्वाह माँगनी चाहिए।"

"जरूर।"

"याद है प्रतिज्ञा?"

"हाँ-हाँ जो तुम माँगोगे।"

"दोगी?"

"माँगो।"

"नाराज़ तो न होओगी?"

"नहीं।"

"प्रतिज्ञा करती हो?"

"तुम्हारे सिर पर हाथ रखकर।"

"तुम्हारा प्रेम"—इतना कहकर उसने सिर झुका लिया।

मनोरमा ने आँखें नीची कीं, बोली, "वह तो तुम्हारे प्रथम दर्शन पर ही तुम्हें भेंट हो चुका, क्या तुमने अब तक उसे नहीं देखा ?"

"प्यारी मनोरमा, तुम्हारी आँखों में यदि वह स्नेह नहीं देखता, तो यहाँ आता ही कैसे ? धनियों के ऐश्वर्य-भोग की अभिलाषा से मैं यहाँ नहीं आया। हूँ शायद इससे अधिक ऐश्वर्य ठुकरा आया हूँ। पर तुम्हारा जो स्नेह आँखों से देख चुका हूँ, अब उसे सम्पूर्ण रूप से प्राप्त करना चाहता हूँ।"

क्षण-भर दोनों अपने-अपने तन-मन की सुधि भूल गये। उनकी बाँहें अपने आप उठकर एक-दूसरे के गले में पड़ गयीं।

उस दिन से मनोहर और मनोरमा और भी पास रहने लगे और बूढ़ा हीराचन्द और क्रुद्ध। जब कभी मनोहर को देखता तो उसके ऊपर ऐसी लाल-लाल आँखें निकालता जैसे उसे खा जायगा। मनोहर को किसी न किसी प्रकार हटाने की चिन्ता उसे दिन-रात लगी रहती।

× × ×

इधर हीराचन्द मनोहर को निकालने पर तुला ही हुआ था, उधर परिस्थिति भी उसकी सहायक हो गयी। देश में क्रान्तिकारी दल ज़ोर पकड़ रहा था। जगह-जगह हत्याएँ हुई थीं और बम फेंके गये थे। इसलिए कोई मनुष्य केवल सन्देह के ऊपर गिरफ्तार कर लिया जा सकता था और सरकार के इच्छानुसार बन्दी करके रक्खा जा सकता था।

मनोहर ने देखा कि हीराचन्द का आना-जाना थाने की तरफ़ बढ़ता जा रहा है। तब तो उसे ज्ञात हुआ कि उसकी धमकियाँ छिपी ही न थीं। एक दिन उसने देखा कि एक पुलिस का अफ़सर हीराचन्द के पास आया और उसने बड़ी देर तक उसके पास बैठकर अकेले कमरे में बातें कीं। मनोहर के मन में शंका उत्पन्न हुई कि कहीं हीराचन्द पुलिस को कुछ रुपये दे-दिलाकर उसको गिरफ्तार न कराये और उसके ऊपर झूठा मुक़दमा न चलवा दे। उसकी शंका पल-पल बढ़ने लगी। उसे ऐसा लगा कि पुलिस उसी रात को आकर उसे पकड़ ले जायगी। उसके मन में एक विचार आया, क्यों न चुपचाप वह यहाँ से खिसक जाय।

उस समय पश्चिम आकाश में गर्द जमा हो रही थी, उसी समय बहुत मामूली कपड़ों में मनोहर घर से निकला। घर से दूर जाते हुए उसने मनोरमा की खिड़की की ओर देखा। मनोरमा की साड़ी उड़ रही थी, वह अपनी खिड़कियाँ बन्द कर रही थी। दोनों ने एक-दूसरे को देखा। मनोरमा ने चिल्लाकर पूछा, "कहाँ जा रहे हो ?"

"यहीं काम से।"

"कब आओगे ?"

"आँधी शान्त होने के बाद।"

आँधी आयी और चली गयी। मनोरमा ने अपनी खिड़की खोली। अपने छज्जों पर घूम-घूमकर मनोहर के आने की बाट देख रही थी। थोड़ी देर में रात हो गयी। मनोहर का कहीं पता नहीं। वह तो अपने से कभी कहीं आता-जाता नहीं था, आज उसे कहाँ जाने की सूझी ! जैसे-जैसे समय बीतता गया, मनोरमा व्यग्र होती गयी। खाने का समय हुआ। लेकिन मनोरमा को कहाँ की भूख, कहाँ की प्यास। मनोहर की चिन्ता उसे प्रति पल के साथ हो रही थी। मनोरमा बार-बार मनोहर

के कमरे में जाती और आँखें फाड़-फाड़कर उसे ढूँढती। पर कहीं मनोहर का पता न था। हीराचन्द को जब पता लगा तो मनोरमा के पास आया और एक व्यंगपूर्ण हास्य के साथ बोला, "कहो बेटी, फकिरवा आखिर भाग गया न? देखो कोई चीज़ लेकर तो नहीं भागा। मैं तो पहले ही भाँप गया था कि आदमी गड़बड़ है। तब तो तुमने मुझे निरा गँवार समझा था।"

मनोरमा ने आँखों में आँसू भरकर कहा—"मेरी कोई चीज़ नहीं ले गया।"

"ले भी गया होगा तो तू काहे को बतलायेगी। तेरा तो वह 'पारवेट सरकट्टी' (Private Secretary) था न?"

"अपने पैर के जूते तो ले नहीं गया, चीज़ क्या ले जायगा!"

इतना कहकर मनोरमा ने अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द कर लिया और खूब फूट-फूटकर रोयी। रात उसने रो-रोकर काटी। बीसों बार उसने उठ-उठकर दरवाज़ा खोला, रह-रहकर उसे ऐसा लगता कि मनोहर दरवाज़ा खटखटा रहा है। उसके हृदय को बड़ी गहरी चोट लगी। जिसे उसने अपना कोमल हृदय दिया, सुकुमार प्यार दिया, वह बिना कुछ कहे चुपचाप चला गया! सोचने लगी, उसने कोई अपराध भी तो नहीं किया, न उससे कुछ कहा, न उसका अपमान किया, फिर वह क्यों बिना कुछ कहे चुपचाप चला गया? एक दिन बीता, दो दिन बीते। हीराचन्द अपने काम पर उसी तरह मुस्तैद था, जैसे उसके हिसाब कुछ हुआ ही न हो। सचमुच वह खुश था कि लाठी भी न टूटी और साँप भी मर गया। किन्तु मनोरमा का एक संसार ही नष्ट हो गया था।

वह चाहती थी कि वह भी भिखारिन का वेश बनाकर घर से निकल पड़े और अपने प्रियतम की जोगिन बनकर उसे ढूँढती फिरे। पर वह जानती थी कि वह घर से पैर न हटाने पायेगी। हीराचन्द मनोहर को स्वयं ढुँढवाये, इसकी आशा करना स्वप्न देखना था। मनोरमा में बुद्धि पर्याप्त थी। उसने सोचा कि कौन-सी ऐसी तरकीब हो सकती है कि मनोहर का पता लगे।

एकाएक वह चिल्ला पड़ी— "हाय मेरा नौलखा हार!"

नौकर-चाकर सुनते ही सन्न हो गये। एक-दूसरे से धीमे-धीमे बातें करने लगे—"भिखिअरिया लै गवा। बिसुआस घात किहिस। अइसा मिलके ठगेस। बिबिअउजी त ओका देवता अस पूजैं लागीं। बड़ा भारी ठग निकरा" इत्यादि।

हीराचन्द के कानों तक ख़बर पहुँची। बुड्ढा दो दिन से कान में तेल डाले बैठा था कि जैसे उसे मनोहर के भागने की कोई चिन्ता नहीं। आज जब नौलखा हार की चोरी का पता उसे लगा तो बड़ा चौकन्ना होकर आया। मनोरमा को जो कुछ बुरा-भला कह सका कहा। पुलिस को इत्तिला की। उसकी हुलिया लिखाई, चोर पकड़ जाने और माल बरामद होने पर इनाम का वादा किया।

मनोरमा की तरकीब चल गयी।

× × ×

मनोहर घर से निकलकर सोचने लगा कि वह कहाँ जाय? सोचने के लिए वह रुकना भी नहीं चाहता था। किसी तरफ़ को चला जाता था, फिर भी उसे नहीं मालूम था कि उसे कहाँ जाना है। थोड़ी देर में वह नदी के किनारे पहुँच गया। रात हो गयी थी। नदी के किनारे भयानक शान्ति थी। आज कई महीनों से जो मनुष्य विशाल भवनों में जीवन व्यतीत कर रहा था, उसे खुले स्थान में आकर ऐसा लगा जैसे वह किसी अज्ञात स्थान में आ गया हो। नावें किनारे पर बँधी पानी में तैर रही थीं। ऊपर आँखें करके लेट गया। उसे मनोरमा की याद आने लगी।

सोचने लगा—थोड़ी देर का समय और मिलता तो मनोरमा से कुछ बातें करने का अवसर प्राप्त हो जाता। उसे कम-से-कम मुझे समझा तो देना था कि मेरे इस तरह भागने का क्या कारण है। वह क्या समझेगी ! क्या ख़याल करेगी ! न जाने उसके पास जाने का कब सुयोग मिले ! चलते समय उससे कुछ कह देता तो इतनी चिन्ता मुझे न होती पर यदि अन्तिम बार उससे मिलने जाता तो शायद वह इतने ज़ोर से पकड़ती कि छुड़ाकर आना कठिन होता। वियोग के समय कुछ कड़े बनकर ही मैंने अच्छा किया। उसके पास जाऊँगा तो अवश्य, पर कब—यह नहीं कह सकता, अभी तो उसके पास से हटकर ही मैंने ठीक किया। प्रेम की थोड़ी परीक्षा भी हो जायेगी। न भागता तो हीराचन्द न-जाने कौन घाट लगाता। मनोरमा फिर स्वप्न ही हो जाती। मनोहर की रात इन्हीं विचारों में बीती।

दूसरे दिन मनोहर ने दरिया पार किया। गाँव-गाँव फिरने लगा। कुछ माँग लेता, खा लेता, पेड़ों के नीचे सो रहता। गरमी के दिन थे, कोई और जरूरत न थी। जब रास्ते में चलता पीछे फिरकर देखता। उसे ऐसा लगता कि मनोरमा पीछे-पीछे आ रही है। कहीं अकेला बैठकर सिर नीचे करता तो मनोरमा के साथ केलि-क्रीड़ा का सारा दृश्य उसके सामने आ जाता।

मनोहर एक शहर से चलकर दूसरे शहर में पहुँचा। हर जगह के थानों पर मनोहर की हुलिया लिखी थी। मनोरमा के यहाँ उसकी तस्वीर भी खिची थी। ख़ास-ख़ास नाकों पर इसकी नक़लें मौजूद थीं। पुलिस के सिपाही उसकी ताक में रहा ही करते थे। एक दिन एकाएक उसे कई पुलिसवालों ने आकर पकड़ लिया और उसके हाथ में हथकड़ी डाल दी। मनोहर को आश्चर्य तो न हुआ। उसने समझा, हीराचन्द ने ही उसकी खोज में पुलिस भेजी होगी पर उसकी समझ में यह न आया कि जब उसने मनोरमा का घर छोड़ दिया, तब उसने क्यों उसे परेशान करने पर कमर बाँधी।

मनोहर पुलिस की संरक्षता में प्रयाग लाया गया। जब मनोहर को यह पता लगा कि हीराचन्द ने उस पर नौलखा हार चुराने का अभियोग लगाया है, तब तो उसके पैरों के नीचे से धरती खिसक गयी। तब न मरा तो अब मरा। दारोग़ा ने मनोहर की गिरफ्तारी की ख़बर हीराचन्द और मनोरमा को कर दी। ख़बर सुनते ही मनोरमा गाड़ी पर दारोग़ा के यहाँ पहुँची। 500) के नोट उसकी हथेली पर रख दिये और कहा कि मेरा हार मिल गया, क़ैदी छोड़ दिया जाय। मनोहर के छूटते ही मनोरमा उसके पास दौड़ गयी और उससे लिपट गयी। जल्दी से खींचकर उसे गाड़ी में बिठा लिया और सईस को घर चलने की आज्ञा दी।

मनोहर ने पूछा—"क्यों मनोरमा, मैंने सुना कि तुमने मुझे नौलखा हार की चोरी लगायी थी ?"

मनोरमा ने कहा—"न लगाती तो तुम्हें पाती कैसे ? तुमने मेरी ऐसी चीज़ चुराई थी, जिस पर सैकड़ों नौलखा हार निछावर किये जा सकते थे। मुझे तो उस चोर की आवश्यकता थी। पर यदि मैं उस चोर को ढुँढवाना चाहती, तो न सरकार ही मेरी मदद करती और न मुनीमजी ढुँढवाते। और मेरी अमूल्य सम्पत्ति का चोर यों ही निकल भागता। अच्छा यह बताओ तुम भागे क्यों थे ?"

"मनोरमा, हीराचन्द मुझे सदा से धमकी देता था। मैंने देखा कि वह सचमुच मुझे पकड़वा देने की चिन्ता में है। मैं तो आवारा हूँ। मेरा न कोई घर, न कोई पेशा, मेरे न कोई आगे, न पीछे। ऐसे कितने ही आदमी महज सन्देह पर जेलों में बन्द कर दिये जाते हैं, कहीं मैं भी न इसी तरह वहाँ पहुँचा दिया जाऊँ और तुम्हारे

स्नेह से सदा के लिए वंचित कर दिया जाऊँ इसीलिए···"

"तो वह सन्देह मैं न रहने दूँगी। अब तुम्हारा कोई होगा। तुम उसके कोई होगे। तुम्हारा कहीं घर-द्वार होगा। तुम्हारे कोई आगे-पीछे होगा। अब तुम्हें कोई आवारा नहीं कह सकेगा।"

मनोहर मनोरमा का अर्थ समझ गया। बोला, "पर मुझे तो उसी तरह स्वच्छन्द रहने में ही आनन्द आता है।"

"किन्तु अब तो तुम स्वच्छन्द नहीं रह सकोगे। तुमने मेरा हृदय चुराया है। तुमको मैं सज़ा देने की अधिकारिणी हूँ कि नहीं?"

"हाँ, मनोरमा!"

"तो मैं आज तुम्हें अपने अंचल का बन्दी बनाती हूँ, और आजीवन क़ैद की सज़ा देती हूँ।"

ऐसा कहते-कहते मनोरमा ने अपनी साड़ी का एक छोर मनोहर की धोती से बाँध दिया। और बोली—"अब तुम मेरे बन्दी हो, अब तुम्हें कोई बन्दी नहीं बना सकता।"

चिड़ियों की जान जाये लड़कों का खिलौना

रूबिया सचमुच ही रूबिया थी। 'रूबी' अंग्रेज़ी भाषा में लालमणि को कहते हैं। जहाँ उसके मुख पर सौन्दर्य की लालिमा थी वहाँ यौवन की चमक भी थी। इस तरह उसका 'रूबिया' नाम उसके लिए ख़ूब सार्थक हुआ था। जिस समय कहानी आरम्भ होती है उसकी अवस्था सोलह वर्ष की थी।

रूबिया के पिता का नाम सेमुएल आत्माराम था। वे ब्राह्मण से ईसाई हो गये थे। रूबिया जब छोटी थी तभी उसकी माँ मर गयी थी। सेमुएल ने फिर शादी न की। वे कानपूर में नवाबगंज के मुहल्ले में रहते थे। इनके मकान के ही बग़ल में हेनरी राधाचरण का मकान था। हेनरी भी हिन्दुस्तानी ईसाई थे। हेनरी और सेमुएल में घनिष्ट मित्रता थी। इस मित्रता के कारण रूबिया को अकेला रहना न अखरा। वह स्कूल के बाद दिन में हिर-फिरकर हेनरी के ही यहाँ रहती। मिसेज़ हेनरी रूबिया का बड़ा दुलार करती थीं। मातृहीन बालिका से उन्हें स्वाभाविक ही बड़ा स्नेह था। मिसेज़ हेनरी के केवल एक लड़का था। वे लड़की की साध इसी रूबिया से पूरी करती थीं। इसी तरह सेमुएल जैकब को—यह हेनरी के लड़के का नाम था—अपने लड़के ही जैसा मानते थे। सेमुएल और हेनरी में इतना हेल-मेल था कि घर ही दो दिखायी पड़ते थे, वैसे मालूम होता था कि सब एक ही परिवार के हैं। जब चर्च जाते तो सब साथ, जब सिनेमा जाते तो सब साथ, जब कहीं घूमने-फिरने जाते तो सब साथ। जैकब और रूबिया भाई-बहिन से जान पड़ते। जैकब रूबिया से दो-तीन साल बड़ा था। वह सुन्दर, सुडौल और चुस्त नवयुवक था। रूबिया और जैकब में ख़ूब पटती थी। एक विस्मृत समय से वे एक-दूसरे को प्यार करते हुए बढ़े थे। आजन्म परस्पर भाई-बहिन-सा प्रेम रखते हुए भी वे भाई-बहिन नहीं हैं—यह बात जैसे-जैसे वे दोनों यौवनावस्था में प्रवेश करते गये उनके सरल प्रेम को रहस्यमय बनाती गयी।

रूबिया इस साल एस. एल. सी. की परीक्षा में उत्तीर्ण हुई थी। सबकी यह

राय हुई कि अभी उसे और आगे पढ़ना चाहिए। अब तक कानपूर में लड़कियों के लिए कोई इण्टरमीडिएट कालिज न था। यह तै हुआ कि इसके लिए रूबिया प्रयाग जाये और वहाँ बोर्डिंग हाउस में रहकर अध्ययन आरम्भ करे, पर सेमुएल को लड़की से जुदा होना अच्छा न लगा। सेमुएल ने पाश्चात्यों के रहन-सहन की नक़ल तो कर ली थी, पर सन्तान-प्रेम में अभी पूर्वीयों का-सा ही हृदय था। उन्होंने यही अच्छा समझा कि वे भी प्रयाग चले जायँ और वहीं कोई छोटा-मोटा मकान लेकर रहें। बोर्डिंग हाउसों पर उन्हें विश्वास न था। वे छात्रों के घर पर ही रखने के पक्षपाती थे।

इसी साल जैकब एफ़. ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ था। उसने दबी ज़बान से एक बार म्योर कालिज में पढ़ने की इच्छा प्रकट की, पर सेमुएल और मिसेज़ हेनरी दोनों ने इसका विरोध किया—सेमुएल ने अपने सिद्धान्त के अनुसार और मिसेज़ हेनरी ने पुत्र-प्रेम के कारण। जैकब की माँ उसे अपनी आँखों से दूर नहीं रखना चाहती थीं। अकेला ही लड़का था; रूबिया, जिसे अपनी बेटी से कम न समझती थीं, जा रही थी। उन्होंने जैकब को कानपूर के ही कालिज में रखना चाहा।

जब स्कूल खुलने के दिन नज़दीक आने को हुए तो सेमुएल जाने की तैयारी करने लगे। बहुत-सा सामान हेनरी के यहाँ रखा दिया, क्योंकि रूबिया की शिक्षा-समाप्ति पर उनका इरादा फिर कानपूर लौट आने का था; बहुत-सा सामान अपने साथ ले जाने के लिए बँधवाया, कुछ मामूली चीज़ें नीलाम भी कर दीं।

जैसे-जैसे रूबिया के जाने की तैयारियाँ होने लगीं वैसे-वैसे वह और जैकब उदास रहने लगे। उनका प्रेम धीरे-धीरे मौन हो गया। हफ़्तों से दोनों एक-दूसरे की ओर घण्टों देखा करते थे, पर बोलते न थे। रूबिया को कानपूर छोड़ने के लिए अब केवल दो ही दिन बाकी थे। शाम का वक्त था। रूबिया अपने बाहरी बरामदे में एक आरामकुर्सी पर बैठी हुई एक रेशमी रूमाल पर सुई से कुछ काढ़ रही थी। उसके पापा अपने दोस्तों से मिलने-मिलाने चले गये थे। इसी समय जैकब अपना सूट-बूट पहने आ पहुँचा। उसके आते ही रूबिया ने रूमाल को चट अपनी पीठ के पीछे रख लिया। जल्दी में लाल रेशम के तागे में पड़ी हुई सूई मेज़ पर ही छूट गयी। आते ही जैकब ने पूछा—

"क्या करती थीं, रूबी?"

"कुछ नहीं—कुर्सी ले लो"—बैठे ही बैठे उसने जैकब को एक कुर्सी की ओर संकेत किया। जैकब को सन्देह हो गया। वह मेज़ पर की सूई उठाते हुए बोला—

"तुम कुछ काढ़ रही थीं—हमें दिखा दो।"

"नहीं तो।"

"गवाह मौजूद है"—उसने सूई का तागा बराबर करते हुए कहा।

"हाँ काढ़ रही थी।"

"तो मुझे दिखाओ।"

"दिखाऊँगी, लेकिन अभी नहीं।"

"नहीं दिखा दो, मेरी रूबी तो।"

"फूल है।"

"फूल ही दिखा दो।"

जैकब कुर्सी के पीछे चला। रूबिया ने अपना हाथ पीछे करके रूमाल अपनी मुट्ठी में ले लिया। खड़ी हो गयी। जैकब उसकी ओर बढ़ा। रूबिया पीछे-पीछे

खिसकती जाती थी; एकदम से हँसकर कमरे में घुस गयी। जैकब भी यह कहते हुए, कि क्या मैं कमरे में नहीं आ सकता; कमरे में चला गया। कुछ देर कमरे में इस कोने से उस कोने और उस कोने से इस कोने भागा-भागी हुई। आख़ीर में जैकब ने अपना हाथ रूबिया के पीछे करके रूमाल छीन लिया। रूबिया कुछ शर्माई हुई खड़ी हो गयी। जैकब ने रूमाल फैलाया। इस पर कढ़ा था—

"प्यारे जैकब को सप्रेम"

—रू

जैकब ने रूमाल को चूमकर हृदय से लगा लिया। फिर वह रूबिया की ओर बढ़ा और उसके गले में हाथ डालकर उसका मुँह चूम लिया। रूबिया ने अपना सिर नीचे कर लिया, बोली—

"लाओ, पूरा करके दूँगी।"

"नहीं रूबी, इसे यों ही रहने दो। तुम्हारा अधूरा नाम देखकर आज की सारी बातें मेरी आँखों के सामने आ जायँगी। आज की बात मेरे जीवन की अत्यन्त मधुर स्मृति होगी। तुम्हारा अधूरा नाम मुझे उसकी याद दिलायेगा।" इतना कहकर उसने अपने जेब में हाथ डाला और अपना एक चित्र निकालकर रूबिया के हाथों में रख दिया। चित्र के नीचे लिखा था 'तुम्हें मेरी याद दिलाने को'।

निश्चित दिन को रूबिया अपने पापा के साथ कानपूर से चल दी। हेनरी और मिसेज हेनरी स्टेशन तक आयीं। जैकब नहीं आया। उसे भय था कि कहीं गाड़ी छूटते समय उसकी आँखों से अश्रुधारा न बह चले, पर कहीं उसके आँसू गिर ही रहे थे। वह एक पार्क की बेंच पर बैठा हुआ अपनी रिस्टवाच देख रहा था। 6 बजकर 16 मिनट पर—यह ट्रेन छूटने का समय था—उसके मुँह से निकल पड़ा—

आह! प्यारी रूबी प्रतिपल मुझसे दूर-दूर होती जाती है···

× × ×

प्रयाग के जिस मुहल्ले में सेमुएल ने मकान किराये पर लिया था वहाँ के लड़के बड़े बदमाश थे। सब हिन्दुस्तानी ईसाइयों के लड़के थे। यह मुख्यतः ईसाइयों की ही बस्ती थी। पन्द्रह-बीस लड़कों का एक गुट्ट था। इन्हें लड़के नहीं शैतान की आँत कहना चाहिए। इन सबकी उम्र दस से पन्द्रह साल के अन्दर होगी। उम्र में छोटे-बड़े ज़रूर थे, पर शरारत में हर एक अपने को सबका चचा ही समझता था। स्कूल में इनसे मास्टर परेशान रहते, घर पर इनके माँ-बाँप और बाहर मुहल्लेवाले। ये मास्टरों के नाम गुमनाम चिट्ठियों में गालियाँ लिख-लिख भेजते, दर्जे में शोर मचाते और कमज़ोर लड़कों को पीटते। स्कूल की दीवालों पर पेंसिल, कोयले, निब या कील से अण्ट-शण्ट लाइनें खींचते, तस्वीर बनाते। किताबें पुरानी किताबों की दूकान पर बेच आते; माँ-बाप से कहते, स्कूल में चोरी हो गयी। पैसों से चटपटे उड़ाते, सिगरेट पीते। सभी ईसाइयों को मकान के सामने बाग़-बगीचे लगाने का शौक होता है, पर इन लड़कों के मारे किसी के यहाँ न फूलों के खिलने की नौबत आती, न फलों के पकने की। म्युनिसिपल्टी की लालटेनों से तो उन्हें पैदाइशी दुश्मनी थी; आते-जाते उसकी तरफ एक आध ढेले सटकार देते। शीशा टूट जाता; लालटेन जलानेवाला आता, गुस्सा होता, पूछता, पर किसकी शामत आती कि बताता। दो-चार पैसे के गुखरू लेकर सड़क पर बिछा देते; अब जो ही आ रहा है उसी की साइकिल में पंचर—फिस्स···फिस्स···फिस्स···। लड़के दूर बैठकर तमाशा देखते, क़हक़हे लगाते। कोई बोलता तो उसकी आँख में पट्टी बाँधकर

धौलिया-पुलाव मचा देते। किसी के यहाँ यदि कोई साइकिल पर मिलने आता और ज़रा-सी देर के लिए भी अपनी साइकिल बाहर छोड़ देता तो साइकिल की घण्टी का 'अपर' (ऊपरवाली कटोरी जो घुमाने से निकल आती है) और नट्स (जो घुमाने से निकल आते हैं और जिनके निकाल लेने से साइकिल की हवा निकल जाती है) निकल जाते। जो कहीं लम्प और पम्प लगा होता तो पहले उसी पर हाथ साफ़ किया जाता। शामत का मारा बकता खीझता चला जाता। चौक से इक्के-ताँगे लिवा लाते, कि एक ज़नानी सवारी ले जाना है। सड़क पर उसे खड़ा करके एक गली से घुसते दूसरी से निकल जाते। इक्कावाला पन्द्रह मिनट इन्तज़ार करता, आधा घण्टा इन्तजार करता, पर किसका आना और किसका जाना; आख़ीर में उसे लौटना ही पड़ता। गिरजे जाते तो पादरी जब प्रार्थना करने लगता और लोग अपने सिर झुकाते तो ये लोग पादरी को मुँह चिढ़ाते। बाज़ार जब कोई सामान खरीदने जाते तो दो की चीज़ मोल लेते तो चार की यों ही तिड़ी कर देते। इनकी शरारत का यह बड़ा संक्षिप्त परिचय है। आगे-आगे इनकी और करामातें खुलेंगी। एक-एक से शातिर इनमें पड़े थे।

× × ×

रूबिया को अपने प्रयागवाले मकान में आये एक सप्ताह बीत गया होगा। रूबिया कालेज चली गयी थी और उसके पापा भीतर सो रहे थे। जब से उन्होंने पेन्शन ले ली थी तब से दिन में प्रतिदिन सोया करते थे। मुहल्ले के कुछ शरारती लड़के आज किसी वजह से क्लास से गायब हो गये थे। उनका सरग़ना आर्थर भी उनके साथ था। वे रूबिया के मकान के पास आये। मकान कई महीने से खाली था। लड़के जब-तब इस मकान में आकर सिगरेट वग़ैरा पीते और धमा-चौकड़ी मचाते थे।

एक बोला, "क्यों जी, इस मकान में कोई आ गया क्या?"

दूसरा बोला, "हाँ, इसमें एक लड़की रहती है। उसके साथ एक बुड्ढा आदमी भी रहता है।"

"शायद उसका बाप है।"

आर्थर—"क्या नाम है?"

दूसरा—"नाम तो नहीं मालूम; कोई तख्ती भी तो नहीं लगी है। वो देखो, लेटरबाक्स में एक ख़त आया है, उससे पता लगेगा, चलो देखें।"

पहले लड़के ने लेटरबाक्स की जाली से झांका।

दूसरा—बोला, "क्यों यार कुछ दिखायी पड़ता है?"

पहला—"हाँ-हाँ, मिस रूबिया, केअर आफ़ मिस्टर सेमुएल आतमाराम।"

दूसरा—"मिस साहबा के नाम ख़त है? यार तब तो खत निकालो। देखें किसने ख़त लिखा है?"

पहला—"निकालते तो मगर ताला जो बन्द है।"

दूसरा—"ओ—आर्थर! आर्थर (आर्थर जरा दूर खड़ा था) तुमने तो न जाने कितनी बार मास्टरों के डेस्कों के ताले तीलियों से खोले हैं, ज़रा इसमें भी तो अपनी अक्ल लगाओ। बड़े मज़े की चीज़ मिलेगी।"

आर्थर को तीली भर मिलने की देर थी। एक की जेब में एक कील पड़ी थी, आर्थर ने उसे ताले में डालकर ऐसा घुमाया कि चट ताला खुल गया। उसने खत को निकाल लिया और ताले को फिर उसी तरह बन्द कर दिया। तीनों की सलाह हुई कि गिलबर्ट के मकान के पीछे जो बाग़ है वहीं चलकर ख़त पढ़ा जाय। तीनों वहीं

पहुँचे। एक बेंच पड़ी थी। आर्थर बीच में बैठा, दोनों साथी इधर-उधर चिपककर बैठे। ख़त खोला गया, एक बढ़िया फैंसी लेटर-पेपर पर बड़े सुन्दर और स्वच्छ अक्षरों में लिखा था। आर्थर पढ़ने लगा —

"नवाबगंज, कानपूर, 14-7-20 ?"

एक बोल उठा, "14-7-21 कि 20"

आर्थर फिर पढ़ने लगा, "प्यारी-प्यारी रूबी।"

दूसरा बोला, "ओ-हो ! डबल प्यारी !"

आर्थर ने फिर शुरू किया, "जबसे तुम यहाँ से गयी थीं मैं आग के गोले की तरह जल रहा था। कल शाम को तुम्हारा पत्र उस पर ठण्डे पानी की तरह आकर पड़ा। अनेक बार मैंने इसे चूमा और हृदय से लगाया। रात-भर इसे सिर के नीचे रखकर सोया। तुमने यह पत्र भेजकर मेरे ऊपर जो कृपा की है उसके लिए तुम्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। मेरी तो इच्छा थी कि मैं तुम्हें पहले ख़त लिखूँ पर मुझे तुम्हारा पता न मालूम था। प्यारी रूबी, क्या तुम मेरे प्रेम पर सन्देह करती हो ? मैं स्टेशन पर नहीं आया, इससे तुमने यह कैसे समझा, कि मेरा प्रेम तुमसे अलग होने के पहले ही से घटने लगा ? सच कहता हूँ, इसकी वजह यह न थी। मैं किन आँखों से देखता कि गाड़ी तुम्हें लेकर भागी जाती है। रूबी, भला तुमसे बढ़कर प्यारा मेरा कौन दोस्त है जिससे मिलने को मैं चला जाता ? तुम ऐसा न कहो। मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ – यह बात तो मैंने अब जानी है, जब मैं तुमसे अलग हो गया हूँ। हाँ, पढ़ा तो मैंने भी है कि आँख से दूर होने पर मनुष्यों का प्रेम घट जाता है, पर मेरी तो दशा बिल्कुल उलटी है। तुम जितनी ही दूर चली गयी हो उतनी ही ज्यादा प्यारी हो गयी हो और जुदाई के जितने दिन बीतते जाते हैं उतना-ही-उतना मेरा प्रेम बढ़ता जाता है। ईश्वर हमारा आजन्म प्रेम मृत्युपर्यन्त बनाये रहे। यदि मैंने कोई अनुचित बात लिख दी हो तो क्षमा करना, क्षमा न करना तो सजा दे लेना, लेकिन मुझे भुलाना मत। मैं भी दिन-भर तुम्हारी ही याद करता हूँ। पापा के कमरे में तुम्हारे छुटपन का चित्र लगा है, उसी को देखा करता हूँ। अपना आजकल का एक फोटो खिंचवाकर भेज दो। कालेज के पते से भेजना। तुम्हें किसी की जरूरत हो तो लिखना। तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मैं सदा तुम्हारा जैकब। नोट, रूबी, मेरे खतों को पढ़कर फाड़ डालना। तुम बड़ी बेपरवाह हो; कहीं वे तुम्हारे पापा के हाथों में न पड़ जायें। मैंने किसी से नहीं बतलाया कि तुमने मेरे पास खत भेजा है। तुम भी मेरे खतों की चर्चा अपने पापा से न करना। ख़तम···।"

खत जब खतम हो गया तो तीनों साथी ज़ोर से हँसे। आर्थर ने ख़त को जेब में रख लिया। एक टीन का टुकड़ा पास पड़ा था। उसने झपटकर उसे उठा लिया और उसे बजा-बजाकर गाने लगा—

"छिप-छिप के भेजते हैं मिस रूबिया को खत।
पर जानते नहीं हैं आर्थर बड़े हज़रत।।
चुपके-चुपके करते हैं मिस रू से मुहब्बत।
पर आर्थर कर देते हैं सब बीच में गड़बड़।।

उसका एक साथी बोल उठा, "भाई आखिरी लाइन तो ठीक नहीं बैठी। यों कहो, 'पर आर्थर कर देते हैं खत बीच में चम्पत'।"

"हाँमें, ठीक कहा।"

इतने में छुट्टी का घण्टा बजा—टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन···

"यह लो छुट्टी हो गयी। यार सबको यह खत सुनाना चाहिए। अच्छा मैं यहीं बैठा हूँ, तुम दोनों जाके सबको बुला तो लाओ।"

सब लान पर जमा हुए। आर्थर ने सभापति के समान बेंच पर बैठकर खत पढ़ा। आर्थर ने जो गाना बनाया था गाया गया। पर आर्थर से भी बढ़-बढ़कर लोग उनमें थे। एक बोला—

"यार मिस रूबिया के पास जो खत आयेगा वह तो अब हम हमेशा निकाल लिया करेंगे, पर रूबिया जो खत भेजे वह भी मिल जाय तो बड़ी दिल्लगी हो। इधर से यह खत न भेजने की शिकायतें भेजे, उधर से वह भेजे और बीच में हम तमाशा देखें।"

दूसरे ने कहा, "लेटरबाक्स से कैसे ख़त निकालोगे? पोस्ट आफ़िस का ताला ऐसा-वैसा नहीं होता।"

तीसरा बोल उठा, "यह कौन-सी मुश्किल बात है? तुम इतना पता लगा रक्खो कि किस लेटरबाक्स में ख़त छोड़ा गया फिर निकाल लाने का काम मेरा। न जाने कितने बार मैंने अपने इम्तहान का कार्ड अपने बाप के पास जाने से रोक लिया। सभी चीज़ों में फ़ेल रहता था, बाद को एक कार्ड लिख देता था, कि बीमार हो जाने की वजह से इम्तहान ही न दे सका। मुझे तुम इतना बता दो कि फलाँ लेटरबाक्स में ख़त पड़ा, बस न ला के ख़त सामने रख दूँ तभी कहना।"

× × ×

कहानी प्रसिद्ध है कि लड़कों से शैतान भी हार मान गया, पर शैतान लड़कों से तो शायद ईश्वर भी हार मान ले। रूबिया को अपने पत्र की प्रतीक्षा करते हुए दस दिन बीत गये। उसे पत्र मिलता तो कहाँ से? जैकब स्टेशन पर भी मिलने नहीं आया था। अब उसने ख़त भेजा तो उसने उसका कोई जवाब न दिया। रूबिया सोचने लगी, मालूम होता है जैकब अब मुझे बिल्कुल भूल गया। मेरे लिए उसका सारा प्यार ख़तम हो गया। जैसे बुझने के पहले चिराग़ की लौ एकदम से बढ़ जाती है उसी तरह मेरे कानपूर के अन्तिम दिनों में उसका भी प्यार बहुत ज्यादा बढ़ गया था। मेरे यहाँ आते ही उसके प्यार का दीपक बुझ गया। आह! मेरे लिए अब चारों ओर अन्धकार है। एक-एक दिन उसके लिए एक-एक साल की तरह बीतता। उसे रात-दिन जैकब ही की याद आती। वह चाहती कि जैसे जैकब उसे भूल गया वैसे वह भी जैकब को भूल जाय। बात उल्टी हो रही थी। वह जैकब को जितना ही भूलने का प्रयत्न करती थी उसे उतनी ही उसकी याद और आती थी। क्यों न आती? प्रेम का बेतार-का-तार, जो रूबिया और जैकब के हृदयों को एक कर रहा था, अपना काम कर रहा था। वहाँ जैकब दिन-रात रूबिया की याद में पागल रहता था, तब फिर रूबिया को भला उसकी याद कैसे न आती?

'मुमकिन नहीं कि दर्द इधर हो उधर न हो।'

जैकब को पहले रूबिया के प्रेम पर शंका न हुई। जब उसके पत्र का उत्तर न गया तो उसके हृदय में यह शंका उत्पन्न हुई, कि कहीं उसका पत्र रूबिया के पापा के हाथ तो नहीं लग गया, कि वह बेचारी डाटी गयी हो और उसे आइन्दा ख़त भेजने की मनाही कर दी गयी हो। पर यह शंका स्थायी न हुई। रूबिया ने अपने पहले ही ख़त में लिख दिया था, कि लेटरबाक्स की चाभी उसी के पास रहती है। अब वह सोचने लगा कि रूबिया ने मेरा ख़त पा करके भी उत्तर क्यों नहीं दिया? मुझको लिख भेजा था कि दूर हो जाने से प्रेम घट जाता है और पूछा था कि क्या मेरा प्यार घट रहा है? क्या उसका प्रेम खुद ही दूरी का शिकार हो गया? आगाह

करनेवाला ही ख़तरे में पड़ गया ? मालूम होता है, उसने जो मुझे लिखा था कि दूर हो जाने से मैं उसे प्रेम करना छोड़ दूँगा वह उसकी स्वयं अपनी भावनाओं का प्रतिबिम्ब था। स्थान-परिवर्तन से रूबिया इतनी जल्दी इतना खिंच जायगी, यह बात उसने स्वप्न में भी न सोची थी। मन में कहता, रूबिया आसानी से मुझे भूल सकती है पर मैं उसे नहीं भूल सकता। यहाँ तो सभी चीजें मुझे उसकी याद दिलाया करती हैं। ऐसी बातें सोचकर कभी वह किसी कुर्सी को देखने लगता, जिस पर रूबिया आकर बैठा करती थी; कभी किसी दरवाज़े को, जिसे रूबिया थामकर खड़ी हुई थी; कभी उन गुलदस्तों को, जिसमें रूबिया ने फूल सजाये थे और कभी उन चाय के प्यालों को, जिन्होंने रूबिया के अधरों को चूमा था। कभी-कभी जैकब रूबिया के मकान में, जो अभी तक खाली ही था, चला जाता और पागलों की तरह दरवाज़ों और खिड़कियों पर प्यार से यह याद करके हाथ फेरता कि रूबिया इनको अपने हाथों से खोलती, बन्द करती थी; कभी वह उन खम्भों से लिपट जाता जिनमें आड़ लगाकर रूबिया जब-तब खड़ी हुआ करती थी और कभी वह उन ताकों और आलमारियों को चूमता जिन पर रूबिया अपनी किताबें रखती थी। वास्तव में जैकब की अवस्था रूबिया से कहीं अधिक खराब थी।

× × ×

रूबिया ने एक ख़त फिर लिखा। यार लोग ताक में रहा ही करते थे। पत्र 'ख़त चम्पतकारी सभा' के सभापति आर्थर के पास पहुँच गया। उसी तरह सभा लगी। उसी तरह ख़त पढ़ा गया। शोरगुल मचा, हँसी-दिल्लगी हुई। दो-तीन पत्र रूबिया ने और भेजे, उसी तरह दो-तीन जैकब ने भेजे। पर इन बदमाशों ने सब पत्र अपने पास रख लिये। कोई भी हृदय रखनेवाला मनुष्य कल्पना कर सकता है कि इन पत्रों में क्या रहता होगा। दो वियोग-विदग्ध प्रेमी हृदयों की आग इन पत्रों के पृष्ठों पर उगली रहा करती थी, पर इन नटखट लड़कों के हाथ में तो वे बड़ी मनोरंजक फुलझड़ियाँ थीं।

दो-ढाई महीने बीत गये। रूबिया ने पाँच-छः ख़त भेजे, एक का भी उत्तर नहीं। पत्र नहीं हृदय के टुकड़े भेजे गये थे। उनकी इतनी उपेक्षा! रूबिया निराशा की अन्तिम सीमा पर पहुँच गयी। उसकी वेदना असह्य हो गयी, जीवन भार हो गया। उसने एक अन्तिम पत्र जैकब को लिखा।

निर्दयी जैकब,

तुम्हारे हृदय में मेरे लिये जो प्यार था वह कहाँ चला गया ? क्या तुम्हारी केवल मुँहदेखी मुहब्बत थी ? कुछ भी रही हो, मैं तो उसी को जीवन सर्वस्व समझ रही थी। निर्दयी जैकब, क्यों मेरे हृदय को बढ़ाकर तोड़ रहे हो ? मेरा हृदय एक जलता हुआ चूल्हा है। उसके ऊपर प्रेम का दूध ऊबल रहा है। उफान मुँह तक आ गया है। तुम्हारे स्नेह-जल के एक छींटे की आवश्यकता है। विलम्ब करोगे तो यह दूध उफनकर मेरे हृदय को सदा के लिए बुझा देगा। अन्तिम बार पत्र भेजती हूँ। अगर चार दिन में इसका उत्तर न आयेगा तो··· (समझ जाओ)।

तुम्हारी भुला दी गयी
रूबी

रूबिया की प्रतीक्षा का अन्तिम दिन आ गया। आज दिन भर पत्र न आयेगा तो वह फाँसी लगा लेगी। वह बाहर टहल रही थी, शायद कोई पत्र आ जाय। फाँसी लगाने के लिए उसने इतवार का दिन ठीक समझा था। पत्र लिखने से यही

चौथा दिन पड़ता था। उसके पापा चर्च चले गये थे। दिन के ग्यारह बजे होंगे कि डाकिया आया और उसके हाथ में एक लिफ़ाफ़ा देकर चला गया। रूबिया ने देखा कि पता जैकब के ही हाथ का लिखा है। उसका दिल धड़कने लगा। ख़त को लेकर ऊपर के कमरे में चली गयी। खोलकर पढ़ने लगी। मालूम पड़ता था कि आँखों में ख़त को निगल जाना चाहती है। लिखा था—

मूर्ख रूबिया,

मेरे दिल में तेरे लिए कुछ भी प्यार नहीं है। क्यों ख़त भेज-भेजकर मुझे परेशान करती है। मेरे पढ़ने-लिखने में खलल पहुँचता है। मुझे धमकी देती है कि मैं प्यार न करूँगा तो तू अपनी जान दे देगी। यह गीदड़भबकी औरों को देना। मौत आयेगी तो कहोगी, कि ज़रा लकड़ी का बोझ उठाकर मेरे सिर पर धर दो। ख़बरदार अब कभी ख़त न भेजना।

तुझे जो भूल गया
जैकब

यह पत्र जैकब का था? रूबिया के अन्तिम पत्र का भी वही हाल हुआ जो और पत्रों का हुआ था। बदमाश लड़कों ने एक और बड़ी शरारत की। उनमें एक लड़का ऐसा था जो मास्टरों के हस्ताक्षरों की नक़ल करने से आरम्भ करके अब इस दर्जे को पहुँच गया था कि दूसरों की लिखावट की हूबहू नक़ल कर सकता था। ऊपरवाला ख़त उसी से जैकब की हस्तलिपि में लिखाकर भेजा गया था। 'बेपरवाह' रूबिया ने मुहर न देखी। मित्रों की लिखावट पहचानकर कौन मुहर देखने का कष्ट उठाता है? अभागी रूबिया को फिर क्यों एक दूषण लगायें?

घावों पर नमक छिड़क दिया गया। जलती हुई चीज पर तेल छोड़ दिया गया। उसने लिफ़ाफ़े और ख़त में दियासलाई लगा दी और जब वह जलने लगा तो उसे ध्यानमग्न आँखों से देखने लगी, जैसे वह इन जलते हुए काग़ज़ों में अपने जलते हुए हृदय का बाहरी प्रतीक देख रही हो। उसने मेज़ के ड्राअर से जैकब का चित्र निकाला। उसे भी उसी आग में डालने चली, पर रुकी। सोचने लगी, नहीं यह उस जैकब का चित्र है जो मुझे प्यार करता था। आज का जैकब जैकब नहीं रह गया। मेरे जैकब की मौत हो गयी। मुझे भी उसी के साथ जाना चाहिए था। ओह! मैं बहुत देर तक रुकी रही। छत में फन्दा पड़ा था। उसी के नीचे बैठकर उसने हाथ जोड़कर कहा—

'पिता क्षमा करना।'

एक ही प्रार्थना में उसने दैहिक और आत्मिक दोनों पिताओं से क्षमा माँग ली।

कमरे की खिड़कियाँ और दरवाज़े फटाफट बन्द हो गये।

× × ×

सेमुएल ने रूबिया की आत्महत्या का समाचार तार द्वारा कानपुर भेजा। जैकब इसका कारण सोचने लगा। उसकी पहली शंका फिर लौट पड़ी—शायद उसके पत्र उसके पापा के हाथ लग गये, शायद उन्होंने उसे डाटा डपटा, शायद इन बातों से उसके मान और लज्जा पर भारी धक्का पहुँचा, शायद इसी कारण उसने आत्महत्या कर ली। मिसेज़ हेनरी और हेनरी दूसरी गाड़ी से प्रयाग आने को हुए। उन्होंने जैकब को भी साथ ले आना चाहा। पर जैकब ने चलने से इन्कार कर दिया। वह डरा, सोचने लगा, कहीं मैं ही इस आत्महत्या का कारण हुआ तो

सेमुएल और अपने माँ-बाप को क्या मुँह दिखाऊँगा। मेरे सब ख़त सेमुएल के पास होंगे। ओह! मैंने न जाने क्या-क्या लिख दिया था। ये सब पत्र वे मेरे बाप-माँ को दिखाएँगे। दिखाएँगे तो मुझे क्या परवाह? मान, अपमान, लज्जा की चिन्ता उसे हो जिसे जीना हो। जब प्यारी रूबी ही इस दुनिया को छोड़कर चल दी तो मेरे लिए अब यहाँ क्या रक्खा है? मैं भी वहीं चलूँ जहाँ प्यारी रूबी गयी है, जल्दी ही चलूँ नहीं वह मुझसे बहुत दूर निकल जायगी। मौक़ा बना है, घर खाली है।

हेनरी और मिसेज़ हेनरी जब प्रयाग आये तो आत्महत्या के सम्बन्ध में उन्हें केवल इतना पता लगा कि उनके पुत्र की तस्वीर रूबिया के सीने में पायी गयी थी, पास ही एक जला हुआ ख़त पड़ा था। यह जानकर उन्हें बड़ी लज्जा आयी। घर चलकर जैकब की पूरी-पूरी ख़बर लेने का विचार कर रहे थे। तीसरे दिन वे सेमुएल को भी साथ लेकर कानपूर पहुँचे। घर का दरवाज़ा भीतर से बन्द था। बहुत आवाज़ें दीं, बहुत बुलाया, पर कोई न बोला। दरवाज़ा चीरा गया तो तीनों के तीनों दहाड़ मारकर रोने-चिल्लाने लगे। यहाँ भी वही दृश्य था। जैकब का मृत शरीर छत की रस्सी में लटकता सड़ रहा था। सीने पर रूबिया की तस्वीर थी, नीचे एक ख़त जला पड़ा था (यह रूबिया का पहला ख़त था)।

× × ×

हेनरी, मिसेज़ हेनरी और सेमुएल अब एक ही मकान में रहते हैं। बुढ़ापा अब जल्दी-जल्दी उन पर आता जाता है, कमर झुकती जाती है, आँखों से कम दिखायी पड़ने लगा है। उनके चारों तरफ़ अन्धकार ही अन्धकार है। वे जी नहीं रहे हैं किसी तरह जीवन की गाड़ी ठेल रहे हैं। शाम को जब अपने बरामदे में तीनों एक लाइन में कुर्सी रखकर उदास बैठते हैं तो ऐसा मालूम होता है मानो किसी ने तीन वृद्ध पक्षियों के परों को नोच लिया है और वे लाचार पड़े हैं।

रूबिया की आत्महत्या की जाँच करने के लिए जब पुलिस आयी तब तो लड़के कुछ डरे अवश्य, पर उन्हें रूबिया के मरने का कुछ भी शोक न हुआ। इससे उन लोगों ने लाभ ही उठाया है। मकान ख़ाली हो गया है। इसी में उनका 'शरारती क्लब' स्थापित है। जहाँ कोई किराये पर उस मकान को लेने के लिए आता है, ये सब मिलकर उसे भड़का देते हैं, 'न बाबा, कभी भूलकर भी इस मकान में न आना। एक मिस साहबा ने इसमें ख़ुदकुशी कर ली थी। वे चुड़ैल होकर इसी में रहती हैं।'

दुष्टों ने कभी न जाना कि दो व्यक्तियों की मृत्यु और तीन व्यक्तियों का जीवन मृत्यु से भी बढ़कर दुखदायी बना देने का उत्तरदायित्व उन्हीं के ऊपर था।

हृदय की आँखें*

उस दिन दर्पण पर कुछ अधिक समय तक दृष्टि जमी रह गयी। ऊपरी होंठों पर कुछ श्यामता का आभास हुआ। मुझे कुछ शर्म-सी लगी। मैंने अपने मन में प्रश्न किया—क्या मैं यौवनावस्था में प्रवेश कर रहा हूँ? फिर तो जब कभी मैं दर्पण के सम्मुख जाता, तो पहले मेरी दृष्टि उसी श्यामता पर जाती, जिसने पहले पहल

* हंस—जनवरी, 1931

मुझे यौवनागमन की मूक सूचना दी थी। समय बीतता गया। वह श्यामता और अधिक-अधिक घनीभूत होती गयी।

शारीरिक परिवर्तन के साथ मन में भी परिवर्तन होने लगे। उसमें अब नवीन उमंगों तथा नूतन कल्पनाओं ने स्थान करना आरम्भ किया; पर यह एक स्थान पर रहनेवाली वस्तुएँ नहीं हैं। उमंगें उभरना चाहती हैं, कल्पनाएँ उड़ना चाहती हैं; पर मैंने कोई निकास न बनाया था। कल्पनाएँ एक से एक बढ़कर सपने दिखलातीं। उमंगें कहतीं—कोई भी स्वप्न मैं तुम्हें अनुभवगम्य करा सकती हूँ। मेरी दशा उस बालक के समान थी जो एक खिलौने की ऐसी दूकान पर खड़ा कर दिया जाय, जिसके सभी खिलौने उसे पसन्द हों, और वह यही सोचता खड़ा रहे, कि कौन ले और कौन छोड़े। मैं अपने मन से कुछ निश्चय न कर सका।

पर दूसरों ने मेरी सहायता की। मेरी जन्म-कुण्डलियाँ माँगी जाने लगीं। मैं समझ गया कि अब मेरा विवाह होगा। विवाह सम्बन्धी सैकड़ों प्रश्न मेरे मन में उठने लगे। मुख्य प्रश्न यह था, कि कैसी स्त्री से मेरा विवाह होगा? इस प्रश्न के साथ ही मेरी कल्पनाओं को एक मार्ग मिल गया। वे अनेक प्रतिमाएँ खींच-खींचकर मेरे सामने रखने लगीं। उमंगें कहतीं जिस किसी को प्राप्त करने की तू इच्छा करेगा तुझे मिल जायगी। वाह रे नौजवान-दिल के हौसले! तेरे हाथ कितने लम्बे हैं! उसकी उँगली उस प्रतिमा की ओर उठ गयी जो सबसे सुन्दर थी।

मैं किस श्रेणी के समाज में था, कैसी परिस्थितियों में था, मेरी अभिलाषा पूर्ण होने में कितनी कठिनाई थी, और मैं किस तरह उन कठिनाइयों को हटाने का प्रयत्न कर रहा था—इन सब बातों के जानने के लिए, एक छोटी-सी घटना का वर्णन करना पर्याप्त होगा।

एक दिन की बात है कि मेरे यहाँ मेरे एक सम्बन्धी के घर की बूढ़ी औरत आयी; लेकिन मैं उससे परिचित न था। मैं उसके सामने से होकर निकला। माताजी बोलीं—तुम तो कोई नाता-रिश्ता पहचानते ही नहीं; यह बुआ दादी लगती हैं, प्रणाम करो। मैंने प्रणाम किया। बूढ़ी ने मुझे ऊपर से नीचे तक देखा। बोली—बेटा तो बड़ा हुआ अब कोई ब्याह क्यों नहीं ठहरातीं। माताजी ने मेरी ओर देखा, उनकी आँखों से पुत्र-अभिमान टपक रहा था, जो प्रायः भारतीय नारियों में पाया जाता है और विशेषकर पुत्रों के विवाह अवसरों पर। मुसकराते हुए बोलीं कि बुआजी, विवाह के लिए तो दस आदमी रोज द्वार घेरे रहते हैं; पर यह ब्याह करने को खुद राज़ी नहीं होता। बूढ़ी आश्चर्य से बोल उठी—अरे कोई अपने विवाह के विषय में भी बोलता है।

हमारे यहाँ तो विवाह इस तरह होते हैं, कि दूल्हे दुलहिन की पहली भेंट सुहागरात के दिन होती है। चाहे वे एक दूसरे को पसन्द हों या न हों, उन्हें जीवन-पर्यन्त एक दूसरे को प्यार करने का स्वाँग भरना पड़ता है; पर मेरी अभिलाषाएँ ऊँची थीं। मैं हिन्दू विवाह को अन्यायपूर्ण रीति समझता था। वह एक अटूट बन्धन है, मृत्युपर्यन्त का सम्बन्ध है। मुसलमानों में तलाक़ की प्रथा है। ईसाइयों में विवाह-विच्छेद होते हैं; पर उन्हें स्वतन्त्रता है कि वे अपनी भावी पत्नी को विवाह से पूर्व देख लें, बात-चीत कर लें, पसन्द कर लें। उचित तो यह था कि हिन्दू-समाज इससे भी अधिक स्वतन्त्रता भावी पति-पत्नी को एक-दूसरे से सन्तुष्ट होने को देता; परन्तु यहाँ तो पत्नी का नाम तक पूछना बेशरमी और बेहयाई समझी जाती है। मैं एक ही तीर चला सकता था। इसे ही मुझे अपने आदर्श तक पहुँचाना था। मैं भाग्य का आश्रय लेकर किसी अज्ञात दिशा में इस तीर को नहीं छोड़ना

चाहता था। एक बार सम्भवत: मैं अपने लक्ष्य को देखकर भी इसे छोड़ने में हिचकता, फिर जब लक्ष्य की गन्ध भी न मिलती हो उस समय तीर चलाने की इच्छा करना भी असम्भव था; पर मैं इतना मूर्ख न था जो ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठता कि जब तक हिन्दू समाज इतनी उदारता न प्राप्त कर लेगा तब तक मैं अविवाहित रहूँगा। तब तो मुझे भीष्म-पितामह को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाना पड़ता। मैं विवाह करना चाहता था। मैं अपनी आदर्श प्रतिमा से कुछ हटने को भी तैयार था; क्योंकि मुझे मालूम था कि आदर्श सदा आदर्श ही रहा करते हैं; पर यह मेरा पक्का इरादा था कि मैं एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री से ही अपना ब्याह करूँगा। प्राचीन प्रथा के अनुसार मैं अपनी भावी पत्नी को बिना देखे, बिना पसन्द किये, विवाह करने को कदापि उद्यत न था। मैं इस युद्ध के लिए अपनी सारी शक्तियों को सम्पन्न करने लगा। विवाह करने से इनकार करने से ही एक प्रकार से युद्ध छिड़ गया। मैं अपने मित्रों से कहा करता था कि मेरी पत्नी एक आदर्श पत्नी होगी; पर अपने पाठकों को मैंने यही बतलाया है कि मैं एक सुन्दर पत्नी चाहता था; लेकिन वे यह न समझें कि मैं इतने छिछले हृदय का आदमी हूँ। एक पत्नी का यदि यही आदर्श होता तो सचमुच बहुत छोटा आदर्श होता; पर बात ऐसी न थी। इस छोटी-सी बात के पीछे मैंने एक बड़ी भारी फ़िलासफ़ी समझ ली थी। अवश्य ही वह एक नवयुवक की बुद्धि की उपज थी, और सम्भव है, बड़े-बड़े लोग उसमें त्रुटियाँ बताएँ; पर नवयुवकों के लिए वह आज भी सर्वथा सत्य प्रतीत होगी।

वह फिलासफ़ी थी कि बाह्य सौन्दर्य एक अमूल्य वरदान है और वह परमेश्वर की ही कृपा से प्राप्त होता है। प्राचीन दार्शनिकों का मत था कि मनुष्य का बाह्य जितना ही सुन्दर होता है, उसका अन्तःकरण उतना ही कुरूप होता है। मेरा विचार था कि शारीरिक सौन्दर्य आत्मिक सौन्दर्य की छाया है। जिसका मन निर्मल, निर्विकार और निष्कपट होता है, उसका शरीर भी दीप्तिमान, चित्ताकर्षक और मनोहर होता है। मेरी फिलासफ़ी यह भी कहती थी कि सुन्दर मुखवाले का स्वभाव भी सभ्यतापूर्ण और शिष्टाचारमय होता है। वह व्यावहारिक जीवन में भी दक्ष होता है। निष्कर्ष यह कि मेरी फ़िलासफ़ी में बाह्य सौन्दर्य ही प्रथम और अन्तिम शब्द था। मैं स्वयं सुन्दर था। मैं समझता था, सुन्दर स्त्री को ही मुझे पाने का अधिकार है।

लेकिन मुझमें कुछ कमज़ोरी थी। मैं सामने से ताल ठोंककर नहीं लड़ता था। मैं केवल यह कहता जाता था कि मैं विवाह न करूँगा, मैं विवाह न करूँगा। मुझे मालूम था कि मेरे पिताजी को यह जानने की अभिलाषा होगी कि मैं क्यों विवाह नहीं करना चाहता। उनसे अपनी इच्छा कह सुनाने की मेरी हिम्मत न पड़ती थी। मुझसे पूछने में वे स्वयं संकोच करते थे। मुझे मालूम था कि वे किसी दूसरे से पुछवाएँगे कि मैं क्या चाहता हूँ। मैंने अपनी अभिलाषा प्रकट कर दी। बात उनके कानों तक पहुँच गयी। मैं तो यह चाहता ही था। यह बात सुनकर पुराने दक़ियानूसी ख़्याल के पिताजी क्या सोचते हैं, यह सभी जानते हैं। उन्हें मेरी बात बिल्कुल न भाई। एक सप्ताह तक न जाने किस सोच में पड़े रहे। सम्भवत: यह सोच रहे होंगे, कि अपने विचार सीधे मुझ पर प्रकट करें, या किसी और से कहलाएँ। अन्ततोगत्वा जब एक दिन मैं अपने कमरे में बैठा था; तो वे चले आये और कहने लगे, "देखो, नवजवान आदमी हमेशा ख़ूबसूरती ही को पसन्द करता है, पर उसको मालूम नहीं है, कि ज़िन्दगी सिर्फ़ औरत का मुँह देखने के लिए नहीं है। ज़िन्दगी

एक लड़ाई है, जो सिर्फ़ खूबसूरती के हथियार से नहीं लड़ी जा सकती। औरतों में और-और गुण-ढंग होने चाहिए, जिनके बगैर घर का काम-काज नहीं चल सकता। हमें तो घर-गृहस्थी-लायक लड़की चाहिए—खूबसूरत लड़की लेकर क्या नचाना है?"

उन्होंने जिस बात से चाहा था कि मैं सुन्दर स्त्री मिलने की अभिलाषा छोड़ दूँ, उसी बात ने मुझे अपनी अभिलाषा में और भी दृढ़ बना दिया। मैं सोचने लगा—यदि जीवन एक संग्राम-क्षेत्र है तो क्या यह और भी आवश्यक नहीं कि मनुष्य जब यहाँ से लौटे तो थोड़ी देर के लिए एक ऐसी प्रतिमा के सामने खड़ा हो जाय जिसके क्षणिक स्पर्श से उसकी सारी थकावट दूर हो जाय। अथवा यह अधिक सुखप्रद होगा कि वह आकर एक ऐसी स्त्री के समक्ष खड़ा हो जिससे न उसे प्रेम हो और न जिसका दर्शन उसकी आँखों को प्रिय लगे। मुझे धुन थी कि सुन्दर स्त्री ही का प्रेम भी सुन्दर हो सकता है, कुरूपा का प्रेम भी कुरूप होगा। सौ बात की एक बात, मैं सुन्दर था, मैं सुन्दरी चाहता था। मुझे इस बात का पूरा विश्वास था कि सुन्दर स्त्री ही मुझे प्यार कर सकती है। कुरूपा स्त्री मुझे प्यार करने के स्थान पर मुझसे डाह करेगी। मेरा सौन्दर्य उसे असह्य होगा। मैं अपने विश्वास पर दृढ़ रहा।

पिताजी को मेरा लोहा मानना पड़ा। अब कोई मेरी शादी के लिए आता, तो कहते—'साहब, लड़के को जब तक लड़की पसन्द न हो, मैं शादी नहीं तै कर सकता। नयी रोशनी के लड़के ठहरे—मैं लाचार हूँ।' कइयों ने तो इसमें अपना अपमान समझा। कई इस बात पर राज़ी हुए कि दूल्हे के अलावा कोई और लड़की को देख ले; मगर मैं किसी दूसरी शर्त पर राजी न था। मुझे दूसरे पर विश्वास ही न था। जिन्दगी भर की बात थी साहब; इसमें तो अपनी आँखों तक को गड़ाकर देखने की आवश्यकता थी, मैं दूसरे पर कैसे भरोसा कर लेता?

होते-हवाते एक साहब आये, बड़े चलते पुर्ज़े, बड़े बातूनी। बात-बात पर फ़ारसी के अशार पढ़-पढ़कर हवाला देते। शादी की बात छिड़ी। पिताजी ने शर्त कह सुनायी। फ़ौरन् राज़ी हो गये, जैसे उन्हें पहले से ही मालूम था कि शर्त क्या होगी। सोचने तक को न रुके।

दूसरे दिन मैं उनके साथ लखनऊ चला। किसी को मेरे जाने की खबर न दी गयी। मैंने सोचा कि इस काम में औरों के कहने की क्या आवश्यकता। सम्भव है मेरे पसन्द लड़की न आयी तो दूसरे लोग भी उससे शादी करने में हिचकेंगे। सबेरे गाड़ी पहुँची। ताँगे से हज़रतगंज उनके मकान पर पहुँचा। स्नान इत्यादि करके बैठा। बाबू साहब ने मुझसे कह दिया था कि लड़की खाना परोसने आयेगी। मैं खाना खाते वक्त चश्मा नहीं लगाता—मेरी आँखें इतनी कमज़ोर नहीं हैं, पर आज मुझे सौन्दर्य देखना था, अपने जीवन का चिर-संगी पसन्द करना था। मैंने चश्मे को साफ़ करके आँखों पर चढ़ा लिया, कहीं आँखें धोखा न दे जायें। मेरे जी में पल-पल कौतूहल बढ़ रहा था।

मैं बैठा था। बिजली-सी सामने आयी, चमकी, और चली गयी, और मैंने अनेक प्रकार के व्यंजन अपने सामने रक्खे देखे। मैं आश्चर्य में पड़ा ही था कि पर्दा फिर खुला। इस बार मैंने उसे मुसकराते देखा। एक अजीब विजयिनी की-सी मुसकान थी। उसने कुछ कहा अवश्य; लेकिन मैं तो उसका बोलना देखने लगा—सुनना भूल गया। शायद उसने कहा—'खाइए, पिताजी आते हैं।' खड़ाउओं की आवाज़ के साथ पर्दा खुला और बाबू साहब आ गये। मैंने खाना आरम्भ किया। सोचता जाता था—जिसका सोना खरा है, उसे क्या भय, जो चाहे परख ले। तभी तो

इतनी जल्दी अपनी लड़की दिखाने को तैयार हो गये।···

जेहि पर जेहि कर सत्य सनेहू,
सो तेहि मिलत न कछु सन्देहू ! ···

बाबू साहब ने पूछा—'कहिए साहब···?' इसका पूरा अर्थ यह था कि कहिए साहब लड़की पसन्द है? मेरे मुँह में एक कौर था। मैंने मुसकरा दिया। मैंने समझा कि मैंने अपने मन का भाव व्यक्त कर दिया। वे भी समझ गये। मेरे साथ ही मेरे यहाँ आये और मेरा विवाह तय हो गया। तारीख़ बँध गयी।

मैं अक्सर सोचता—वह सुन्दर है, बड़ी सुन्दर है। उसका मन सुन्दर होगा, उसका स्वभाव सुन्दर होगा, उसके विचार सुन्दर होंगे, उसका प्रेम सुन्दर होगा, उसके काम सुन्दर होंगे, मैं ईश्वर को धन्यवाद देता कि उसने मेरी एक विनय स्वीकार कर ली, मेरी एक इच्छा पूर्ण कर दी। जैसे-जैसे विवाह के दिन समीप आने लगे, वैसे-वैसे मेरी इच्छा इस सुन्दरता को छूने की होने लगी। कभी मैं सोचता—यहाँ उसमें इतनी चंचलता न रहेगी। यहाँ वह धीर-पूर होकर चले-फिरेगी। चंचलता भी तो सौन्दर्य का एक अंग है; पर इससे क्या, उड़ती तितली अच्छी लगती है, तो क्या बैठने पर उसके पर सुन्दर नहीं लगते ?

मेरा विवाह हो गया—वही पुराने रस्म-रिवाजों के अनुसार। वे मुझे एक भी पसन्द न थे; पर मैं एकदम उलट-पलट नहीं कर सकता था। एक बात कर डाली थी; सो भी चाहता था कि छिपी रहे; पर वह चारों ओर फैल गयी। सबों से न जाने किसने बता दिया कि मैंने लड़की को देखकर विवाह किया है। विवाह संस्कार में मैं कुछ भी आनन्द न ले रहा था। बस यह समझता था, कि इतने अड़ंगे मेरे और मेरी पत्नी के बीच में पड़े हैं—ये किसी तरह हटें, तो मैं उसके पास पहुँचूँ।

आख़िरकार एक समय आया जब मुझे सूचना दी गयी कि आज मेरी सुहाग-रात होगी, मेरे हर्ष की सीमा न रही। जो बिजली एक दिन मेरे सामने से चमक-कर निकल गयी थी उसे मैं आज बादल बनकर अपनी गोद में छिपा लूँगा ! समय आ गया, वही समय जिसकी प्रतीक्षा मैं बहुत दिनों से कर रहा था।

दरवाज़े पर भावजों ने काफ़ी तंग किया। ख़ैर, उनसे किसी तरह छुट्टी पाकर भीतर गया। वह एक डेढ़ हाथ का घूँघट निकालकर बैठी थी। मेरा जी धक-धक कर रहा था। किस तरह बातचीत शुरू की जाय ! मुझे मालूम था कि मुझे ही कुछ छेड़छाड़ शुरू करनी होगी। नहीं तो ये श्रीमतीजी यों ही रात-भर मूर्तिवत बैठी रहेंगी। मेरे पास बात शुरू करने को एक सामग्री थी। मुझे मालूम नहीं कि अगणित हिन्दू-पति-पत्नी किस प्रकार अपना प्रथम परिचय आरम्भ करते हैं। मैंने पूछा, 'प्रिये, तुम्हें उस दिन की बात याद है, जब तुमने मेरे लिए खाना लाकर रक्खा था ?'

मैंने समझा था कि अगर बोलेगी नहीं, तो कम-से-कम सिर तो हिला देगी, पर उसने कुछ भी न कहा, न किया। मैंने ज़रा घूँघट खोलने का प्रयत्न किया, पर असफल रहा। कसकर थामे हुए थी।

मैंने कहा—'अच्छा, मैं हार मान गया, अब तो ज़रा दर्शन दे दो।'

फिर भी कोई उत्तर न मिला। मैंने धीमे से उसका एक हाथ कपड़ों में से निकालकर अपने हाथ पर ले लिया। अनेक आभूषणों से सारा हाथ ढका था। तिस पर भी कहीं-कहीं त्वचा दिखलायी पड़ती थी। उसका रंग साँवला था। मुझे आश्चर्य हुआ। अरे, इसका गोरा-गोरा-सा हाथ साँवला कैसे हो गया ! जो मैंने ऊपर आँखें उठायीं, तो देखता क्या हूँ, कि वह अपने दूसरे हाथ को अपनी आँखों

पर रखकर सिसक-सिसककर रो रही है। मैं घबराकर पूछने लगा—'क्यों रोती हो ? क्या बात है ?' उसने काँपती हुई आवाज़ से कहा, 'मैं वह नहीं हूँ, जिसने आपको खाना परोसा था।' मैंने आश्चर्य से कहा, 'हैं ! हैं ! क्या कह रही हो ?' उसने सिसकते हुए कहा, 'मेरे पिता ने आपको धोखा दिया, एक दूसरे की सुन्दर कन्या को दिखाकर मुझसे आपका विवाह कर दिया।'

इन शब्दों के पश्चात उसने अपना मुँह अपने आप खोल दिया; यह दिखलाने के लिए नहीं कि वह कैसी है, वरन यह देखने के लिए कि उसकी बात का मेरे ऊपर क्या असर हुआ ? मुझे कितना क्रोध आया, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता; पर साथ ही इस बात का ध्यान आया कि अब किया क्या जा सकता है ? अटूट बन्धन तो मेरे गले छल से, कपट से, किसी तरह पड़ ही गया। मैं उसके मुँह खोलते ही उसकी ओर देखने लगा कि आखिर जो मेरे भाग्य में पड़ गयी है, वह कैसी है। उससे यह कितनी कम सुन्दर थी, इसे बताना असम्भव है। सुन्दरता कोई आलू-बैंगन तो है नहीं कि उसको तौल करके बता दूँ कि वह इतनी थी और यह इतनी। मन की हो तो इन्दिरा और बे-मन की हो तो मंथरा। सुन्दरता की तराज़ू में यही दो पलड़े हैं। केवल यही कह सकता हूँ कि यह वैसी न थी। मेरे दिल को बड़ा भारी धक्का लगा। मैंने होठों को दाँतों से दबाते हुए कहा —'इतना छल ! इतना कपट ! ! इतनी धोखेबाज़ी ! ! !' मैं कुछ देर तक चुप बैठा रहा। इतने में वह मुझसे बोली—'आप मुझ पर क्रुद्ध हैं ?' मैंने कहा, 'ज़रा भी नहीं।'

मैं अपने शब्दों में उतना ही सत्य हूँ जितना अपने भावों में, इस बात को प्रदर्शित करने के लिए मैंने उसका हाथ अपने हृदय से लगा लिया। इस बेचारी का क्या अपराध था ! इसने मेरे साथ कोई छल नहीं किया था। मैं इतना पशु नहीं था कि उस निरपराध बालिका के प्रति किसी प्रकार का भी मनोमालिन्य अपने मन में रखता। उसे दोषी ठहराने का विचार क्षणमात्र के लिए भी मेरे मन में न आया। वह ऐसे विनीत भावों से आँखों में आँसू भरे बैठी थी कि मुझे उस पर दया-सी आ गयी। मैंने उसका हाथ चूम लिया। उसने फिर पूछा—'क्या आप मेरे पिता पर क्रुद्ध हैं ?' मैंने कहा—'अवश्य।' उसने फिर पूछा, 'तो अब आप क्या कीजिएगा ?'

मैं कुछ कहनेवाला था पर रुका। मैं कोई ऐसा उत्तर न देना चाहता था जिससे उस बालिका का हृदय दुखे। मुझमें प्रत्युत्पन्नमति विशेष रूप से वर्तमान है। मेरे मुँह से निकल पड़ा—'जो तुम कहो।' वह बोली, 'आप उन पर क्रुद्ध न हों, और न कुछ करें, न उनसे कुछ कहें। उनका अपमान मेरे महान दुःख का कारण होगा। मेरी माता बचपन में ही मर गयी थी। उनमें मेरा मातृस्नेह भी संचित है। मेरी निर्बलता के कारण यह सब हुआ। मैं जानती थी कि आपसे छल किया जा रहा है। मैं यह सोचकर प्रायः घबरा उठती थी कि कौन मुँह लेकर मैं आपके सामने आऊँगी। मुझे देखते ही किसी व्यक्ति की चिर-संचित आशाओं पर पानी पड़ जायेगा। मैं सच कहती हूँ, कई बार इस बात को सोचकर मैं बेहोश हो गयी। एक दिन तो मैंने सोचा कि क्या ही अच्छा हो कि मैं विवाह से पूर्व ही मर जाऊँ। फाँसी तक लगाने को तैयार हुई, पर फिर यह सोचकर रुक गयी कि मेरी मृत्यु से आप तो यही समझेंगे कि आपकी आदर्श प्रतिमा स्वर्ग प्रयाण कर गयी। इसका आपके ऊपर कोई अनिष्टकारी प्रभाव न पड़े, इसी कारण मैंने जीवित रहने का कष्ट उठाया है; लेकिन अभी एक बात ऐसी हो सकती है जिससे इस कपट व्यवहार का पूर्ण रूप से परिशोध हो सकता है।' मैंने चट पूछा 'वह कौन-सी बात है ?' वह रुकती हुई आवाज़ से बोली, 'मुझे कहीं से विष ला दीजिए, मैं अपने मायके में

जाकर खा लूँगी और आप अपना दूसरा ब्याह कर लीजिएगा; पर इस बार अधिक सचेत रहिएगा—संसार बड़ा ठग है।'

मेरा हृदय काँप उठा। मैं सोचने लगा—मैं किसी स्त्री के पास बैठा हूँ कि किसी देवी के। मेरा दृष्टि-बिन्दु उसके कपोलों पर से हटकर उसके हृदय के अन्दर चला गया। वहाँ मुझे एक सुकुमार और सुकोमल हृदय के दर्शन हुए जिसमें सिवा आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान के कोई और भावना न थी। मैं सोचने लगा—इसका हृदय कितना विशाल है कि अपने विशुद्ध बलिदान से अपने पिता के मान और मेरे अरमान की रक्षा करना चाहती है। मुझे ज्ञात नहीं कि कितनी देर तक मैं इन विचारों में पड़ा रहा। एकाएक जो फिर उसके मुख पर दृष्टि गयी, तो जो मुख पहले असुन्दर मालूम पड़ा था, उस पर ऐसी अनोखी आभा थी कि उस पर सैकड़ों सुन्दरियों को निछावर करने का जी चाहता था।

मैं एकदम से चौंक पड़ा। अरे, मैं उसकी बात पर चुप रह गया। इस चुप का उसने क्या अर्थ समझा होगा? यही न, कि मैं उसके प्रस्तावनानुसार उसे विष ला देने को तैयार हूँ; या इस विचार में पड़ गया कि किस प्रकार यह कार्य सम्पादन किया जाय। अरे, मैंने चुप होकर बड़ी ही नीचता प्रकट की। इस चुप का मतलब और क्या निकल सकता था। अल खामोशी नीम रजा। मैं अपने विचारों में लीन था कि वह बोल उठी—'मरते समय ईश्वर से यही एक विनय करूँगी कि आपको एक बड़ी सुन्दर...।' मैं अब अपने को रोक न सका। बात काटकर बोल उठा, 'प्रिये! अब तो तुम्हीं मुझे सुन्दर लगती हो।'

विवाह में हमारे यहाँ जल्द ही विदा की रस्म है। बुलावा आया। मैंने न भेजा, अब कभी न भेजूँगा। मैं अपनी ससुराल अब तक नहीं गया और न जाऊँगा। मेरे ससुरजी को अपने कपट-व्यवहार पर इतनी शर्म लगी कि वह मेरे यहाँ नहीं आये। उनका ख़्याल है कि मेरे यहाँ उनकी कन्या को बड़ा कष्ट दिया जाता है। उनके किये हुए कपट-व्यवहार की कम-से-कम यही सज़ा सही।

पर पाठक कहेंगे कि यह अच्छा अपनी ससुराल का ज़िक्र छेड़कर चलते बने—कहाँ गयी आपकी वह फ़िलासफ़ी जिसमें वाह्य सौन्दर्य ही जीवन में प्रथम और अन्तिम शब्द था? पर मैं तो अब भी कहता हूँ, कि मेरी फ़िलासफ़ी का एक-एक शब्द सत्य है और सदा रहेगा। उसमें कहाँ अन्तर आया? सौन्दर्य को देखने की आँखें भी दो प्रकार की होती हैं—एक चेहरे के ऊपर और एक हृदय के भीतर। उस फ़िलासफ़ी में अब सिर्फ़ इतना ही और जोड़ना चाहता हूँ कि कदाचित 'हृदय की आँखें' ऊपरी आँखों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होती हैं।

धर्म-परीक्षा

एक छोटे से घर में एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी रहते थे। ब्राह्मण का नाम रामदास था। वह जाति से तो ब्राह्मण था, पर कर्म से ब्राह्मण न था। फिर भी स्वभाव में ब्राह्मणत्व के कुछ संस्कार तो प्रविष्ट ही थे। पढ़ा-लिखा तो उसने कुछ ऐसा न था पर साथ-संगत से कुछ शास्त्र-पुराण की बातें सुन रक्खी थीं और यथासम्भव वह उन्हें जीवन में प्रयुक्त करने की अभिलाषा भी रखता था। वह एक दफ़्तर में दर्बान का काम करता था, दस रुपये पाता था। ब्राह्मणी को अपने पुराने यजमानों के

यहाँ से सीधे इत्यादि मिल जाया करते थे। इसी में निर्वाह होता था। ब्राह्मण के दो-एक बाल-बच्चे भी थे।

ऐसा छोटा वेतन पानेवाले लोग प्रायः प्रतिदिन अपनी खाने-पीने की सामग्री मोल लेते हैं पर ब्राह्मण का अनुभव था कि इकट्ठा सामान खरीदने में किफ़ायत होती है, रोज़-रोज़ के लेने में बरकत नहीं होती और अन्त में चलकर खर्च अधिक ही बैठ जाता है। इसलिए वह महीने-भर का सामान घर में लाकर रख देता था।

महीना समाप्त हो गया था। ब्राह्मण को वेतन मिल चुका था। घर का अनाज-पानी दो-एक दिन पहले ही समाप्त हो चुका था। ब्राह्मण जब दफ़्तर से लौटा तब ब्राह्मणी से कहने लगा, 'आज अनाज लेने जाऊँगा। क्या-क्या मँगाना है, बता दो।' ब्राह्मणी ने सब चीज़ें बता दीं --इतना गेहूँ, इतना चना, इतनी दाल, इतना नमक इत्यादि-इत्यादि। ब्राह्मण बड़े यत्न से नोट को फेंट में बाँधकर बाज़ार चलने को हुआ। दरवाज़े तक वह गया होगा कि फिर लौट आया। बोला —'मुल्लू की माँ, पैसे भर आटा हो तो दे दो, रास्ते में चींटियों की बिलों पर भुरकाता जाऊँ।'

ब्राह्मणी ने आँखें ऊपर उठाकर उसे देखा और चुप रही। ब्राह्मण फिर बोला, 'जा मटकियों को झार-झूर, मिल जायगा, पैसे भर ही तो चाहिए।'

ब्राह्मणी अब तो कुछ क्रोधित होकर बोली, 'आँख में अंजन करने-भर को तो आटा है नहीं, इन्हें चींटियों के लिए आटा चाहिए। जाओ जब गेहूँ आयेगा और पीसकर रख दूँगी तब सेर-दो सेर जितना चाहना जाके चींटियों की बिलों पर उँडेल आना।'

ब्राह्मण चुपचाप बाहर आया, बाज़ार की ओर चला। रास्ते में उसके एक-आध साथी मिले। किसी से वह पूछता, 'गेहूँ का आजकल क्या भाव है?' किसी से पूछता, 'जौ आजकल कै सेर का है?' वह मन में अपने रुपये का हिसाब-किताब बैठाता चला जाता था। ऐसी खरीद करने का विचार कर रहा था कि दस रुपये के अन्दर ही सब चीज़ें मिल जायें और कुछ बच भी रहे।

× × ×

सड़क के एक किनारे पर कई लोग जमा थे, ज़्यादातर मुसलमान लोग थे। ब्राह्मण ने देखा कि असाधारण जमाव है। स्वाभाविक ही उसके जी में आया कि देखना चाहिए क्या बात है। फिर उसने मन में सोचा —होगा कुछ, मुझसे क्या मतलब, अभी बाज़ार जाना है, सौदा-सुलुफ़ लेना है, देर ही हो रही है।

भीड़ से एक शब्द निकला 'ब्याँ...' ब्राह्मण ने उसे सुना। किसी गाय की आवाज़ थी। उसने अपने मन में कहा कि एक गाय के चारों तरफ़ इतने आदमी क्यों इकट्ठे हैं? और फिर ये ज़्यादातर मियाँ लोग ही? उसने सोचा ज़रा चल-कर देखना चाहिए। भीड़ कुछ ऐसी न थी कि ब्राह्मण को अन्दर जाने में कुछ कष्ट उठाना पड़ता। उसका शरीर दुबला-पतला पर दृढ़ था पर उसने एकाएक धँसना उचित न समझा। बाहर की ओर जो आदमी खड़े थे उन्हीं में से एक को अपनी ओर सम्बोधित करके उसने कहा—

"भैया, क्या बात है?"

"गाय है।"

"गाय कैसी?"

"आओ देख न लो, डँगरी-सी है। एक अहीर बेच रहा है।"

दो-एक लोग पास से इधर-उधर खिसक गये। गाय और गाय का बेचने-वाला—दोनों ब्राह्मण के सामने हो गये। एक दुबली-पतली गाय थी। उसके गले

में एक लम्बी रस्सी बँधी थी। उस रस्सी का एक छोर अपने हाथ में लिये एक मोटा काले रंग का आदमी खड़ा था। वह अहीर था, सिर पर जोगिया रंग का बड़ा-सा पग्गड़ बाँधे था। कानों में सोने की मोटी-मोटी लुरकियाँ डाले था। कई अशर्फ़ियाँ एक सुनहरे कलावत्तू में गुँथी हुई उसके गले में उसकी मोटी गर्दन से खूब सटी हुई पड़ी थीं। उसके हाथ में एक बढ़िया सामी लगी हुई लाठी भी थी। पैर में जूता कैसा था यह भीड़ में दिखलायी न पड़ता था। अहीर लाठी टेककर, शान से खड़ा था।

एक मियाँजी उससे बोले, "क्या अपनी ही बात पर रहोगे, मुँह की माँगी तो मौत भी नहीं मिलती।"

अहीर बोला, "सोलह रुपये से कौड़ी कम की नहीं होगी, मर्ज़ी हो लीजिए, मर्ज़ी हो न लीजिए। मुझे बहुत-सी झक-झक नहीं पसन्द है।"

ब्राह्मण चुपचाप कुछ सोचता हुआ खड़ा रहा। समझ गया क्या बात है। अहीर है, उसने गाय रक्खी, जितने दिनों तक गाय जवान थी, दूध देती थी, उतने दिन उसने उसका दूध दुह-दुहकर बेचा और लाभ उठाया; पर अब दूध देने योग्य नहीं रह गयी, बूढ़ी हो गयी तो उसे क़साई के हाथ बेचने जा रहा है। उसने सोचा कि कुछ कहें। फिर उसने सोचा मेरे कहने से मान तो लेगा नहीं, चलो अपना काम देखें। दुनिया में तो यह लगा ही रहता है—

सुर नर मुनि की याहि रीती।
स्वारथ लाय करें सब प्रीती॥

फिर यह तो अहीर ठहरा, अहीर, गड़रिया क्या जानें दया और क्या जानें धर्म। ये तो जन्म-भर बेईमानी की रोटी खाते हैं। ब्राह्मण चलने ही को था कि इतने ही में गाय ने अपनी गर्दन ब्राह्मण की ओर बढ़ा दी, जैसे गला सहलाने को कह रही हो। अपने आप ही ब्राह्मण का हाथ गाय की गर्दन पर चला गया; वह सहलाने लगा, गाय गर्दन ऊँची करती गयी। फिर गाय ने गर्दन नीची की, ब्राह्मण ने उसके मस्तक को सहला दिया। फिर उसने अपना सिर ब्राह्मण के पैर के पास कर दिया। गाय के इन स्वभावजन्य हरकतों का ब्राह्मण और ही कुछ अर्थ निकाल रहा था। उसका हृदय गाय के प्रति प्रेम से भर गया। जहाँ पहले उसने यह सोचा था कि चुपचाप चले जायँ वहाँ अब उसने यह विचार किया कि मुझे अहीर से गाय न बेचने के लिए कुछ न कुछ अवश्य कहना चाहिए, माने न माने उसकी इच्छा। वह बोला—

"अहिर राम, इस गाय को क्यों बेचते हो?"

ब्राह्मण माथे पर चन्दन लगाये हुए था। गले में तुलसी की कण्ठी भी दिखलायी पड़ती थी। सूरत से ही पता लगता था कि यह कोई ब्राह्मण है। अहीर बोला—

"हाँ महाराज, बेचते तो हैं तुमसे मतलब?"

"मतलब क्या है, गऊ है, क्यों कसाई के हाथ बेचते हो? जहाँ तुम्हारे यहाँ बीस-पचीस गायें-भैंसें खाती-पीती होंगी वहाँ एक यह भी रहेगी। कौन बड़ी जमा खायेगी?"

"अरे महाराज! चलो, बातें करने आये हो, ऐसे करता होता तो आज मेरे घर पचासों ऐसी बेकार गायें रह जातीं। जो न जानता हो उससे कहो। दान-दक्षिणा में पायी हुई न जाने कितनी गायें चोरी-छिपा कसाइयों के हाथ बेच आते हो, और हमें चले हो उपदेश देने। पर उपदेश कुशल बहुतेरे।"

अहीर अपनी बात ख़तम करके ज़रा मुसकराया। उसके चेहरे से ऐसा मालूम होता था कि मानो उसकी विजय हो गयी, ब्राह्मण निरुत्तर हो गया था। वह मारे शर्म के कट-सा गया। अपनी दृष्टि नीचे किये हुए गाय की गर्दन सहलाता खड़ा रहा।

× × ×

दो-तीन मुसलमान एक कोने में खड़े होकर बातें करने लगे।

"अमें, सोलह रुपये माँगता है, बहुत है, डँगरी-सी तो है।"

"तुम कितना देते हो ईदू ?"

"भाई हम तो बारह देते हैं—और क्या चाहिए ?"

"नहीं देता तो दो रुपये और बढ़ा दो।"

ब्राह्मण ने मुसलमान ख़रीदारों की बात सुनी। अहीर सोलह रुपये माँगता है। ये लोग चौदह देने को आ गये हैं। अब दो रुपये की ही बात है। गाय इन कसाइयों के हाथों में जाने के क़रीब है। ब्राह्मण कुछ घबराया—आह, ईश्वर ने उसे इतना ग़रीब क्यों बनाया। उसने सोचा, क्या गऊ माता की जान इन क़साइयों के हाथों में ही जानी बदी है ? क्या अहीर इनके हाथों गाय बेचने से किसी प्रकार न रुकेगा ? उसने अपने मन में कहा, सोचने-सोचने से काम न चलेगा। अभी-अभी गाय बिक जायेगी, और फिर कुछ करते-धरते न बनेगा। दो-एक हिन्दुओं से कहूँ, वे ही ख़रीद लें तो एक गाय की जान बच जाये। उसने इधर-उधर देखा। कई एक हिन्दू खड़े थे। उनसे बढ़कर सब बातें उसने कहीं। पर कोई गाय लेने को तैयार नहीं हुआ। ब्राह्मण को क्रोध-सा आ गया। वह पास के आदमियों से कहने लगा—पहले धीमे-धीमे और फिर जोश के साथ—'देखो इतने हिन्दू हैं, एक गाय की जान नहीं बचा सकते ! कहलाते हैं राम-कृष्ण के भक्त और कृष्ण ने जिन गौओं को बन-बन चराया उनकी रक्षा नहीं कर सकते। कैसा कलियुग छाया है ! कैसी दुनिया मतलब की हो गयी है। जब तक छाती फाड़-फाड़कर दूध पिलाये तब तक तो गऊ माता है और वही माता जब बूढ़ी हो जाती है तब क़साई के हाथ सौंप देते हैं, धिक्कार है ऐसे हिन्दुओं को। मुसलमान गायें नहीं काटते, हिन्दू लोग कटवाते हैं। तभी तो दूध-दही स्वप्न हुआ जाता है, खेती-बारी में आग लगी जाती है। जान लो हिन्दुओ ! इन गूँगी गौओं का श्राप तुम्हें बर्बाद किये देता है। कोई तो राम-कृष्ण का भक्त ऐसा निकलता जो कह देता कि—'मैं गाय लेकर उसके प्राण बचाऊँगा'।"

ब्राह्मण ने समझा था कि उसकी बातों से किसी का दिल तो पसीजेगा पर बाजार में वह भी एक तमाशा बन गया। एक आदमी दूर पर खड़ा था, हँसकर बोला—

"पण्डितजी महाराज, आप ही क्यों नहीं गऊ माता का प्राण बचा लेते ?"

ब्राह्मण बोला, "शोक है कि मेरी औकात ऐसी नहीं है।"

वही आदमी और ज़ोर से बोला, "बस आ गया न म्याऊँ का ठौर। बड़ी-बड़ी बात तो सब चूहे कर लेंगे, पर बोलो म्याऊँ कौन पकड़ेगा ? जब गाँठ से पैसा निकालने का प्रश्न आता है तब सब दुम दबाते हैं। जैसे आप समझते हैं कि आपकी औकात नहीं है वैसे और लोग समझते हैं कि उनकी भी औकात नहीं है।"

ब्राह्मण फिर चुप हो गया। कुछ देर खड़ा रहा। फिर भीड़ से एक शब्द हुआ 'म्याँ···'। ब्राह्मण ने यह आवाज़ सुनी। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो गाय ने उसी को बुलाया है। वह गाय के पास चला गया। फिर गाय ने ब्राह्मण की ओर गर्दन बढ़ायी। सम्भवतः पशु-पक्षी दयालु हृदय को मनुष्यों से कहीं जल्दी पहचान लेते हैं।

वह उसका गला सहलाने लगा। गाय ने गर्दन ऊँची उठायी। ब्राह्मण ने उसका मुँह चूम लिया।

अहीर सोलह से उतरकर पन्द्रह रुपये पर आ गया था। क़साई चौदह रुपये दे रहे थे। केवल एक रुपये का अन्तर था। इस एक रुपये का अन्तर ब्राह्मण को क़साई की छुरी और गाय की गर्दन का अन्तर जान पड़ा। उसकी आँख से आँसू निकल पड़े। उसने उन्हें इतनी जल्दी से पोंछ डाला मानो उन्हें किसी ने देखा ही नहीं। सोचने लगा, अब जल्द ही गाय क़साइयों के हाथ में चली जायगी। एक ब्राह्मण के सामने एक गाय की हत्या होगी! हाय मेरी आँखों के सामने क़साई इसको लेकर अपने घर की ओर घसीटेंगे...।

ब्राह्मण एकाएक चिल्ला पड़ा, "लो मैं गाय 15) में ख़रीदता हूँ — लो यह दस रुपये का नोट। बाक़ी साथ चलो घर पर देता हूँ।"

अहीर ने महान आश्चर्य भरी आँखों से ब्राह्मण को देखा। ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा का अंकुर उसके हृदय में प्रस्फुटित हो पड़ा। समझ गया कि हाँ, यह कोई आदमी है। इसके हृदय में दया है और इसे धर्म का ध्यान है। जब अहीर इन विचारों में मग्न था ब्राह्मण नोट निकालने में लगा था। ग़रीब अपना धन बड़े यत्न से रखता है। ब्राह्मण ने अपनी फेंट खोली, कई परतें अलग कीं, तब जाकर एक काग़ज़ में लपेटा हुआ नोट निकला। ब्राह्मण के हाथों से नोट लेते हुए अहीर कुछ हिचका। नोट लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए उसने उसमें एक विशेष प्रकार के कम्पन का अनुभव किया। अहीर के हृदय में कोई कहने लगा, 'आज तूने एक बड़े दीन का धन अपहरण किया है।'

एक के बाद दूसरे लोग 'वाह महाराज', 'वाह महाराज' कहकर अपनी-अपनी ओर चल दिये। जब ब्राह्मण गाय को लेकर चला तब दो-एक लोगों ने ताना भी मारा, 'अभी ताव में आकर ख़रीद लिया है, जब बैठालकर खिलावेंगे तब मज़ा मालूम पड़ेगा; तबली खिसक जायगी।' ब्राह्मण चुपचाप चल पड़ा। अहीर भी साथ हो लिया।

× × ×

जाते समय ब्राह्मण के चेहरे पर जो भाव थे उनका निदर्शन करना कठिन है; चिन्ता और सन्तोष का एक अनुपम मिश्रण था। वह सोचने लगा, 'हाँ, मैंने ताव में आकर गाय ख़रीद ली; फ़िज़ूल ख़रीदी। क्या मेरे एक गाय ख़रीद लेने से तमाम गायों की जान बच जायगी? एक गाय की जान बचाने से ही क्या बड़ा मतलब निकलेगा। घर पर एक फूटा दाना भी नहीं है; महीने भर का काम कैसे चलेगा? गाय को तो खिलाने के लिए चाहिए, वह कहाँ से आयेगा? और अभी तो पाँच रुपये देने बाक़ी हैं, ये कहाँ से दूँगा? ब्राह्मणी के पास रुपये कहाँ से होंगे। यह सब बातें मुझे पहले ही सोचनी थीं। अब भी क्या अहीर को गाय नहीं लौटा सकता? जहाँ उसका जी चाहेगा जाकर बेच लेगा। मैंने सोचकर काम नहीं किया। चाहता था कि मुँह खोले पर फिर कुछ सोचकर वह चुप हो गया।

फिर उसने विचारा, 'नहीं - मैंने ठीक किया। दस आदमी के सामने ख़रीदने की बात कह दी, अब उसको कैसे पलटूँ? ब्राह्मणी के पैर में फूल के कड़े हैं, उसे गिरो रखकर शेष दाम दे दूँगा पर ब्राह्मणी ने मेरी बात न मानी तो? मुझे उधार कौन देगा? मुझ पर ब्राह्मणी क्रोधित तो बहुत होगी, पर मुझे धर्म संकट में देखकर मेरी बात जरूर मानेगी। मेरा कोई अपराध नहीं है। मैंने गाय नहीं ख़रीदी। मुझे ईश्वर ने इसे ख़रीदने के लिए बाध्य कर दिया। भगवान्! जब मुझमें दीन-सहायक बनने की सामर्थ्य नहीं थी तो मेरे हृदय में दीनों के प्रति दया क्यों दी? इतने बड़े-बड़े

महाजन थे; किसी और ने गाय क्यों न ले ली। उनके ले लेने से मुझे उतना ही सन्तोष होता जितना स्वयं उसका प्राण बचाकर हो रहा है। गाय पर मुझे दया आ गयी। 'तुलसी दया न छाँड़िए जब लग घट में प्राण।' पर मैंने अपने बाल-बच्चों की कुछ फ़िक्र न की। वे अब भूखों मरेंगे। क्या मनुष्यों की जान बचाने की चिन्ता करना पशु की जान बचाने से अधिक उचित न था? अरे! राम राम! राधेश्याम! मैं 'पशु' कह गया! गाय तो माता है! गाय तो देवता है! देवता के लिए मनुष्यों की जान जाये तो कोई हर्ज नहीं; ख़ैर जो हो गया सो हो गया। राम को इस गाय की जान बचानी मंजूर थी, तब तो मैं वहाँ कूद पड़ा; नहीं तो भीड़ के पास मेरे जाने की आवश्यकता ही क्या थी? पर अपनी आँखों के सामने गाय की हत्या कैसे देखता, मैंने अपना धर्म पालन किया। संकट आयेगा तो आये—

सिवि, दधीच, हरिचन्द नरेसा,
धर्म हेत सब सहे कलेसा।'

× × ×

इसी प्रकार सोचते-विचारते ब्राह्मण चला आ रहा था। अहीर पीछे-पीछे आ रहा था। वह भी कुछ गम्भीर विचारों में निमग्न था। ब्राह्मण को वह बार-बार सिर से पैर तक देख जाता था। रास्ते भर ब्राह्मण और अहीर में एक भी बात न हुई।

ब्राह्मणी ने घर की सफ़ाई कर रक्खी थी। सब बर्तन-भाँड़े साफ़ कर रक्खे थे। पहले से सोच रक्खा था कि किसमें दाल रक्खूँगी, किसमें जौ रक्खूँगी, किसमें गेहूँ रक्खूँगी। अनाज बनाने के सामान सूप-चलनी इत्यादि भी मुहल्ले से माँग लायी थी। घर का दरवाज़ा बन्द था। ब्राह्मण ने गाय को अहीर के पास छोड़ दिया और दरवाज़ा खुलवाकर भीतर गया। उसने भीतर पैर रक्खा ही था कि ब्राह्मणी ने दरवाज़े की तरफ़ देखकर कहा—

"और अनाज?"

"अनाज तो नहीं आ सका।"

"क्यों? क्या खाया जायगा? आज चार दिन से अनाज चुका है, कहीं सतुआ, कहीं चबेना खाना पड़ता है। बच्चे बिलबिलाते हैं।"

"शायद कल से वह भी नसीब न हो।"

"क्यों?—रुपये क्या हुए?"

"धर्म में लग गये।"

"साफ़-साफ़ बताओ, क्या बात है?"

"बात यों है कि बाज़ार में एक अहीर एक बूढ़ी गाय क़साइयों के हाथ बेच रहा था। मुझसे यह न देखा गया, मैंने उस गाय को ख़रीद लिया। दस रुपये जो पास थे वह तो दे दिये। पन्द्रह की है। पाँच रुपये पान हों तो···"

रामदास अपनी बात भी पूरी न कर पाये थे कि ब्राह्मणी क्रोध से बोल उठी—

"अरे! तुम पागल हो गये हो! बड़ा धर्म सूझा है। आदमी अपने घर में चिराग़ जलाकर तब मस्जिद में चिराग़ जलाने जाता है। पहले आत्मा तब परमात्मा, ख़ूब चले धर्म करने। ख़ुद तो दाने-दाने को तरसते हैं और चले हैं गऊ-रक्षक बनने। कुछ अपने लिए सोचा? कुछ इन बे-मुँह के बच्चों के लिए सोचा? अरे! गाय क्या पत्थर की है? उसे क्या खिलाओगे? किसने तुम्हें यह सुझाया था; या हमें भूँजने के लिए यह सब बातें बनाते हो···!" रामदास चुपचाप खड़ा रहा। ब्राह्मणी के मुँह से जो कुछ भी उचित-अनुचित निकला, कहती चली गयी। उसकी बातें क्रोध और

आर्तता से भरी थीं। ब्राह्मण फिर बोला—

"अहीर दरवाज़े पर खड़ा है। कहीं से रुपये का प्रबन्ध कर..."

ब्राह्मणी फिर तीक्ष्ण स्वर में बोली—

"हाँ, मैं कमाई करती हूँ न कि मेरे पास रुपये हैं। चलो देखूँ किसने तुम्हें बौरहा समझकर लूट लिया। अरे भगवान् किसने तुम्हारी मत मार दी। आओ तो बाहर।"

इन शब्दों के साथ कालिका के समान वह उठी। तेज़ी से दरवाज़ों को खोला। उनके दीवार में ज़ोर से लगने से सारा घर गूँज उठा। ब्राह्मण उसके पीछे चुपके-चुपके बाहर आया।

पर दरवाज़े पर क्या था? गाय के गले की रस्सी बाहर के टट्टर में बँधी थी। गाय एक अनाथ के समान खड़ी थी। अहीर का कहीं पता न था।

अहीर कहाँ गया? वह कुछ देर तो ब्राह्मण दम्पति की बातें सुनता रहा। जब उसे सारा रहस्य मालूम हुआ तो उसका हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। उसने सोचा, मेरे तृणवत् स्वार्थ के कारण एक ब्राह्मण-परिवार धर्म की बलि-वेदी पर चढ़ जायगा। उस पन्द्रह रुपये से कौन मेरे धन में बढ़ती हो जायेगी? उनके लिए तो यह पन्द्रह रुपया उनके जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित करता है। यदि मेरे कारण इतना बड़ा धर्मात्मा संकटापन्न है तो मैं बड़ा पापी हूँ। उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसके पैर काँप रहे हैं। उसने सोचा, क्या मैं इतना बड़ा पापी हूँ कि मुझसे पृथ्वी दबी जा रही है। वह क्षण भर भी खड़ा न रह सका। वह भगा—

ब्राह्मणी किसी को वहाँ न देखकर बोली—

"यहाँ तो कोई नहीं है। कोई ठग था ठग। तुम्हें लूट ले गया। उसने सोचा होगा भागे भूत की लँगोटी ही सही। मरकुटही गाय के दस ही सही। तुम्हें चाहिए कि जाके थाने में रपट लिखा दो।"

ब्राह्मण ने कहा, "अहीर हमारे साथ आया था। मैंने अपनी आँखों से देखा था कि बाज़ार में उसे चौदह रुपये मिल रहे थे। कहीं चला गया होगा, फिर लौटकर आयेगा, दाम ले जायेगा।"

"जब दाम होगा तब तो ले जायेगा। मैं यह कहती हूँ कि तुम्हें घर-बार का ध्यान कुछ भी न रह गया। तुम कैसे हो गये थे उस समय? आज भाँग तो नहीं पी ली थी?"

ब्राह्मण की आँखों में आँसू भर आये, बोला, "ब्राह्मणी, ईश्वर को साक्षी देकर कहता हूँ कि उस समय मुझे किसी बात का भी ध्यान नहीं था। शास्त्रों में कहा है कि गौ, ब्राह्मण और स्त्री की पुकार को कभी अनसुनी न करना चाहिए। मैंने गाय की पुकार सुनी। मैं उसे अनसुनी न कर सका। हाँ ब्राह्मणी! उस समय मैं नशे में था। मुझे करुणा की वारुणी ने बेसुध कर दिया था। इस गाय के आँसुओं को मैं नहीं देख सकता था। मैंने इसे अपनी शरण दी।"

"अपना ही ठिकाना नहीं—चले औरों को शरण देने—धन्य हो शरणदाता।"

ब्राह्मणी ब्राह्मण की बात न समझ सकी। उसने यही समझा कि उसके पति ने मूर्खता की। वह रात को बड़ी देर तक ब्राह्मण को बुरा-भला कहती रही। सारा परिवार भूखा ही सो रहा। रात को बच्चे भूख के मारे रो-रो पड़ते। गाय दरवाज़े पर बँधी थी। उसके चोरी जाने का भय न था।

× × ×

रात ही को सारा क़िस्सा मुहल्ले भर में फैल गया था। मुहल्लेवाले सभी रामदास के काम को बुरा ही बतलाते थे। उससे किसी ने भी सहानुभूति न दिखलायी।

एक-आध मसख़रों ने कहा, 'इन्हें पागलख़ाने भेजो।'

सुबह हुई। रामदास भगवान का नाम लेकर उठा। उठकर सीधा गाय के पास पहुँचा; उसने अपनी गर्दन उसकी ओर बढ़ा दी। उसने उसका मतलब समझ लिया और गला सहलाने को अपना हाथ आगे बढ़ाया। उसके हाथ में गाय के गले में बँधी हुई कुछ भारी-सी चीज़ लगी। हैं! यह क्या? उसने ग़ौर करके देखा; अभी उजाला भली प्रकार नहीं हुआ था। एक पोटली गाय की गर्दन से लटक रही थी। उसने बड़ी उत्सुकता से पोटली खोली। पोटली में बीस रुपये रक्खे थे, एक छोटा-सा पुर्जा भी था। उसने पुर्जे को खोला। उस पर बड़े अक्षरों में लिखा था --

"ब्राह्मण तुम धन्य हो। 10) अपना ले लो। गाय तुम्हें दान। 10) प्रतिमास गाय के चारे के लिए, जब तक यह जीवित रहेगी, तुम्हें उसके गले में बँधा हुआ मिलेगा। मेरे जीवन में तुमने बड़ा भारी परिवर्तन कर दिया — धन्यवाद -- चरणों में प्रणाम।"

पाठक जान गये होंगे कि रुपये का भेजनेवाला कौन था। ब्राह्मण ने भी यही अनुमान किया कि अवश्य ही अहीर यह रुपया बाँध गया है। उसने अहीर को बहुत खोजा पर उसका फिर वह पता न पा सका। तब से हर मास के प्रथम सप्ताह में 10) गाय के गले में बँधे हुए मिलते हैं। लोग बड़ी ताक में रहते हैं कि देखें रुपये कौन और कब बाँध जाता है पर कोई अब तक नहीं देख पाया। मुहल्ले के बूढ़े-बूढ़ियों का कहना है कि "वही माखन-मिश्री का खवैया, गउओं का चरैया, कृष्ण कन्हैया, यह रुपये बाँध जाता है। उसी ने ग्वाले का वेश धारण करके रामदास की 'धर्म-परीक्षा' ली थी।"

खिलौनेवाला

मैं अपने कमरे में बैठा अखबार पढ़ रहा था, मेरे कानों में आवाज़ आयी—

'फटा पुराना गूदड़-ऊदड़ होय बेचो...'

स्वर में संगीत था। मैंने अख़बार अपने पैरों पर रख दिया। फिर बोले तो उसका स्वर और ध्यान से सुनूँ, इसलिए मैंने अपना कान लगाया।

'फटा-पुराना गूदड़-ऊदड़ होय बेचो...'

यह तो उसी का स्वर था, उसी की लय थी। मैं अख़बार टेबिल पर रखकर बाहर की ओर दौड़ा। वह मेरे मकान के सामने आ गया था। अरे, यह तो वही था, इतना परिवर्तन! मैंने अपनी उँगली उठाकर उसे अपनी ओर सम्बोधित किया। उसने मेरी ओर देखा, बोला—

'क्या है बाबूजी?'

'यह क्या!'

'अब यही करता हूँ बाबूजी।'

'और खिलौने बनाना?'

'वह तो मैंने छोड़ दिया।'

'अरे तू तो बड़े अच्छे खिलौने बनाता था।'

'सब छोड़ दिया बाबूजी।'

'आखिर क्यों?'

'क्यों क्या बताऊँ बाबूजी; इसकी तो एक पूरी कहानी है बाबूजी।

'कहानी है ?'

'हाँ बाबूजी।'

मैंने सोचा, बड़े-बड़े कलाकारों की कहानियाँ पढ़ी हैं, आज इसकी भी तो कहानी सुनूँ। मैं बोल उठा —

'तो ज़रा मैं भी तो सुनूँ तुम्हारी कहानी।'

'क्या करोगे सुनके बाबूजी, घर में कुछ फटा-पुराना···'

खिलौनेवाला बात का रुख़ बदलना चाहता था, पर मैंने बीच ही में बात काटकर कहा—

'नहीं, नहीं, ज़रा हमें भी तो सुनाओ अपनी कहानी।'

'फिर कभी सुन लेना बाबूजी।'

'फिर कभी कब ?'

'अब तो रोज़ ही इस तरफ़ आऊँगा, सुन लेना किसी दिन बाबूजी।'

इतना कहकर वह चल दिया।

यह एक खिलौना बेचनेवाला था। हरे, पीले, लाल काग़ज़ों के खिलौने बना-बनाकर बेचा करता था। जहाँ यह मुहल्ले के अन्दर घुसता बीसों लड़के इसके पीछे-पीछे हो जाते। यह एक डुगडुगी बजा-बजाकर गाते हुए अपने खिलौनों को इधर-उधर बेचता फिरता था। एक लम्बा-सा बाँस रखता था और उसी में अपनी काग़ज की चिड़ियाँ, बन्दर, घुनघुने, फूल आदि खोंस रखता था।

गर्मी के दिन आये। मैं सपरिवार पहाड़ चला गया। वहाँ से दो-तीन दिन हुए लौटा तो फिर वह दिखलायी पड़ा। उसके स्वर में खिलौनों को बेचते समय जो ध्वनि रहा करती थी वह अब भी मौजूद थी। इसी से उसे मैंने पहचान लिया था। जहाँ उसके कन्धे पर एक रंग-बिरंगा खिलौनों का बाँस रहा करता था, वहाँ आज एक मैले-फटे कपड़े की गठरी थी। जहाँ उसके हाथ में बच्चों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए डुगडुगी रहती थी, वहाँ आज लोहे की तराज़ू थी। खिलौने बेचते समय उसका चेहरा प्रसन्न रहा करता था, आज उसके चेहरे पर उदासी थी। मैं सोचने लगा, इसने क्यों अपना पुराना पेशा छोड़ दिया जिसमें वह अधिक होशियार था, जिसमें इसकी अधिक आय थी और जिसमें इसे अधिक सुख था। कहाँ वह सरस उद्यम और कहाँ यह रूखा पेशा। मैंने बहुत सोचा कि आखिर एक को छोड़कर दूसरे को अख़्तियार करने का क्या कारण हो सकता है, पर कुछ निश्चय न कर सका। जब कुछ समझ में न आता तो उसका एक वाक्य दुहराता, 'इसकी तो एक पूरी कहानी है।' मैं भूल न सका कि एक दिन आकर उसने अपनी कहानी सुनाने का वादा किया है। मैं दिन-प्रतिदिन उसकी प्रतीक्षा में रहने लगा।

एक दिन सहसा कानों में आवाज़ आयी।

'फटा पुराना गूदड़-ऊदड़ होय बेचो···'

मैं उत्सुकता से बाहर निकल आया। मुझे देखते ही उसने सलाम किया। शायद मैंने उसके सलाम का जवाब भी न दिया। कह पड़ा—

'आज तुम्हें अपनी कहानी सुनानी पड़ेगी।'

'सुन लेना कभी बाबूजी।'

'नहीं तुम्हें आज अवश्य सुनाना होगा।'

उसने एक गहरी साँस ली और बोला, 'अच्छा नहीं मानते बाबूजी तो सुन ही लो।'

मैं उसे अपने कमरे में लिवा ले गया। मैंने उसे स्टूल पर बैठने के लिए इशारा

किया, पर वह 'नहीं, नहीं' करके फ़र्श पर बिछी चटाई पर बैठ गया और कहने लगा—

"बाबूजी गर्मी के दिन थे। धूप कड़ी पड़ रही थी, लू गर्म चल रही थी। मैं अपने खिलौने—डुगडुगी लिये मुहल्ले-मुहल्ले घूमकर बेच रहा था। उस दिन मैं एक ऐसी बस्ती में चला गया जो बहुत गरीब लोगों की थी। वहाँ भला कहाँ मेरे खिलौनों की बिक्री हो सकती थी। बीसों लड़के मेरे पीछे-पीछे चल रहे थे। कोई कहता, 'बड़ी नीक चिरई है हो।' कोई कहता, 'चिरई से नीक त बाँदर अहै', कोई कहता, 'मोर ममा आई त ओसे कहब कि हमका चार खिलौना लइ देय', कोई कहता, 'हमार भाई त हमका खिलौना के बरे एकौ पैसा नाहीं देत'। इसी तरह की बातें करते बच्चे मेरे पीछे-पीछे चल रहे थे। जब मैं उनके घरों से दूर होने लगता तब वे लौट जाते और नये बच्चे उनकी जगह पर आ जाते।

बाबूजी, मेरी डुगडुगी की आवाज़ सुनकर एक छोटे झोपड़े से एक बच्चा निकला। रंग उसका काला था। वह एक फटी-सी लँगोटी लगाये था। उसकी माँ ने, जिसके बदन पर एक भी गहना न था और जो एक मैली-सी धोती पहने हुए थी, उसे बहुत रोका, पर वह न माना और उत्सुकता से दौड़ते हुए आकर बच्चों में शामिल हो गया। थोड़ी देर बाद मुझे ऐसा लगा कि कोई पीछे से मेरा कुर्ता खींच रहा है। मैं मुड़ा, क्या देखता हूँ कि वही काला लड़का है जो मेरे ठीक पीछे खड़ा हुआ है। जब मैंने उसकी ओर देखा तो उसने कहा,

'ए···ए खिलौनेवाले एक ठो चिरैया दइ दे···'

मैंने देखा कि उसके हाथ खाली हैं। मैंने उससे यह कहकर कि चिड़िया बिना पैसे के नहीं मिलती अपना मुंह मोड़ लिया। मेरे कान में आवाज़ आयी—

'पइसा हमरे पास नाहीं है, ए···ए खिलौनेवाले एक ठो चिरैया दइ दे···'

लड़के ने इसी की रटन लगा दी। बीच-बीच में मेरा कुर्ता भी खींच लेता था। मैंने सोचा कि जब इस शैतान का मकान दूर हो जायगा तो वह अपने आप ही मेरा साथ छोड़ देगा, पर ऐसा न हुआ। मैं एक मुहल्ले से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में जा रहा था, पर वह लड़का मेरा साथ न छोड़ता था।

बाबूजी, शाम हो गयी। मैं अपने घर की ओर लौटने लगा। उस दिन न जाने किसका मुँह देखकर उठा था कि दिन-भर गर्मी, धूप और लू में गली-गली की ख़ाक छानने पर भी एक पैसे की बिक्री न हुई। जब सवेरे के पहर बोहनी न हुई तभी कुसगुन हो गया था। मैं झुंझलाया हुआ चला जा रहा था। लड़का मेरे पीछे रह-रहकर कहता आता था—

'ए···ए खिलौनेवाले, एक ठो चिरैया दइ दे···'

एकाएक उसने मेरा कुर्ता खींचा। मैं पीछे फिरा। वही लड़का, वही बात; कुर्ते की ओर निगाह डाली तो देखा कि उसने उसमें एक छेद कर दिया है। मुझे क्रोध आ गया। मैंने उसका कान पकड़कर एक तमाचा दिया और उसकी गर्दन पकड़कर उसे पीछे धकेल दिया। बस्ती दूर हो रही थी, आगे सुनसान रास्ता था, कहाँ तक उसे अपने साथ आने देता। लड़का लौटा, मैं घर आया।

बाबूजी हम लोगों की तो यह हालत है कि रोज़ कमाते हैं, रोज़ खाते हैं। उस दिन तेरहो दण्ड एकादशी करनी पड़ी। मेरी घरवाली उन दिनों मायके चली गयी थी। मैं भूखा-दूखा, थका-माँदा खाट पर पड़ रहा।

बाबूजी, मैं जिस मकान में रहता हूँ उसमें दो हिस्से हैं। ऊपर मैं रहता हूँ, नीचे एक तेली। बेचारा बड़ा भलामानुस है। उसने पूछा, 'क्यों भैया, आज खाना-

खाना नहीं बनाया।' मैंने कहा, 'नहीं भैया, रास्ते में चना-चबेना कर लिया था।' लेकिन सच बात तो यह थी कि आज एक दाने से भेंट न हुई थी। भूख में नींद भी नहीं आती। ज़रा-सी आँख झँपी तो फिर उसी लड़के की आवाज़ कान में गूँजने लगी—

'ए···ए खिलौनेवाले, एक ठो चिरैया दइ दे।'

मैं सोचने लगा, अरे, वह छोटा लड़का कैसे अपने घर गया होगा। बड़ी दूर चला आया था। दिन भर नंगे बदन, नंगे पाँव मेरे पीछे-पीछे लू और घाम में घूमता रहा। शाम को जब उसे वापस करने को उसकी गर्दन पकड़ी थी तो कितनी गर्म थी। ज़रूर उसे बुख़ार रहा होगा। सोचते-सोचते मेरी आँख फिर ज़रा-सी लग गयीं। वही आवाज़ फिर मेरे कानों में गूँजने लगी।

मैं फिर उसी लड़के के बारे में सोचने लगा। रात-भर इसी तरह झँपते, उसी लड़के की आवाज़ सुनते और उसी के बारे में सोचते-विचारते सबेरा हो गया।

बाबूजी, उजाला हुआ तो दो घड़ी बैठकर कुछ खिलौने बनाये; फिर भड़भूँजे की दूकान से चार पैसे का उधार चना लेकर कमर में बाँधा और खिलौने बेचने निकल पड़ा। सोचने लगा, किधर चलना चाहिए। एक मन यह कहता था कि आज उस तरफ़ न जाना चाहिए जिस तरफ़ कल गया था। एक पैसे के भी खिलौने न बिके थे। एक मन यह कहता था कि चलकर देखना चाहिए कि वह लड़का खैरियत से अपने घर पहुँच गया कि नहीं। आख़िर क्यों रात-भर मुझे उसका ख़्याल भूत की तरह सताता रहा। फिर मैंने सोचा लड़का चेतन्त था, अपने घर चला गया होगा, पर मेरे पाँव बरबस उसी बस्ती की ओर बढ़े चले जा रहे थे जहाँ मुझे वह लड़का मिला था।

जब बस्ती नज़दीक आयी तो मैंने वही गाना शुरू किया जो मैं हमेशा गाकर अपने खिलौने बेचता था। आपने भी बहुत बार सुना होगा। पर मेरी आवाज़ खुल-कर न निकलती थी। मैंने समझा भूख के कारण ऐसा होगा। धीरे-धीरे मैं उस झोपड़े के नज़दीक आने लगा, जहाँ से वह लड़का निकलकर मुझसे खिलौना माँगने आया था।

एकाएक मैं रुक गया। उस झोपड़े से एक औरत की, चुभती हुई रोने की आवाज़ सुन पड़ी जो मेरे गाने, मेरी डुगडुगी के शब्द और मेरे चारों ओर होते हुए शोर-गुल पर चाबुक की तरह पड़ी। मेरा हाथ-पाँव फूल गया। मेरा गला रुँध गया। रोने की आवाज़ और साफ़ सुनायी दी। बच्चे भाग गये। मैं अकेला रह गया।

'क्या उसका लड़का फिर नहीं लौटा?'

बाबूजी मैं खड़ा होकर सोचने लगा। अब मैं किधर जाऊँ। उसके झोपड़े के पास जाऊँगा तो वह मुझ पर टूट पड़ेगी कि तेरे साथ ही मेरा बच्चा गया था। गया तो था ज़रूर, पर मेरे पीछे सैकड़ों बच्चे आते हैं। मैं क्या जानूँ कि कौन मेरे साथ है और कौन मुझे छोड़कर चला गया। नहीं, नहीं, इससे बचाव न होगा। जब थाने पर ले जायगी तो पुलिस मुझे हवालात में बन्द कर देगी। पुलिस के चक्कर में एक बार फँसकर निकलना मुश्किल होता है। मुझ पर बच्चों को बहका ले जाने का मुक़दमा चलेगा। सज़ा मिलेगी, फाँसी तक हो सकती है। समझा जायगा कि मैं हमेशा से इसी तरह बच्चों को चुराता था, अब पकड़ा गया, मैं क्या बताऊँगा कि मैंने बच्चे को क्या किया। नहीं, नहीं, वहाँ के लोग कहेंगे नहीं कि उन्होंने मुझे लड़के को तमाचा मारकर लौटाते देखा था। उसके बाद वह न जाने कहाँ गया, मैं

बेकसूर हूँ। पर, यह तो पता चलना चाहिए कि आखिर उसका लड़का हुआ क्या। कहीं इक्के-बग्घी से दब जाता तो शहर भर में शोर मच जाता। रास्ता भूल जाता तो बारह बज गये मिलता ही न, और तब उसकी माँ उसे ढूंढ़ती फिरती या घर पर बैठकर रोती। कहीं दरिया में तो जाकर नहीं डूब गया, इसलिए कि मैंने उसे खिलौना नहीं दिया। लेकिन ऐसा काम बड़ों को सूझता है। लड़के को कोई चुरायेगा तो किस लालच से। लोहे का छल्ला भी तो उसके बदन पर नहीं था। काला, मैला, बदसूरत लड़का कौन चुरायेगा और किस हिम्मत से। अंग्रेजी राज में आदमी पानी का डूबा नहीं बच सकता। फिर हुआ तो लड़का क्या हुआ, एक चिड़िया दे ही देता तो क्यों इस परेशानी की नौबत आती। लेकिन अगर मैं एक को दे देता तो सब न मेरी जान छेकते। मैं किस-किसको देता और किस-किसको न देता। मेरे भी पेट है। मेरा कोई अपराध नहीं। कल ऐसा नसूड़िया दिन था कि एक पैसे से भेंट न हुई और आज जो वहाँ गया तो मुफ़्त में एक बखेड़े में फँस जाऊँगा। आ ही जायगा उसका लड़का। मैं अपना काम देखूं। यहाँ न बिक्री की उम्मीद न कुछ।

बाबूजी, मैं कितनी देर इन बातों को खड़ा-खड़ा सोचता रहा, मुझे पता नहीं। ख़्याल में तो चौदह बरस की जेल भी काट आया। जब मुड़ा और दूसरी ओर चलने को हुआ तो पाँव न उठते थे। उस स्त्री की एक-एक चीख़ कटिया की तरह आती थी और मेरे दिल में अटक जाती थी। मुझे ऐसा लगता था जैसे मैं थोड़ी देर में अपने-आप ही खिचकर उस झोंपड़े पर पहुँच जाऊँगा। देख रहा था दूसरी ओर और पाँव झोपड़ी की तरफ़ चले जा रहे थे। मैं डरने लगा।

बाबूजी, पास ही एक मील का पत्थर लगा था। मैं उसी की टेक लगाकर बैठ गया। शरीर कुछ क़ाबू में हुआ तो मन में कुछ बल आया। इतने में क्या देखता हूँ कि दो औरतें आपस में बात करती हुई धीमे-धीमे आ रही हैं। अपने मन को दूसरी ओर फेरने के लिए मैं उनकी बातें सुनने लगा।

एक बोली, 'दइउ क चलिया त किछु समुझिन न परत। भियान अबहीं लरिकवा नींक-सूंक रहा। रतियै जर आय, सबेरवै मरिगा।'

दूसरी बोली, 'राम क मनै त आ, बहिन जर कस आय?' पहिली बोली, 'जर अस आय कि दुपहरिया के निकसा राति होय गय तब आय। महतरिया दिना भे फटफटाति रही। खिसियान त रहवै किही जब आय त चेचुरुआ धइ के धोंगारेस। रतियै जर चढ़ा, बाय म होय गा, सबेरवा होत-होत निमुकि ग।'

दूसरी बोली, 'का बहुत मारेस?'

पहली बोली, 'ऐ नाही, अपजस बदा रहा। देख्या नाहीं। मूड़-कपार पीटति बा, कि हमहीं खाय लीन। बेचारी राँड-रेवा रही, यही लरिकवा के देखे जियति रही।'

बाबूजी, उनकी बात सुनकर मैं सन्न रह गया। सचमुच उसकी माँ ने उसे नहीं खा लिया था, मैंने उसे खा लिया था। उसकी मृत्यु के लिए सोलह आने मैं अपने को अपराधी समझने लगा। मैं उसे एक चिड़िया दे देता तो क्यों उसे धूप और लू में मेरे पीछे घूमकर अपना बदन जलाना पड़ता। क्यों वह दिन भर से ग़ायब रहता, क्यों उसकी माँ को उस पर क्रोध आता, क्यों वह उसे बुख़ार में मारती-पीटती। एक तमाचा उसे मैंने भी तो मारा था। बुख़ार तो उसे शायद तभी था। हाँ तभी तो जब उसकी गर्दन पर मैंने हाथ लगाया था मेरा हाथ जलने लगा था। बुख़ार में मार! क्यों बचे बेचारा। मैं अपने को धिक्कारने लगा,

'हत्यारे तूने एक भोले बच्चे की जान ली, और एक दीन-दुखी माता की गोद खाली की।'

खिलौनेवाले की आँख में आँसू आ गये। उसने अपने को सँभाला और कहना जारी रक्खा---

बाबूजी, मेरे जी में आया कि चलकर लड़के की माँ के पैरों पर सिर रखकर कह दूँ कि तूने अपने लड़के को नहीं खा लिया, मैंने खा लिया है। मैं उठा और झोपड़े की ओर बढ़ा। मुझे देखते ही वह औरत और फूट-फूटकर रोने लगी।

रतियै भरे—
माँगत रहे—
एकै चिरैया—
लेबै रे मैया—
कस नाहीं उठते—
मोरे खिलौना—
ले अब चिरैया—
ले अब खिलौना—

बाबूजी, जब उसने रोते-रोते सब क़िस्सा बताया कि कैसे वह दिन का मेरे साथ गया रात को लौटा, कैसे उसने उसको पीटा, कैसे उसे बुख़ार चढ़ा और कैसे वह रात-भर चौंक-चौंककर यही कहता रहा कि

'ए···ए खिलौनेवाले एक चिरैया दइ दे।'

तब तो मेरे दिल में जो जलन होने लगी उसे बता सकना कठिन है। मैं जा रहा था उससे पहले दिन का सारा हाल बतलाने और अपना अपराध कबूल करने कि मेरा इरादा बदल गया। मुझको ऐसा लगा कि मेरी बात से उसको और दुख पहुँचेगा। यह कहेगी कि हाय, मेरा लाल एक कागद की चिड़िया के लिए तरस-तरसकर मर गया। मैं चार पैसे की चिड़िया फेंक देता तो उसके बच्चे की लाख रुपये की जान क्यों जाती।

बाबूजी, मैंने बात बनायी। मैंने कहा, 'मुझे तो मालूम नहीं, तेरा लड़का कब आया और कब गया। मैं कहाँ तक याद रक्खूँ। शहर भर के लड़के मेरे पास आते हैं। मुझसे माँगता तो एक नहीं मैं दो दे देता। कागद ही तो था। बदे की बात। ज़रा देखूँ तो कौन लड़का था?'

मेरे ऐसा कहने पर उसने उस कपड़े को लड़के की लाश पर से उठा दिया जिससे उसने उसे ढक रक्खा था। उसे देखकर वह फिर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। बाबूजी, वही लड़का था। उसकी आँखें खुल हुई डरावनी लग रही थीं—मुझे ऐसा लगा जैसे वे मेरी ओर इशारा करके कह रही हैं कि क़सूरवार यही है। मैंने उसके मुँह की ओर देखा। बस ऐसा लग रहा था कि 'चिरैया' कहने को मुँह खोले हुए है।

बाबूजी, दिन बीत गया। न खाने-पीने की सुध, न घर जाने की। दिन भर उसके यहाँ मातमपुर्सी को लोग आते रहे। शाम को बिरादरी के लोगों के इकट्ठा होने पर लाश उठी। पाँच क़दम मैं भी साथ गया और उसकी माँ को समझा-बुझाकर घर की ओर चला।

मेरी आँखों के आगे वही लड़का नाच रहा था। और कोई बात सूझती ही न थी। धीरे-धीरे मैं बस्ती के पार निकल गया। रास्ता सुनसान था, चारों तरफ़ अँधेरा था। घर अभी दूर था। मुझे ऐसा लगा पीछे से कोई मेरा कुर्ता खींच रहा

है। ठीक उसी तरह का खिंचाव था जिस तरह उस लड़के ने पिछले दिन कई बार किया था। मैंने सोचा, वह लड़का कहाँ, किसी झाड़ी में मेरा कुर्ता अटक गया होगा। गर्दन मोड़ी तो देखता हूँ कि कोई झाड़ी या ऐसी चीज़ नहीं जिसमें कुर्ता अटक सके। अँधेरे में आँखें गड़ाईं तो उसी लड़के की दो चमकती हुई आँखें दिखायी दीं और वही चिड़िया की माँग सुनायी दी।'

मुझे भूत इत्यादि पर विश्वास नहीं है। उसके ऐसा कहने पर मैंने कहा, 'वह लड़का न रहा होगा। तुम्हारा वहम था।'

वह बोला, 'बाबूजी, मैंने भी वहम कहकर अपना भय हटाना चाहा। पर यह वहम न था, और भी तो सुनिएगा।

हाँ तो बाबूजी, मेरे क्षण भर ग़ौर से देखने पर वह लड़का ग़ायब हो गया। मैंने सोचा वहम था, पर फिर भी कलेजा धक-धक कर रहा था। इस समय गर्मी तो नहीं थी, पर मेरा बदन पसीने से तर हो गया। जी चाहता था कि किसी तरह घर पहुँच जाऊँ पर पाँव न उठते थे। थोड़ी देर बाद मालूम हुआ कि कोई मेरा कुर्ता खींच रहा है। अब तो मैंने अपनी आँखें मूंद लीं और ज़ोरों से पाँव बढ़ाने लगा। पर कुर्ते का खिंचाव बन्द न हुआ। पीछे मुड़ने को मजबूर हो गया। देखता हूँ वही लड़का खड़ा है, वही उसकी रटन है।

मैंने खूब ग़ौर से देखा, पर इस बार वह ग़ायब न हुआ। अब मैं कैसे इसको वहम समझता। मन पर दृढ़ हो गया कि शायद लड़का भूत हो गया है और मुझे सता रहा है। अँधेरे और भय के कारण पता न चलता था कि मेरे बाँस में कहाँ चिड़िया है, कहाँ बन्दर हैं, कहाँ फूल हैं। एक खिलौना कहीं से निकालकर मैंने उसके हाथ में रख दिया और वह लड़का ग़ायब हो गया।

इसी तरह रास्ते में बीसों बार उसने मेरा कुर्ता खींचा और हर बार मैंने एक खिलौना फेंककर उससे अपना पिण्ड छुड़ाया। जब बाँस के सारे खिलौने ख़त्म हो गये तभी जाकर उसने मेरी जान छोड़ी।

किसी तरह घर पहुँचा। ऊपर पहुँचकर सीधे चारपाई पर गिर पड़ा। डर के मारे सारा बदन काँप रहा था। सोचा उजाला कर लूं। मेरी जेब में दियासलाई थी। जलाई तो हाँथ काँप रहे थे। उस कँपते प्रकाश में घर की चीज़ों की परछाइयाँ ऐसे हिल रही थीं जैसे भूचाल आ गया हो। ढिबरी जला तो दी पर वह फिर बुझ गयी। तेल न था, और न इतनी हिम्मत थी कि नीचे जाकर महँगू की दूकान से तेल ला सकूँ। अँधेरे में ही लेट रहा। सो गया, या यह कहूँ कि बेहोश हो गया।

एकाएक फिर कानों में आवाज़ आयी

'ए''''ए खिलौनेवाले एक चिरैया दइ दे।'

आँखें खुलीं तो क्या देखता हूँ कि खिड़की के उस पार दो आँखें बिल्ली की तरह चमक रही हैं। मुझे इस बात को जानने में देर न लगी कि यह तो उसी लड़के की आँखें हैं।

बाबूजी, मैंने बहुत से खिलौने तैयार करके घर की दीवार में खोंस रक्खे थे। फौरन उठा और दीवार टटोलकर मैंने एक खिलौना खिड़की के बाहर फेंक दिया। आँखें थोड़ी देर के लिए ग़ायब हो गयीं। इसी तरह रात भर मुझे रह-रहकर खिड़की के पार वे चमकीली आँखें दिखायी देतीं और खिलौना माँगतीं। मैं यन्त्र की तरह उठता और खिलौना निकालकर खिड़की के बाहर फेंक देता। यह तब तक नहीं रुका जब तक मेरी दीवाल पर एक भी खिलौना बाक़ी बचा।

मैं मुर्दे-सा सो गया। जब होश आया तो मैंने अपनी घरवाली को अपने पास

देखा। पूछा, 'तू कब आयी?' उसने कहा, 'सात दिन हो गये, साथवाले किरायेदार तुम्हारी यह हालत देखकर मुझे बुला लाये।'

बाबूजी, आठ-दस दिन बाद मैं अच्छा हो गया। मेरी स्त्री ने कहा 'क़र्ज़ बहुत हो गया है; कुछ खिलौने वग़ैरह बनाकर फिर रोज़गार शुरू करो।'

दूसरे दिन बाज़ार जाकर सामान लाया। लौटते-लौटते शाम हो गयी। बीमारी से उठा था, थक गया, सो गया। रात को एक आवाज़ सुनायी पड़ी।

'ए···ए खिलौनेवाले कब तक नवा खिलौना बन जाई। कब तक?···'

मैं कुछ न बोला। अभी काफ़ी रात थी। फिर भी मैं उठकर बैठ गया। राम-राम करके रात बीती। मुँह अँधेरे ही मैं बाँस की कमाचियाँ-काग़ज़ वग़ैरह लेकर बाज़ार गया और सबको वापस कर आया। तब से मैंने खिलौनों को बनाने की बात भी नहीं सोची। अब यही गूदड़ों का काम करता हूँ और पेट पालता हूँ।"

कहानी ख़तम करके उसने मुझे सलाम किया और गूदड़ों के लिए आवाज़ लगाता हुआ चला गया।

दुखनी

साढ़े नौ बजे थे। चरना ताँगा जोतकर फाटक पर खड़ा था। मैं खाना खाकर कपड़े पहन रहा था। साढ़े नौ मेरे घर से चल देने का समय है, पर कल शाम को एकाएक बर्फ़ पड़ी थी, और सरदी बेहद बढ़ गयी थी। मेरे जाड़े के पहनने के कपड़े—ऊनी सूट, स्वेटर, चेस्टर वग़ैरह अभी तक बक्सों में ही रक्खे थे। निकालते-निकालते देर हो गयी। कपड़े पहनते हुए मैंने खिड़की के शीशों से देखा कि कोई ताँगा तेज़ी से मेरे बँगले की ओर आ रहा है। शीशों के बाहर की ओर पानी की छोटी-छोटी बूँदें लगी थीं। साफ़-साफ़ देखने के लिए मैंने खिड़की खोली। ठण्डी और काटती हुई हवा के झोंके से मेरा सारा शरीर काँप उठा। मैंने देखा कि कृष्णा बाबू का कोचवान ख़ाली ताँगा लिये चला आ रहा है। ताँगा और क़रीब आ गया था। कोचवान ने मुझे देखा और सलाम किया। ताँगा मेरे घर के सामने आकर खड़ा हो गया।

कोचवान ने मेरे बाहर निकलने का इन्तज़ार न किया। कमरे के बाहर आकर खड़ा हो गया। मैंने दरवाज़े पर पड़े हुए परदे के नीचे उसके पैर देखे और सिर बाहर निकाला। उसने मेरे हाथ में एक पत्र रख दिया।

पत्र देखकर मुझे कुछ हैरानी-सी हुई। यह पत्र कृष्णा बाबू की पत्नी ने लिखा था। मैंने लिफ़ाफ़े पर देखा कि कहीं मिसेज़ वर्मा के लिए तो यह पत्र नहीं लिखा गया, साफ़-साफ़ 'मिस्टर' लिखा था। मैंने पत्र पढ़ा। उसमें लिखा था कि कृष्णा बाबू की तबियत कल रात से बहुत ज़्यादा ख़राब है—कृपा करके शीघ्र ही चले आइए। विशेष बातें आने पर। मैंने छुट्टी के लिए एक अर्ज़ी लिखी और चरना को उसे दफ़्तर ले जाने को कहा। जल्दी से ओवरकोट कपड़ों पर डालकर दूसरे ताँगे पर जा बैठा—जल्दी में दस्ताना पहनना भूल गया।

कृष्णा बाबू का पूरा नाम कृष्णचन्द्र निगम है। इन्होंने एम. ए. तक शिक्षा पायी है। घर के सम्पन्न आदमी हैं। दर्शन शास्त्र में इनकी विशेष रुचि है। यह भारतीय दर्शन को मानव ज्ञान की पराकाष्ठा मानते हैं। अपने मत का समर्थन करने के लिए कई पुस्तकें भी लिख चुके हैं जिनके अनुवाद विदेशी भाषाओं में भी

हुए हैं। इनकी धारणा है कि जहाँ विदेशी दर्शनशास्त्र किसी एक मनुष्य की बुद्धि की उपज है, वहाँ भारतीय दर्शनशास्त्र समस्त भारतीय जीवन से निकली हुई वस्तु है। भारतीय, दर्शन समझता नहीं, वह दार्शनिक जीवन व्यतीत करता है। साथ ही कृष्णा बाबू साहित्यानुरागी भी हैं। भारतीय सभ्यता और जीवन को प्रदर्शित करनेवाली बहुत-सी कहानियाँ भी इन्होंने लिखी हैं जो देशी तथा विदेशी अख़बारों में सम्मानपूर्वक छप चुकी हैं। चित्त बड़ा सरल, कोमल और उदार है। दया की तो यह मूर्ति ही हैं। धीमी-सी मुसकान सदा होठों पर रहती है। फ़िलासफ़रों की झक तो मशहूर है। आप भी उससे वंचित नहीं हैं।

थोड़ी देर में मैं कृष्णा बाबू के बँगले पर पहुँच गया। सारा बँगला सायँ-सायँ कर रहा था। दो-एक नौकर अपना कान-मुँह कपड़े से लपेटे डरे हुए से बाहर बैठे थे। कृष्णा बाबू का कुत्ता जो किसी के भी आने पर पहले उसका स्वागत अपनी भों-भों से करता था आज बिलकुल चुप एक कोने में आँख मूँदे, दुम दबाये बैठा था। पैरों की आहट से उसने अपना सिर नीचे ही रक्खे हुए अपनी आँखें खोलीं और फिर बन्द कर लीं। मैं इस कुत्ते को बहुत नापसन्द करता था और कई बार कृष्णा बाबू से कह चुका था कि वे इसे निकाल दें पर आज उसकी समझदारी और अपने मालिक के प्रति संवेदना देखकर मुझे बड़ी दया आयी। पशुओं के मस्तिष्क हो या न हो पर उनके हृदय अवश्य ही होता है, यह उस दिन मैंने समझा।

मेरे आने की ख़बर मिलते ही मिसेज़ निगम बाहर आयीं। उनके चेहरे पर इतनी अधिक उदासी और घबराहट थी कि मैंने अपना यह कर्तव्य समझा कि कुछ उत्साहपूर्ण और आशापूर्ण शब्दों से उन्हें धैर्य दूँ—नहीं, नहीं, इसके पहले थोड़ा-सा मज़ाक करके उनके मानसिक बोझ को हल्का करूँ। मैंने जान-बूझकर अपनी आवाज़ ऊँची की, मानो मेरे इस तरह बोलने से घर की मुर्दानगी में कुछ सजीवता आ जायगी, मैंने कहा, "भाभीजी, भाई साहब को एक ही दिन में कितना बीमार कर दिया! कल सवेरे तो भले-चंगे थे! क्या सरदी असर गयी? मालूम होता है उन्हें रात अ···?"

अन्तिम वाक्य कहते हुए मैंने अपना सिर ज़रा इधर-उधर हिलाया और आधा ही वाक्य कहकर अपनी दाहिनी आँख का एक कोना दबाकर मैं मुसकराया। मिसेज़ निगम मेरे मज़ाक करने के तरीक़ों से भली-भाँति परिचित थीं। उन्होंने मेरा मतलब तो अवश्य समझा होगा पर जहाँ मेरी छोटी-छोटी-सी बात उन्हें खिलखिला देती थी वहाँ आज मेरे ज़रा गम्भीर मज़ाक का भी उन पर कुछ असर नहीं हुआ। कृष्णा बाबू की बीमारी की गम्भीरता का कुछ आभास मुझे अब मिला। मुझे अपने ऊपर शर्म आयी। मेरे शब्दों के समाप्त होते ही घर में फिर निस्तब्धता छा गयी—पहले से घनी, जैसे क्षणिक बिजली की चमक के पश्चात अन्धकार और घना हो जाता है।

ड्राइंग-रूम के बग़ल से दो छोटे-छोटे बरामदों में होकर हम लोग कृष्णा बाबू के सोने के कमरे के आगे गये। बाहरी कमरे को पार करके हम भीतर, जहाँ वे अपनी रोग-शैया पर लेटे थे, घुसने ही वाले थे कि कमरे में एक चीख़ निकली—"दुखनी···!" यह कृष्णा बाबू का स्वर था। मैंने आश्चर्य से मिसेज़ निगम से पूछा—"यह क्या?"

"यही तो उनकी बीमारी का कारण है, बताऊँगी"—कहती हुई वे अन्दर झपटीं। मैं उनके पीछे-पीछे चला।

कृष्णा बाबू अपने बिस्तर पर उठ बैठे थे। उनका चेहरा एकदम पीला पड़ गया था। आँखें लाल हो रही थीं। वे हम लोगों की ओर घूर रहे थे, मानो हमें पहचान

न रहे हों। मिसेज़ निगम ने ज़रा ज़ोर करके उन्हें बिस्तरे पर लिटाया और कम्बल उढ़ाये। मैंने पुकारा —"कृष्णा बाबू ! कैसी तबियत है ?" वे कुछ न बोले। उनकी आँखें बन्द हो गयीं। मैंने उनके माथे पर हाथ रक्खा। वह आग की तरह जल रहा था। मिसेज़ निगम ने सिरहाने टेबिल पर रक्खी हुई दवाइयों की शीशी में से एक दवा उठाकर उन्हें पिलायी। दवा कुछ अन्दर गयी और कुछ उनके मुँह के किनारों से गिरकर गालों पर बहती हुई बिस्तर पर चू पड़ी। मिसेज़ निगम ने झटपट रुमाल से दवा पोंछी और अपने आँसुओं को भी। उनके चेहरे पर बड़ी व्यग्रता थी। वे मेरी ओर देखने लगीं।

मैंने पूछा—"बताओ तो कैसे इनकी तबियत एकदम से खराब हो गयी ?"

रोगी की चारपाई से दूर अँगीठी के पास तीन-चार कुर्सियाँ पड़ी थीं। उन्हीं की ओर उन्होंने संकेत किया। हम दोनों कुर्सियों पर बैठ गये। मिसेज़ निगम ने कहना आरम्भ किया—

"कल सवेरे तो आपके यहाँ गये ही थे। वहाँ से लौटकर भोजन किया। कुछ देर आराम करते रहे। इसके बाद प्रेस का आदमी प्रूफ़ लेकर आ गया। आजकल इनकी एक किताब अंग्रेज़ी में छप रही है पर इनकी इच्छा है कि यह किताब अंग्रेज़ी के साथ ही साथ हिन्दी में भी निकले। कल दिन में और दिनों की अपेक्षा सरदी कुछ कम थी। शायद क्षितिज पर ओले बरसानेवाले बादलों के कारण ही ऐसा था। हमारे ड्राइंग-रूम के सामनेवाले बरामदे में सुहाती-सी धूप आ रही थी। कई छोटी टेबिलें और कुर्सियाँ पड़ी थीं। हिन्दीवाला प्रूफ़ मैं वहीं बैठकर देखने लगी और यह भी वहीं आकर अंग्रेज़ीवाला प्रूफ़ देखने लगे। आज इन्होंने कुछ काम नहीं किया। फिर भी इनका चित्त प्रूफ़-संशोधन में नहीं लग रहा था और थोड़ी-थोड़ी देर बाद मुझसे भिन्न-भिन्न बातों के विषय में पूछपाछ करने लगते थे। मैं अपने काम में दत्त-चित्त थी, क्योंकि ज़रा-सी असावधानी रहने से मेरे प्रूफ़ में बहुत-सी ग़लतियाँ रह जाती हैं और मेरी हँसी उड़ाने की सामग्री मिल जाती है।

"बस, उसी समय एक बुड्ढी भिखारिन लाठी टेकती हुई आ गयी। इन्होंने नौकरों से कह रखा था कि जब कोई काम करने योग्य भिखारी आये तब उसे बँगले में न घुसने दें, पर वृद्ध, अन्धे, लँगड़े, लूले और रोगी कभी बिना कुछ दिये न लौटाये जायें। दीना फाटक पर था, उसने बुड्ढी को रोका और कुछ लेने चला। इतने में बुड्ढी के कुछ करुण शब्द इनके कानों में पड़े और इन्होंने उससे भीतर आने को कहा। वृद्धा कुछ झिझकती, कुछ डरती, कुछ आशा करती भीतर आयी। इन्होंने प्रूफ़ छोड़ दिया और उससे सीढ़ियों पर बैठने को कहा। जब वह बैठ गयी तब इन्होंने उससे अनेक मनोरंजक प्रश्न करने आरम्भ किये।

" 'तू कौन जात है ?', 'कहाँ की रहनेवाली है ? 'तू भिखारिन कब से हुई ?' 'तेरा विवाह हुआ था कि नहीं ?' और 'तेरे लड़केबाले थे कि नहीं ?' आदि।

"वृद्धा की कहानी बड़ी दर्द-भरी थी। मैंने भी अपना काम छोड़ दिया और उसकी बातें सुनने लगी। कुछ देर तो उसे अपनी धुँधली स्मृति या जान-बूझकर भुला दी गयी स्मृति को ताज़ा करने में कठिनाई हुई, पर भावना के एक बार जाग्रत होने पर वह अपना इतिहास दुखान्त उपन्यास के समान कहने लगी। तीन घण्टे तक हम उसकी बातें सुनते रहे। जब उसकी जीवन-गाथा समाप्त हुई और वह जी भरकर रो चुकी तो उसका उदास चेहरा एक बार वैसा ही प्रकाशित हो पड़ा जैसे वर्षा हो जाने पर धुँधला आकाश स्वच्छ सुनील होकर चमकने लगता है। कल मुझे इस बात का अनुभव हुआ, किसी दुखी आत्मा को सबसे बड़ा सुख वह देता है जो

उसकी दुख की कथा सुनता है। उसे कुछ देकर हम उसे इतना शोक रहित नहीं बना सकते थे जितना उसकी दुख-कथा सुनकर। कहानी समाप्त करके वृद्धा ने कई बार दीर्घ श्वास लिये, जैसे वह मजदूर लेता है जो बड़ी दूर से एक भारी बोझ लादे हुए थककर किसी स्थान पर अपना बोझ उतारकर सुस्ताता है।

नाश्ते का समय आ गया था। हमारे महराज नाश्ते का सामान कर रहे थे —आजकल शहर में कालरा फैला है, इस कारण हम बाज़ार से कोई चीज़ न मँगवाकर घर ही पर सब चीज़ें बनवा लेते हैं। इनकी और मेरी भी इच्छा हुई कि आज अपनी आँखों के सामने एक ऐसे व्यक्ति को भरपेट भोजन करते देखें जिसने अपने जीवन भर किसी दिन भी तृप्त होकर भोजन नहीं किया था। हमने बूढ़ी से कहा—तू आज हमारे यहाँ खाना खा। उसके रोम-रोम खड़े होकर आशीर्वाद देने लगे। महराज से हमने कहला दिया कि वे थोड़ी-सी पूड़ियाँ भी बना लें। बूढ़ी एक-एक कौर खाती और आशीष देती। उसने भरपेट खाया और पेट भर असीसा।"

मिसेज़ निगम ने यहीं तक अपनी बात कही थी कि कृष्णा बाबू फिर चौंक उठे —"दुखनी आयी? उसको बुलाओ और यह कुर्ता पहनाओ!" हम दोनों झपटकर उनके बिस्तर के पास गये। उनके मुँह से एक-दो अस्पष्ट शब्द और निकले और फिर वे चुप हो गये। बुखार वैसा ही तेज़ चढ़ा था। मैंने मिसेज़ निगम से पूछा कि यह 'दुखनी और कुर्ते' की बात कैसी? हम लोग दबे पाँव अँगीठी के पास आये और मिसेज़ निगम ने फिर अपनी बात आरम्भ की।

"जब वह बूढ़ी जाने लगी तो उसने कहा—'बाबू जाड़े के दिन आ रहे हैं, बहू रानी की कोई फटी-पुरानी कुर्ती-उर्ती हो तो मुझे मिल जाय, आप दूधन नहाओगे, पूतन फलोगे!' यह मुझसे धीमे-धीमे पूछने लगे—'जो कुर्ती तुम्हारे लिए पारसाल बनी थी वह तो तुम्हें पसन्द नहीं आयी थी, इसे दे दूँ?' मैंने कहा, 'हाँ-हाँ'। पहले तो इन्होंने कहा कि ढूँढ़ लाओ। फिर मुझे मना कर दिया और बूढ़ी से बोले—'अच्छा, तुम कल आना तो मैं तुम्हें एक नयी ऊनी कुर्ता दूँगा।' मैंने कहा—'देना है तो आज ही दे दो।' हमारी आपस की बातें अंग्रेज़ी में हो रही थीं। इन्होंने कहा —'नहीं, आज इसे आशा करने दो, देखो इसके चेहरे पर कैसी आशामय प्रसन्नता है। किसी वस्तु को पा जाने से उसके पा जाने की आशा अधिक कौतूहल-वर्धक और सुखदायिनी है। तुम जानती हो, आज रात को इसकी क्या दशा होगी? रात-भर इसे नींद न आयेगी। रात भर यह ऊनी कुर्ती का स्वप्न देखेगी और सबेरा होते ही, देखना, यह तुम्हारे यहाँ आयेगी; तब मैं इससे पूछूँगा कि रात को तेरे मन में क्या-क्या विचार आये थे? सच कहता हूँ कि अगर वह कुछ बतलाने में समर्थ हुई तो कुछ कल्पना मिलाकर मैं एक बड़ी सुन्दर कहानी लिख सकूँगा।' मुझसे ऐसा कह-कर वे बूढ़ी के चेहरे पर दूरबीन की तरह आँखें गड़ाकर उस पर पड़ी हुई आशा की रेखाओं का विश्लेषण करने लगे। बूढ़ी ने बँगले को चारों ओर ठीक से आँखें घुमा-कर देखा जैसे वह इसे पहचानने की कोशिश कर रही हो कि कल आने पर वह सहज ही में पहचान ले। पर कदाचित् उसे अपनी कमज़ोर आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने पूछा—'बाबू, आपका क्या नाम है?' मुसकराते हुए इन्होंने उससे कहा—'तेरा नाम क्या है? तूने अपना नाम तो बताया ही नहीं।' वह बोली— 'बाबू मेरा नाम दुखनी है—दुख में पैदा हुई थी, माँ-बाप ने मेरा यही नाम रख दिया।' इन्होंने ज़ोर से हँसते हुए कहा—'तो मेरा नाम सुखदेव है, जा कल आना।' जब वह चली गयी, हम लोग अन्दर कमरे में नाश्ता करने गये।

"इसी समय हवा तेज़ी से चलने लगी और आसमान में बादल उठने लगे।

बादल तो थे थोड़े ही, पर उनमें कड़क और चमक बहुत थी। बदन काँप-काँप उठता। उधर सर्दी भी बढ़ने लगी। आजकल रात जल्दी ही आ जाती है, कल और जल्दी आ गयी। मुझे ठीक याद है कि पाँच-साढ़े पाँच का समय होगा, मैं अपने कमरे में बिजली जलाने की आवश्यकता अनुभव कर रही थी। खाना खाते-खाते सर्दी इतनी बढ़ गयी कि यह मालूम होने लगा कि बिना ऊनी स्वेटर वग़ैरह पहने काम न चल सकेगा। इसी बीच ओले गिरने शुरू हुए। जब मैं कपड़े निकाल रही थी, मुझे वह कुर्ती भी मिली, जो इन्होंने दुखनी को देने का वादा किया था। इनके कपड़े और वह कुर्ती लेकर जब मैं ड्राइंग-रूम में पहुँची तो क्या देखती हूँ कि ये व्यग्र भाव से इधर-उधर टहल रहे हैं और कभी-कभी खिड़की का पर्दा हटाकर ओलों का गिरना देख गहरी साँस खींच लेते हैं। मैं दरवाज़े पर कुछ देर खड़ी यह देखती रही, फिर मैंने इन्हें पुकारा और इनके कपड़े और कुर्ती को एक टेबिल पर रख दिया। जब इस पर भी इन्होंने कपड़ों की ओर कुछ ध्यान न दिया तो मैंने कहा, 'ऊनी वेस्टकोट ही काफ़ी न होगा, स्वेटर पहन लीजिए, और टहल क्यों रहे हैं, अँगीठी के पास बैठिए।' वे कहने लगे—'मैं सोच रहा हूँ कि इस समय वह बूढ़ी, जिसके तन पर केवल एक फटी धोती थी, कहाँ होगी और इस चुभनेवाली हवा से कैसे अपना सीना और पीठ बचाती होगी। हम तो कमरे में बैठे हैं, खिड़कियों पर पर्दे पड़े हैं, भीतर अँगीठी भी है, कपड़े भी कुछ पहने हैं। लाओ स्वेटर भी पहन लूँ, चेस्टर भी डाल लें पर…' इतना कहकर उन्होंने फिर खिड़की का पर्दा खोला और लम्बी साँस ली। मैंने ज़रा हँसते हुए कहा, 'तब जब मैं कह रही थी कि कुर्ती आज ही दे दो तब तो आपको मनोवैज्ञानिक कहानी सूझ रही थी।' इस पर इन्होंने मुझे अनदेखती आँखों से देखा। मैंने अधिक बोलना उचित न समझा। इन्होंने मुझसे कह रक्खा है कि जब मैं किसी विचार में तल्लीन रहूँ तब न तो तुम मेरे पास आया करो और न मुझसे बोला करो, क्योंकि ऐसा करने से विचार-शृंखला एकाएक टूट जाती है और सारा विचार धूल में मिल जाता है और कभी-कभी तो ऐसे विचारों का फिर मिलना असम्भव हो जाता है। मैंने समझा कोई आचार-शास्त्र सम्बन्धी विचार इनके हृदय में उठ रहा है। मैं अपने कमरे की ओर लौटी और अपने बिस्तरे पर जा लेटी। मुझे इस तरह लौटते देख इन्होंने कुछ न कहा, उसी तरह खड़े रहे।

"कुछ देर तो मैं जागती रही, पर फिर सो गयी। एकाएक मेरी आँखें खुलीं। घड़ी पर नज़र पड़ी। बारह बज चुके थे। इनका बिस्तर देखा, ख़ाली था। बरामदे की बिजलियाँ जल रहीं थीं; जब सोने के लिए ये आते हैं तो इन्हें बुझाते हुए चले आते हैं। मैंने अपने मन में कहा—क्या अभी तक ड्राइंग-रूम में ही बैठे हैं। सरदी इतनी पड़ रही थी कि कम्बलों से निकलने का जी न चाहता था, पर मैं हिम्मत करके उठी और बाहर आयी। ड्राइंग-रूम की लाइट आफ़ थी, मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। भीतर घसकर मैंने रोशनी की, पर वहाँ कोई भी न था। मैंने और कमरे देखे, वे कहीं भी न मिले। घबराहट में ग़ुसलख़ाने के कमरे तक देख आयी। फिर लौटकर ड्राइंग-रूम में आयी। टेबिल पर निगाह गयी तो देखा कि स्वेटर, चेस्टर और वह कुर्ती उस पर नहीं हैं। कपड़े पहनने को कोठरी, जो ड्राइंग-रूम के पीछे है, उसमें जाकर देखा तो एक जोड़ा जूता भी न था। मैंने समझा कि ये कहीं गये हैं और सम्भवत: उसी बूढ़ी भिखारिन की खोज में। पर फिर विचार आया कि गये कैसे? दीना बाहर के बरामदे में सो रहा था, उसे जगाया। वह घबराकर उठा। मैंने पूछा—'बाबू कहाँ गये हैं?' उसे कुछ पता न था। उसने कहा कि दस बजे तक वह जागता था; सोचता था बाबू अन्दर जायें तो वह उठकर दरवाज़े बन्द करे पर वे

न उठे और न जाने कब उसकी आँख लग गयी। मैंने दीना से कोचवान को बुलवाया। उसे भी कोई ख़बर न थी। जब उसने अस्तबल में जाकर देखा तो वहाँ पर साइकिल न थी। साइकिल पर अब ये कभी नहीं चढ़ते, सिर्फ़ चपरासी के मामूली कामों के लिए रख छोड़ी है और वहीं अस्तबल के एक कोने में पड़ी रहती है। अब मालूम हुआ कि साइकिल लेकर उसी बुढ़िया को कुर्ती देने के लिए गये हैं। मैं बैठकर सोचने लगी कि बुढ़िया न जाने कहाँ रहती है? कहाँ जायेंगे? कहाँ ढूँढेंगे? अजीब आदमी हैं।

"कोचवान को मैंने ताँगा लेकर इन्हें ढूँढने के लिए भेजा। उसने पूछा—'सरकार किधर जाऊँगा?' किधर बतलाती? कुछ सोचकर मैंने उसको धर्मशालाओं और गंगा के किनारे की ओर जाने को कहा क्योंकि मैं समझती थी कि भिखमंगे यहीं कहीं रहते होंगे और उधर ही शायद ये गये हों। मुझे इन पर बड़ा क्रोध आ रहा था। बार-बार उस बुढ़िया को कोसती थी कि डाइन न जाने कहाँ से आ गयी। माली और महराज भी जाग पड़े थे। मैं अपना क्रोध इन्हीं पर उतार रही थी—'तुम लोग कैसे सोते हो कि कोई ख़बर नहीं रखते? बड़े बेपरवाह हो, बड़े आरामतलब हो, मुझे ऐसे नौकरों की ज़रूरत नहीं, जो सरेशाम सोने लगें।' बेचारे चुपचाप बैठे थे। दीना बार-बार अपना सिर ठोंकता था कि न जाने कैसे उसको नींद आ गयी।

"बैठे-बैठे दो-ढाई घण्टे बीत गये। सच पूछो तो दो-ढाई बरस बीते। एक-एक मिनट एक-एक दिन हो रहा था। मैं कभी कमरे में आती, कभी बरामदे में टहलती, कभी फाटक तक चली जाती। सर्दी-वर्दी सब इस समय हवा हो गयी थी। बस यही चिन्ता थी कि ये आवें।

"मैं फाटक से आगे बढ़कर सड़क पर चली आयी थी एक साइकिल की रोशनी पास आती दिखायी दी। मैं समझ गयी कि ये ही होंगे, पर मैं क्षणभर के लिए निराश हो गयी। एक आदमी नंगे बदन केवल धोती जाँघों तक उठाये साइकिल पर बैठा था। पर वह मेरे ही फाटक पर उतरा। मैंने पूछा—'कौन?' उत्तर मिला 'शीला'—ये ही थे। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। जल्दी से साइकिल खड़ी करके ये भीतर घुसे, मैं इनके पीछे-पीछे आयी। इन्होंने दरवाज़ा चटपट बन्द कर लिया। इनकी सूरत देखकर उस समय डर लगता था। जाड़ा इतना पड़ रहा था और इनके बदन पर एक कपड़ा तक न था। एक-एक रोम खड़ा था। मालूम होता था सारे बदन में दाने निकल आये हैं। धोती ऊपर तक कसी थी और उस पर कीचड़ की छीटें पड़ी थीं। पैर का निचला भाग तो बिल्कुल कीचड़ से भरा था। जूता दीख ही न पड़ता था। मेरी समझ में न आता था कि इनसे क्या पूछूँ! इन्हें क्या हो गया! कहीं पागल तो नहीं हो गये! कपड़े सब कहाँ फेंक आये! आते ही ये स्नानागार की ओर गये। मैंने कहा—'नहाना मत, सूखे तौलिए से बदन पोंछ डालना।' दूसरे कपड़े मैंने ले जाकर दिये। कपड़े बदलकर जब ये बाहर निकले तो फिर इन्सान से मालूम हुए। मैंने हिम्मत करके पूछा—'कहाँ गये थे?' इसका इन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया और लम्बे-लम्बे पैर बढ़ाते सोने के कमरे में गये और बिस्तर पर गिर पड़े। मैंने इन्हें कम्बलों से ढक दिया। पर ये सोये नहीं। छत की ओर देखने लगे। मैंने फिर पूछा—'कहाँ चले गये थे इतनी रात को?' इस बार इन्होंने मेरे प्रश्न को सुना और बोले—'जब तुम मेरे पास से चली आयी थीं उस समय मेरे मन में यही विचार उठ रहा था कि इस समय वह कहाँ होगी। मैं बार-बार सोचता था कि यदि उसे आज ही कुर्ती दे दी होती तो अच्छा होता। इस

ठण्डी हवा से वह अपना शरीर बचा लेती। इस समय उसे कितना कष्ट होता होगा। किस तरह हवा उसके फटे वस्त्रों में उद्दण्डता से घुसती और उसकी हड्डियों को एक-एक करके कँपाती होगी, इसका मैंने कुछ अनुभव करना चाहा। परदों को खोल दिया, शरीर पर पहने कपड़ों के बटन खोल दिये, पर मैं सर्दी का अनुभव बिल्कुल नहीं कर रहा था। मैंने एक अजीब दृश्य देखना शुरू किया। मैंने देखा कि खुले मैदान में वही दुखनी लाठी टेक-टेककर चल रही है। चारों ओर काला अन्धकार है। फिर मैंने देखा कि बड़े-बड़े ओले पड़ रहे हैं। बुढ़िया ने अपने हाथ से अपना सिर ढक लिया है, पर इससे उसके सिर की रक्षा नहीं हो सकी! ओलों ने उसके सिर को अच्छी तरह चकनाचूर कर दिया। मैंने देखा उसका सारा बदन लोहू-लुहान हो गया है। फिर मैंने देखा कि वह चिल्लाने के लिए अपना मुँह खोलती है पर सर्दी इतनी है कि उसकी आवाज़ तक जम गयी है। मुझे लगा कि वह 'सुखदेव' कहने का प्रयत्न कर रही है, पर उसके मुँह से शब्द निकल नहीं रहे हैं। फिर मुझे ऐसा लगा जैसे मुझे कोई खींच रहा है। मैं एक अनोखी इच्छा से उठा। मैंने कपड़े पहने, स्वेटर और चेस्टर भी पहना, कुर्ती ली और साइकिल उठाकर चल दिया। मैं अनेक धर्मशालाओं में गया, अनेक मन्दिरों में गया, जहाँ मैंने सुना और देखा था कि भिखारी रहते हैं। मैं ग़रीबों की बस्तियों में गया, नदी के घाटों पर गया, जहाँ मैं भिखमंगों को बैठे देखा करता था। मुझे कहीं जाने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता था, मेरी साइकिल अपने आप उनकी ओर मुड़ जाती थी। मैं जहाँ-जहाँ जाता था, ज़ोर-ज़ोर से पुकारता था—'दुखनी! दुखनी!' एक-दो बार नहीं, दस-दस बार, पन्द्रह-पन्द्रह बार। लेकिन कहीं भी मुझे दुखनी न मिली। देखो, मेरा गला कितना बैठ गया है! मैंने दीन-दुखियों को ख़ूब देखा, उनके कष्टों को ख़ूब देखा।'

"इतना कहने के बाद ये थोड़ी देर के लिए चुप हो गये, फिर बोले—'एक धर्मशाला के दरवाज़े पर मैंने एक युवती भिखारिन देखी। उसके शरीर पर एक मैली फटी धोती थी— दुखनी की धोती से भी फटी, ऐसी अँधेरी और ठण्डी रात्रि में उसके बच्चा हुआ था। उसके पास एक भी सूखा कपड़ा न था कि जिससे बच्चे को ढकती। मैंने अपना चेस्टर उतारा और उसे उढ़ा दिया। एक को अपनी स्वेटर दे दी। एक दूसरे नंगे लड़के को अपनी कमीज़ और बनियाइन दे दी।' इनकी बातों को सुनकर मुझे क्रोध आ रहा था। मैंने कहा—'किसी को धोती की ज़रूरत नहीं थी?'

"बोले—'आह! धोती की याद मुझे आयी ही नहीं। नहीं तो इसे भी किसी दीन-दुखी को दे आता। तुम समझती हो मैं नंगा हो जाता? यह शरीर रूपी वस्त्र तो मेरे ऊपर रहता ही। पर इसे भी मैं उतारना चाहता था। इस अँधेरी रात में एक स्त्री का बच्चा मर गया था। एक कोमल आत्मा का वस्त्र ऐसी ठण्डी रात में छिन गया था। मैं सोचने लगा ओह! उसको कितना कष्ट होगा! मैंने बहुत-बहुत चाहा कि अपना शरीर रूपी वस्त्र उतारकर उस आत्मा को उढ़ा दूँ। पर···देखो मैं अपनी छाती अपने नाख़ून से चीरना चाहता था जैसे कोट उतारने के लिए बटन खोला जाता है।' मैंने इनकी छाती देखी, सचमुच वहाँ नाख़ूनों के दाग़ बने थे।"

मिसेज़ निगम कुछ और कहने जा रही थीं कि कृष्णा बाबू फिर बिस्तर पर चौंककर बैठ गये, कहने लगे—'दुखनी नहीं आयी? आह! वह गल-गलकर मर गयी, ठिठुर-ठिठुरकर मर गयी, काँप-काँपकर मर गयी। और मैं—मैं—मैं···' इतना कहकर वे कम्बलों को इधर-उधर फेंकने लगे, बदन पर के कपड़े उतार-

उतारकर फेंकने लगे। हम दोनों ने प्रयत्न करके उन्हें कपड़ा पहनाया, लिटाया। मिसेज़ निगम ने उन्हें दवा दी। कुछ देर हम लोग उन्हीं के पास बैठे रहे! जब वे शान्त हुए तो हम लोग फिर अँगीठी के पास गये और मिसेज़ निगम ने कहना शुरू किया।

"अभी जब इन्होंने कपड़ा उतारा तो आपने भी देखा होगा कि सीने में कितने बड़े-बड़े नाखून के दाग़ हो गये हैं। फिर इन्होंने न जाने कितनी निरर्थक बातें कहीं, जो मुझे याद नहीं रहीं, कदाचित मुझे ही वे निरर्थक लगती रही हों, पर रही हो वह कोई गूढ़ बात; क्योंकि मैं इतना घबरा गयी थी कि बातों का सिलसिला कुछ समझती न थी। रह-रहकर मेरे कान सुन्न पड़ जाते थे। आख़िर में इन्होंने कहा कि—'कुर्ती मैंने किसी को नहीं दी, वह साइकिल में बँधी है, वह दुखनी की है, दुखनी जीती होगी तो कल आयेगी, तब यह कुर्ती उसको दूँगा…।' इसे कहते हुए इनकी आँखें बन्द हो गयीं। पर थोड़ी देर बाद फिर चौंक उठे—'वह दुखनी आयी, बुलाओ, ले यहाँ तेरी कुर्ती है।' बस तब से थोड़ी-थोड़ी देर पर चौंक उठते हैं, ऐसी ही बातें करते हैं। बुखार चढ़ा हुआ है। सबेरे डाक्टर नागर को बुलाया था। उनसे सब हाल मैंने बतलाया। दवा दी है, पर कोई लाभ नहीं बल्कि और जल्दी-जल्दी चौंकने लगे हैं। जब से आप आये, तब से ही तीन-चार बार चौंक चुके। मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ, क्या न करूँ। हमारे कई आदमी दुखनी की तलाश में गये हैं। पर डाइन का कहीं पता नहीं मिलता। न जाने कहाँ से आफ़त बनकर कल शाम को आ गयी थी।"

मैंने और कई डाक्टरों को बुलवाया। जितने डाक्टर थे उतनी राएँ थीं। अनेक दवाइयाँ दी गयीं, अनेक उपचार किये गये पर वह दिन-भर चौंक-चौंककर यही सब कहते रहे—'दुखनी नहीं आयी, दुखनी जाड़ों मर गयी, कुर्ती न पाने से मर गयी, मेरे कारण दुखनी मर गयी।' हम लोगों ने बहुत समझाया कि दुखनी आयी थी, कुर्ती ले गयी, दीना जाकर उसको दे आया, दुखनी मरी नहीं, जीती है, पर वे हमारी बातों में न आये। कभी कपड़े उतार-उतारकर फेंकते थे, कभी 'दुखनी-दुखनी' चिल्लाते हुए दरवाज़ों की तरफ़ दौड़ने की कोशिश करते थे। मैं समझ गया कि बिना दुखनी के मिले उनका चित्त शान्त न होगा। मैं स्वयं उसे ढूंढने निकला पर कहीं उसका पता न मिला। मिसेज़ निगम तो इतनी घबरा गयी थीं कि स्वयं उसे ढूँढने जाने को तैयार हुईं। कहने लगीं—'मैं शहर भर में 'दुखनी-दुखनी' चिल्लाती फिरूँगी, कभी तो मिलेगी ही, तभी घर लौटूँगी।' मेरे बहुत कहने-सुनने से वे रुकीं।

क़रीब चार बजे कृष्णा बाबू एकाएक बिस्तर पर उठ बैठे और चिल्लाकर कहने लगे—'ज़रूर-ज़रूर मर गयी—दुखनी, तेरा गलित-पलित शरीर वस्त्र भी फटकर गिर पड़ा—अब तो तू ख़ूब जड़ाती होगी—ले मेरा ले ले, ले।' इतना कह-कर वे अपने सीने को नाखूनों से चीरने-सा लगे। हम लोगों ने उनका हाथ थामा। दो-दो आदमी एक-एक हाथ थामे हुए थे, पर उनका हाथ सीने पर से हटा न पाते थे। थोड़ी देर बाद वे बेहोश हो गये। सारा सीना उन्होंने कुरेद डाला था।

थोड़ी देर बाद उन्होंने धीमे से अपना सिर उठाया और एक कोने में घूरते हुए अपना हाथ बढ़ाकर वे चिल्ला पड़े—'वह दुखनी की आत्मा! आयी—वह—वह—वह, ठण्डी आत्मा! ठिठुरती आत्मा! काँपती आत्मा!' इतना कहकर एकदम चारपाई से उठ पड़े और झपटकर उसी तरफ़ को बढ़े और गिर पड़े जिस तरफ़ संकेत कर रहे थे। मैंने जल्दी से उन्हें उठाया। सारा शरीर ठण्डा हो रहा

था। मुख की आकृति बिगड़ गयी। पुतलियाँ सफ़ेद हो गयीं। डाक्टर तो बाहर बैठे ही थे। मैंने उन्हें आवाज़ दी। वे फ़ौरन आये। उन्होंने शरीर टटोलकर कहा—'प्राणान्त हो गया!' घर में कुहराम मच गया।

दुखनी फिर कभी न आयी।

कृष्णा बाबू की मृत्यु का कारण उनके हृदय की उत्कट दयालुता थी अथवा फ़िलासफ़रों की झक इस बात को मैं आज तक निश्चित नहीं कर सका।

ठाकुरजी

एक छोटा-सा घर था। उसमें एक छोटा-सा परिवार रहा करता था। कुल जमा तीन आदमी थे, एक बुढ़िया अपने बेटे और बहू के साथ रहती थी। यह एक हिन्दू परिवार था। इस घर में एक अनुपम शान्ति निवास करती थी। इसका कारण कदाचित घरवालों का नियमित कार्यक्रम था।

बुढ़िया रोज़ चार बजे सवेरे उठती; नित्य-कर्म से निवृत्त होकर लोटा, धोती और डोलची लेकर नहाने चली जाती। घर से गंगाजी कोई तीन, चार मील की दूरी पर थीं। जब बुढ़िया जाने लगती, बहू को जगा देती। बहू उठती, चक्की चलाती, घर बुहारती और फिर स्नान इत्यादि करके भोजन बनाने का सामान करने लगती। राजकुमार—यह बुढ़िया के बेटे का नाम था—ज़रा देर से उठता और नित्य-कर्म करके रामायण-भागवत पढ़ता। उसे धार्मिक पुस्तकों से बड़ा प्रेम था। वह क़रीब साढ़े आठ बजे भोजन करता और दफ़्तर चला जाता। कभी राजकुमार के दफ़्तर जाने के कुछ पहले, और कभी जाने के कुछ ही देर बाद बुढ़िया नहाकर आ जाती। आकर वह ठाकुरजी को जगाती; उन्हें नहलाती, भोग लगाती, अग्यारी करती और माला जपती। इन सब कामों में उसे ग्यारह-बारह बज जाते। बहू सास की बड़ी भक्त थी। वह पति को खिलाकर रसोई से निकल आती और पूजा के पास हाथ जोड़कर बैठी रहती। जब सास पूजा कर लेती तब वह पहले उसे भोजन कराती, पीछे आप करती। गंगाजी बड़ी दूर थीं। बुढ़िया थक जाती। खाना खाने के बाद वह लेट जाती, और बहू बैठकर पाँव दबाने लगती। शाम को उठकर बुढ़िया एक पास के मन्दिर में चली जाती और बहू खाना बनाने में लग जाती। शाम होते-होते राजकुमार भी आ जाता। राजकुमार भोजन करके कहीं घूमने चल देता। मन्दिर से लौटकर जब बुढ़िया आती तब सास-पतोहू बैठकर भोजन करतीं। राजकुमार के लौटने के पहले तक वे लोग भजन गातीं, कथा-वार्ता करतीं। फिर सब सोते।

प्राय: उनके सभी दिन इस प्रकार बीतते थे। न कभी हँसी होती, न कभी रोना होता; न लड़ाई होती, न बखेड़ा होता। पर कुछ दिनों बाद एक ऐसी बात हुई जिसने इस घर का वातावरण ही बदल दिया।

× × ×

राजकुमार के मित्रों में एक महाशय राजकृष्ण थे। इनसे दफ़्तर के ज़रिये जान-पहचान हुई थी। महाशय राजकृष्ण आर्य्यसमाजी थे, और इन्हें दिन-रात आर्य्य-समाज के प्रचार की फ़िक्र रहती थी। अपने नये मित्रों को इनका पहला उपहार 'सत्यार्थ प्रकाश' का हुआ करता था। यह पुस्तक इन्होंने राजकुमार को भी दी।

राजकुमार सनातन धर्म का माननेवाला था। उसे यह पुस्तक लेने में कुछ झिझक-सी मालूम हुई; पर मित्र की दी हुई वस्तु को लौटाएँ कैसे, यह सोचकर उसने उसे ले लिया। उसने अपने मन को इस प्रकार समझा लिया, किसी बात को जानने में हर्ज ही क्या है, सुने सबकी, करे अपने मन की। पुस्तक ले जाकर उसने रामायण-महाभारत से दूर एक ऊँचे ताक़ पर रख दी, जैसे इस पुस्तक के स्पर्श से ही वे पुस्तकें अपवित्र हो जातीं।

राजकुमार ने सोचा था, क्यों इस पुस्तक पर निगाह पड़ेगी और क्यों यह पढ़ी जायेगी; किताब है, पड़ी रहेगी घर में। पर इतने ही से छुटकारा मिलने को न था। राजकृष्ण किताब देकर ही चुप न बैठे रहे। जब कभी मौक़ा पाते राजकुमार से पूछते, 'क्यों भाई, कितना पढ़ा? मानते हो न स्वामीजी की बातें? कोई बात अगर तुम मानने को तैयार न हो तो हम तुमसे बहस कर सकते हैं; तुम्हारी सब शंकाओं का मैं समाधान कर सकता हूँ।' राजकुमार के लिए कोई बचाव न था। राजकृष्ण की दलीलों के सामने हक्का-बक्का हो जाता।

थोड़े दिन और बीते। धीरे-धीरे राजकुमार के आर्य्य-समाज के प्रति जो घृणा के भाव थे जाते रहे। पहले जब राजकृष्ण के घसीटने से वह उसके साप्ताहिक अधिवेशनों में जाता तो अब कहने ही से तैयार हो जाता। धीरे-धीरे वह उसके उत्सवों में चन्दा देने और हाथ बटाने लगा। अभी वह पूरा आर्य्यसमाजी तो नहीं बना था पर वह दिन अब दूर न था। स्वामी दयानन्द का जादू उस पर चल चुका था। अब तो जिस किसी से वह मिलता उससे 'नमस्ते' ही करता। लोग फौरन पूछते, 'क्यों जी, आर्य्य-समाजी हो गये क्या?' बस, इसी पर बहस छिड़ जाती और राजकुमार मूर्तिपूजा से लेकर मृतक-श्राद्ध पर्यन्त सब बातों पर अपना व्याख्यान दे जाता।

राजकुमार को अपनी माँ ही से आर्य्यसमाजी होने की अनुमति लेनी थी। एक दिन उसने अपनी माँ से कहा, 'अम्मा, अब तो होऊँगा मैं आर्य्यसमाजी।' माँ ने कुछ क्रोध और कुछ अधिकार भरी दृष्टि से राजकुमार को देखा, बोली, 'क्या कहते हो!—आर्य्यसमाजी? यह तुम्हें क्या सूझी? तुम्हारे खानदान में भी कोई हुआ है कि तुम्हीं चले होने आर्य्यसमाजी! आर्य्यसमाजी तो छतीसों जात का जूठा खाते हैं, और अब सुनती हूँ कि मुसल्मान-ईसाई का भी जूठा खाते हैं। आर्य्यसमाजी नहीं तो सब होगे।'

राजकुमार अपनी माँ का अदब करता था; या यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि वह उससे डरता था। माँ जितना पानी पिलाती उतना ही पीता। माँ की बात का जवाब उसने कभी न दिया था। उसके जीवन में आज यह पहली बात हुई कि वह माता के क्रोध पर हँस पड़ा, इस हँसी में माता की बातों के प्रति अवहेलना भरी थी। राजकुमार का परिवार एक शान्त सरोवर था। उसकी इस हँसी ने उसके बीच में एक पत्थर फेंक दिया। तरंगें उठने लगीं।

× × ×

सभी नये विचारों को स्थान पाने के लिए युद्ध करना पड़ता है। यही युद्ध राजकुमार के घर में भी छिड़ गया। रोज़ बहस, रोज़ विवाद होने लगे। आख़ीर में एक दिन माता को कहना पड़ा, 'जाओ, जो जी में आये करो; जब नहीं मानते किसी की बात तो करो, भैय्या, जो जी चाहे।' राज़ी से कहिये या नाराज़ी से, किसी तरह माँ की आज्ञा उसे मिल गयी। उसने आर्य्यसमाज के फ़ार्म पर हस्ताक्षर कर दिया।

जब कोई मनुष्य किसी नये धर्म में प्रविष्ट होता है तो उसकी यह इच्छा होती

है कि वह औरों को भी उसका अनुयायी बनाये। राजकुमार की भी यह इच्छा हुई। उसने चाहा कि मैं अपने सब परिवार को आर्य्यसमाजी बना दूँ। उसका पहला धावा स्त्री पर हुआ। स्त्री पढ़ी-लिखी न थी। राजकुमार का समझाना-बुझाना उसकी समझ में न आया। पर पति के प्रति आदर दिखाने के भाव से उसने कुछ-कुछ उसके मन के अनुसार करना आरम्भ किया। पति के सामने तो वह न तुलसी को जल चढ़ाती और न ठाकुरजी को सिर झुकाती पर जब पतिदेव न रहते तब सब-कुछ करती। सास के सामने सास का ऐसा करती और पति के सामने पति का ऐसा। राजकुमार माँ को भी आर्य्यसमाजी बनाना चाहता था। पर वह कभी राजकुमार को पास ही न फटकने देती; वह उससे धर्म के विषय पर बात ही न करती। लेकिन राजकुमार माता को सदा छेड़ा करता था। जिस दिन राजकुमार को दफ़्तर से छुट्टी होती उस दिन तो बुढ़िया का पूजा करना मुश्किल हो जाता। जहाँ बुढ़िया ठाकुरजी को लेकर बैठती, राजकुमार भी आ बैठता, और तरह-तरह के टेढ़े-मेढ़े सवाल पूछने लगता। कहता, 'अम्मा, वह तुम्हारे ठाकुरजी बड़े सोभक्कड़ हैं। सब तो यह कहते हैं कि सबेरे उठना सबसे अच्छा है, पर आप दस बजे उठते हैं, और सो भी कब ? जब कान के ऊपर घड़ियाल घहरता है तब। कहीं इन्हें कोई जगाये न तो हमेशा सोते ही रहें। और फिर जहाँ खाना-पानी मिला फिर लगे सोने। यह तुम्हारे ठाकुरजी हैं कि कुम्भकर्ण के लकड़दादा ?' बुढ़िया कहती, 'हैं जो हैं मेरे ठाकुरजी, तुझे क्या करना, जा दूर हो यहाँ से।' बुढ़िया ये बातें क्रोध से न कहती। वह राजकुमार की बातों को केवल हँसी समझती। पर कभी-कभी राजकुमार की शैतानी हद से ज्यादा बढ़ जाती। तब तो बुढ़िया आगबबूला हो जाती।

एक दिन ऐसा हुआ कि बुढ़िया पूजा-पाठ कर चुकने पर आँख मूँदकर माला जपने लगी। राजकुमार चुपके-चुपके आया, और धीरे से उसने ठाकुरजी को उठाकर छप्पर पर रख दिया। जब बुढ़िया की आँखें खुलीं तो उसने देखा कि ठाकुरजी गायब हैं। समझ गयी— होगी रजुआ की करतूत। राजकुमार बाहर आ बैठा था। बुढ़िया चिल्लायी, 'क्यों रे, तूने मेरे ठाकुर को क्या किया, बोल।' राजकुमार हँसी रोकता हुआ अन्दर आया और आश्चर्य प्रकट करते हुए बोला, 'क्या हुआ ?'

'हुआ क्या, तेरा सिर ? कहाँ ले गया ठाकुरजी को ?'

'ठाकुरजी को ? मैं ? क्या यहाँ नहीं हैं ? कहीं अन्तर्ध्यान न हो गये हों ?'

'बोल जल्दी नहीं इसी चौकी पर सिर पटक दूंगी।'

'कहीं चूहे तो नहीं उठा ले गये तुम्हारे ठाकुर को।'

बुढ़िया की आँखें पल-भर में घर-भर में दौड़ गयीं। उसने छपरैल पर ठाकुरजी को पड़े देखा। लाखों की सम्पत्ति मिल गयी। 'बेईमान ने यहाँ लाके रख दिया मेरे ठाकुर को—इतना घाम— जलते में रख दिया मेरे ठाकुर को—जा तेरे हाथ कटकर गिर पड़ें' इत्यादि कहती हुई बुढ़िया एक खाट घसीट लायी। उस पर उसने एक मचिया रक्खी, जल्दी से ठाकुरजी को उठा लिया, फिर से उन्हें स्नान कराया और बड़ी देर तक वह एक भीगे वस्त्र से उन पर पंखा करती रही। राजकुमार यह सब देखकर छिप-छिपकर हँस रहा था। जब माँ का क्रोध कुछ शान्त हुआ तब वह उसके पास आया और बोला, 'तुम्हीं बताओ ऐसे ठाकुर को पूजने से क्या फ़ायदा जिनमें इतनी भी ताक़त नहीं कि अपने से उठ-बैठ सकें। तुम्हें पूजना चाहिए उस ईश्वर को जो सर्वशक्तिमान् है। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि जो मूर्ति पूजता है वह अनेक जन्म तक नर्क में रहता है।' बुढ़िया क्रोध से बोली,

'भाड़ में जायँ तुम्हारे ईश्वर और चूल्हे में जायँ तुम्हारे दयानन्द। मैं तो जीतेजी अपने ठाकुरजी को न छोड़ूँगी।'

× × ×

रामनवमी का दिन था। बुढ़िया आज के दिन ठाकुरजी का जन्म करती थी। वह आज तीन ही बजे सबेरे उठकर नहाने गयी थी। जल्दी ही लौटी और घर में आकर पूजा-पाठ का सामान करने लगी। उसने प्रसाद बनाया, पंचामृत बनाया, फल काट-कर रक्खे। राजकुमार को मालूम था कि आज क्या होगा। फिर भी माता को खिझाने के लिए वह पूछने लगा, 'आज क्या है भाई, बड़ा सामान है।'

बुढ़िया बोली, 'जानते नहीं आज रामनवमी है - आज मैं ठाकुरजी का जन्म करूँगी —देख रजुआ आज कोई शरारत न करना, तुझे ढेर-सा प्रसाद दूँगी।'

'तो अम्मा तुम्हारे ठाकुरजी मरेंगे कब ?'

'की न शुरू तूने बदमाशी।'

'बदमाशी क्या की ? यह तो क़ुदरत का क़ायदा है कि जिन चीज़ों का जन्म होता है उनकी मृत्यु भी होती है। जब ठाकुर का जन्म होता है तो ठाकुर की मौत भी होगी।'

'देखो बेटा देवी-देवता से हँसी अच्छी नहीं होती।'

राजकुमार ने आज कोई और शरारत न की पर तीन-चार दिन बाद उसने एक दिन ठाकुरजी को उठा लिया और ले जाकर उन्हें गंगाजी में फेंक दिया। राजकुमार जिस बात को सोचा करता था वही कर बैठा। बाद को उसे अपने काम का अनौचित्य प्रतीत हुआ, पर अब क्या हो सकता था; ठाकुरजी गंगाजी की तह में पहुँच चुके थे। जिस बात को केवल हँसी में कर डाला था उसकी गम्भीरता पर विचार करने लगा। उसने अपने मन को इस प्रकार समझा लिया कि यदि माँ ठाकुर पूजने पर अनुरोध ही करेंगी तो उन्हें दूसरे ठाकुरजी ले दूंगा— उनसे बड़े ठाकुरजी ले दूँगा—और क्या होगा ? माँ के गंगा नहाने जाने के बाद वह अपने एक मित्र की साइकिल लेकर ठाकुरजी को गंगा में फेंकने गया था। वह इस भय से कि कहीं रास्ते में उसकी माँ से भेंट न हो जाय, ठाकुरजी को एक ऐसे घाट पर फेंकने गया था जहाँ वह कभी-कभी ही नहाने जाती थी। जल्दी घर आकर उसने खाना खाया। दफ़्तर जाने की तैयारीं में ही था कि बुढ़िया नहाकर आ गयी। बड़ी विधि से हाथ-पाँव धोकर उसने घण्टा-घड़ियाल बजाया, स्तुति-प्रार्थना की और ठाकुरजी का पट खोला, ठाकुरजी तो वहाँ थे ही नहीं। बुढ़िया चिल्ला पड़ी।

'क्यों रे आज तूने फिर ठाकुर को हटाया ?'

'अम्मा आज तुम्हारे ठाकुरजी मर गये।'

'मुझसे हँसी न कर—कहाँ ले गया मेरे ठाकुर को ?'

'जहाँ लोग मरने के बाद जाते हैं, और कहाँ ?'

'क्या गंगाजी में डाल आया ?'

राजकुमार हँसा। बुढ़िया की आँखों में आँसू भरे थे। क्रोध के मारे चेहरा लाल पड़ गया था। बोली—

'और फेंका कहाँ तूने ? राम घाट की तरफ़ आते-जाते तो मैंने तुझे देखा नहीं।'

बुढ़िया के इस प्रश्न में तनिक भी आवेश न था। मनुष्य थोड़े क्रोध में बल-बलाने लगता है, पर जब क्रोध बहुत अधिक हो जाता है तब वह चुप हो जाता है। उसकी सारी शक्ति क्रोध के बोझ से दब जाती है। यही दशा बुढ़िया की थी।

राजकुमार बोला, 'ख़ैर, फेंका तो है मैंने हनुमान घाट पर, लेकिन अब तुम

पता लगाने मत चलना। मिलेंगे नहीं। नाराज़ न हो। बहुत करोगी, ठाकुरजी ही लोगी कि किसी जी जान लोगी। उनसे भारी ला दूँ, तब मानना।'

राजकुमार को दफ़्तर की देरी होती थी। वह झट घर से निकला और चल दिया। बुढ़िया कुछ देर चुपचाप बैठी रही। फिर वह उठकर घर से निकलने को हुई कि बहू ने पूछा, 'कहाँ जाती हो अम्मा?' लेकिन बुढ़िया बहू की बात अनसुनी करके सड़क पर चली आयी। बहू दरवाज़े तक दौड़ी, उसने एकाध बार पुकारा भी पर बुढ़िया दूर निकल गयी थी। परदानशीन बहू अधिक क्या कर सकती थी?

× × ×

गर्मी के दिन—दोपहर का वक़्त—जलती हुई ज़मीन और गर्म गर्द से भरी हुई तेज़ हवा—ऐसे में एक बुढ़िया नंगे पैर, पाँच-छः मील पैदल चलकर थकी हुई, बिना दाना, बिना पानी एक सड़क पर हौले-हौले चली जा रही है। कभी चलने लगती है और कभी दौड़ने लगती है। उसकी चादर कहाँ गिर पड़ी, इसका उसे पता नहीं। चलती ही जाती है। राजकुमार की माँ है।

बुढ़िया हनुमान घाट पर पहुँच गयी। पुजारी-पण्डे सभी चले गये थे। एक मल्लाह का लड़का अपनी नाव का पानी निकाल रहा था। बुढ़िया ने पूछा, 'तूने मेरे लड़के को सबेरे गंगाजी में कोई चीज़ फेंकते देखा था?'

लड़का बोला, 'क्या? लड़का? कैसी चीज़?'

'मेरे ठाकुरजी को मेरे लड़के ने गंगाजी में फेंक दिया है। तुम लोग तो गंगाजी में से पाई, पैसे ढूँढ लाते हो, मेरे ठाकुरजी को ढूँढ़ दो, जो माँगोगे सो दूँगी।'

'एक रुपया लूँगा—लाओ। पहले दे-दो तो ढूँढूँ। ढूँढ तो मैं लाऊँगा छन भर में।'

बुढ़िया के पास इस समय एक पैसा भी न था। उसकी बाँह में चाँदी का अनन्ता था। उसने कहा, 'ले मेरा अनन्ता ले ले, यह पाँच रुपये का है। देखूँ तो, तू कितनी जल्दी ढूँढ़ता है।'

मल्लाह का लड़का चट पानी में कूद पड़ा। इधर गया, उधर गया। यहाँ डुबकी मारी, वहाँ डुबकी मारी। घण्टे-भर में उसने सारा घाट मथ डाला पर ठाकुरजी न मिले। बुढ़िया उस पर आँख लगाये बैठी रही। इतने में एक और मल्लाह का लड़का आ गया। उसने बुढ़िया से पूछा—

'ओ बुढ़िया! क्यों बैठी है?'

'तुझे तैरना आता है? गंगाजी में मेरे ठाकुरजी गिर पड़े हैं, निकाल दे, पैसा दूँगी।'

'दिखाओ पैसा।'

'तू निकाल तो ला, घर चलकर दूँगी।'

'तो फिर जाके अपने आप ढूँढ।'

इतना कहकर वह बुढ़िया को मुँह बना-बनाकर सुनाने लगा:—

जिन ढूँढा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ,
तू बौरी ढूंढन चली रही किनारे बैठ।
—रही किनारे बैठ। बैठ-बैठ-बैठ!

इतने में पहलेवाला लड़का पानी से बाहर आकर बोला, 'मुझे ठाकुरजी नहीं मिलते।' पर जब बुढ़िया ने अपना अनन्ता लौटाने को कहा तो वह बोला, 'जो मैंने दो घण्टे जान दी वह कहाँ गयी?' बुढ़िया ने फिर अनन्ता माँगा। पर दोनों मल्लाह के लड़के वही ऊपरवाली पंक्तियाँ ज़ोर-ज़ोर से गाते हुए बस्ती की तरफ़ भाग

गये। बुढ़िया ने उनकी ओर ध्यान ही न दिया। क्षण भर बाद वह नदी के पार से इन्हीं पंक्तियों की प्रतिध्वनि सुनकर चौंक पड़ी।

थोड़ी देर बाद बुढ़िया पानी की ओर हाथ जोड़कर कहने लगी, 'हे ठाकुरजी! जो तुम्हारे में सत हो तो अपने आप पानी से निकल आओ—निकल आओ भगवान्!—हे नारायण! हे त्रिलोकीनाथ! निकल आओ।' बुढ़िया कभी पानी में झाँकती, कभी छिछले पानी में जाकर टटोलती, कभी लम्बी साँस खींचती, कभी विनती करती, कभी रोने लगती, उसकी अनोखी दशा थी।

× × ×

दिन भर बीत गया था। सूर्य डूबने ही को थे। हवा बन्द हो गयी थी। चारों ओर सुनसान था। नदी अपनी चाल से बह रही थी। राजकुमार की माँ मूर्ति की तरह बैठी थी। मल्लाह के लड़कों ने किनारे पर खेलने के लिए अनेक बालू के ढेर बना रक्खे थे। बुढ़िया भी एक बालू का ढेर मालूम होती थी।

थोड़ी देर में सूर्य्य भी अस्त हो गया। चन्द्रमा की किरणें गंगा की लहरों के साथ खेलने लगीं। एकाएक बुढ़िया उठी, चिल्ला पड़ी—'जिन ढूँढा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ—गहरे पानी पैठ।' बुढ़िया तैरना नहीं जानती थी। पर उसने इन शब्दों के साथ पानी में घुसना आरम्भ किया—घुटने तक पानी में गयी—कमर तक पानी में गयी—कन्धे तक पानी में गयी—वह उतराने लगी। पशुओं को तैरना स्वभाव से ही आता है, उन्हें सीखने की आवश्यकता नहीं होती। बुढ़िया पानी में ऐसा तैरने लगी जैसे उसे तैरना स्वभाव से ही आता था। वह बीच में डुबकी लगाती और कहती—'ये—ठाकुरजी आये मुट्ठी में!' पर जब वह मुट्ठी खोलती तो कहीं कंकड़ रहता कहीं बालू रहती। वह फिर डुबकी लगाती—'ये अबकी बार हाथ में आये!' फिर हाथ खोलती—कहीं घोंघे निकलते कहीं सीप। फिर डुबकी—फिर डुबकी—फिर डुबकी! पर ठाकुरजी कहाँ?

× × ×

एक नवयुवक एक तेज़ी से आते हुए इक्के पर से कूदा। झपटकर मल्लाहों की बस्ती में आया, 'यहाँ दिन को कोई बूढ़ी औरत आयी थी?'—यह राजकुमार था। एक मकान पर दो लड़के मिले, बोले, 'हाँ, आयी थी, उसके ठाकुरजी खो गये थे?'

'हाँ, हाँ।'

'हम लोगों से ठाकुरजी को ढूंढने को कहा और ढूंढ़ने पर यह चाँदी का अनन्ता देने को कहा।'

'तो क्या तुम्हें ठाकुरजी मिल गये थे?'

'ठाकुरजी तो नहीं मिले, लेकिन बुढ़िया ने अनन्ता हमारी मिहनत के लिए दे दिया।' राजकुमार ने अनन्ता लड़कों के हाथ से ले लिया।

'तो बुढ़िया किधर गयी?'

'यह तो हमें नहीं मालूम।'

राजकुमार घाट की तरफ गया। बुढ़िया डुबकियाँ लगा-लगाकर यह कह रही थी, 'ये···इस बार लगे हाथ!' 'ये पाया!' 'अबकी बार···ये!' राजकुमार अपनी माता की बोली भी न पहचान सका। उसकी आवाज़ बदल गयी थी। आश्चर्य से भरा वह किनारे खड़ा रहा। उसकी माता बिना तैरना जाने हुए किस प्रकार इतने गहरे पानी में तैर रही है, और डुबकियाँ मार-मारकर ऊपर आ रही है? यह उसकी समझ में न आ सका। पर इतना तो उसे विश्वास हो गया कि हो न हो यह माँ ही है। राजकुमार ने किनारे खड़े होकर आवाज़ दी 'आओ, लो यहाँ हैं

तुम्हारे ठाकुरजी—आओ-आओ।' बुढ़िया तैरकर किनारे आयी। उसने कड़ी आवाज़ में पूछा—

'कहाँ हैं ठाकुरजी?'

'घर पर।'

'ठीक?'

'ठीक।'

'चलो, दो···'

बुढ़िया की आँखें लाल थीं। चेहरे के सामने सिर के बाल लटक आये थे। पानी की बूँदें लटों से टपक रही थीं। कमर के ऊपर की धोती नीचे चली गयी थी। उसकी सूरत भयानक किन्तु करुणाजनक थी। वह किसी और ही लोक के जीव-सी मालूम पड़ती थी। वह कुछ देर चुपचाप खड़ी रही, फिर गिर पड़ी, बेहोश हो गयी। कई मल्लाहों की सहायता से राजकुमार अपनी माँ को ऊपर लाया। उसे इक्के पर लिटा दिया। आप भी इक्के पर बैठा। इक्का घर पहुँचा। उसकी माँ को होश न आया। वह उसे भीतर ले गया। बहू ने उसके कपड़े बदले। थोड़ी देर बाद बुढ़िया का सारा शरीर तवे की भाँति जलने लगा। उसे ज़ोरों से बुखार आ गया था। राजकुमार माँ को अपनी स्त्री के पास छोड़कर डाक्टर के यहाँ गया।

बुढ़िया चौंककर चिल्ला पड़ी—'जिन ढूँढा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ—गहरे पानी पैठ—गहरे पानी पैठ।' बुढ़िया चारपाई पर यह कहते हुए ढूँढने लगी—'ये ठाकुरजी पाया!' 'ये ठाकुरजी पाया!!' फिर चारपाई पर खड़ी हो गयी। कहीं इधर हाथ मारती, कहीं उधर हाथ मारती। ऐसा मालूम होता था जैसे हवा में तैर रही है। बहू मारे डर के थर-थर काँपने लगी। उसमें इतनी शक्ति कहाँ थी कि बुढ़िया को धर पकड़कर बिठलाती। थोड़ी देर में राजकुमार आया। यह दृश्य देखकर बहुत घबराया। बुढ़िया को शान्त करने के सब प्रयत्न निष्फल गये। राजकुमार बार-बार कहता, 'अम्मा, मैं तुम्हें दूसरे ठाकुरजी मँगा दूँगा, मान जाओ, लेट रहो—लो दवा पियो।' पर बुढ़िया कहाँ सुनने की? वह वायु के प्रकोप में थी। वह एकाएक चारपाई से कूदकर आँगन में आ गयी, ताली दे-देकर नाचने लगी। गाती—

ठाकुर क्यों नहि आओ
पास हमारे तुम्हें पुकारूँ जी,
ठाकुर क्यों नहीं आओ
पास हमारे तुम्हें पुकारूँ जी।

राजकुमार ने कई बार बुढ़िया के पास जाकर उसे पकड़ना चाहा पर वह न पकड़ायी दी। एक बार उसने उसे ऐसे ज़ोर से ढकेला कि वह गिरते-गिरते बचा। राजकुमार की स्त्री कोने में बैठी रो रही थी। राजकुमार 'किंकर्तव्यविमूढ़' होकर अलग खड़ा था। धीरे-धीरे बुढ़िया का स्वर उच्च होने लगा। पैरों की गति भी तीव्र हो गयी। सर के बाल खड़े हो गये। हाथों को तो वह इतने आवेग से फेंकने लगी कि मालूम होता था कि वह आकाश में अब उड़ी—अब उड़ी।—बड़ा भैरव नृत्य था—और उससे भी भयंकरा थी उस नर्तकी की परछाईं जो गृह के टिमटिमाते हुए दीप के प्रकाश में दीवालों पर अपना मूकनृत्य अलग ही दिखा रही थी।

नाचते-नाचते बुढ़िया धड़ाम-से पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसकी आँखें उलट गयीं, साँस धीमी पड़ गयी।

ठाकुर क्यों नहिं आओ
पास हमारे तुम्हें पुकारूँ जी,
तुम नहिं आओ पास
हमारे मैं तो आऊँ जी
मैं तो······'

ये उसके अन्तिम शब्द थे। बुढ़िया ठाकुरजी के पास पहुँच गयी। राजकुमार ने अपनी माँ का शरीर हनुमान घाट में ही प्रवाहित किया। वह जो ईश्वर के निहोरे जड़ पदार्थ के सामने अपना सिर न झुका सकता था, उसे मनुष्य के निहोरे झुकाना पड़ा। अपनी माँ का चाँदी का अनन्ता राजकुमार ने ठाकुरजी की जगह रख दिया है। वह प्रतिदिन प्रातःकाल पट को खोलता है। अब घण्टे-घड़ियाल तो नहीं बजते, पर जब राजकुमार इस अनन्ते को देखकर अपना सिर झुकाता है तो उसकी आँखों में वही श्रद्धा और भक्ति भरी रहती है जो उसकी स्वर्गीया माँ की आँखों में ठाकुरजी का पट खोलते समय रहा करती थी।

उऋण

जिस दिन लाला रामनारायण ने दक्खू को नौकर रक्खा उसी दिन उनके एक लड़की हुई। लाला रामनारायण अधेड़ हो चुके थे पर उनके कोई बाल-बच्चा न था। लड़की के होने पर उन्हें ऐसी ही खुशी मालूम हुई जैसे लड़का हुआ हो। दक्खू के लालाजी के यहाँ नौकर होने और उनकी कन्या की उत्पत्ति में कोई सम्बन्ध न था, फिर भी दोनों बातें एक ही दिन होने से सदा के लिए सम्बद्ध हो गयीं।

दक्खू की उम्र कोई पैंतीस बरस की होगी। उसके कोई और न था। माँ-बाप मर चुके थे। उसने ब्याह किया था, पर उसकी स्त्री भी मर चुकी थी। उसके चार-पाँच बच्चे भी हुए थे पर सब मर गये थे। दक्खू सदा उदास रहा करता था। उसकी जात-बिरादरीवालों ने उसे फिर ब्याह करने पर बहुत ज़ोर दिया था, पर उसने साफ़ इन्कार कर दिया था। सोचता, जब एक बार राम ने सबकुछ देकर छीन लिया तब फिर कौन बार-बार जंजाल में फँसे। अच्छा हुआ सब मर गये; मैं अब निर्द्वन्द होकर कमाऊँगा, खाऊँगा, राम का नाम लूंगा। दुखी चित को किसी तरह समझाना था, दक्खू ने इसी तरह समझा लिया। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट था। सब काम बड़ी खुशी से करता था। कोई एक काम कहे तो दो करने को तैयार रहता था। उसे अपने शरीर पर भरोसा था। दक्खू जाति का कहार था।

लाला रामनारायण भी अनुभवी पुरुष थे। दुनिया देख चुके थे। दक्खू देखने में सीधा और ईमानदार आदमी मालूम होता था। बातचीत से मालूम होता था कि यह आदमी वफ़ादारी से काम करेगा। समझ गये आदमी टिकनेवाला है। दक्खू को उन्होंने खाने-कपड़े और एक मामूली तनख्वाह पर नौकर रख लिया। मकान ही में एक कोठरी दे दी। दक्खू को और क्या चाहिए था? उसके पास कुछ बहुत सामान तो था नहीं। घर-गृहस्थी की चीज़ें उसने पहले ही बेंच-बाँचकर अलग कर दी थीं। एक चारपाई थी, एक बिस्तरा; एक लकड़ी का सन्दूक था जिसमें दक्खू अपने कपड़े वग़ैरा रक्खा करता था, एक थाली थी, एक लोटा, एक पान-सुपारी-कत्या रखने का बड़ा-सा थैला था और एक हुक्का-चिलम और एक डण्डा था। एक ही

कोठरी में उसका सारा सामान समा गया। दक्खू लाला रामनारायण के यहाँ रहने लगा।

दक्खू बड़ा बुद्धिमान था। थोड़े ही दिनों में उसने जान लिया कि घर में कौन-कौन-सा काम करने की ज़रूरत है। वह सबको ठीक समय पर करता और ठीक तरीक़े से करता। घर के सब लोग उसके काम से खुश रहते थे। दक्खू को काम करने में ही खुशी मालूम होती थी। यह तो उसके काम की दशा थी, पर उसका स्वभाव और व्यवहार इससे भी बढ़कर सबका मन जीतनेवाला हुआ। वह अपने मालिक का बड़ा अदब करता था। उनके सामने कभी चारपाई पर न बैठता। उसे हुक्का पीने की आदत थी, पर लालाजी के सामने वह कभी हुक्का न पीता। सदा 'आप' कहकर बोलता और हमेशा डरता रहता।

लाला रामनारायण ने अपनी लड़की का नाम 'कमला देवी' रक्खा था, पर प्यार के लिए सब लोग उसे 'लल्ली' कहा करते थे। लालाजी के परिवार में ऐसा रिवाज था कि जब तक बच्चा छः महीने का न हो जाता था तब तक घर के बाहर नहीं लाया जाता था। लल्ली भी जब तक छः महीने की न हुई भीतर ही रहा करती थी। उसकी माँ ही उसे लिये रहा करती। दक्खू को भीतर जाने की कोई मनाही न थी मगर वह खुद ही ज़्यादा देर भीतर न बैठता। अपना काम-धन्धा करके बाहर चला जाता।

जब 'लल्ली' छः महीने की हो गयी तो एक दिन लाला रामनारायण ने दक्खू को बुलाकर कहा, 'अब से तुम्हारा ख़ास काम यह है कि तुम इस बिटिया को लिये रहा करो। काम चाहे हो या न हो पर बिटिया रोने न पाये। मैं देखूँगा कि अगर और काम ठीक नहीं होता तो चौका-बर्तन करने के लिए एक मज़दूरिन अलग रख लूँगा।'

दक्खू को यह सुनकर खुशी हुई। उसकी खुशी का कारण यह न था कि चलो काम से फ़ुरसत मिली, काम से तो उसे हमेशा खुशी ही रहा करती थी। उसे बच्चों को खिलाने का ख़ास शौक़ था पर क्या करे, परमात्मा ने उसके बच्चे छीन लिये थे। उसकी गोद में फिर एक बच्चा खेले-कूदेगा—इस बात ने उसके हृदय को गद्‌गद कर दिया। बोला, 'जो हुकुम मालिक का।'

× × ×

लल्ली को दक्खू दिन-रात लिये रहता। सारा काम उसे लिये-लिये करता, पर शिकायत की एक ज़बान मुँह से न निकालता। लल्ली भी दक्खू से खूब परच गयी। उसी के हाथ से खाती, उसी के हाथ से दूध पीती। वही सुलाता तो सोती और उसी के पास खेलती। उस दिन दक्खू की खुशी का ठिकाना न रहा जिस दिन लल्ली ने उसे पहले-पहल 'आकू' कहकर पुकारा। उस दिन से दक्खू का नाम 'आकू' पड़ गया। और लोग भी उसे लल्ली के सामने 'आकू' ही कहते।

लल्ली और बड़ी हुई। दक्खू ही उसे कपड़े पहनाता, दक्खू ही उसे बाज़ार घुमाने और मेले-ठेले में ले जाता। दक्खू ही से लल्ली अपनी ज़रूरतें कहती। माँ जब घुड़क देती तब दक्खू से ही आकर उनकी शिकायतें करती। जब किसी चीज़ के लिए माँ पैसे न देती तो दक्खू से ही जाकर माँगती। दक्खू कभी इन्कार न करता। जो चीज़ लल्ली माँगती दक्खू ले देता। उसकी तनख़्वाह के बहुत-से पैसे लल्ली के खिलौनों और मिठाइयों में ख़र्च हो जाते। एक दिन लल्ली की माँ को यह बात मालूम हो गयी। उन्होंने समझा था कि लालाजी लल्ली के खर्च के लिए कुछ पैसे दक्खू को दे जाते होंगे पर जब लालाजी से उन्होंने पूछा तब उन्हें मालूम

हुआ कि अब तक दक्खू अपने ही पैसे लल्ली के ऊपर ख़र्च किया करता था। लल्ली की माँ ने दक्खू को बुलाया। उनके दिल में दक्खू के प्रति बड़ा स्नेह उत्पन्न हुआ, पर उसको ज़रा डाँटती हुई बोलीं —

"तुम्हें तनख़्वाह तुम्हारे पान-तम्बाकू वग़ैरह के लिए दी जाती है। तुम अपने पैसे लल्ली के लिए क्यों ख़र्च करते हो? कौन बहुत-सा पैसा तुम्हारे पास रहता होगा।"

दक्खू की आँखों में आँसू आ गये। बोला—

"मलकिन, मैं क्या ख़र्च करता हूँ। मेरा पैसा कहाँ से आया? सब आप ही का है। मैं तो आपका ताबेदार हूँ। मेरे ही बाल-बच्चे होते तो···"

दक्खू की आँखों से दो बूँद आँसू गिर पड़े। बहू ने बीच ही में बात काटकर कहा—

'रोते क्यों हो, दक्खू?"

"सरकार, अपने बाल-बच्चों की याद आ गयी। राम ने सब छीन लिये। आख़ीर में एक लड़की बची थी। लल्ली की तरह थी। वह भी मर गयी। मलकिन, लल्ली को देखकर उसकी याद आ जाती है और मुहब्बत के मारे कुछ खिला-पिला देता हूँ, मुझे मना न करो।"

लल्ली थोड़ी देर के लिए कहीं चली गयी थी। वह अपना झाँझछुनछुनाती 'आकू' 'आकू' करती दक्खू की ओर दौड़ी और आकर उसके दोनों पैरों के बीच में खड़ी हो गयी। दक्खू ने उसे उठाकर गोद में ले लिया। उसकी आँखों के आँसू अभी सूखे न थे। लल्ली ने उसकी भीगी आँखों को देखा। माँ पास ही खड़ी थी। लल्ली अपने दोनों हाथों की उँगलियों को दक्खू की आँखों में गड़ाती हुई बोली—

"आकू! अम्मा माला?"

दक्खू ज़रा बनकर बोला—

"हाँ लल्ली, अम्मा ने माला है—ऊँ ऊँ ऊँ···"

"तुप हो दाव, मिथाई दूँदी घेल छी।"

दक्खू लल्ली को लेकर बाहर चला गया, बहू भी अपने काम-काज में लग गयीं।

आज पहली बार लल्ली की माँ को यह मालूम हुआ कि दक्खू कोई मामूली नौकर नहीं है। वह उनकी लड़की को अपनी लड़की की तरह प्यार करता है। दक्खू पर सभी का पहले से भी विश्वास था, अब और अधिक हो गया। लालाजी ने दक्खू को बुलाकर एक दिन कहा कि तुम्हारी तनख़्वाह 3) और बढ़ा दी गयी। दक्खू ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—

"मालिक की मर्ज़ी! मैं क्या करूँगा रुपया-पैसा? आपके दरवाज़े पर पड़ा हूँ, मर जाऊँगा, पाँच गज़ कफ़न मँगाकर फेंकवा दीजियेगा। मेरे कोई खानेवाला बैठा है? आपका जूठन खाने को मिलता जाय, आपका उतारन पहनने को मिलता जाय—यही मेरे लिए बहुत है।"

लल्ली की माँ कोई काम कर रही थी, बोलीं—

"दक्खू रुपया जोड़ते जाओ, जब लल्ली का ब्याह करूँगी तब उसे कोई चीज़ बनवाकर दे देना, कुछ से पैर पूज देना, कुछ दामाद को दे देना।"

"अरे मलकिन, वह भी दिन आयेगा जब मैं अपनी आँखों से लल्ली का ब्याह देखूँगा! किसने देखा है। जीती रहे लल्ली।"

"दिन बड़ी जल्दी बीतता है। लड़की के ब्याह की फ़िक्र माँ-बाप को उसके धरती

गिरने के दिन से ही लग जाती है। अभी से रुपया जोड़ोगे तब तो काम चलेगा।"

"मालिक, आप लोग बने रहो, मुझे रुपये की क्या कमी है ?"

बाहर से लल्ली के रोने की आवाज़ आयी। दक्खू चट झपटकर बाहर चला गया।

× × ×

जैसे-जैसे लल्ली बढ़ती गयी दक्खू की मुहब्बत भी उसके लिए बढ़ती गयी। दक्खू कभी-कभी सोचता, मेरी बेटी भी जिन्दा होती तो इतनी ही बड़ी होती। लल्ली बड़ी हो जाने पर भी उसे 'आकू' ही कहकर पुकारती थी। दक्खू भी लल्ली को उसी नाम से पुकारता था। दिन जिस तरह बीतते हैं बीता करते। दुख आते, बीमारी आती; आना होता, जाना होता; तिथि-त्योहार आते, काम-काज पड़ते। सब मौक़ों पर दक्खू अपने काम से मुस्तैद रहता, पर आदमी ही था; कभी कुछ ग़लती हो ही जाती थी। डाँट-फटकार की भी नौबत आ पड़ती। छोड़ने-छुड़ाने तक मामला पहुँच जाता, पर कभी दक्खू अपनी ग़लती की माफ़ी माँग लेता और कभी लालाजी ही अपने क्रोध पर अफ़सोस प्रकट करते। प्रायः लल्ली के बीच में आ जाने से झगड़ा तै हो जाता था। जब-जब दक्खू नौकरी छोड़ने पर तैयार होता लल्ली आकर उसका गला पकड़ लेती, कहती, 'मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी, मैं तुम्हें न जाने दूंगी।' माँ-बाप उसे डाँटते।

'निकल जा तू भी। जा दखुआ के साथ गली-गली घूम।'

पर इन थोथी धमकियों से लल्ली कब अपने आकू का पिण्ड छोड़ सकती थी। जब सबका क्रोध उतर जाता तब फिर दक्खू उसी तरह काम करने लगता, लालाजी और मलकिन फिर उसी तरह उससे खुश हो जाते। जहाँ चार बर्तन रहते हैं वहाँ टिन-टुन हुआ ही करता है। कभी ही कभी आये ऐसे झगड़ों से नौकर और मालिक के बर्ताव में कोई फ़र्क न आया।

× × ×

लल्ली का ब्याह तै हो गया था। जब से लल्ली के ब्याह की चर्चा चलने लगी थी दक्खू की मुहब्बत उसकी ओर और बढ़ गयी थी। लल्ली को तरह-तरह की चीज़ें लाकर खिलाता-पिलाता। सोचता, अब तो लल्ली अपने ससुर के घर चली जायगी; जितने दिन यहाँ है उतने ही दिन खिला-पिला लूँ, फिर तो उसके दर्शन भी दुर्लभ हो जायेंगे। यह घर तो उसके चले जाने से बिल्कुल सूना हो जायगा। मेरा जी तो तब यहाँ बिल्कुल न लगेगा। फिर सोचता, जी लगे या न लगे, लल्ली को तो एक दिन इस घर से जाना ही होगा। क्या मैं चाहता हूँ कि लल्ली का ब्याह न हो? ख़ैर, कहीं रहे, खुश रहे। लेकिन मैं अब किसे देखकर जीऊँगा! इसी प्रकार जब बैठता तब सोचा करता।

एक दिन सोचते-सोचते हँस पड़ा। उसके दिल में आया, कई बार जब मैं यहाँ नौकरी छोड़कर चलने को हुआ था, लल्ली ने आ-आकर मेरा गला पकड़ लिया था और कहा था, 'मैं भी साथ चलूँगी।' अब जब वह मुझे छोड़कर चलने लगेगी तो मैं भी यही करूँगा। उसका पैर पकड़कर बैठ जाऊँगा, कहूँगा, 'मैं भी तेरे साथ चलूँगा।' लल्ली मेरी बात पर हँसेगी तो नहीं। क्या अच्छा हो यदि लल्ली के ससुरालवाले मुझे भी उसके साथ ले चलें। बूढ़ा तो हूँ, पचास-साठ की उम्र है। लल्ली की ससुराल ड्योढ़ी ताकूँगा, एक रोटी खाऊँगा, कौन बड़ी बात माँगूँगा। पर, लल्ली अपने मन से मुझे कैसे अपने ससुराल में रक्खेगी? उसके ससुर से कहूँगा।

बारात आयी। ब्याह हुआ। बिदा-बिदाई का समय आया। नौकरों को भी गहने-कपड़े, रुपया-पैसे मिले। लड़केवाले ने लड़की की तरफ़ के नौकरों-चाकरों को दिया, लड़कीवाले ने लड़के की तरफ़ के नौकरों-चाकरों को। सब नौकर-चाकर ख़ुश थे; सबों ने अपना-अपना बख़्शीश, इनाम ले लिया था, सिवा एक आदमी के। वह आदमी दक्खू था। समधी ने कहा, "भाई, सबको ख़ुश करके जाना चाहिए। नौकर क्या चाहता है? उसकी जो कुछ वाजिब ख्वाहिश होगी पूरी की जायगी।" दक्खू समधी के सामने हाज़िर किया गया। सब घरवालों को बड़ा आश्चर्य था कि दक्खू जो सदा रुपये-पैसे को कौड़ी बराबर समझता था, आज क्यों मिलने-पाने के ऊपर इतना तुच्छ बन गया। लालाजी ने उसे बहुत समझाया था कि समधी साहब जो कुछ ख़ुशी से दे-दें उसे ले-ले, बाद को वह जो कहेगा वे अपनी ओर से दे देंगे, पर दक्खू का सत्याग्रह न टूटा। दक्खू जब समधी साहब के सामने आया, हाथ जोड़-कर खड़ा हो गया। उसकी आँखों में आँसू भरा था। लाला रामनारायण ने अपने समधी को उसका परिचय देते हुए कहा, "जिस दिन लड़की पैदा हुई थी, उस दिन से आज तक इसने लड़की की ख़िदमत की है, लड़की को बस अपनी ही लड़की की तरह समझता रहा है।" समधी बड़े हँसमुख थे, बोल उठे, "तब तो इनका हक़ सब से बड़ा है, और इन्हें तो कुछ लेना ही न चाहिए, ये तो हमारे दूसरे समधी हैं (सब लोग हँस पड़े)। अच्छा, बोलो क्या चाहते हो?"

दक्खू बोला, "हुज़ूर, मैं आपकी गुलामी चाहता हूँ।" समधी साहब की समझ में बात न आयी। साफ़-साफ़ बताने को कहा, दक्खू बोला—

"सरकार, मैं चाहता हूँ कि बिटिया के साथ चलूँ। पन्द्रह बरस से मैंने उसकी ख़िदमत की है, चाहता हूँ उसी की ख़िदमत में उमर बीते। साठ बरस का हूँ, एक रोटी खाऊँगा, आपका दरवाज़ा ताकूँगा। जो कुछ छोटा-मोटा काम-धन्धा बन पड़ेगा करूँगा। इतनी ही मेरी अर्ज़ है।"

समधी साहब राज़ी हो गये।

लल्ली को माँ-बाप के बाद दक्खू ही प्यारा था। छुटपन में तो वह दक्खू को माँ-बाप से भी ज़्यादा चाहती थी। वह सोचती, जब माँ-बाप ही छूट जायेंगे तो आकू का ही छूटना क्या? पर, जब उसे मालूम हुआ कि आकू साथ चलेगा तो उसे बड़ी ख़ुशी हुई। माँ-बाप के वियोग का दुख आधा हो गया। जब बेटी ससुराल जाती है तो माँ को इस बात की बड़ी चिन्ता रहती है कि बेटी को न जाने किस तरह रहने को मिलेगा, न जाने कौन-कौन-सी तकलीफ़ें होंगी, न जाने कैसे स्वभाव के लोग मिलेंगे। जब लल्ली की माँ को मालूम हुआ कि दक्खू लल्ली के साथ-साथ जायेगा तो उनकी चिन्ता बहुत कम हो गयी। दक्खू ने चलते समय अपने मालिक-मालकिन के सामने सिर झुकाकर माँफ़ी माँगी और लल्ली के साथ चल दिया।

× × ×

अपने घर जाते ही लल्ली घर की पुरखिन हो गयी। सास थी ही नहीं, थोड़े दिन बाद ससुर का भी देहान्त हो गया। लल्ली के पति जब खा-पीकर दफ़्तर चले जाते तो वह अकेली रह जाती। ऐसे समय में यदि उसका आकू भी न होता तो वह किससे बोल-बतलाकर अपना दिन बिताती?

स्थान-परिवर्तन से दक्खू के जीवन में कोई अन्तर न आया। वैसा ही रहन-सहन था। वैसा ही बर्ताव। हाँ, काम अवश्य अब वह कम कर सकता था। फिर भी दिन भर कुछ-न-कुछ करता ही रहता था। लल्ली को जिस तरह भी हो सके आराम देना उसका मुख्य ध्येय था। रसोई के ऊपर के सब काम कर देता। कहीं

तरकारी काट देता, कहीं मसाला पीस देता, कहीं खाने के लिए पीढ़ा-पानी रख देता। आकू की इन छोटी-मोटी सेवाओं के कारण अकेली रहने पर भी लल्ली को गृहस्थी कुछ बोझ न मालूम पड़ी। जिस काम में वह आकू की सहायता चाहती वह देने को तैयार रहता। पर लल्ली बड़ी दयावान थी। वह कोई मिहनत-मशक्कत का काम अपने आकू से न कहती। वह जानती थी कि आकू अब बुड्ढा हो चला है और थोड़ा ही काम करने से थक जाता है। उसे मालूम था कि आकू कुछ पैसों की गरज़ से यहाँ नहीं आया है; उसकी मुहब्बत उसे यहाँ लायी है। अगर मेरी मुहब्बत न होती तो मेरे बाप ही के यहाँ रहता। वहाँ तो अब काम बहुत कम हो गया होगा।

पर ईश्वर ने आकू के योग्य काम भेज दिया। दो-चार बरस में लल्ली के लड़के-बाले हो गये। वह उनको खेलाता, उनकी चारपाई के पास बैठकर पंखा डुलाता और बच्चों को खुश करने के लिए देवों और परियों की कहानियाँ सुनाता। जब बच्चे चलने-दौड़ने योग्य हुए तो उनकी देख-रेख में रहता कि वे कहीं दूर न चले जायें। दक्खू लड़कों के ऊपर पूरा ध्यान रखता। बच्चों से उसे शुरू से ही बड़ी मुहब्बत थी; और फिर ये बच्चे तो उसकी लल्ली के थे, इनसे तो उसकी आत्मीयता-सी थी। लाला रामनारायण के यहाँ ही दक्खू घर का-सा आदमी समझा जाता था, पर जब ये बच्चे हुए तब दक्खू पर यह बात और अच्छी तरह प्रकट हो गयी। लल्ली ने अपने बच्चों को उसे 'दक्खू' या 'आकू' कहना न सिखलाया। जब बच्चे समझने-बूझने लायक होते तब वह दक्खू को दिखलाकर कहती—

"भैया ना-ना---नाना के पास जाओ।"

सब बच्चे दक्खू को नाना कहा करते थे। दक्खू सदा लल्ली को अपनी पुत्री की तरह मानता था, पर अब उसे भी ज्ञात हो गया कि लल्ली भी उसे पिता की तरह समझती है। लड़कों के दुख-बीमारियों में लल्ली सदा अपने आकू की राय लेती। आकू भी उसके हित की बातें समझाता-सुझाता और बड़े-बूढ़ों की तरह सम्मति देता।

लल्ली के पति ज़रा चिड़चिड़े स्वभाव के आदमी थे। दक्खू के काम से सदा असन्तुष्ट रहते। कहते, दक्खू काम ही क्या करता है? इससे कम तनख़्वाह पर कोई तन्दुरुस्त आदमी नौकर रक्खा जा सकता है जो चिनगारी की तरह दौड़-दौड़कर काम करे। इससे कोई काम भी कहें तो देर में करता है। दक्खू में अब जवानी की तेज़ी और चटक न थी। लल्ली के पति जैसे नौजवान आदमी थे वैसा ही नौकर भी चाहते थे। दक्खू को वे केवल नौकर ही समझते थे। उन्हें दक्खू के लिए न इज़्ज़त थी और न मुहब्बत। जब कभी वे दक्खू को छुड़ाने की बात करते लल्ली उनका विरोध करती। वह कहती, पुराना आदमी है, ईमानदार है, दरवाज़े पर दिन-रात बैठा रहता है, घर से तिनके ऐसी चीज़ नहीं जाने पाती, लड़कों को देखता-भालता रहता है; जन्म-भर तो हमारे यहाँ की ताबेदारी की, अब बुड्ढा हुआ तो कहाँ जाय? बात से जब उसके पति न मानते तो रो देती। आँसुओं की नदी पार करना सरल नहीं है। लल्ली के पति की सारी तेज़ी उसके आँसुओं में बह जाती। दक्खू के लिए तो उन्हें कोई ख्याल था नहीं, स्त्री का ख़्याल करके ही दक्खू को रहने देते।

× × ×

चार-छः साल और बीत गये। दक्खू और बेकाम हो गया। अब तो उससे कोई काम न हो सकता। वह जब लल्ली को अपने सामने कोई काम करते देखता तो रो देता।

कहता, 'भगवान् मेरी ताक़त अब कहाँ गयी ! इन्हीं हाथों से धुनाधुन काम करता था और अब इन्हें इधर-उधर घुमाने में भी कष्ट होता है। अब तो मौत आ जाती तभी अच्छा था।' लल्ली आकू की दशा चिन्तित चित से देखा करती। उसने आकू से सब काम कराना वन्द कर दिया। खुद ही आकू का काम जाकर कर आती—उसकी कोठरी बुहार आती, उसकी अँगीठी में आग जला आती, उसकी चिलम भर देती। आकू को उसके लिए लल्ली को यह सब काम करते देखकर बड़ी शर्म आती, पर अब वह अपना काम करने के लिए भी बहुत दुर्बल हो गया था। वह चाहता था कि एक दिन एकाएक मौत आ जाये, पर मौत बुलाने से तो आती है नहीं। ऐसे ही कोई भाग्यवान होता है जो चलते पौरुख मर जाता है। मरने के पहले सबको दुख-बीमारियाँ झेलनी पड़ती हैं। दक्खू था तो इतना अच्छा आदमी पर पूर्व जन्म के कर्म न जाने कैसे थे कि उसे मरते समय बड़ा कष्ट भोगना पड़ा।

वह बीमार पड़ गया। पहले बुख़ार आना आरम्भ हुआ। साथ ही बदन में दर्द भी बढ़ा। सारा शरीर सूज आया। लल्ली के लिए काम ही काम हो गया। रोटी-पानी करती, घर का काम देखती, बाल-बच्चों को सम्हालती, और अपने आकू की सेवा-सुश्रूषा करती। उसे आकू की सेवा में बड़ा आनन्द आता। सोचती आकू ने हम लोगों की बड़ी सेवा की है, अब ईश्वर ने यदि हमें अपना ऋण चुकाने का अवसर दिया है तो हम क्यों चूकें ? अपने कामों का हर्ज करके भी वह आकू की सेवा करती। आकू को वह स्वप्न में भी इस बात का ध्यान न होने देती कि उसके आख़िरी वक़्त पर उसका कोई अपना नहीं है जो इसकी देख-रेख करनेवाला हो। वह आकू की सब प्रकार की सेवा बिना किसी हिचकिचाहट के करती थी।

किन्तु लल्ली के पति को जाति का अभिमान था। उनके लिए दक्खू एक ओछे क़ौम का आदमी था। वे इस बात को उचित नहीं समझते थे कि एक उच्च जाति की स्त्री नीची जाति के पुरुष की सेवा करे। लल्ली को आकू से कितनी मुहब्बत है, इस बात को वे भी जानते थे। इस कारण सीधे तो नहीं, पर घुमा-फिराकर यह दिखलाने की कोशिश करते थे कि आकू की सेवा घर के काम में बाधा डालती है। लल्ली के पति की बात कुछ हद तक ठीक भी थी, क्योंकि घर के काम की उपेक्षा करके भी उसे कभी-कभी दक्खू का काम करना पड़ता था। वह कहती, घर-गृहस्थी तो हमेशा रहेगी, पर दुख, बीमारी थोड़े दिनों के लिए है। वह बड़े प्रेम से अपने आकू की सेवा करती। उसे आकू की जाति का कोई ध्यान ही न था।

'जात - पाँत पूछै ना कोय
हर को भजै सो हर का होय'

प्रेम की कोई जाति नहीं होती। आकू की उससे मुहब्बत थी, उसकी आकू से मुहब्बत थी। आकू के ऊपर संकट था, वह उसके संकट में सहायक होना अपना धर्म समझती थी।

आकू की बीमारी कम होने के बजाय बढ़ती ही गयी। जैसे-जैसे उसकी बीमारी बढ़ती गयी लल्ली उसके लिए और अधिक चिन्तित रहने लगी, उसकी सेवाएँ और बढ़ गयीं। उसे मालूम हो गया कि आकू अब नहीं बचेगा, दो-चार दिन का मेहमान और है। उसने आकू को, जो-जो चीज़ें उसको पसन्द थीं, सब बना-बनाकर और मँगाकर खिला दीं, जिसमें उसका जी किसी चीज़ को तरसे न।

दो-एक दिन और बीते। आकू को दस्त आने लगे। बिछौने पर ही दस्त हो जाते। आकू में अब उठने की बिल्कुल ताब न थी। लल्ली ही उसके बिछौनों को

धोती, पछाड़ती। लोग अपने सगे-सम्बन्धियों का भी ऐसा काम करने से घृणा करते हैं, पर लल्ली यह सब बड़े हर्षित चित से करती। लल्ली के पति के लिए तो अब बात असह्य हो गयी। उन्होंने कहा कि, 'इसकी जाति-बिरादरी के लोगों से कहो कि इसे यहाँ से ले जायें, इसके रिश्ते-नाते के सैकड़ों आदमी होंगे। हमारा काम यह नहीं है कि नौकरों का पाख़ाना उठाते फिरें।' लल्ली ने अपने पति को बहुत समझाया-बुझाया; कहा, 'आकू अब दो ही चार दिन चलेंगे। मैं चाहती हूँ कि उन्हें मरते समय कष्ट न हो। दूसरा कोई इन्हें इस मुहब्बत से न रक्खेगा। माना कि आकू के पास रुपया-पैसा है और रुपया देकर इनकी सेवा करायी जा सकती है, पर यह मतलब की सेवा होगी। सेवा जब तक निःस्वार्थ नहीं होती ठीक नहीं होती। इससे न तो सेवा करनेवाला आनन्द पाता है और न सेवा करानेवाला। क्यों अब अन्तिम समय में हम ऐसा काम करें कि ज़िन्दगी भर पछतावा बना रहे। ईश्वर क्या कहेगा? दीन-दुखियों की सेवा से बड़ा पुण्य होता है, बड़ा सबाब मिलता है। किसी का मैला धो देने से कुछ हाथ नहीं कट जाते।' लल्ली के पति ने उसकी एक न सुनी। उसके एक रिश्तेदार को ढूँढ लाये। कुछ रुपये मिलने की आशा ने जल्दी से रिश्तेदार बना दिये। वह दक्खू को अपने घर लिवा जाने को राज़ी हो गया। एक डोली उसे लिवा जाने को ले आया। डोली कहार देखकर लल्ली बहुत घबरायी। उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे यम के दूत उसके आकू को जीते ही ले भागने को आये हों। सोचने लगी, क्या सचमुच उसके आकू ऐसी दशा में उसकी आँखों से दूर चले जायेंगे, और उसे यह भी पता न लगेगा कि वे किस आराम-तकलीफ़ से मरे? सेवा से ऊबकर कहीं रिश्तेदार कुछ अनर्थ न कर बैठे! इसे सोच-कर वह काँप उठी। उसने कहा, ज़रा आकू से तो पूछें कि वह क्या चाहता है। आकू को अपने तन-बदन की सुध-बुध तो थी नहीं, पर जब लल्ली ने जाकर उसे पुकारा तब उसने आँखें खोल दीं। वह बोली,

"आकू, तुम्हारी फुफेरी बहिन के देवर के साढ़ू तुम्हें अपने घर लिवा जाना चाहते हैं। तुम क्या चाहते हो?"

आकू ने आँखों में आँसू भरकर धीमे से कहा—

"तुम्हें देखते मरूँ..."

लल्ली आकू को यदि वह जाना भी चाहता तो न जाने देती, पर अब तो वह अपने विचार में और दृढ़ हो गयी। उसने रिश्तेदार को लौटा दिया, डोली भी लौट गयी। लल्ली को कुछ धैर्य हुआ। पति से ज़रा दृढ़ता से बोली, 'जब तक आकू स्वयं न जाना चाहें मैं उन्हें अपने दरवाज़े से न हटाऊँगी। उसने जब उमर भर हमारा दरवाज़ा नहीं छोड़ा तब यह उचित नहीं है कि हम उसे अपने दरवाज़े से ढकेलकर हटा दें।' पति महोदय सिटपिटाकर रह गये। स्त्री जब तक अपना अधिकार नहीं जमाती तभी तक कमज़ोर रहती है।

दूसरे दिन आकू की दशा और भी ख़राब हो गयी। आकू चारपाई पर लेटा था। उसकी साँस ज़ोरों से चल रही थी, लल्ली सिरहाने पर बैठी थी। उसने आकू से पूछा—

"आकू! तुम किसी से कुछ कहना-सुनना चाहते हो?"

आकू ने रुक-रुककर धीमे-धीमे कहना शुरू किया—

"हाँ—एक बात—सन्दूक में—आठ सौ रुपए—हैं। वह तुम—ले लेना—बेटी समझकर देता—हूँ। तुम्हारा बड़ा—ऋणी हूँ—कुछ हल्का हो—जाऊँ—गा।"

"तुम्हारी कृपा से मेरे पास बहुत है। तुम्हारे बाद उसी धन से मैं तुम्हारी क्रिया-कर्म करा दूँगी, दीन-दुखियों को खिला दूँगी, जिसमें तुम्हारा आगे का भी जन्म बने। मुझे सिर्फ़ तुम्हारी दुआ चाहिए।"

"उसके लिए—सौ रुपए—अलग—हैं। यह—तुम—ले लेना। दुआ—देता हूँ—सुखी—रहो—तुम्हारे बच्चे—सुखी—रहें—। मैं—तुम्हारा बड़ा ऋणी हूँ..."

"आकू! जन्म भर तुमने हमारी सेवा की; अपनी ज़िन्दगी हम लोगों के लिए दे दी। हम तुम्हारे ऋणी हैं।"

"बेटी लल्ली—तुम मुझसे—उऋण हो—गयी हो—पर—मैं नहीं। तुम्हारा—बड़ा ऋणी—हूँ..."

लल्ली ने 'नहीं', 'नहीं' करके बात टाल दी। दक्खू में अधिक बोलने की शक्ति न थी। वह चुप हो गया।

× × ×

आठ दिन से दक्खू की साँस ऊपर नीचे चल रही है, पर उसका प्राण नहीं निकलता। लल्ली से उसका यह संकट देखा नहीं जाता। चाहती है, कि उसे अब इस जीर्ण-शीर्ण शरीर से छुटकारा मिल जाय। दुआ करती है, कि हे भगवान् अब इनका संकट काटो, पर मालूम होता है ईश्वर उसकी सुनते ही नहीं।

आठवें दिन लल्ली ने उद्विग्न होकर पूछा—

"आकू! तुम्हारा जी किस चीज़ में अटका है? अब हम लोगों का छोह छोड़ो, मोह-माया से मन हटाओ, राम-राम करो।"

दक्खू हिम्मत करके बोला। उसके शब्द सायँ-सायँ करके निकल रहे थे।

"तु—म्हा—रा—ब—ड़ा—ऋ—णी। रु—प—ए—दे—ता—हूँ—ले—लो। तो—ह—ल—के—दि—ल—म—र—जा—ऊँ..."

दक्खू के शब्दों में इतनी आर्तता थी कि लल्ली अब उसका विरोध न कर सकती थी। वह बोली। आकू अपनी बड़ी-बड़ी आँखें फैलाकर उसकी ओर देखने लगा।

"अच्छा जो रुपया तुम मुझे दे रहे हो वह मैं ले लूंगी।"

इतना सुनते ही दक्खू की आँखें परम सन्तोष से बन्द हो गयीं। आँखों के बन्द होते ही उसकी साँस एकदम से धीमी पड़ गयी। लल्ली ने झट नाड़ी पकड़ी, छूट रही थी। लल्ली ने तुलसी, सोना और गंगाजल आकू के मुँह में डाल दिया। आकू की आँखें पलट गयीं, मुँह खुल गया, प्राण निकल गये, लल्ली चिल्ला पड़ी—

'आकू अब मैं तुमसे उऋण हो गयी। यदि मैं तुम्हारी अन्तिम सेवा न कर पाती तो जन्म भर तुम्हारे ऋण से दबी रहती। भगवान तुम्हारी आत्मा को शान्ति दें।'

दोनों परस्पर ऋणी थे, दोनों एक-दूसरे से उऋण हो गये।

स्वार्थ*

[1]

सिपाही मोहनसिंह के हृदय पर वासना ने विजय पायी। सन्ध्या का समय था, बर-सात के दिन। उसने अपनी वर्दी-पेटी कसी, अपनी कोठरी के एक ताक़ पर रक्खे हुए टूटे शीशे के टुकड़े में अपना मुँह देखा, मूछें ऊपर को चढ़ायीं और ननकू तमोली की दूकान की तरफ़ पैर बढ़ाये। ननकू की दूकान थाने से थोड़ी ही दूर पर थी। रास्ते में कुछ ऐसी मौज में आ गया कि कजली गुनगुनाने लगा—'सजनी पिया नहीं घर आये बरसन लागे पनियाँ ना'···। पच्चीस-छब्बीस बरस की उसकी उम्र थी, कसरती शरीर था, अंग-अंग में मस्ती थी, झूमता चला आता था। एकाएक उसने गाना बन्द कर दिया। उसकी आँखें ननकू की दूकान पर पड़ चुकी थीं। ननकू की लड़की मनकी दूकान पर बैठी थी।

दूकान के पास पहुँचकर मोहनसिंह ने खाँसा। मनकी की आँखें आप ही आप उधर फिर गयीं। सिपाही को देखकर उसने आँखें फेर लीं। सिपाही के खाँसने का इच्छित प्रभाव हुआ। इसीलिए उसने खाँसा था कि जिसमें एक बार मनकी उसकी तरफ देख ले। अब तक सिपाही पास आ गया था। बोला, 'दो बीड़े पान तो लगा देना।'

मनकी ने फुर्ती के साथ उसे पान बनाकर दिया। जब तक वह पान बनाती रही मोहनसिंह उसी की ओर देखता रहा। पान लेकर उसने अपने मुँह में रक्खा। दूकान से लटकते हुए कपड़े में हाथ पोंछा। फिर बोला, 'ज़रा चूना और देना', फिर कत्था और माँगा, फिर सुपारी कम मालूम हुई, फिर थोड़ी तम्बाकू की ज़रूरत हुई। मोहनसिंह को उन सब चीजों की आवश्यकता कुछ भी न थी, पर मनकी की दूकान पर खड़े रहने और उससे दो-चार बातें कह देने का कोई बहाना तो चाहिए ही। उसने अपनी जेब में हाथ डाला और एक अठन्नी निकालकर मनकी के हाथ पर रख दिया और बिना बाक़ी पैसा माँगे हुए चल दिया। मनकी ने सोचा सिपाही ने पैसे के धोखे अठन्नी दे दी है। उसने जल्दी से उसे अपने गल्ले में डाल दिया—खूब ठगा। मोहनसिंह ने सोचा मछली ने चारा पकड़ लिया है। उसने अपने को शाबाशी दी—खूब फाँसा।

दूसरे दिन फिर उसी ताव-भाव से मोहनसिंह मनकी की दूकान के सामने दिखायी दिया। आज फिर उसने पान लिया और फिर अठन्नी निकालकर उसकी हथेली पर रख दी। आज तो अठन्नी देखकर मनकी चौंकी। मोहनसिंह जाने ही वाला था कि उसने पुकारा, "बाकी पैसा तो लेते जाओ, कल भी अपना बाक़ी पैसा छोड़ गये थे।" मोहनसिंह ने एक अर्थपूर्ण रीति से हँसकर अपना मुँह फेर लिया। पर इतना उसने भी देख लिया कि मनकी भी मुसकरा रही है। मोहनसिंह ने जाते हुए सोचा— आधी सफलता मिल गयी।

तीसरे दिन तीसरी अठन्नी मनकी की हथेली पर थी।

"मैं न लूँगी।"

"चुपचाप रख लो, कोई आ जायेगा तो मुफ़्त में···।"

तीन दिनों में मोहनसिंह ने मनकी से एक गुप्त सम्बन्ध स्थापित कर लिया।

* माया, सितम्बर 1932

[2]

मनकी जब छोटी थी तभी उसकी माँ का देहान्त हो गया था। उसका पिता ननकू उसके थोड़े ही दिन बाद अन्धा हो गया। इन दो व्यक्तियों के अतिरिक्त ननकू के परिवार में कोई तीसरा न था। पहले तो अपनी दूकान पर ननकू ही बैठा करता था पर जब आँखों से बिलकुल लाचार हो गया तब मनकी को लिवा लाने लगा। सुबह होती तो वह मनकी का कन्धा पकड़ता और दूकान को चला जाता। मनकी दूकान पर बैठकर पान बेचती और बूढ़ा नीचे बैठकर भजन गाता और बरसात के दिन में आल्हा सुनाता। उसे पूरा आल्हा ज़बानी याद था। दोपहर को दूकान बन्द कराके मनकी को घर ले जाता। मनकी खाना बनाती, दोनों खाते और फिर लगभग तीन-चार बजे कि दूकान आ जाते। रात को दस-ग्यारह बजे कहीं जाके लौटना होता। लगभग पन्द्रह वर्ष से ननकू और मनकी का कार्यक्रम इसी भाँति चल रहा था।

मनकी की अवस्था इस समय बाईस वर्ष के लगभग थी। सात-आठ वर्ष की अवस्था से उसे दूकान पर जाना पड़ता था। उसने लड़कपन का सुख कुछ भी न जाना। जब बच्चों में दौड़कर चलने की स्वाभाविक इच्छा होती है, उसे अपने पिता के आगे धीमे-धीमे चलना पड़ता था। वह देखती थी कि उसकी उम्र की सहेलियाँ खेल रही हैं, दौड़ रही हैं, झूल रही हैं—पर उसके लिए तीन—केवल तीन शुष्क काम थे—दूकान पर मूर्ति की तरह बैठना, रास्ते में अपने पिता को धीरे-धीरे लेकर दूकान से घर आना और घर से दूकान जाना और खाना बनाना।

मनकी की अवस्था बाईस वर्ष की थी पर अभी तक उसका विवाह नहीं हुआ था। ननकू तो जैसे उसका विवाह करना भूल गया था या जान-बूझकर भुला दिया था। आठ बरस की भोली-भाली जिस मनकी को देखकर उसकी आँखें सदा के लिए बन्द हो गयी थीं, उसे सम्भवतः वह अब भी उतनी ही बड़ी समझता था। पर मनकी अब पूर्ण युवती थी, यौवन उसके अंग-अंग से फूटा पड़ता था। मुहल्लेवाले जब कहते 'सूरदास बेटी का ब्याह कर डालो' तो कहता 'जब समय आयेगा तब कोई रोक न सकेगा, अभी उसकी भावी नहीं है।' कोई ज्यादा ज़ोर देता तो उसे गालियाँ सुनाता, "खिलाता-पिलाता तो मैं हूँ, इन मुहल्लेवालों को न जाने क्यों मेरी लड़की अभारू हो रही है।"

पर जवान लड़की देखी नहीं जाती। जो ही उसे देखता सूरदास से उसके विषय में कहता। लड़की का ब्याह न करने में सूरदास का एक स्वार्थ था। विवाहित होकर लड़की अपने घर-द्वार की होगी। कौन उसे दूकान तक ले जायेगा? कौन दूकान पर बैठकर पान बेचेगा? कौन दो रोटी बनाकर खिलायेगा?

[3]

बाल्यावस्था का सरल सुकुमार चांचल्य मींजा और मरोड़ा जा सकता है, पर यौवन का प्रबल प्रमत्त उन्माद रोका नहीं जा सकता। मनकी की आँखें किसी को ढूंढती थीं। वह उसे मोहनसिंह के रूप में मिला। वह सिपाही के जाल में आ गिरी पर उसे उसमें गिरने का दुःख नहीं था। वह खुश होकर गिरी, हँसकर गिरी।

मोहनसिंह को अब पान पाने के लिए पैसे नहीं खर्च करने पड़ते। अब वे उसे मुफ़्त में मिल जाते हैं। बढ़िया से बढ़िया पान पिपरमेन्ट, इलायची और सुगन्ध के साथ उसके लिए तैयार रहते हैं। दूकान के सामने एक स्टूल पड़ा रहता है। मोहनसिंह

अब आता है और घण्टों इसी पर बैठकर ननकू के भजन सुनता है, भजन क्या सुनता है, मनकी की रूप-माधुरी का स्वाद लेता है।

उसने मनकी के घर को भी देख लिया है। अपनी ड्यूटी भी सामने के चौरास्ते पर करा ली है। खड़ा रहता है और आँखें मनकी की ओर ही लगी रहती हैं। इस पर भी उसे संतोष नहीं। रात की ड्यूटी उसकी कहीं भी हो वह एक चक्कर मनकी के घर ज़रूर जाता है और जब बुड्ढा खर्राटे लेता रहता है तब इन गुप्त प्रेमियों की दो-चार बातें हो जाती हैं।

एक दिन ऐसा हुआ कि जब मोहनसिंह मनकी की दूकान पर आया उसका चेहरा उदास था। मनकी ने उदासी का कारण पूछा। बोला, 'बदली हो गयी।'

'कहाँ की ?'

'बनारस की।'

'कब जाओगे ?'

'आज रात को।'

'मुझे छोड़ जाओगे ?'

'चलोगी मेरे साथ ?'

मनकी ने सिर हिला दिया। सिपाही का चेहरा खिल उठा।

मनकी ने तबियत खराब होने का बहाना किया। दूकान जल्दी बन्द कर दी। गाड़ी प्रयाग स्टेशन से साढ़े बारह बजे छूटनेवाली थी, मनकी अपने दादा के सोने का इन्तजार कर रही थी, पर बुड्ढा दस-ग्यारह बजे सोने का आदी था। वृद्ध का शासन, कठोरता, अधिकार की बेड़ियों से छूटकर यौवन, उच्छृङ्खलता, मधुरता और प्यार की गोद में जाने का विचार कितना सुखकर, कितना सुकुमार और कितना शरीर को पुलकित करनेवाला था। एक जीवन का अन्त और दूसरे का आरम्भ कितना निकट था, फिर भी कितना दूर था। दादा को कहीं नींद न आये ? कहीं जाते हुए ज़रा-सी खट-खुट हो जाये ? कहीं सड़क पर कोई जान-पहचान का न मिल जाये ? कहीं देर हो जाये और वह मुझे वहाँ न मिले ? जो आजीवन कहीं अकेले न आयी-गयी थी उसके लिए आधी रात को घर से निकलने का विचार हिम्मत का काम था। उसका हृदय धक-धक करके एक-एक क्षण गिन रहा था। टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन—दस।

टन—साढ़े दस

टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन—ग्यारह।

'दादा'—मनकी ने धीमे से पुकारा।

कुछ उत्तर न मिला। मनकी घर के बाहर हुई।

थोड़ी देर के बाद उसके पिता ने पुकारा, 'मनकी तबियत कैसी है।' कुछ उत्तर न पाकर बोला, 'सो गई' और सो गया।

[4]

निश्चित स्थान पर मोहनसिंह खड़ा था। दोनों मिले। मनकी बोली, "मुझे ऐसा लग रहा है जैसे दादा मेरे कन्धे पर हाथ रक्खे पीछे आ रहे हों।"

"हुश पागल, जब तक बुढ़ऊ जागेंगे हम लोग बनारस पहुँचेंगे।"

"दादा ने रपट लिखायी तो ?"

"पता कहाँ पायेंगे।"

"जो हुलिया जारी करायें ?"

"पा चुके।"

"आखिर मुझे कहाँ छिपाकर रक्खोगे ?"

"यहाँ"--सिपाही ने अपना दाहिना हाथ अपनी छाती पर रखकर कहा।

बनारस में मोहनसिंह ने उसके लिए एक कोठरी किराये पर ले दी और उसे हिदायत कर दी कि उसके बाहर न निकले। मोहनसिंह रोज अखबार देखता कि कहीं किसी स्त्री के भगाये जाने की खबर तो नहीं छपी है। उसे इस प्रकार की कोई खबर न मिली। वह रोज़ दो-चार घण्टे के लिए थाने से उस मकान को जाता था जहाँ मनकी ठहरी थी। पहले सप्ताह में मनकी को अपने दादा की याद उसके भय के कारण बनी रही। जब मोहनसिंह उसके पास जाता यही सवाल करती, "दादा ने रपट लिखाई तो क्या होगा ?" "मैं पकड़ गयी तो क्या होगा ?" "दादा ने हुलिया जारी करायी तो क्या होगा ?" जब सात दिन बीत गये तब उसे ध्यान हुआ कि जिस काम को उसने बहुत बड़ा समझ लिया था वह तो शायद बहुत छोटा काम है--इतना छोटा कि संसार को उसकी फ़िक्र की ज़रूरत ही नहीं महसूस होती। कोई लड़की अपने पिता को छोड़कर भग गयी, बला से भग गयी।

एक हफ़्ते से अधिक बीतने पर जब कुछ न हुआ तो मनकी का खटका जाता रहा पर पिता की स्मृति बनी रही। उनके भय के रूप ने उनके प्रति स्नेह और दया का रूप ग्रहण किया। वह सोचने लगी, 'मैंने अपने पिता के साथ बड़ा विश्वास-घात किया। सवेरे जब वह उठे होंगे तो कैसे उन्होंने चिल्ला-चिल्लाकर उसे पुकारा होगा। पर, जब कोई न बोला होगा तो क्या सोचा होगा। मुझे घर भर में टटोलते फिरें होंगे। पड़ोसियों ने जब उन्हें घेर लिया होगा तो कैसे दहाड़ मारकर रोये होंगे। उन्हें किसने सवेरे पानी दिया होगा ? कौन उन्हें पकड़वाकर दूकान ले गया होगा ? किसने उनका खाना बनाया होगा ? दूकान न गये होंगे तो खाने-पीने को पैसे कहाँ से मिले होंगे ? मुझे ऐसे अपाहिज पिता को छोड़कर भागना अनुचित था, अन्याय था, पाप था। हाय ! सिपाही ने मेरे ऊपर कौन-सा जादू कर दिया कि चलते समय ज़रा भी मेरा ध्यान इन सब बातों की ओर न गया ? यह सोचते-सोचते उसका जी भर आया और वह खूब रोयी। कई दिन तक उदास बनी रही। सिपाही इसका कारण पूछता पर वह उसके भय के कारण कुछ न कहती।

एक दिन मोहनसिंह बहुत व्यग्र हुआ। वह मनकी को लाया था उसकी यौवन छवि, उसके स्वतन्त्र-हास, उसके अदम्य उल्लास की उपासना करने के लिए, उसकी रोती सूरत देखने के लिए नहीं। उसके बहुत ज़ोर देकर पूछने पर मनकी कहने लगी, "मैं अपने अन्धे दादा की आँख की रोशनी थी, हाथ की लकड़ी। मैं भाग आयी, दादा को कितना कष्ट होगा ! जो मैं लौट जाऊँ···?"

"तुम मेरी आँख की पुतली हो, हाथ की ताक़त। तुम चली जाओगी तो मुझे कितना कष्ट होगा ! जो मैं पागल हो जाऊँ···?"

"तुम्हारे अन्दर दया नहीं है ?"

"तुम्हारे अन्दर प्रेम नहीं है ?"

"है, पर वह परोपकार के लिए दबाया जा सकता है।"

"कब तक ?--जीवन का नियम परोपकार नहीं स्वार्थ-साधन है। परोपकार को जीवन का नियम बनाओ तो आज, इसी समय, हमारी एक पाई की टूटी हाँडी से लेकर लाख रुपये की जान तक की दूसरों को आवश्यकता है। तेरे दादा की रोने की आवाज़ मेरे कानों में आ रही है, पर वह तेरे लिए नहीं रो रहा है, वह रो रहा है तेरी सहायता के लिए, तेरे खाना बनाने के लिए, तेरे पैसा पैदा करने के

लिए—अपने आराम के लिए—अपने सुख के लिए, अपने जीने के लिए। तू समझती वह मर जायेगा। जो अपनी कन्या के यौवन-सुख को कुचलकर भी अपने जीने की साध बुझाता था वह महान स्वार्थी था। इतना बड़ा स्वार्थी इतनी आसानी से नहीं मरेगा। स्वार्थी नहीं मरता, मरता है परोपकारी। हाँ तू यदि उसके पास रहती तो तू मर जाती। तूने अब स्वार्थ-साधन आरम्भ किया है। अब तू जियेगी। जीने के लिए स्वार्थी होना आवश्यक है।"

मोहनसिंह ने उसके दादा का जो रूप उसके सामने खड़ा किया था उसने उसके हृदय में पहली बार उसके प्रति घृणा का बीज बोया। उसने दबती ज़बान से कहा, "हाँ स्वार्थी तो दादा थे।"

"स्वार्थी थे नहीं, हैं, और कितने बड़े हैं मैं तुम्हें छः महीने बाद दिखाऊँगा। जीवन की जितनी गन्दगी, जितना कूड़ा-करकट पुलिस की आँखों के सामने आता है उतना किसी की नहीं।"

प्रियतम के साथ रंगरेलियों में छः महीने का दिन बीतते क्या लगता है। इसमें फूल में काँटे की तरह कसक उठनेवाली बात यदि थी तो वह थी उसके दादा की स्मृति—वे हैं, कि मर गये। या दुख से जी रहे हैं?

मनकी मोहनसिंह के साथ प्रयाग आयी। परदे के इक्के में बैठकर अपनी दूकानवाली सड़क पर आयी। दूकान पर एक स्त्री बैठी थी। ननकू नीचे बैठा फाग उड़ा रहा था। फागुन का महीना था। उसके मन में शंका हुई कि यह स्त्री कौन है? पर इस समय कैसे जान सकती। मोहनसिंह ने पता लगाकर उसे बताया कि ननकू ने एक औरत रख ली है।

सिपाही बोला, "देखा अपने दादा का सच्चा स्वरूप?"

मनकी ने कहा, "हाँ देखा, तुम्हारी बात ठीक निकली।"

सिपाही फिर बोला, "तुम्हारे दादा का नहीं, संसार का यही रूप है।"

चुन्नी-मुन्नी*

मुन्नी और चुन्नी में लाग-डाट रहती है। मुन्नी छह वर्ष की है, चुन्नी पाँच की। दोनों सगी बहनें हैं। जैसी धोती मुन्नी को आये, वैसी ही चुन्नी को। जैसा गहना मुन्नी को बने, वैसा ही चुन्नी को। मुन्नी 'ब' में पढ़ती थी, चुन्नी 'अ' में। मुन्नी पास हो गयी, चुन्नी फ़ेल। मुन्नी ने माना था कि मैं पास हो जाऊँगी तो महाबीर स्वामी को मिठाई चढ़ाऊँगी। माँ ने उसके लिए मिठाई मँगा दी। चुन्नी ने उदास होकर धीमे से अपनी माँ से पूछा, अम्मा क्या जो फ़ेल हो जाता है वह मिठाई नहीं चढ़ाता?

इस भोले प्रश्न से माता का हृदय गद्गद हो उठा। 'चढ़ाता क्यों नहीं बेटी' माँ ने यह कहकर उसे अपने हृदय से लगा लिया। माता ने चुन्नी के चढ़ाने के लिए भी मिठाई मँगा दी।

जिस समय वह मिठाई चढ़ा रही थी उस समय उसके मुँह पर सन्तोष के चिह्न थे, मुन्नी के मुख पर ईर्ष्या के, माता के मुख पर विनोद के और देवता के मुख पर झेंप के!

* सरस्वती, मई, 1932

जन्मदिन को भेंट

नया सबेरा

मुर्गा कहता कुक-ड़ूँ-कूँ-
अभी-अभी मैं जागा हूँ।
जागो, तुम्हें जगाता हूँ।
मुर्गा कहता कुक-ड़ूँ-कूँ-

रात गुज़रनेवाली है,
कम होती अँधियाली है,
सूरज आनेवाला है,
जो करता उजियाला है।

चिड़ियाँ गानेवाली हैं,
जो सुन्दर परवाली हैं,
फूल बिहँसनेवाले हैं,
जिनके रंग निराले हैं।

चिड़िया का घर

चिड़िया, ओ चिड़िया,
कहाँ है तेरा घर ?—
उड़ - उड़ आती है
जहाँ से फर - फर !
चिड़िया, ओ चिड़िया,
कहाँ है तेरा घर ?—
उड़-उड़ जाती है
जहाँ को फर - फर !

बन में खड़ा है जो
बड़ा - सा तरुवर
उसी पे बना है
खर - पातों वाला घर।
उड़ - उड़ आती हूँ
वहीं से फर - फर !
उड़ - उड़ जाती हूँ
वहीं को फर - फर !

तितली रानी

बड़ी सयानी
तितली रानी
फूल-फूल पर जाती है,
फूल-फूल से
रंग चुराकर
अपने पंख सजाती है।
बड़ी सयानी
तितली रानी
मेरा मन ललचाती है,
जब मैं उसे
पकड़ने जाता
इधर-उधर उड़ जाती है।
बड़ी सयानी
तितली रानी
फूल-फूल पर जाती है।

काठ का घोड़ा

काठ का घोड़ा,
काठ की ज़ीन,
उस पर बैठे
लंगड़ दीन।

कोड़ा खूब चलाते हैं
रह - रह एड़ लगाते हैं
कहीं न जाते - आते हैं
झूम - झूम रह जाते हैं।

भैंस

घास हरी है, घास हरी,
हरी घास पर भैंस खड़ी।
भैंस खडी है काली मोटी,
अम्मा, मेरी लाओ सोंटी।
मार-मारकर इसे भगाऊँ,
अपने पौधे - फूल बचाऊँ।
नहीं, इन्हें खा जायेगी,
खड़ी - खड़ी पगुरायेगी।

हाथी दादा

घण्टे की धुन पड़ी सुनाई,
हाथी आता होगा, भाई।
सचमुच हाथी आता है,
दोनों कान हिलाता है।
काला, ऊँचा, भारी है,
कैसी अजब सवारी है।
चढ़ा महावत गर्दन पर,
एक हाथ में अंकुश धर।
इसको वही चलाता है,
सीधी राह लगाता है।
लम्बी सूँड़ लटकती आगे,
इसकी राह छोड़ सब भागे।
हाथी दादा, कहाँ चले?
किसे ढूँढ़ने को निकले?

गुब्बारे

गुब्बारों का लेकर ढेर,
देखो, आया है शमशेर।
हरे, बैंगनी, लाल, सफ़ेद,
रंगों के हैं कितने भेद!
कोई लम्बा, कोई गोल,
लाओ पैसे, ले लो मोल।
मुट्ठी में लो इनकी डोर,
इन्हें घुमाओ चारों ओर।
हाथों से दो इन्हें उछाल,
लेकिन छूना ख़ूब सँभाल।
पड़ा किसी के ऊपर ज़ोर,
एक ज़ोर का होगा शोर।
गुब्बारा फट जायेगा,
खेल ख़तम हो जायेगा।

सागर की लहर

हर-हर-हर-हर
हहर-हहर—
ऊँची उठती लहर-लहर।

ऐसी लगती दूरी पर
जैसी मोती की झालर।

झालर आती जाती पास,
मन में बँधती जाती आस—
मोती मैं चुन लाऊँगी,
घर पर हार बनाऊँगी।

लहर किनारे जब आती
फेन-फेन बस रह जाती।
हर-हर-हर-हर
हहर-हहर—
ऊँची उठती लहर-लहर।

मछुआरा

बड़े सवेरे
उठ मछुआरा
सागर तीरे आता है,
जाल डालकर
गहरे पानी
मछली रोज़ फँसाता है।
धरे टोकरी
सिर के ऊपर
साथ मछेरिन आती है,
सोने-चाँदी
की मछली रख
उसमें घर ले जाती है।

बन्दर-बँदरिया

देखो, दूल्हा बन्दर आया,
साथ बँदरिया दूल्हन लाया।
बन्दर बजा रहा खँझड़ी,
नाच रही दूल्हन बँदरी।
फिर दोनों में हुई लड़ाई,
रूठ बँदरिया मैके आई।
बँदरी बिन बन्दर बेहाल,
चला मनाने को ससुराल।

फिर आपस में करके मेल
लगे खेलने दोनों खेल।
दिखा चुके ये अपना काम
पैसे दो तो करें सलाम।

तारे

माँ जब सूरज ढल जाता है
अँधियारा छा जाता है,
आसमान में जग-मग, जग-मग
दीवे कौन जलाता है ?

रात बीतने पर, सपनों की,
जो सूरज चमकाता है,
जो सोने-चाँदी की किरनें
धरती पर फैलाता है।

वह, जब सूरज ढल जाता है
अँधियारा छा जाता है,
आसमान में जग-मग, जग-मग
दीवे लाख जलाता है।

'नीली चिड़िया' : प्रथम प्रकाशन 1979, पहली बार राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, से प्रकाशित।

चिरंजीव नीलिमा की
चौथी वर्षगाँठ
अथवा पाँचवें जन्मदिन पर
नीलिमा बच्चन
श्वेता बच्चन
अभिषेक बच्चन
नम्रता बच्चन
नयना बच्चन
और पिंकी-आशु को,
दादाजी के
आशीष-प्यार के साथ

नीली चिड़िया

नीले आसमान से उतरी
नीली एक निराली चिड़िया—
गाती उड़नेवाली चिड़िया,
उड़ती गानेवाली चिड़िया।

इस फुनगी से उस फुनगी पर
उड़कर जानेवाली चिड़िया,
इन पत्तों में, उन पत्तों में
छिपकर गानेवाली चिड़िया।

पर फड़काकर नीचे आकर
दाना खानेवाली चिड़िया,
दाना खाकर पर फड़काकर
झट उड़ जानेवाली चिड़िया।

इस डाली से उस डाली पर
उड़-उड़ जानेवाली चिड़िया,
लाख बुलाऊँ लेकिन मेरे
पास न आनेवाली चिड़िया।

नीले आसमान से उतरी
नीली एक निराली चिड़िया—
गाती उड़नेवाली चिड़िया
उड़ती गानेवाली चिड़िया।

बगुले और मछलियाँ

बगुलों ने ऊपर से देखा
नीचे फैला छिछला पानी,
उस पानी में कई मछलियाँ
तिरती - फिरती थीं मनमानी।

सातों अपने पर फड़काते
उस पानी पर उतर पड़े,
अपनी लम्बी - लम्बी टाँगों
पर सातों हो गये खड़े।

खड़े हो गये सातों बगुले
पानी बीच लगाकर ध्यान,
कौन खड़ा है घात लगाये
नहीं मछलियाँ पायीं जान।

तिरती-फिरती हुई मछलियाँ
ज्योंही पहुँचीं उनके पास,
उन सातों ने सात मछलियाँ
अपनी चोंचों में लीं फाँस।

पर फड़काकर ऊपर उठकर
उड़े बनाते एक लकीर,
सातों बगुले ऐसे जैसे
आसमान में छूटा तीर।

मोर

तुमने मोर कभी देखा है
पंछी बड़ा रँगीला है,
कहीं, कहीं, कत्थई, बदन से
बाकी नीला - नीला है।

उसके सिर पर कलँगी होती
होती पूँछ घनी, भारी,
गोली फैला जिसे नाचने
की करता वह तैयारी।

आसमान में बादल छाते
तब वह नाचा करता है,
पंजों में जो तेज़ी होती
साँप भी उससे डरता है।

मोर नहीं उड़ पाता ज्यादा
बैठा रहता पेड़ों पर,
बोला करता बिल्ले जैसा
जोर - जोर से म्याऊँ कर।

बगुलों की पाँत

बगुलों की पाँत !
बगुलों की पाँत !
एक, दो, तीन, चार,
पाँच, छह, सात···
सातों पर फड़काते साथ,
सातों उड़ते जाते साथ !
सातों बनाते एक लकीर—
आसमान में छूटा तीर।

तीर कहाँ को जायेगा ?
देखें, कौन बतायेगा !
बगुलों की पाँत !
बगुलों की पाँत !
एक-दो-तीन-चार-पाँच-छह-सात !

रेल

आओ हम सब खेलें खेल
एक दूसरे के पीछे हो
लम्बी एक बनायें रेल।

जो है सबसे मोटा-काला
वही बनेगा इंजनवाला;
सबसे आगे जायेगा,
सबको वही चलायेगा।

एक दूसरे के पीछे हो
डिब्बे बाक़ी बन जायें,
चलें एक सीधी लाइन में
झुके नहीं दायें, बायें।

सबसे छोटा सबसे पीछे
गार्ड बनाया जायेगा,
हरी चलाने को, रुकने को
झण्डी लाल दिखायेगा।

जब इंजनवाला सीटी दे
सब को पाँव बढ़ाना है,
सबकोअपने मुँह से 'छुक-छुक
छुक-छुक' करते जाना है।

गिलहरी का घर

एक गिलहरी एक पेड़ पर
बना रही है अपना घर,
देख-भालकर उसने पाया
खाली है उसका कोटर।

कभी इधर से, कभी उधर से
कुदक-फुदक घर-घर जाती,
चिथड़ा-गुदड़ा, सुतली, तागा
ले जाती जो कुछ पाती।

ले जाती वह मुँह में दाबे
कोटर में रख-रख आती,
देख बड़ा सामान इकट्ठा
किलक-किलककर वह गाती।

चिथड़े-गुदड़े, सुतली, धागे—
सबको अन्दर फैलाकर,
काट कुतरकर एक बराबर
एक बनायेगी बिस्तर।

फिर जब उसके बच्चे होंगे
उस पर उन्हें सुलायेगी,
और उन्हीं के साथ लेटकर
लोरी उन्हें सुनायेगी।

चमगादड़

चूहे-सा होता चमगादड़
लगे पीठ से होते डैने,
चोंच न होती उसके मुँह में
दाँत बड़े होते हैं पैने।

उसके डैने ऐसे होते
जैसे आधा छोटा छाता,
उसकी टाँगें ऐसी होतीं
जिन पर बैठ नहीं वह पाता।

टाँगों में कटिया-सी होती
अटका जिन्हें लटक वह जाता,
उड़ते-उड़ते, उड़ते कीड़ों
और मकोड़ों को वह खाता।

रात अँधेरी जब कट जाती,
जब उजियाला सब पर छाता,
किसी अँधेरी जगह लटक कर
उलटा चमगादड़ सो जाता।

दादीजी की चिड़ियाँ

रोज सवेरे उठकर दादी
हैं छितरातीं दानों के कन
दानों के कन छितराने पर
कर देतीं घण्टी से टन-टन···

घण्टी की टन-टन सुनकर के
पहले काला कौआ आता,
काँव-काँव कर ज़ोर-ज़ोर से
सब चिड़ियों को न्योत बुलाता।

तीन-चार गौरैयाँ आतीं
पाँच-सात आते हैं तोते,
और कबूतर के दो जोड़े
जिनके पर चितकबरे होते।

पीली-आँख किलहँटा आता
तीतर आता, तितरी आती,
भूरे पर की सात बहिनियाँ
जो कच-कच कर शोर मचातीं।

रह-रह इधर-उधर तक-तक कर
सब पंछी दाना खाते हैं,
जहाँ किसी की आहट पायी
झट सब-के-सब उड़ जाते हैं।

सबसे पहले

आज उठा मैं सबसे पहले।
सबसे पहले आज सुनूँगा,
हवा सवेरे की चलने पर,
हिल, पत्तों का करना, हर-हर
देखूँगा, पूरब में फैले बादल पीले, लाल, सुनहले।
आज उठा मैं सबसे पहले।
सबसे पहले आज सुनूँगा,
चिड़िया का डैने फड़काकर,
चहक-चहककर उड़ना 'फर-फर'
देखूँगा, पूरब में फैले बादल पीले, लाल, सुनहले।
आज उठा मैं सबसे पहले।
सबसे पहले आज चुनूँगा,
पौधे - पौधे की डाली पर,
फूल खिले जो सुन्दर - सुन्दर,
देखूँगा, पूरब में फैले बादल पीले, लाल, सुनहले।
आज उठा मैं सबसे पहले।
सबसे कहता आज फिरूँगा,
कैसे पहला पत्ता डोला,
कैसे पहला पंछी बोला,
कैसे कलियों ने मुँह खोला,
कैसे पूरब ने फैलाए बादल पीले, लाल, सुनहले।
आज उठा मैं सबसे पहले।

कोयल

पात पुराने जब झड़ जाते,
निकल नये पत्ते जब आते,
हरी-भरी डाली के ऊपर,
बैठी कोयल गाती है—
कूऊ-कूऊ-कूऊ-कूऊ

कोयल तन की काली है,
पर मन की मतवाली है,
हरे-भरे पत्तों में छिपकर
मीठे बोल सुनाती है—
कूऊ-कूऊ-कूऊ-कूऊ

इस फुनगी से उस फुनगी पर
तेज़ी से उड़ जाती फर - फर,
नक़ल करो उसकी बोली की,
तो वह सुनकर अपनी बोली
फिर-फिर से दुहराती है—
कूऊ-कूऊ-कूऊ-कूऊ

०००

बन्दर बाँट

'बन्दर बाँट' : प्रथम प्रकाशन 1980; पहली बार राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, से प्रकाशित ।

प्रिय अभिषेक
जन्म-दिन पर लो
बहुत बधाई
प्यार।
यह शुभ प्रात
सुदिन
सुख-सन्ध्या
आये बारम्बार।

चिरंजीव अभिषेक की
चौथी वर्षगाँठ
अथवा पाँचवें जन्मदिन पर

अभिषेक बच्चन
श्वेता बच्चन
नीलिमा बच्चन
नम्रता बच्चन
नयना बच्चन
भीमकर्मा बच्चन

और पिंकी-आशु को
दादाजी के
आशीष-प्यार के साथ

बच्चन
5 फरवरी, 1980

चंचल तितली

रंग - बिरंगे पर फड़काती,
तितली जब बगिया में आती,
सब बच्चों के मन को भाती
सब बच्चों का जी ललचाती।

फूलों के ऊपर मँडराती,
पत्तों के पीछे छिप जाती।
रंगत कैसे इतनी पाती,
नहीं किसी को भी बतलाती।

जी में आता उसे पकड़कर
हम अपने घर में ले आयें,
अपनी दादी को दिखलायें,
अपने दादा को दिखलायें,

यह चंचल - चालाक बड़ी है;
हाथ किसी के कभी न आती,
हाथों की छाया भी उस पर
पड़ी कि वह चट से उड़ जाती।

तितली रानी, बोल सको तो
इतना तो जाओ बतलाती,
मुझको याद तुम्हारी आती,
मेरी याद तुम्हें भी आती ?

गिदगिदान

एक बड़ा - सा गिदगिदान जो
रोज 'लॉन' में आता है,
मुझको ऐसा लगता जैसे
बिस्तुइया का दादा है।

कीड़े और मकोड़े जो भी
पाता चट कर जाता है,
कभी झुकाता नीचे को सिर
ऊपर कभी उठाता है।

हरी घास पर पंजों के बल
जल्दी - जल्दी चलता है,
रुकता थोड़ी देर जहाँ पर
अपना रंग बदलता है।

समय - समय जो रंग बदलते
गिदगिदान कहलाते हैं,
उनके पीछे चलनेवाले
अक्सर धोखा खाते हैं।

एक बड़ा - सा गिदगिदान जो
रोज 'लॉन' में आता है।
मुझको ऐसा लगता जैसे
बिस्तुइया का दादा है।

हंस

तुमने हंस कभी देखा है?
देखी तो होगी तस्वीर।
कितना उजला, कितना सुन्दर
कितना उसका सुगढ़ शरीर।

लम्बी-लचकीली गर्दन है
जैसे उठती हुई लहर
डैने, धरे पीठ पर जैसे
फूल कमल के उल्टे कर।

ठण्डे देशों का वह वासी,
ठण्डक उसको है सुखकर,
आसमान में भी उड़ सकता,
तिर सकता है पानी पर।

धरती पर जब चलता, लगता
धरती जैसे सुख पाती,
इससे सुन्दर चाल किसी की
नहीं कहीं मानी जाती।

और समझदारी भी इसकी
जग में जानी - मानी है,
मैंने कभी बड़े - बूढ़ों से
ऐसी सुनी कहानी है।

पानी - दूध मिलाकर रख दो
हंस नहीं धोखा खाता
पानी छोड़ दिया करता है
दूध - दूध वह पी जाता।

काला कौआ

उजला - उजला हंस एक दिन
उड़ते - उड़ते आया,
हंस देखकर काला कौआ
मन - ही - मन शरमाया।

लगा सोचने उजला-उजला
मैं कैसे हो पाऊँ—
उजला हो सकता हूँ
साबुन से मैं अगर नहाऊँ।

यही सोचता मेरे घर पर
आया काला कागा,
और गुसलखाने से मेरा
साबुन लेकर भागा।

फिर जाकर गड़ही पर उसने
साबुन खूब लगाया;
खूब नहाया, मगर न अपना
कालापन धो पाया।

मिटा न उसका कालापन तो
मन - ही - मन पछताया,
पास हंस के कभी न फिर वह
काला कौआ आया।

लालची बन्दर

एक समय की बात बताऊँ ?
कई दिनों का भूखा बन्दर
खाने को कुछ पा जाने को
घूम रहा था इधर-उधर।

दिया दिखायी उसको सूने
घर में रक्खा एक घड़ा।
और घड़ा भी भुने हुए
कुरमुरे चनों से भरा पड़ा।

दोनों हाथ साथ बन्दर ने
फौरन दिये घड़े में डाल।
चने भरी मुट्ठीयों को वह
लेकिन पाया नहीं निकाल।

घड़ा बहुत छोटे मुँह का था,
हाथ निकल न पाता था,
और लालची बन्दरमल से
चना न छोड़ा जाता था।

फिर-फिर कोशिश करते-करते
बहुत लग गयी उसको देर
बस आ पहुँचे डण्डा लेकर
घर के मालिक रामसुमेर

अब खुद सोच तुम्हीं सकते हो
बन्दर पर जो कुछ बीती।
श्वेता औ अभिषेक, बताओ
बन्दर ने क्या ग़लती की ?

कछुआ और खरगोश

एक नदी-तट पर रहते थे
कछुआ एक, एक खरगोश,
धीमी, तेज़ चाल के थे, पर
मित्र पुराने, जब से होश।

नदी-किनारे खेल-कूद का
मेला लगता था हर साल,
जंगल के जानवर इकट्ठा
हो, रहते थे डेरा डाल।

एक साल की बात, हुआ तै
दौड़ें कछुआ औ' खरगोश।
कछुआ झिझक रहा था लेकिन
सबने उसे दिलाया जोश।

चला तेज़ खरगोश राह में
हरी-हरी फैली थी घास,
खा भर-पेट लगा वह सोने,
नींद कर गयी सत्यानाश।

कछुआ चलता गया बराबर,
ठहरा कहीं नहीं पल भर;
जब जागा खरगोश तो कछुआ
पहुँच गया था मंजिल पर।

धीमी चाल भले हो, लेकिन
लगातार जो चलता है,
अपनी मंजिल को पाने में
मिलती उसे सफलता है।

खट्टे अंगूर

एक लोमड़ी खोज रही थी
जंगल में कुछ खाने को,
दीख पड़ा जब अंगूरों का
गुच्छा, लपकी पाने को।

ऊँचाई पर था वह गुच्छा,
दाने थे रसदार बड़े,
लगी सोचने अपने मन में
कैसे ऊँची डाल चढ़े।

नहीं डाल पर चढ़ सकती थी
खड़ी हुई दो टाँगों पर,
पहुँच न पायी, ऊपर उचकी
अपना थूथन ऊपर कर।

बार-बार वह ऊपर उछली
बार-बार नीचे गिर कर
लेकिन अंगूरों का गुच्छा
रह जाता था बित्ते भर।

सौ कोशिश करने पर भी जब
गुच्छा रहा दूर का दूर
अपनी हार छिपाने को वह
बोली, खट्टे हैं अंगूर।

प्यासा कौआ

आसमान में परेशान - सा
कौआ उड़ता जाता था,
बड़े जोर की प्यास लगी थी,
पानी कहीं न पाता था।

उड़ते - उड़ते उसने देखा
एक जगह पर एक घड़ा,
सोचा अन्दर पानी होगा,
जल्दी - जल्दी वह उतरा।

उसने चोंच घड़े में डाली
पी न सका लेकिन पानी,
पानी था अन्दर, पर थोड़ा,
हार न कौए ने मानी।

उठा चोंच से कंकड़ लाया,
डाल दिया उसको अन्दर,
बड़े ग़ौर से उसने देखा
पानी उठता कुछ ऊपर।

फिर तो कंकड़ पर कंकड़ ला
डाले उसने अन्दर को
धीरे - धीरे उठता - उठता
पानी आया ऊपर को।

बैठ घड़े के मुँह पर अपनी
प्यास बुझायी कौए ने,
मुश्किल में मत हिम्मत हारो
बात सिखायी कौए ने।

ऊँट गाड़ी

ऊँटों का घर रेगिस्तान—
फैला बालू का मैदान।
वहाँ नहीं उगती है घास,
पानी नहीं, लगे यदि प्यास।

कहीं-कहीं बस उग आती है
छोटी झाड़ी काँटे - दार,
भूख लगे तो ऊँटराम को
खाना पड़ता हो लाचार।

चलते - चलते दो ऊँटों ने
आपस में की एक सलाह;
कहा एक ने, चलें बम्बई।
कहा दूसरे ने, भई वाह!

चलते - चलते, चलते - चलते
दोनों पहुँचे सागर - तीर;
लोग देखकर उनको बोले,
इनका कैसा अजब शरीर।

छोटा-सा सिर, लम्बी गर्दन,
लम्बी टाँगें, उचकल चाल।
नन्हीं-सी दुम, पीठ तिकोनी,
सब तन पर बादामी बाल।

देख जानवर यह अजूबा
सूझा लोगों को खिलवाड़।
खूब रहेगा जो खिंचवाये
इनसे गाड़ी पहियेदार।

ऊँटराम अब जुत गाड़ी में
रहे खींचते इस-उस ओर,
लद गाड़ी में नौ-दस बच्चे
हँसते, गाते, करते शोर।

बन्दर बाँट

बाल-नाटिका

स्थान : यह नाटक किसी खुली जगह पर या किसी बड़े कमरे में खेला जा सकता है।

पात्र-पोशाक : इसके तीन पात्र हैं—एक बन्दर, दो बिल्लियाँ। सात-आठ बरस का लड़का बन्दर का, पाँच-छह बरस की लड़कियाँ बिल्ली का पार्ट कर सकती हैं।

बन्दर के लिए चाहिए—पीला चूड़ीदार पाजामा, कुर्ता और दुपट्टा, जो कमरे में पूँछ-सी निकालकर बाँधा जा सकता है; और मुँह पर लगाने के लिए बन्दर का चेहरा जिसमें आँखों और मुँह

की जगह इतने बड़े छेद हों जिनसे देखा-बोला जा सके।

बिल्लियों के लिए चाहिए—काली-सफेद सलवारें, कमं दुपट्टे जो कमर में पूँछ-सी निकालकर बाँधे जा सकते हैं; मुँह पर लगाने के लिए काले-सफेद बिल्लियों के चेहरे जि आँखों और मुँह की जगह इतने बड़े छेद हों जिनसे देखा-बोला सके।

सामान : एक मेज, एक बड़ा मेजपोश या बड़ी चादर, डबल रोटी का टुकड़ा, एक छोटी तराजू।

[पहला दृश्य—कोई कमरा]

(कमरे के बीच में एक मेज है, जिस पर मेजपोश ऐसे पड़ा है वह आगे से ढका है, मेज पर एक डबलरोटी का टुकड़ा है। मेज नीचे एक तराजू रखा है, पर दिखायी नहीं देता।

म्याऊँ-म्याऊँ की आवाज होती है और दाहिनी तरफ काली बिल्ली और बायीं तरफ से सफेद बिल्ली प्रवेश करती है

काली बिल्ली : बिल्ली बहन, नमस्ते !

सफेद बिल्ली : नमस्ते बहन, नमस्ते !

काली बिल्ली : अच्छी तो हो ?

सफेद बिल्ली : अच्छी क्या हूँ, भूखी हूँ।

काली बिल्ली : मैं भी भूखी।

सफेद बिल्ली : खाने को कुछ ढूँढ़ रही हूँ।

काली बिल्ली : उसी खोज में मैं भी निकली।

सफेद बिल्ली : मुझे महक रोटी की आती।

काली बिल्ली : हाँ, मेरी भी नाक बताती, पास कहीं है।

सफेद बिल्ली : रखी मेज पर है वो रोटी।
लपकूं ? कोई आ जाये तो···

काली बिल्ली : तू डर; मैं तो लेने चली···
(काली बिल्ली लपकती है और रोटी लेकर भागने लगती है)

सफेद बिल्ली : ठहर, कहाँ भागी जाती है रोटी लेकर, रोटी मेरी।

काली बिल्ली : रोटी तेरी ! कैसे तेरी ? रोटी मेरी।

सफेद बिल्ली : मैं न दिखाती तो तू जाती ?

काली बिल्ली : अच्छा, क्या मैं खुद न देखती ?
क्या मेरे दो आँख नहीं हैं ?
देख-देखकर क्या तू पाती ?
डरती थी उस तक जाने में !
जा, डरपोक कहीं की, जा भग, रोटी मेरी।

सफेद बिल्ली : रोटी, कहे दे रही, मेरी।
मैं ले जाने तुझे न दूँगी।

काली बिल्ली : देख, राह से मेरी हट जा।
ले जाऊँगी, तुझे न दूँगी।

सफेद बिल्ली : देखूँ, कैसे ले जाती है !
जो पहले देखे हक उसका
है रोटी पर!

काली बिल्ली : पहले दौड़े, दौड़ के ले ले
पहले उसका हक रोटी पर।
रोटी पर पहला हक मेरा।

सफेद बिल्ली : मैं कहती हूँ, रोटी मेरी।

काली बिल्ली : मैं कहती हूँ, रोटी मेरी।
(दोनों झगड़ती हैं, 'रोटी मेरी', 'रोटी मेरी' कहकर एक-दूसरे पर गुर्राती हैं)

[बन्दर का प्रवेश]

बन्दर : क्यों तुम दोनों झगड़ रही हो ?
तुम कहती हो रोटी मेरी। (सफ़ेद बिल्ली से)
तुम कहती हो रोटी मेरी। (काली बिल्ली से)
रोटी किसकी ?
मैं इसका फैसला करूँगा।
चलो कचहरी, मेरे पीछे-पीछे आओ।
(बन्दर दोनों से छीनकर रोटी अपने हाथ में लेकर चलता है। दोनों बिल्लियाँ पीछे-पीछे जाती हैं)

[दूसरा दृश्य—बन्दर की कचहरी]

(बन्दर मेज पर बैठा है। रोटी का टुकड़ा सामने रखा है। दोनों बिल्लियाँ मेज के सामने इधर-उधर खड़ी हैं।)

बन्दर : (सफेद बिल्ली से) बोलो, तुमको क्या कहना है ?

सफेद बिल्ली : श्रीमन्, पहले मैंने ही रोटी देखी थी,
इससे रोटी पर पूरा हक मेरा बनता।

बन्दर : (काली बिल्ली से) बोलो, तुमको क्या कहना है ?

काली बिल्ली : श्रीमन्, पहले मैं झपटी थी रोटी लेने,
इससे रोटी पर मेरा हक पूरा बनता।

बन्दर : (सफेद बिल्ली से) एक आँख से देखी थी, या दो आँखों से ?

सफेद बिल्ली : दो आँखों, दोनों आँखों से।

बन्दर : (काली बिल्ली से) एक टाँग से झपटी थी या दो टाँगों से।

काली बिल्ली : दो टाँगों से, दोनों टाँगों से।

बन्दर : तुम दोनों का था गवाह भी ?

दोनों बिल्लियाँ : कहीं न कोई।
कहीं न कोई।

बन्दर : बात बराबर। बात बराबर।
है मेरा फ़ैसला कि रोटी
तोड़-तोड़कर तुम्हें बराबर
दे दी जाये।
मेरे पास धरम-काँटा है।
(बन्दर मेज के नीचे से तराज़ू निकालकर लाता है। रोटी को दो हिस्सों में तोड़कर दोनों पलड़ों पर रखता है, और तराज़ू उठाता है। एक पलड़ा नीचे रहता है, दूसरा ऊपर)

बन्दर : यह टुकड़ा कुछ भारी निकला।

इसमें से थोड़ा खा करके हल्का कर दूँ। (खाता है)
(फिर तराजू उठाता है। अब पहला पलड़ा ऊपर हो जाता है, दूसरा नीचे)

बन्दर : अब यह टुकड़ा भारी निकला।
अब इसको थोड़ा खा करके हल्का कर दूं।
(फिर तराजू उठाता है। अब पहला पलड़ा नीचे हो जाता है, दूसरा ऊपर)

बन्दर : अब यह टुकड़ा भारी निकला।
टुकड़े भी कितने खोटे हैं
एक-दूसरे को छोटा दिखलाने में ही
लगे हुए हैं।
मुँह थक गया बराबर करते।
और तराजू उठा-उठाकर हाथ थक गया।
(बिल्लियों को बन्दर की चालाकी का पता चल जाता है और वे हाथ मलती हुई बड़ी उदासी से एक-दूसरे को देखती हैं।)

सफेद बिल्ली : आप थक गये,
अब न उठायें और तराजू।

काली बिल्ली : बचा-खुचा जो हमको दे दें;
हम आपस में बाँट खायेंगी।

बन्दर : नहीं, नहीं, तुम फिर झगड़ोगी।
मैं झगड़े की जड़ को ही काटे देता हूँ।
बचा-खुचा भी खा लेता हूँ।
(इतना कहकर बची-खुची रोटी भी बन्दर खा जाता है और तराजू लेकर भाग जाता है)

दोनों बिल्लियाँ : आपस में झगड़ा कर बैठीं
बुद्धि अपनी खोटी।
अब पछताने से क्या होता,
बन्दर हड़पा रोटी।

ooo

पत्र

1. श्री यादवेन्द्र सिंह, रीवाँ को

कृष्ण कुटीर, इलाहाबाद से : 10.1.32

प्रिय यादवेन्द्र,

तुम्हारा एक कार्ड 31.12.31 का मुझे ठीक उसी दिन दोपहर को मिला जिसके सबेरे मैं अपना पिछला पत्र लिख चुका था। उसमें तुमने लिखा था कि स्वागत वाली कविता मैंने भेजने को पूछा था। तुमने ग़लत समझा। मैंने गाँधीजी के जन्मदिवस पर बधाईवाली कविता भेजने की बात पूछी थी। स्वागत के कुछ पद तो लिख गया था। इधर दमन की प्रबल धार में उसे पूरा करने की इच्छा ही नहीं हो रही है। बस यहीं तक पहुँचा था कि···

भरा चट्टान भविष्य समुद्र
    दमन की भयप्रद उठती धार
सुरक्षित भाग्य हमारा पोत
    हाथ में तुम ले लो पतवार।

बस, आगे यही लिखने का विचार था कि उसे उस देश को खे ले चलो जहाँ ये हो वो हो (इसमें भविष्य भारत मैं कैसा चाहता हूँ, उसे दिखाना चाहता था) उसे पूरा कर दूंगा पर कह नहीं सकता कि कब पर तुम्हें इतना वचन तो देता ही हूँ कि ज्यों ही तैयार हो जायगी तुम्हें रवाना कर दूंगा।

तुम्हारा दूसरा पत्र 5.1.32 का मुझे परसों मिला। तुम्हारी कहानी (हृदय की आवाज़) बहुत सुन्दर है। बहुत ठीक तुमने लिखा है। उसी प्लाट पर जो मैंने कहानी लिखी है, उसका शीर्षक है संस्कार। character बिल्कुल passive है, संस्कार काम करता है। तुम्हारी कहानी में character active है, bold है। दोनों अलग-अलग चीज़ें हैं। कन्हैयालालजी कहते थे कि feeling मैंने अच्छा दिखलाया है पर कहते हैं कि यादवेन्द्र की चीज़ ही और है। जब वे सब संग्रहीत हो जावेगी तो सचमुच कोई चीज़ होगी। इस किताब का नाम होगा वही तुलसी की प्रसिद्ध चौपाई का प्रथम पद "जाकी रही भावना जैसी" तुम्हें शीर्षक कैसा जँचा।

आजकल प्रोफेसर चतुरसेन शास्त्री यहीं हैं। रोज़ कन्हैयालाल के यहाँ आते हैं। मेरा भी उनसे परिचय हो गया है। वो तो ऐसा बोलते हैं जैसे कोई लिखी किताब पढ़ रहे हैं। भाषा तो उनकी क्या कहना! सचमुच उनसे बात करने में आनन्द आ जाता है। बड़ा सच्चा और भला आदमी मालूम होता है। उसी लल्ला मुन्नी के प्लाट पर वह भी कहानी लिख रहे हैं। शायद कल तक लिख दें।

अच्छा यह तो मेरे अकर्मण्य संसार की चर्चा हुई। तुम अपने कार्यक्षेत्र का कोई हाल नहीं देते। तुमने अपने कार्ड में लिखा था कि आजकल तुम लोगों को बड़ी कठिन समस्या का सामना करना पड़ रहा है। पर details में तुमने नहीं लिखा। मैं जानने को उत्सुक हूँ। मैं यहाँ बैठा हुआ प्रतिदिन यही सोचा करता हूँ

कि इस समय तुम क्या कर रहे होगे। मेरी यह पंक्ति याद रखना

रहो चट्टानों से दृढ़ वीर
प्रबल चाहे जितनी हो धार।

मुझे अपने कार्यक्रम से सूचित करते रहा करो। मुझे आशा है तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा होगा। मेरा तो इधर कुछ खराब हो गया था। श्यामा अगले सप्ताह में कुछ महीनों के लिए बाहर जा रही है। तुम्हें आगे आनेवाले एक दर्जन सप्ताहों का सस्नेह अभिवादन भेज रही है। और क्या लिखूँ! शेष सब कुशल।

अनेक शुभकामनाओं का सन्देश

तुम्हारा छोटा भाई
बच्चन

2. श्री यादवेन्द्र सिंह, रीवाँ को
कृष्ण कुटीर, इलाहाबाद से : 24.1.32

प्रिय भाई यादवेन्द्र,

तुम्हारा 18.1.32 और 21.1.32 का पत्र मिला। धन्यवाद।

तुमने पत्र में लिखा है कि मैं ऐसी चीज़ें लिखूँ कि तुम्हें उत्साह मिले। पर मित्र फिर तुम मुझसे वही काम कह रहे हो जिसके लिए मैं अयोग्य हूँ। मेरे शब्दों में वह शक्ति कहाँ कि चन्द्रबरदाई बनकर तुम्हें पृथ्वीराज बना सकूँ या पृथ्वीराज बनकर तुम्हें प्रताप के समान सिसौदिया वंश की मर्यादा की याद दिला सकूँ और भूषण बनकर तुम्हें शिवाजी के समान उत्तेजित कर सकूँ। मैं अधिक-से-अधिक जो कर सकता हूँ, वह है अपनी बन्दी भारत माँ की गोद में क्रन्दन करना। अगर वह दृश्य तुम्हारे हृदय में तहलका मचा दे तो ए वीर क्रान्ति का बिगुल बजा देना—मुझसे इससे अधिक और कुछ की आशा न रखना।

प्रिय भाई, तुम सदा मुझे लिखा करते हो कि मेरे पत्रों से तुम्हें उत्साह मिलता है। मुझे एक हर्ष, एक सन्तोष, एक अभिमान और एक भय उत्पन्न होता है। तुमने जीवन के जिस पथ का अनुसरण किया है, उस पर अन्धकार छाये हुए भी तुम्हें प्रकाश पर विश्वास रखना आवश्यक है। दुखों के होते हुए भी सुख का सन्देश लिए रहना ज़रूरी है और मरते हुए भी जीवन और अमरता की पुकार लगाना अनिवार्य है। वह सैनिक जिसे अपनी विजय पर आशंका है, अपनी हार का पहला चिन्ह अपने पास रखता है। वह सब कुछ हो सकता है पर निराश नहीं हो सकता। उम्मीद नहीं छोड़ सकता। अन्त अच्छा होगा, इस पर से विश्वास हटा नहीं सकता। ऐसे मनुष्य को एक ऐसे आदमी के साथ रहना पड़े जिसे निराशा हर समय घेरे रहे, जीवन सदा एक आँसुओं की धार हो और कुछ न हो, जिसे संसार का प्रतिक्षण एक कालकोठरी में पड़े क़ैदी के समान लगता हो, बस भाई, मुझे भय है कि कहीं मेरा यह जीवन तुम्हें भी कहीं उस ओर न खींच लाए। यादवेन्द्र सच मानना मैं दिन दिन बड़ा निराश होता जा रहा हूँ। क्या मेरा यह सम्पर्क तुम्हारे ऊपर असर न उत्पन्न करेगा और यदि कुछ हुआ तो यह मेरे और दुख का कारण होगा और उसी से मैं डरता हूँ।

तुम्हें एक खुशखबरी देना है। मेरी बात ठीक हो गई। तुम्हें यह तो मालूम है

कि मेरी कविताओं का प्रथम संग्रह 'तेरा हार' साहित्य भवन में दिया गया था। अब उनका उत्तर मिला कि वे छाप सकने में असमर्थ हैं। कारण आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। अब तुम्हारी क्या सलाह है। पड़ा रहने देता हूँ। इस युद्ध के समय में मेरा विचार है कोई भी प्रकाशक एक अज्ञात कवि का कोई भी लेख न प्रकाशित करेगा। मुंशी कन्हैयालाल की राय है कि मैं कविताओं को एक-एक करके पत्रिकाओं में भेज दूँ। लोग उसे देखें और पसन्द करेंगे तो प्रकाशन में आसानी होगी। मुझे यह बात जँचती नहीं। प्रकाशित होने पर उसका नूतन आकर्षण कुछ न रह जायगा। तुम अपनी राय लिख भेजना। पिछली चीज़ें चाहे छपें चाहे भाड़ में जाँय मुझे तो और और लिखना पड़ ही रहा है। अपना चौथा संग्रह पूरा करके पाँचवाँ आरम्भ कर दिया है। 'चाँदनी' नाम है। तीन कविताएँ उसमें लिखी गई हैं। चौथे संग्रह के समान उसमें गद्यकाव्य नहीं रहेंगे बल्कि केवल पद्य ही पद्य। श्यामा रोज़ पूछती है कि चाँदनी अभी छिटकी कि नहीं।

तुम अपना हालचाल नहीं लिखा करते, कार्ड भेज देते हो। दो पैसे बचाकर धनी न हो जाओगे। खूब लिखा करो सब हाल। छोटा से बड़ा तक, सबमें मैं interest लूँगा। विश्वास मानना।

श्यामा सकुशल है। उसका बाहर जाना स्थगित कर दिया गया है।

हम दोनों की ओर से अभिवादन और सादर प्रणाम।

तुम्हारा छोटा भाई
बच्चन

3. श्री शिवमंगल सिंह सुमन, संप्रति लखनऊ को
मुट्ठीगंज, प्रयाग से : 28.12.35

प्रिय सुमनजी,
सप्रेम बंदे

तुम्हारा एक पत्र सितंबर में मिला था और उसके पश्चात यह पत्र मिला। मेरा स्वास्थ्य जुलाई से अब तक बहुत खराब रहा है। पहले पीठ में दर्द शुरू हुआ और फिर संध्या समय ज्वर रहने लगा। डाक्टरों को दिखाया तो उन्होंने क्षयी का प्रारंभ बतलाया और पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी। दो महीने तक डाक्टरी इलाज हुआ। इन्जेक्शन आदि भी लगे पर कोई आराम न हुआ। तबियत दिन प्रतिदिन गिरने लगी। इस समय तक मेरा बहुत-सा रुपया भी क़ीमती दवाओं पर खर्च हो गया। तब एक हितैषी ने इन दवाओं को छोड़कर जल चिकित्सा की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। मैंने इसे अंतिम आश्रय समझकर लगन के साथ करना आरंभ किया और दो-ढाई महीने में ही मुझे लाभ प्रतीत हुआ। एक महीने बाद पीठ का दर्द जाता रहा और डेढ़ महीने बाद टेम्परेचर। आज 21 रोज़ से मैंने अन्न खाना भी छोड़ दिया है। केवल ताज़े फल, मेवे और दूध पर रहता हूँ। आठ दस रोज़ से मुझे बिल्कुल टेम्परेचर नहीं है। सुबह दो-तीन मील घूम सकता हूँ और दिन को यथाशक्ति काम भी करता हूँ। अभी यही संयम नियम कुछ दिन चलाने का विचार है। आशा है गर्मी आने आने तक मैं बिल्कुल ठीक हो जाऊँगा। गर्मी में मित्रों की राय है कि किसी पहाड़ पर चला जाऊँ। देखो साधन हो सका तो चला

ही जाऊँगा नहीं तो यहीं कहीं गाँव में रहूँगा या नदी पर नाव में। चिंतित होने का कोई कारण नहीं है। तुम्हारी शुभकामना भी मेरे लिए दवा से कम नहीं। बस कृपा बनी रहे।

मैंने अपना यह संक्षिप्त हाल लिख दिया। अब अपनी भाभी का भी सुन लो। वे भी आजकल स्वस्थ नहीं हैं—तुम्हें यह जानकर दुख अवश्य होगा। बहुत दिनों से उनके पेट में दर्द रहा करता था। पिछले महीने लेडी डफ़रिन हास्पिटल में उन्हें दिखाया था। डाक्टर ने कहा था कि पेट में आपरेशन की ज़रूरत पड़ेगी। मेरा इरादा पहले तो यही था कि आपरेशन Xmas की छुट्टियों में हो जायेगा, परन्तु बीच में यह राय हुई कि मिशन डिस्पेंसरी की लेडी डाक्टर मिसेज़ हेज़ को भी दिखलाया जाय। उनकी राय तो रोग के बारे में वही हुई जो मिसेज हर्वर्ट की थी, पर उन्होंने कहा कि दवा से भी यह ठीक हो जायगा। हम हिंदुस्तानी ज़रा आपरेशन से डरते भी हैं, इस कारण यही तै पाया गया कि दो-तीन महीने मिसेज़ हेज़ की दवा हो। तदनुसार दवा शुरू हो गयी। अभी एक हफ्ते ही हुए हैं और लाभ के विषय में अभी क्या कहा जा सकता है। यदि दो-तीन महीने में उनको लाभ न पहुँचा तो लेडी डफ़रिन हास्पिटल में गर्मी की छुट्टी में आपरेशन होगा।

इन्हीं सब बीमारियों की चिंताओं में पत्र नहीं लिख सका। आशा है तुम मुझे क्षमा करोगे।

तुम्हारे मित्र मिले, पर वे तो बड़ी जल्दी में थे। कल ही रात की गाड़ी से उन्हें जाना था और 5 बजे के पहले लीडर प्रेस में जाकर उन्हें कुछ पुस्तकें भी लेनी थीं। मेरे पास वे साढ़े तीन के पश्चात आए थे। इस कारण केवल दस मिनट बातें करके विदा हुए। मैंने उनसे कह तो दिया है कि यदि रहें तो फिर दर्शन देने की कृपा करें। 9 पुस्तकें ये ले जा रहे हैं। मैंने इन्हें अधिक से अधिक कमीशन दिया है। एक पुस्तक तुम्हारे लिए भेज रहा हूँ। ख़ैयाम की मधुशाला तो मेरे पास एक भी नहीं, इस कारण भाभी की भेंट से तो तुम वंचित ही रह गए। खैर जब आएगी तो मैं स्मरण रखूँगा और तुम्हें उनकी ओर से भिजवा दूँगा।

ग्वालियर आने के लिए मैंने तुम्हीं से प्रतिज्ञा कर दी थी और पत्रों में भी जाड़ों में आने के लिए मैंने कहा था, पर मेरा स्वास्थ्य इतना ख़राब हो गया कि वचन पूरा न कर सका। खैर दूसरे वर्ष अवश्य ही मैं ग्वालियर आऊँगा। जुलाई के पश्चात जब कभी तुम उचित समझना लिखना और मुझे विश्वास है कि मैं तुम्हारी आज्ञा पालन करने में समर्थ हो सकूँगा। बस अब अपनी और ग्वालियर की हीनता दिखाकर मुझे लज्जित न करना।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुम साहित्य समिति के मन्त्री चुने गए हो। परन्तु मुझे कुछ चिन्ता भी है। तुम्हारा यह चौथा वर्ष है और फाइनल की परीक्षा देनी है। साहित्य सेवा की ओर इतना ध्यान न लगा देना कि पढ़ाई में हर्ज हो और खूब अच्छे डिवीज़न से इम्तहान पास करना।

मुक्त जी आजकल आरा में स्थाई रूप से रहने के लिए चले गए हैं। उनका पता है— भारती-भवन आरा। उनके पत्र प्रायः मुझे मिलते रहते हैं। सकुशल हैं और अपने व्यवसाय की ओर विशेष ध्यान दे रहे हैं जैसा करना कि उन्हें अत्युचित भी है। शुभ समाचार से सूचित करना।

तुम्हारी भाभी तुम्हें सस्नेह आशीर्वाद भेजती हैं।

तुम्हारा भाई

बच्चन

4. श्री यादवेन्द्र सिंह प्रकाश, रीवाँ को

द्वारा प्रो. सी. पी. जौहरी, सिविल लाइंस, बरेली से : 10.5.38

यादू भाई,

पत्रोत्तर देने में देरी हो रही है इसके लिए क्षमा करना, कारण यह था कि मैं प्रयाग से बिना तुम्हें सूचित किए हुए बरेली चला आया। तुम्हारा पत्र प्रयाग होकर मुझे यहाँ मिला।

यादू भाई ! तुम्हारा पत्र पाकर मुझे आश्चर्य बिलकुल नहीं हुआ और मुझे लगा जैसे कोई प्रत्याशित बात ही होने जा रही है। मैंने तुम्हें ऊषा को साथ साथ देखा था और देखते ही मेरे मन ने यह कह दिया था कि तुम दोनों वह नहीं हो जो बाहर से दिखते हो पर मेरी हिम्मत न पड़ी कि तुमसे या उनसे इस तरह की कोई बात पूछूँ। मैंने ऊषा की आँखों में तुम्हारे लिए अगाध प्रेम देखा था और तुम्हारी आँखों में उनके लिए करुणा। आह ! भाई तुम प्रेम में पागल नहीं हो सकते पर प्रेम को समझ सकते हो और इसका रूप मैंने यह देखा था कि तुम ऊषा को समझने का प्रयत्न करते हो।

जो बात मैं नहीं समझ सका वह है तुम्हारे मन का सन्देह। तुम ऊषा के प्रेम को pecuniary क्यों समझते हो। तुम क्यों समझते हो कि वह तुम्हारे रुपये के लिए तुम्हें प्रेम करती है। ऊषा की आँखों में जो श्रद्धा तुम्हारे लिए टपकती है उससे मैं तो केवल वही देखता हूँ कि यदि तुम पक्के भिखारी होते तो भी तुम उसके उपास्य होते।

विवाह के विरुद्ध तुमने हमेशा लिखा है, उसका मज़ाक उड़ाया है। सच्चा विवाह तो हृदय का है, प्रेम का है, वह हो गया तो उसकी क्या ज़रूरत ! पर मैं देखता हूँ कि तुम्हारा जैसा सामाजिक क्रांति का उपासक भी समाज के सामने झुकने को तैयार है। ख़ैर, अगर विवाह करने के लिए दूसरी ओर से आग्रह है तो कर लो। जहाँ तक मेरा विचार है, यह आग्रह ऊषा की ही ओर से होगा। ख़याल मुझे आता है अपनी प्यारी भाभी का। उन्होंने सदा तुम्हें समझने का प्रयत्न किया। यादू भाई, तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि यदि ऐसी देवी तुम्हारे साथ न होती तो तुम अपने जीवन के इन क्रांतिकारी प्रयोगों को नहीं कर सकते थे। आशा है ऊषा को अपने हृदय में नया स्थान दोगे परन्तु मेरी भाभी का पुराना स्थान अक्षुण्ण रहेगा। मैं तुम्हारे इस प्रयोग में यह देखने का प्रयत्न करूँगा कि तुम्हारा हृदय कितना विशाल है। तुम्हारा कहीं लिखा एक वाक्य याद आता है कि हृदय इतना संकुचित नहीं कि उसमें एक ही स्थान पा सके। प्रेम के इस प्रयोग में मेरी पूर्ण सहमति है। मैं तुम्हारे विवाह में सम्मिलित हूँगा, तिथि आदि की सूचना देना।

मैं अपने विषय में बहुत कुछ लिखता पर आज तो तुम्हारी समस्या में अपने को भूल गया हूँ। शेष तुम्हारा पत्र पाने पर

तुम्हारा
बच्चन

5. श्री विश्वप्रकाश दीक्षित बटुक, संप्रति दिल्ली को
बनारस से : 10.1.39

भाई बटुक,

तुम्हारा अवसाद में डूबा हुआ पत्र मुझे समय से मिल गया था। उत्तर जल्दी न दे सका। बीच में मैं बहुत बीमार हो गया था। अब पहले से कुछ अच्छा हूँ। परीक्षा समीप है। बची हुई शक्ति से थोड़े से समय में कुछ कर लेने का विचार है। जीवन संघर्ष की जगह है। उसमें दृढ़ता से लगे रहना चाहिये। इस संघर्ष में अपने को भूल सको तो वही सुख है। सफलता नाम की किसी वस्तु से मेरा भी परिचय नहीं।

तुम्हारी कविता मैंने कहीं रख दी है, पता नहीं कहाँ। उसकी प्रतिलिपि तुम्हारे पास होगी। उसे किसी पत्रिका में तुम स्वयं भेज दो। चीज़ अच्छी है और मेरा ध्यान है, अवश्य स्वीकृत होगी।

और क्या लिखूं! 'निशा निमन्त्रण' तो प्रकाशित हो गया। आजकल मैं 'एकान्त संगीत' नाम से एक रचना कर रहा हूँ। उसके भी 41 गीत लिखे जा चुके हैं। इस संग्रह में भी सौ गीत होंगे। यहाँ कुछ लिखने को समय नहीं, फिर भी जब जी नहीं मानता तो कुछ लिख ही लेता हूँ। तुम्हारा काम कैसा चल रहा है? नया वर्ष तुम्हारे लिए सुखद और आशापूर्ण हो।

समाप्त करता हूँ।

तुम्हारा भाई
बच्चन

6. श्री यादवेन्द्र सिंह प्रकाश, रीवाँ को
कमच्छा, बनारस से : 6.3.39

यादू भाई,

तुम्हारा पत्र मुझे मिला। परीक्षा समीप होने के कारण मैं इधर ऊषाजी से बहुत कम मिला हूँ। मुझे पता नहीं कि उन्हें कितने रुपये की ज़रूरत है; मुझसे उन्होंने कुछ कहा ही नहीं। भाई, रुपये-पैसे का मामला ऐसा होता है कि उसमें हस्तक्षेप करना कठिन होता है। रुपये आप भेजते हैं, खर्च वे करती हैं, मैं कुछ बीच में कहूँ; यह चरितार्थ होगी कि मियाँ-बीवी राज़ी तो क्या करेंगे काज़ी! ऊषाजी का मिजाज़ ज़रा गर्म है यद्यपि मेरे ऊपर उनकी कृपा रहती है। पर शायद उसका कारण यही है कि मैं आवश्यकता से अधिक उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता।

ख़र्चीली आदत तो उनकी ज़रूर है, मैं ही जब जाता हूँ तो मेरा ख़याल है, मेरी खातिर में 1, 2 रुपये उठ जाते होंगे, मिठाई, नमकीन, फल और क्या-क्या लाकर सामने रख देती हैं, मैं कितनी बार समझा चुका कि मेरे साथ इस formality की क्या जरूरत पर वह नहीं मानतीं। खाना किसे बुरा लगता है। इस बार मैं जाऊँगा तो उनको एक अच्छी डाँट पिलाऊँगा और देखूँगा कि भौंहों में कुछ बल आता है तो तुम्हारा खत उनके आगे धर दूँगा। ढाल तो तुमने भेज ही दी है। भाई, मैं कवि हूँ ज़रा डरता ज्यादा हूँ, विशेषकर नारि जाति से। मैं इन्हें बजाय अबला

के प्रबला ही समझता हूँ। तुम कब आ रहे हो ? हिसाब चेक करने का काम तुम्हीं करो।

पहली भाभी को मेरा प्रणाम

तुम्हारा
बच्चन

7. श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा मुक्त, पटना को
सिविल लाइंस, बरेली से : 12.9.39

प्रिय प्रफुल्ल,

गर्मी की छुट्टी बिताने को प्रयाग से चल पड़ा हूँ। यहाँ 10 मई तक रहूँगा। भागते-दौड़ते तुम्हारे लिए क्या idea दूँ, क्या कविता लिखूँ। मेरा तो ख़त लिखने को भी जी नहीं चाहता किसी को भी।

जीवन में जो काम अपने केवल अपने बल पर किया जाता है वही सबसे अधिक सफल होता है। आत्मविश्वास रखो।

तुम्हारी आरती जन-जनार्दन स्वीकार करें, यही मेरी अभिलाषा है। यहाँ से मैं शायद दिल्ली जाऊँगा। वहाँ का पता तुम्हें मालूम ही है। आरती देखने को उत्सुक रहूँगा।

शेष कुशल।

सस्नेह
बच्चन

8. श्री विश्वप्रकाश दीक्षित बटुक, संप्रति दिल्ली को
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग से : 11.7.40

प्रियवर,

बहुत दिनों के बाद आपका पत्र मिला। जानकर खेद हुआ कि आपको पिछले दिनों अत्यधिक मानसिक चिन्ता रही। भाई, इससे मुक्त कौन है ? चुपचाप बैठकर सोचने-विचारने से किसी काम में लगना अच्छा है।

उत्थातव्यं, जाग्रतव्यं, भोक्तव्यं भूति कर्मसु।

दो ढाई महीने बरेली, दिल्ली, जालंधर, अमृतसर, लाहौर, लायलपुर में घूम-फिरकर फिर प्रयाग में आ गया हूँ। Research का काम जारी है। आगे भी शायद अभी यह चलेगा।

मेरे विवाह की अफ़वाह फ़िलहाल ग़लत है।

इधर कुछ लिखने का अवकाश नहीं मिला। कहानी-संग्रह का प्रकाशन स्थगित करा दिया है—छपाई कागज़ आदि का दाम बहुत बढ़ता चला जा रहा है।

आपका कार्यक्रम क्या है ?

शेष कुशल

भवदीय
बच्चन

N. B. मेरे नाम के आगे पते में कोई डिग्री-सिग्री मत लगाया करिये। मुझे अच्छा नहीं लगता।

9. श्री आनन्द नारायण शर्मा, संप्रति बेगूसराय को
17 क्लाइव रोड, प्रयाग से : 23.3.45

प्रियवर,

पत्र के लिए धन्यवाद। 'योगी' में प्रकाशित आपके निबंध की प्रति मिली। आपने मेरे प्रति जो उद्‌गार व्यक्त किए हैं, उनके लिए आभारी हूँ। पर मुझ पर लिखने का उचित समय तब आएगा, जब उसे देखने के लिए मैं न रहूँ। आपने प्रबन्ध काव्य द्वारा साहित्य का भंडार भरने की जो बात लिखी है, उस संबंध में मुझे यही कहना है कि मैं साहित्य का भंडार भरने के लिए नहीं, अपने मन का भार हल्का करने के लिए लिखता हूँ। वह कब कौन-सा रूप ग्रहण करेगा, मैं स्वयं नहीं जानता।

चाहता हूँ, साहित्य के प्रति आपका अनुराग बना रहे और आप कुछ अधिक गंभीर विषयों पर लेखनी उठाएँ।

शेष कुशल

शुभेच्छु
बच्चन

10. श्री त्रिभुवननाथ श्रीवास्तव, सम्प्रति चण्डीगढ़ को
एडेल्फ़ी, इलाहाबाद से : 18.4.48

प्यारे त्रिभुवन,

पत्र तो मिला पर दिल नहीं भरा। अब पत्र से संतोष न होगा। तुमसे मिलने को अब तो मन में दर्द-सा हो रहा है। संक्षेप में तुमने सब कुछ लिख दिया है। पत्र-कार के सिवा और कौन इतने कम शब्दों में इतना सब लिख सकता था। मैं भी तुम्हारे अनुकरण पर संक्षेप में अपना समाचार भेज रहा हूँ।

अमित, अजित, तेजी और पंतजी सब स्वस्थ और सकुशल हैं। मैंने गाँधीजी पर दो पुस्तकें तैयार कर ली हैं—एक का नाम है 'सूत की माला', इसमें माला के अनुरूप 108+1 गीत हैं। ये गांधीजी के बलिदान के पश्चात छोटी-2 घटनाओं पर लिखे गये हैं। दूसरा है—'खादी के फूल'—इसमें गांधीजी की 80 वर्ष की अवस्था के अनुसार 80 गीत होंगे। इसमें 64 मेरे और 16 पन्तजी के हैं और हमारे Joint authorship में यह किताब निकलेगी।

घर की आजकल बड़ी चिन्ता है। इस मकान का 75) मैं दे रहा था, अब वह 250) माँगता है। नोटिस दी है—टी. आर. ओ. के यहाँ चक्कर लगाते उमर बीत रही है। अभी तक कोई मकान नहीं मिला। जब तक मकान नहीं मिलता, बड़ी परेशानी रहेगी।

मैं इस गर्मी की छुट्टी में attachment नहीं ले रहा हूँ और इसी वर्ष से U. T. C. से छुट्टी भी ले रहा हूँ। अब नहीं चलता। शायद दो-ही चार रोज़ में मेरा resignation भी चला जाएगा। सोचता हूँ, इससे समय बचेगा तो 'लोकायन' की सेवा में लगाऊँगा।

पंतजी ने 'लोकायन' नाम का एक culture centre खोला है। मुझे उसका administrator बनाना चाहते हैं। गवर्नमेंट से 10,000) की मदद मिल गई है। कुछ जनता से मिलने की आशा है। नियमावली आदि छपने पर भेजूँगा।

सेंट्रल बुक डिपो से मेरा 'मधुकलश' का पाँचवाँ संस्करण निकल गया। 'सतरंगिनी' प्रेस में है। लाजर्नल में छपाई हो रही है। मैं इससे सन्तुष्ट हूँ। लीडर से बिलकुल संबंध टूट गया है और मैंने सेंट्रल बुक डिपो से contract कर लिया है —3 वर्ष का। आगे देखा जायगा।

बीस तारीख़ को गवर्नमेंट हाउस में गाँधीजी को श्रद्धांजलि देने के लिए एक कवि सम्मेलन है। उसमें जा रहा हूँ। लखनऊ 20 की शाम को मेल से पहुँचूंगा और 21 की रात की गाड़ी से प्रयाग के लिए रवाना हो जाऊँगा। यदि लखनऊ किसी तरह आ सको तो मुलाक़ात हो जाय। अपने को किसी विशेष असुविधा में डालकर मत आना।

सबकी ओर से प्यार। अम्माजी को मेरा नमस्ते कहना। बहनों को आशीष। समय आने पर सब कार्य होता है। अदृश्य का हाथ मनुष्य के हाथ से अधिक प्रबल और प्रभावशाली होता है। घबराया मत करो।

बहुत प्यार

बच्चन

11. श्री कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, संप्रति बंबई को
दशद्वार, प्रयाग से : 10.7.49

प्रिय कृष्णकिशोर,

पत्र मिला। मेरा भी यह अनुमान था कि तुम किसी आवश्यक कार्य के कारण मुझसे फिर न मिल सके। मित्र की शादी से बढ़कर आवश्यक कार्य क्या हो सकता है। हाँ, तुम उधर भी तो शायद किसी शादी में ही आये थे। तो तुम्हारे मित्रगण यके बाद दीगरे विवाहित होते जा रहे हैं। विवाहित मित्रों के बीच अविवाहित रहने से मन को बड़ा क्लेश होता है। इस कारण अब या तो तुम भी विवाहित हो जाओ या उन मित्रों से नाता तोड़ अविवाहितों से मैत्री बढ़ाओ।

तुम्हें इस बार देखकर विशेष प्रसन्नता हुई क्योंकि तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा लगा। यहाँ सब लोग ठीक हैं।

सस्नेह
बच्चन

12. श्री शिवमंगल सिंह सुमन, संप्रति लखनऊ को

दशद्वार, प्रयाग से : 9.10.50

प्रिय सुमन,

कैसे कहूँ कि तुम्हारा पत्र देर से मिला। मेरा दुख तो अब भी ताज़ा है। मुझे तो अब भी सान्त्वना की ज़रूरत है। 'रज्जन के स्थान पर सुमन को समझना' पढ़कर मन भर आया।

अपने लिए तो शायद मुझे अब किसी को भाई बनाने की आवश्यकता न पड़े। भगवान निभा दें—'चिता निकट भी पहुँच सकूँ मैं अपने पैरों-पैरों चलकर।'...

पर अंतिम घड़ियों में यदि तुम्हारा यह वाक्य याद आ गया तो संसार से सुख से विदा ले सकूँगा। मेरे बाद तुम जब इस वाक्य को स्मरण करोगे—मेरी आत्मा का आशीष तुम पर बरस पड़ेगा। अमित और अजित तुम्हारे स्नेह के अधिकारी बन सकें।

तेजी का स्वास्थ्य आजकल विशेष अच्छा नहीं। मेरी रोग-बला न जाने कौन लेकर चला गया है। मुझे तो कुछ नहीं होता। अच्छा ही हूँ।

'मिलन यामिनी' प्रकाशित हो गयी है। भेज रहा हूँ। आशा है, पढ़कर तुम्हारा कुछ मनोविनोद होगा। बहूरानी और बच्चों को आशीष।

सदैव तुम्हारा

बच्चन

13. श्री महेशशरण जौहरी 'ललित', सम्प्रति उज्जैन को

क्लाइव रोड, प्रयाग से : 10.2.51

प्रिय ललित,

मेरा पिछला पत्र तुम्हें समय से मिल गया था। कभी तुमने लिखा था कि 'कूल के फूल' पर मुझसे कुछ सुनना चाहोगे। मित्रों की रचनाएँ मैं पढ़ता हूँ पर उनको कभी अपनी राय नहीं देता क्योंकि क्या मित्र क्या शत्रु, इस दुनिया में सत्य सुनने का कोई आदी नहीं होता। स्पष्ट कहने में संकोच होता है अपने को भी। और स्पष्ट न कहा जाय तो लगता है, धोखा दे रहा हूँ अपने मित्र को। ऐसे समय मौन ही दूर तक साथ देता है और सब बात ज्यों की त्यों बनी रह जाती है। मित्र भी अच्छे, उनकी रचना भी अच्छी, मेरा मौन भी अच्छा।

पर अगर मैंने तुम्हें कुछ समझा है तो मेरे मौन से तुम मेरे सत्य को ज़्यादा पसंद करोगे। तो अगर Mood में हो तो आओ दो-दो बातें 'कूल के फूल' पर कर लें।

तुम ऐसे नहीं कि चित्र-कागज़-छपाई की बड़ाई करके तुमको झुठलाया जा सके। इस कारण उसकी बात मैं छोड़ता हूँ।

कविताएँ जितनी ईमानदारी से तुमने लिखी हैं, उससे कम लोग लिखते हैं। तुम्हारी प्रथम पंक्ति तो तुम्हारे हृदय के रक्त से लिखी जाती है, पर बाद को—तुम तो सब कुछ पहली पंक्ति में कह देते हो—बाद को कुछ कहने को रह नहीं जाता। कविता जिस-तिस तरह समाप्त होती है। हर पत्र से तुम्हारे दो-चार

पंक्तियाँ लेकर उन पर कविता लिखी जा सकती है। पर तुम स्वयं कलाकार के धैर्य से उन पर साधना नहीं करते। तुम्हारा रागात्मक हृदय एक तुक से संतुष्ट नहीं होता। आदि-मध्य-अंत में तुम तुकों को रखते चले जाते हो। कभी-2 भाषा और मुहावरों के साथ इस प्रवृत्ति के कारण अत्याचार भी होता है। अपनी बात किसी तरह कह देना ही कला नहीं है। कला अभिव्यंजना ही नहीं है—निर्माण भी है। कलाकार को अपना अनुभव नहीं देना है। उसे अपने अनुभव को औरों से भी अनुभूत करा देना है। एक राय दूँ—भावना के आवेश में कविता न लिखा करो। 'Emotions recollected in tranquility' Wordsworth की रचना-प्रणाली थी। इसमें बहुत तथ्य है।

मुझे सबसे अच्छी कविता 41 की लगी—उसमें भी, उसका प्रथम पद। दूसरे पद्य में रूपक की गड़बड़ है। द्वार का बन्द करना—भार का न सहा जाना और ज्वार से ऊबना। फिर भी सब लेकर सबसे त्रुटिहीन रचना मुझे यही लगी।

शब्दों को भूलकर भावों का ध्यान करता हूँ तो मुझे तुम्हारी रचना में अपने प्राणों की प्रतिध्वनि सुन पड़ती है।

समाप्त करता हूँ। मेरी बातें बुरी लगी हों तो क्षमा करना। मैंने तुम्हें अपना समझकर लिखा है। इसका विश्वास दिलाता हूँ। तुम्हें और तुम्हारी जीवन-संगिनी को अमित आशीष।

सदैव तुम्हारा
बच्चन

14. श्री सूर्यनारायण व्यास, उज्जैन को

दशद्वार, प्रयाग से : 31.3.51

श्रद्धेय व्यास जी,

आपकी भेजी हुई जन्मपत्रियाँ मिलीं, बहुत आभारी हूँ।

एक ग़लती हो गई। छोटे बच्चे का जन्मदिन 18 मई 1947 का है (अट्ठारह मई 1947) समय 5.45 बजे प्रातःकाल। आपने 12 मई (बारह मई) के हिसाब से जन्मपत्र बनाया है। गलती मेरी ही तरफ़ से हुई। शायद मैंने स्पष्ट नहीं लिखा था, क्षमा करें।

मेरा जन्मकाल है 27 नवंबर 1907 (सत्ताइस नवंबर उन्नीस सौ सात ईसवी) समय 5.50 प्रातः, दिन बुधवार।

कविता की कटिंग और विक्रम का अंक भी समय से मिल गया था। कविता में कुछ छोटी-मोटी ग़लतियाँ रह गई थीं। कुछ अच्छी चीज़ लिखूँगा तो 'विक्रम' के लिए अवश्य भेजूँगा।

आशा है, आपका स्वास्थ्य अच्छा है। बहुत अधिक परिश्रम न किया करें। मेरे संबंध में जो काम आपको करना पड़े, उसे खूब सुविधा से करें। आपको अस्वस्थ देखकर लौटा था और जब आपका ध्यान आता है, मुझे लगता है, आपको कोई काम देना आपके प्रति अन्याय करना है। मैं आपकी कृपा से सपरिवार सकुशल हूँ।

विनीत
बच्चन

15. श्री महेशशरण जौहरी 'ललित', सम्प्रति उज्जैन को
क्लाइव रोड, प्रयाग से : 13.8.51

प्रिय भाई ललित,

मिल चुके होंगे मेरे दो पत्र पूर्व इसके। और यह अब तीसरा। सोचा कि तुम्हें लिखूँ कुछ 'मालव मंथन' पर भी। पढ़ गया हूँ एक-एक अक्षर इसका। और तुम्हारी शैली का जादू चढ़ा हुआ मेरी क़लम पर भी। इसी से वह लिखती जा रही है उसी के अनुकरण पर कुछ।

प्रारंभ के 16 पृष्ठों के गद्य पर झलकता, छलकता, मचलता तुम्हारा व्यक्तित्व पूरा। इतनी दो-टूक बात, मगर दिल की हूक के साथ, दर्द के साथ कहनेवाला मर्द कहाँ मालव में, हिन्दी के क्षेत्र में, हिन्दुस्तान में भी।

और अब आया परिचयों पर साहित्यकारों के—कवियों के, उपन्यासकारों के, नाटककारों के, कहानी लेखकों के, समालोचकों के और पत्रकारों के। कहने क्या हैं तुम्हारी पकड़ के। था जो कुछ भी महत्वपूर्ण जिस किसी के व्यक्तित्व में, बस देख लिया तुम्हारी पैनी आँख ने, आँक दिया लेखनी ने। पढ़ते-पढ़ते सोचा कहीं लिख डालते ऐसी ही झोंक में यदि ललित हिन्दी के समस्त लेखकों का परिचय तो निश्चय होती वह एक चीज़—पठन की, मनन की, चिन्तन की भी। सोचा क्या तुमने भी कभी ऐसा?

'मालव मंथन' में मिला परिचय मुझे बहुत से जाने, कम जाने और अनजाने लोगों का भी। पर भूल एक तुमसे हो गई है। गया था इंदौर मई में, वहीं मिले थे मुझे नाथूलाल भार्गव—वकील गुना के—कवि भी। समझ में आया नहीं कैसे वे आए नहीं तुम्हारे दिमाग़ में लिखते समय मालव मंथन। गुना भी मालव में ही ऐसा ध्यान मेरा। संस्करण दूसरा जब हो उस रचना का मेरी तरफ़ से जोड़ देना ऐसा परिचय उनका : नाथूलाल भार्गव—देखते ही इनको आता ध्यान लंबोदर का झड़ गई जिनकी सूँड़ विकास के क्रम में जैसे बंदरों की दुम झड़ गई और वे कहलाने लगे इंसान।

वज़न पूरा मन पक्का। नम्बर अव्वल नहीं तो दोयम, दोयम नहीं तो, सोयम—दुनिया के सबसे मोटे मनुष्यों में। आधा थान कपड़ा लगता सिर्फ़ कुर्त्ता पैजामा में—नाड़ा ही लगता पूरे 12 फ़ीट का। चमत्कार जीते जागते राशन युग के।

वज्र की छाती उस पीढ़े, कुर्सी, चारपाई या तख्त की जो सँभालती इनका वज़न। विवाहित भी हैं।

कविता करते बुरी नहीं। पर जब आते सुनाने को लोग देखते इनके शरीर को ही, ध्यान देते नहीं इनकी बानी पर। हिन्दी में इनसे भारी-भरकम कवि नहीं दूसरा। पेशे से वकील, रहते गुना। बाहर भी जाते। ताँगे-इक्के वाले इन्हें देख थर्राते। घोड़े तुड़ाकर भाग जाते। प्रकाशक नज़दीक नहीं आया इनके आज तक।

अब तो, मित्र, नहीं बाक़ी जगह। बहुत कुछ मन में कहने को भी। इसलिए भेजकर शुभाशीष तुम्हें और तुम्हारी देवी जी को, करता हूँ समाप्त। क्षमा करना गुस्ताखी अपने दादा की। आज कुछ मौसम ही ऐसा था—यानी mood

बच्चन

16. श्री चन्द्रदेव सिंह, कलकत्ता को
विदेश मंत्रालय, नयी दिल्ली से : 17.7.56

प्रिय चन्द्रदेव सिंह जी,

पत्र मिला। तुम नये समालोचकों से बहुत क्षुब्ध लगते हो—मैंने समालोचक नामक जंतु का कभी अस्तित्व ही नहीं स्वीकार किया— चाहे वह पुराना हो, चाहे नया। कवियों ने बहुत से समालोचक बनाए हैं, पर आज तक कभी किसी समालोचक ने कोई कवि नहीं बनाया है। वह जन्मना parasite (परभुक्त) होता है। उसे दूसरे का कुछ खाने-चाभने को चाहिए। यदि उसमें कुरुचि हुई तो वह और भी घृणित हो जाता है। जो अपने रक्त से लोगों के हृदयों पर अपनी पंक्ति लिखता हो, उसे क़लम-दावात से उत्पात मचानेवाले इस जंतु से आतंकित नहीं होना चाहिए।

तुम्हारी पुस्तकों को देखने के लिए उत्सुक रहूँगा। किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ कि तुम अपनी पुस्तक मुझे समर्पित करना चाहते हो। वैसे मेरा विचार तो यह है कि इसके अधिकारी वे लोग हैं जो तुम्हारी काव्य-साधना में अधिक घनिष्ठता से तुम्हारे साथ रहे हैं।

गोपेश जी को स्नेह-स्मरण

सस्नेह
बच्चन

पुनश्च :
यों तो मेरे जैसे लोगों के क़लम घिसने की महत्ता ही क्या है, पर आजकल मैं कुछ ऐसा काम कर रहा हूँ जिसे मैं बड़ा कहना चाहूँगा।

17. श्री चन्द्रदेव सिंह, कलकत्ता को
विदेश मन्त्रालय, नयी दिल्ली से : 24.10.56

प्रिय चन्द्रदेव सिंह,

पत्र मिला। चिन्ता है कि तुम्हारी पत्नी अस्वस्थ हैं। उनका समाचार देना। गोपेश जी का तो प्रबंध अब सारा हो चुका है। शीघ्र वे भारत से प्रस्थान करेंगे।

साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं-संस्थाओं के पीछे गुप्त रीति से राजनीतिक दल काम कर रहे हैं। प्रायः राजनीति के विकार से साहित्य को कुरूप होना पड़ता है। फिर भी मेरा कुछ ऐसा विश्वास है कि साहित्य के दूध में विष नहीं घोला जा सकता। वह कभी न कभी उफनकर बाहर निकल जाता है और साहित्य साहित्य ही रह जाता है। मैं इस विष को देखता रहता हूँ पर जानता हूँ कि यह फेन की तरह निकल जायगा।

हमें दूध की वृद्धि करनी चाहिए।

सस्नेह तुम्हारा
बच्चन

18. श्री दिगंबर देव, कैथावा को

विदेश मंत्रालय, नयी दिल्ली से : 5.9.57

चिरंजीव दिगम्बर,

तुम्हारा पत्र और माँ के जन्मदिन की तुम्हारी बधाई और भेंट प्राप्त हुई जो मैंने उन्हें पहुँचा दी। उनकी ओर से आभार भी प्रकट करता हूँ और आशीर्वाद भी भेजता हूँ। उनका कहना था कि रुपये नहीं भेजने थे। हार्दिक कामना बहुत थी।

तुम्हारी भावना को समझता हूँ। पर कारण तुम्हें न लिखने का यही था कि कैथावा से इटावा आने में तुम्हें तरद्दुद ही होगी। गाड़ी बेवक्त वहाँ से गुज़रती है, मुझे पता नहीं कि कैथावा से इटावा आने की क्या सुविधा है। आखिर मुझे तुम्हारे कष्ट का तो ध्यान रखना ही चाहिए। माँ को देखकर शायद और कष्ट होता। अमित अजित को भी आपरेशन आदि के विषय में अनभिज्ञ ही रक्खा गया। मैं नहीं समझता मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया।

पढ़ी हुई पत्रिकाएँ तो बहुत होती हैं। भेजने का प्रबंध करूँगा। पुस्तकें अभी नहीं छपीं।

राहुल, कुमारियों और बहूरानी को मेरे आशीर्वाद।

सस्नेह
बच्चन

पुनश्च :
साप्ताहिक हिन्दुस्तान की दो प्रति मेरे पास आती हैं। एक पता बदल मैं तुम्हारे पास भेज दूँगा। पिछला अंक भेज दिया था।

मेरे पते में सिर्फ़ मेरा नाम, विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली पर्याप्त होगा। नाम के साथ 'महाकवि' या 'श्री 108' आदि लिखने की ज़रूरत नहीं। अपने मन का भाव मन में रक्खो। मुझ पर प्रकट करो। डाकिये पर प्रकट करने से क्या लाभ? लिफ़ाफ़े का पता तो सिर्फ़ डाकिये के लिए है।

19. श्री विजय कुमार थडानी, संप्रति मुजफ्फरपुर को

विदेश मंत्रालय, नयी दिल्ली से : 25.10.57

चिरंजीव विजय,

तुम्हारा भेजा पार्सल मिला। सिंदूर की डिब्बी टूट गई थी। सारा पार्सल लालिमामय हो गया था। कापी-कलम मिल गये पर तुमने इन चीज़ों पर पैसे क्यों खर्च किए? तुम्हारी शुभकामना बहुत थी। फिर भी आभार प्रकट करना चाहता हूँ।

बड़े प्रश्नों का उत्तर बड़ी आसानी से नहीं मिलता। मैंने बुद्धि और आत्मा के अंतर पर विशेष नहीं सोचा। संघर्षों में लगे हाथ-पाँव ही का आभास अधिक हुआ। इतना काम में लगा रहा कि सोचने का समय ही न मिला। शायद दोनों से काम लेता रहा हूँ।

माँ को तुम्हारी भेंट की सूचना दे दी थी। आजकल उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। पर तुम्हें उनकी चिन्ता नहीं करनी। रामायण और गीता के पाठ से तुम्हें अवश्य

अपने प्रश्नों का उत्तर मिलेगा। ये दोनों पुस्तकें समस्त आध्यात्मिक प्रश्नों के लिए Encyclopaedia का काम करती हैं। पर सबसे मुख्य है ऐसे कर्म में निरत रहना जिससे अपना और दूसरों का हित हो। मनुष्य का सारा धर्म, विचार व्यवहार्य होना चाहिए। मैं देखूँगा उसका प्रभाव जीवन पर क्या पड़ता है। मुझे तुम्हारा मस्तिष्क बहुत सचेत और हृदय बहुत भाव-प्रवण जान पड़ता है। इन्हें ठीक दिशा में लगाना चाहिए। विश्व की खोज भी तो करनी होगी।

सस्नेह
बच्चन

20. सम्पादक, 'दैनिक हिन्दुस्तान' नई दिल्ली को प्रकाशनार्थ
नई दिल्ली से : 17.12.57

प्रिय महोदय,

जिस समय संविधान ने हिन्दी को भारत की राज्य-भाषा के रूप में स्वीकार किया था और राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति तथा संसद-सदस्यों ने संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ ग्रहण की थी तो भारतवासी यह जान गए थे कि देश की राज्य-भाषा का प्रश्न अब सदा के लिए निश्चित हो गया है। अस्तु, विभिन्न राजकीय कार्यों में हिन्दी को प्रयुक्त करने के लिए भारत सरकार जो भी कर सकती थी, किया गया।

उसके बाद, संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार, राजकीय भाषा आयोग की स्थापना हुई, जिसके अध्यक्ष स्वर्गीय श्री बी. जी. खेर थे। निकट भविष्य में हिन्दी के द्वारा अंग्रेज़ी को स्थानापन्न करने के कार्यक्रम तथा उसकी प्रगति के बारे में इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट पेश की। रिपोर्ट संसदीय विशेष समिति के विचाराधीन है और राष्ट्रपति का निर्णय अभी दिया जाने को है।

आयोग की रिपोर्ट के कुछ तर्कसंगत, व्यापक और दूरगामी निष्कर्ष ऐसे थे, जिन्होंने इस बीच अंग्रेज़ी के पैरोकारों को विचलित कर दिया है और ये लोग कभी लिखकर, कभी बोलकर : जैसा भी मौका मिले : हिन्दी का विरोध करने के लिए तुल गए हैं। अंग्रेज़ी के इन पैरोकारों के सबसे बड़े अगुआ हैं—श्री राजगोपालाचारी—जिनकी बात भय से सुनी और ध्यान से पढ़ी ही नहीं, बल्कि हिन्दी पर आक्षेप करनेवाले हर ऐरे-ग़ैरे के द्वारा दुहराई भी जाती है। विडम्बना तो यह है कि उन्हीं के समय में वह संविधान स्वीकार किया था, जिसे वे, अब, हिन्दी को उसके प्राप्य तथा उचित स्थान से वंचित करने के लिए, बदलना चाहते हैं; इतना ही नहीं, उन्हीं श्री राजगोपालाचारी ने मद्रास के स्कूलों में हिन्दी को अनिवार्य करने के लिए कितने ही लोगों को जेल भेजा था। महापुरुषों के चरित्र की असंगतियाँ भी महान होती हैं।

दिसंबर महीने के प्रारंभ में मद्रास की एक सार्वजनिक सभा में भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि "हिन्दी द्वारा अंग्रेज़ी को स्थानापन्न करने का यह प्रयत्न भारत को एक बार फिर विघटित (डिसइंटीग्रेट) कर देगा।" मैं पूछता हूँ कि : "क्या भारत संघटित (इंटीग्रेटेड) है ?" एक ऐसी भाषा के माध्यम से, जिसे इस देश के केवल 2 प्रतिशत लोग जानते हैं, आप भारत की 98 प्रतिशत जनता पर शासन कर रहे

हैं, जो अंग्रेज़ी से सर्वथा अनभिज्ञ है; और आप कहते हैं कि यह संघटन है। यही नहीं, उन दो प्रतिशत लोगों ने गोरी ज़बानें और अध-गोरे दिमाग़ (क्योंकि ज़बान ही दिमाग़ की शक्ल बनाती है) भले ही गढ़ लिए हों, लेकिन वे लोग भी भारत की उसी काली मिट्टी के बने हुए हैं। क्या ये संघटित व्यक्तित्व हैं? डब्ल्यू. बी. यीट्स के शब्दों में, ये ऐसे लोग हैं जिन्हें होना तो चाहिए था गरिमावान, परंतु जो विदूषक बनकर रह गए हैं। यदि इसी प्रकार के संघटन के लिए राजाजी स्थिति को पूर्ववत् (स्टेटस को) बनाए रखना चाहते हैं, तो मुझे कहना पड़ेगा कि संघटित भारत तथा संघटित भारतीय व्यक्तित्व का जो स्वरूप मैंने समझा है, वह बहुत कुछ भिन्न है। मैं कहना चाहूँगा कि अभी भारत या तो अ-संघटित है या फिर कृत्रिम रूप से संघटित है। वास्तविक संघटन तो उस समय होगा, जब हम नक़ली ज़बान को काट फेंकेंगे और सहज-स्वाभाविक को विकसित होने देंगे। हिन्दी ही हिन्द की असली ज़बान है, स्वाभाविक भाषा है।

भारत में हिन्दी का अपना घर और अपनी ज़मीन है। अंग्रेज़ी इसकी अधिकारिणी नहीं है। हिन्दी अद्भुत शक्ति तथा गति के साथ विकसित हो रही है और उसकी प्रगति एवं शक्ति का सबसे बड़ा सबूत मुझे तब मिलता है, जब मैं इन हिन्दी-विरोधी, अंग्रेज़ी के पैरोकारों की चीख़-पुकार सुनता हूँ। शक्तिशाली का ही विरोध होता है, निर्बल की तो उपेक्षा की जाती है।

हिन्दी किसी पर लादी नहीं जा रही है। लादी गई है अंग्रेज़ी, और जब तक वह हम पर छाई रहेगी, हम अपने आपको नहीं पहचान सकेंगे। हिन्दी तो एक प्रकार का स्वेच्छया-स्वीकृत अनुशासन है, जो हमें अपने देश, अपनी जनता और अपनी संस्कृति के साथ संयुक्त करेगा।

मुझे विश्वास है कि भारत की चेतना ठीक दिशा की ओर उन्मुख है। हिन्दी तीव्र गति से बढ़ रही है। आश्चर्य की बात तो यह है कि दक्षिण का वह महामानव जो सुदूर देशों के अणु-विस्फोटों की किंचित धमक भी सुन लेता है, इस बात से बिलकुल अनभिज्ञ है कि उसके देश की हवा किस तरफ़ को बह रही है। दूर जाने की ज़रूरत नहीं, वे खुद अपने घर में देखें, और अगर वे नहीं देख सकते तो मैं चाहूँगा कि कोई चुपके से उनके कानों में यह कह दे कि स्वयं उनकी लड़की हिन्दी की सुपरिचित लेखिका है और उनके नाती-नातिनें—जिनके साथ बातचीत करने का अवसर मुझे मिला है—उतने ही सहज-स्वाभाविक ढंग से हिन्दी बोलते हैं जितना कि मैं खुद।

हरिवंशराय बच्चन

21. सम्पादक 'कल्पना', हैदराबाद को प्रकाशनार्थ
विदेश मंत्रालय, नयी दिल्ली से : 15.6.58

प्रिय महोदय,

हिन्दी में ग़ैर-ज़िम्मेदार कलमों की बाढ़ आ गई है। प्रायः इनकी उपेक्षा करना ही ठीक जान पड़ता है, लेकिन कभी-कभी इन पर अफ़सोस आता है।

आपकी कल्पना को मैं एक ज़िम्मेदार और पाए की पत्रिका समझता हूँ, लेकिन ये कलमें कभी-कभी उस पर भी आक्रमण करती हैं।

'कल्पना' की पिछली किसी संख्या में शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद पर एक फ़ब्ती कसी गई थी। जैसे यह एक फ़िज़ूल का काम है और कुछ सिर-फिरे लोग उसे कर रहे हैं। ख़ैर ऐसी राय रखनेवालों के लिए यदि 'कल्पना' के पृष्ठ आप खुले रखते हैं तो आपकी उदारता है। पर इस कार्य की महत्ता समझनेवाले भी लोग हैं। काश उनकी संमति को भी, और वह कई तरह से प्रकट भी की जा चुकी है, आप अपनी पत्रिका में स्थान दे सकते।

मई का अंक मेरे सामने है।

'साहित्यधारा' पृष्ठ 2 के अंतर्गत लिखा गया है : "शेक्सपियर की लगभग सभी नाट्यकृतियों का पद्यानुवाद बच्चनजी ने किया है। कुछ अनुवाद पुस्तक रूप में प्रकाशित भी हो चुके हैं।"

मैंने आज तक शेक्सपियर के केवल दो नाटकों का अनुवाद किया है। मेरा 'मैकबेथ' केवल पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है।

शेक्सपियर ने अपने नाटक न केवल पद्य में लिखे हैं, न केवल गद्य में। भावानुरूप उन्होंने गद्य-पद्य दोनों का उपयोग किया है। मैं अपने अनुवादों में गद्य का अनुवाद गद्य और पद्य का अनुवाद पद्य में कर रहा हूँ।

'साहित्यधारा' के लेखक ने 'ओथेलो' के अनुवाद का कुछ अंश 'आजकल' (अप्रैल 1958) से उद्धृत कर लिखा है।

"रांगेय राघव ने 'ओथेलो' का जो गद्यानुवाद किया है, वह हमने देखा नहीं है, लेकिन उनका अनुवाद बच्चन के उपर्युक्त पद्यानुवाद से किस रूप में भिन्न होगा, हम नहीं कह सकते।"

क्या मैं निवेदन करूँ कि लेखक महोदय ने जो अंश उद्धृत किया है, वह गद्य में है, जैसा कि मूल अंग्रेजी में है। उसे पद्य समझकर डा. रांगेय राघव के गद्य जैसा समझना, उनकी भूल है। मुझे आश्चर्य है कि उन्होंने उस गद्य भाग को पद्य कैसे समझ लिया।

यदि तुलना करनी है तो 'ओथेलो' या 'मैकबेथ' के किसी पद्य भाग को उद्धृत कर उसके गद्य और पद्य दोनों रूपों को सामने रखकर देखें कि कौन मूल की आत्मा को अधिक निकटता से पकड़ता है।

क्या आप इस पत्र को 'कल्पना' में प्रकाशित करने की कृपा करेंगे ?

सधन्यवाद,

बच्चन

22. श्री महाराज कृष्ण रसगोत्र, सम्प्रति नई दिल्ली को
विदेश मन्त्रालय, नयी दिल्ली से : सितम्बर 1958

प्रिय राजन,

तुम्हारा 26 अगस्त 1958 का पत्र मिला। मैं भी प्राय: यह सोच रहा था कि अमरीका पहुँचने पर तुमने कोई समाचार क्यों नहीं दिया। मुझे यह जानकर दु:ख हुआ कि जहाज़ में ही यतीश की तबियत खराब हो गई थी। आशा है अब वह स्वस्थ और प्रसन्न है। हम लोग अभी उसी मकान में रह रहे हैं और अक्सर तुम्हारेवाले फ्लैट के सामने से जाते हुए तुम्हारी याद करते हैं। खासकर उसके

बाग को देखकर जो अब किसी जंगल से होड़ लेता मालूम होता है। तुम खुद कितनी रुचि और मेहनत से बाग की देखरेख करते थे। अब शायद उसमें श्री जगत मेहता रहते हैं। मैं तो किसी दिन उनसे मिलने भी नहीं गया।

तुम जिस समय अमरीका जा रहे थे मैं उस समय एक अनुष्ठान में लगा हुआ था। मैं किसी प्रेरणा से गीता का अनुवाद अवधी भाषा और दोहा-चौपाई की शैली में कर रहा था। तुम तो जानते ही हो कि तुलसीदास ने उस बोली और शैली में रामचरित-मानस लिखकर इसे हिंदी भाषियों में सबसे अधिक लोकप्रिय बना दिया है। वह अनुवाद अब पूरा हो गया है और मैंने उसे 'जन गीता' के नाम से प्रकाशित करा दिया है। गीता के तुम बड़े प्रेमी हो। गीता इस लोकप्रिय रूप में देखकर तुम प्रसन्न होगे। उसकी एक प्रति डिप्लोमैटिक बैग से भिजवा रहा हूँ।

एक और किताब भी मेरी प्रेस में है। यह है 'बुद्ध और नाचघर'। यह मेरी मुक्त छन्द की कविताओं का संग्रह है। जैसा मैंने तुमसे कहा था इसकी भूमिका में मैंने तुम्हारे विषय में एक पैराग्राफ लिखा है। पुस्तक प्रकाशित होते ही मैं तुम्हें भेजूंगा।

एक सबसे बड़ा काम जो मैंने आजकल उठा रक्खा है, वह है 'हिंदी मैकबेथ' को रंगमंच पर लाना। दिसम्बर में उसका अभिनय दिल्ली में किया जायगा। रिहर्सल चल रहा है। तेजीजी लेडी मैकबेथ का पार्ट करेंगी। तुम्हें जानकर प्रसन्नता होगी कि पंडित नेहरू ने हिंदी मैकबेथ को रंगमंच पर उपस्थित करने के लिए हमें 15 हज़ार रुपए का अनुदान दिया है। अब हम दिल्ली में एक 'हिंदी शेक्सपियर रंगमंच' स्थापित कर रहे हैं।

हिंदी की कुछ अच्छी नई किताबें तुम्हें भेजने का मैं ध्यान रक्खूंगा। पार्सल से भेजना होगा या डिप्लोमैटिक बैग से भी वे जा सकेंगी? तुम्हारा हिसाब राजकमल के यहाँ खुलवा दूँ? वे हिंदी के सबसे बड़े पुस्तक विक्रेता हैं और जो पुस्तकें मैं कहूँगा, वे तुम्हें सीधे भी भेज सकेंगे।

आशा है छोटी का स्वास्थ्य अच्छा है और वे अपने विदेश-प्रवास में सुखी और आनंदित हैं। उनको हमारी और तेजी की सप्रेम याद। यतीश को हम दोनों के आशीष।

सस्नेह तुम्हारा
बच्चन

23. श्रीमती चंद्रकला, नई दिल्ली को
विदेश मन्त्रालय, नई दिल्ली से : 3.11.58

आदरणीय दीदी,

पत्र के लिए धन्यवाद। यों तो शास्त्रों में धर्मग्रंथों के पठन मात्र को भी पुण्य बताया है, मन को शांति तो मिलती है। पर इसको जीवन में उतारने का भी प्रयत्न करना चाहिए। कुछ न कुछ तो साधना हो ही सकेगी।

सहज अर्थ जो हमारी बुद्धि स्वीकार करे उतना मान लेना भी कल्याणकर है। शब्द की भी सीमा है। भाव और विचार की परिपूर्णता से, वे अभिव्यक्ति कहाँ कर पाते हैं। भले ही उनका उपयोग करनेवाले महाकवि हों।

मुझमें तो ऐसा कुछ भी नहीं कि किसी को राह दिखा सकूँ—फिर अध्यात्म की राह। मेरा भरोसा करना अंधे का भरोसा करना ही है। मैं भी जीवन का मार्ग खोज रहा हूँ—कभी अपने अनुभवों के अँधेरे में, कभी ज्ञानियों के ज्ञान, फिर अनुभव के उजाले में। जीवन में यह खोज भी अच्छी है—प्राप्ति न हो तो भी। मेरी शुभ-कामनाएँ।

विनीत
बच्चन

24. श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नई दिल्ली को
विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली से : 22.7.59

सर्वेश्वरजी,

नमस्ते। कृति में आपकी नई रचना देखी—युगजागरण का गीत। बहुत पसंद आई। बधाई। व्यंग में तीखापन, अभिव्यक्ति में मौलिकता। पढ़कर प्रसन्न हुआ।

सस्नेह
बच्चन

25. श्री आनंद नारायण शर्मा, सम्प्रति बेगूसराय को
विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली से : 15.12.59

प्रियवर,

11.12.59 के पत्र के लिए धन्यवाद। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप स्वस्थ-प्रसन्न हैं। भूला नहीं हूँ आपको।

मेरी कविता-भाषा के संबंध में आपने जो उद्‌गार प्रकट किए, उसके लिए आभारी हूँ। हिंदी की मनीषा ने मुझे उपकरण बना कुछ कर लिया हो, मैंने क्या किया। मैं न करता तो कोई और करता। 'ओथेलो' पुस्तक-रूप में निकल चुका है। प्रकाशक हैं राजपाल ऐंड सन्ज़, कश्मीरी दरवाजा, दिल्ली-6। सुविधा और रुचि हो तो देखें। ओंकारनाथ श्रीवास्तव का कहना है कि 'ओथेलो' का अनुवाद 'मैकबेथ' से ज्यादा अच्छा है। आजकल हैमलेट को हिंदी बोलने का अभ्यास करा रहा हूँ। समय कम मिलता है—'इश्के बुताँ करूँ कि मैं यादे खुदा करूँ, इस छोटी-सी उम्र में मैं क्या-क्या किया करूँ।' 53 का हो गया, अब यादे खुदा का भी समय आ गया। आप लोग नवयुवक हैं—कुछ महत्वपूर्ण करें। दिल्ली आएँ तो अवश्य मिलें। घर का पता है—13 विलिंगडन क्रिसेंट तीन मूरती के पास।

सस्नेह
बच्चन

26. श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नई दिल्ली को
विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली से : 18.7.60

प्रियवर,

'काठ की घंटियाँ' पूरी पढ़ चुका। और मेरा पर्याप्त मनोविनोद हुआ। आप बुरा न मानेंगे यदि मैं कहूँ कि आपकी कहानियों से आपकी कविताएँ मुझे अधिक अच्छी लगीं। कहानियों के विषय में मुझे ऐसा लगा कि जिस यथार्थ को आपने देखा है उसे व्यक्त करने की शैली आपने नहीं बनाई। कहानियों में विकास का भाव भी मुझे नहीं दिखा—अन्तिम कहानी को छोड़कर। कविता में आपका विकास स्पष्ट है। आशा है आपका नया काव्य-संग्रह शीघ्र निकलेगा और उसमें आपकी अद्यतन रचनाएँ देखने को मिलेंगी।

मैं आपकी पुस्तक अपने एक मित्र को भेज रहा हूँ जो कसौली सैनिटोरियम में क्षय रोग से पीड़ित इलाज करा रहे हैं। मौत से लड़नेवाला आदमी शायद जीवन के नग्न सत्य को अधिक साहस से देखता है और उसके प्रति अधिक उदार भी होता है—जीवन के नग्न सत्यों के प्रति, पता नहीं, आप मानेंगे या नहीं; विद्रोह क्रांति की अपेक्षा आपमें भी उदारता अधिक है। पता नहीं किन क्षणों में आपने उन्हें देखा है।

सस्नेह
बच्चन

27. श्री मोरारजी लाल ओझा, अहमदाबाद को
विदेश मन्त्रालय, नयी दिल्ली से : 16.8.60

प्रिय महोदय,

सादर नमस्कार।

आपका पत्र मिला, धन्यवाद। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मेरी रचना 'मधुशाला' आपको पसंद आई और आप इसका अनुवाद गुजराती में करना चाहते हैं। दुर्भाग्यवश मुझे गुजराती साहित्य का परिचय केवल अनुवादों के द्वारा ही थोड़ा बहुत है। आपने अपनी कतिपय कविताएँ मेरे पास भेजी हैं परंतु न तो मैं गुजराती लिपि पढ़ सकता हूँ और यदि किसी से सुन भी लूँ तो उसका कोई मूल्यांकन नहीं कर सकता। अवश्य ही आप गुजराती भाषा के समर्थ कवि होंगे। हिंदी से अनुवाद की आप में कितनी क्षमता होगी इसका भी निर्णय करना मेरे लिए संभव नहीं है। अच्छा होगा कि आप 'मधुशाला' की रुबाइयों का अनुवाद करके पहले गुजराती की मान्यता प्राप्त साहित्यिक पत्रिकाओं में छपाएँ। उसी से आपको गुजराती समालोचकों एवं कवियों की प्रतिक्रिया का पता लगेगा। अगर वे लोग आपके अनुवाद को पसंद करें और समझें कि इसके पुस्तक रूप के प्रकाशन से गुजराती जनता कुछ आनंद ले सकेगी तब उसके प्रकाशन की बात सोची जा सकती है। उस समय किन्हीं ऐसी शर्तों पर जो आपको और आपके प्रकाशक को तर्कसंगत लगें मैं प्रकाशन का अधिकार भी दे सकूँगा। आशा है आप अन्यथा न समझेंगे।

एक बार फिर 'मधुशाला' के संबंध में जो उद्गार आपने प्रकट किए हैं उनके

लिए आपको धन्यवाद देता हूँ। आपने जो गुजराती पत्रों की कतरन भेजी है वह मैं अपने पास सुरक्षित रखे हूँ। यदि आप चाहेंगे तो वह आपको वापस कर दी जाएगी। शेष कृपा।

आपका
हरिवंशराय बच्चन

28. श्री उपेन्द्र, कानपुर को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 14.2.61

प्रिय उपेन्द्रजी,

12.2.61 के पत्र के लिए धन्यवाद। कानपुर में सुनी आपकी पंक्तियाँ अभी कानों में गूँज ही रही थीं कि आपका पत्र भी आ गया।

'घटा साँवरी' मैं पढ़ चुका हूँ। कई कविताएँ बहुत अच्छी लगीं। कई पंक्तियाँ सीधी स्मृति में बैठ गईं। आपके हृदय में रस है जो बरबस आपकी कविताओं में छलक उठा है। रस का सबसे वड़ा गुण आप जानते हैं? वह गतिशील होता है, अन्वेषी होता है। जीवन ही इस अन्वेषण का क्षेत्र है, अनुभव ही इसके चरण हैं। कविता जीवन के यात्री का गीत है। बैठकर गाने वाले मुझे नहीं भाते।

अभिव्यक्ति पर आपका पर्याप्त अधिकार है। इस पथ पर जो पहले जा चुके हैं, जो साथ चल रहे हैं, उनके स्वरों के लिए अपने कान खुले रक्खें—यानी आपका स्वाध्याय सम्यक् हो। स्वाध्याय से केवल अभिव्यक्ति पर अधिकार ही नहीं मिलेगा, जीवन की दिशाएँ भी स्पष्ट होंगी।

भाषा की कुछेक त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान गया। आप बुरा न मानें तो संकेत कर दूँ।

3 'इस तट से उस तट तक लेकर' इसको यों कर देते तो ज़्यादा अच्छा होता, 'उस तट तक इस तट से लेकर'—'से लेकर' साथ हो।

51—'पवन' पुल्लिग है।

53 —'न कठिनाइयों ने जिसे रोक पाया', इसे यों होना था 'न कठिनाइयाँ ही जिसे रोक पाईं'—'रोक पाया' के साथ 'ने' नहीं ठीक।

75 —'सुन्दरता पर सिंगार चढ़ाने को' ऐसा मुहावरा नहीं, यों हो तो कैसा—'सुंदरता पर दो फूल चढ़ाने को।'

इन त्रुटियों पर शायद दो मत भी हो सकें। शायद मैं ही ठीक न समझा हूँ।

मैं आपकी रचना का स्वागत करता हूँ। उसके लिए आपको बधाई देता हूँ। मेरी हार्दिक कामना है कि कविता आपको अपनाए और आपसे जीवन मुखरित हो। आपकी रचनाओं को पढ़ने से मुझको सुख मिला। इसके लिए आपके प्रति आभार प्रकट कर पत्र समाप्त करता हूँ।

सस्नेह
बच्चन

29. श्री श्रीपाद एदलाबादकर, इंदौर को
विदेश मन्त्रालय, नई दिल्ली से : 23.3.61

प्रियवर,

पत्र के लिए ध. । 'कवि सम्मेलनों के कुछ अनुभव' लेख आपको पसंद आया। इसकी मुझको प्रसन्नता है। इस संबंध में कोई पुस्तक लिखने का तो मेरा इरादा नहीं। संभव है कभी कुछ और संस्मरण लिख सकूँ।

मेरी ऐसी धारणा है कि कविसम्मेलनों को कविता का मापदंड तो नहीं बनाया जा सकेगा। उसका स्थान विशुद्ध साहित्यिकता और सस्ते मनोविनोद के बीच में होगा। प्रयत्न यह करना पड़ेगा कि मनोविनोद का स्तर बढ़े और साहित्यिक सुरुचि तक पहुँचे। यह तब संभव होगा जब साधारण जनता भी सुशिक्षित हो और उसकी रुचि परिष्कृत हो। इसका स्वप्न तो देखा जा सकता है, पर यह संभव कब होगा, इसे कहना कठिन है। जहाँ शत-प्रतिशत साक्षरता है वहाँ भी जनता की रुचि और विशिष्ट साहित्य पारखी की रुचि में अन्तर है। श्री राजनाथजी का उत्तर मैं नहीं दे रहा हूँ। मेरी नई रचना--त्रिभंगिमा प्रकाशित हुई है। रुचि हो तो देखें। राजपाल प्रकाशन है।

भ.
बच्चन

30. श्री दामोदर अग्रवाल, सम्प्रति नई दिल्ली को
विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली से : 29.6.61

प्रिय दा,

तुम्हारा 22 का पत्र मुझे मिल गया है। तुम्हारा गुरुवर का भारी-भरकम संबोधन मुझसे नहीं उठता। अगर तुम मुझे अपना मित्र नहीं बना सकते तो मुझे अपना बड़ा भाई मान लो। हालाँकि 'दा' मैं ही तुम्हें कह सकूँगा। मैं तो नाम से ही छोटा बनकर आया हूँ और सदा रहूँगा भी।

इसके पहले तुम्हारा एक पत्र मुझे मिला था, जिसका उत्तर मैंने गोरखपुर के पते पर दे दिया है। बीच में तुम्हारा मित्र सदाशिव भगत (भागलपुर) दिल्ली आया था, उससे मैंने अपना एक नया चित्र तुम्हारे लिए भेजा है। मिला कि नहीं?

मैंने एक समय केन्टरबरी टेल्स पूरी पढ़ी थी। उसके आधुनिक अंग्रेज़ी गद्य रूप से भी परिचित हूँ। कुछ कहानियों में अश्लीलता है---भोंडे किस्म की। उसे सँभालकर उपस्थित करना होगा। वैसे मैं अश्लील को श्लील बनाने के पक्ष में नहीं। अश्लीलता तो शेक्सपियर में भी है। मैकबेथ में भी और ओथेलो में भी मुझे उसका सामना करना पड़ा, मेरे अनुवाद से कुछ लोगों ने नाक-भौं सिकोड़ी, पर मैं तो हिम्मत कर ही चुका था। कभी तुम्हारा अनुवाद देखूँगा। 200 बरसों के अंग्रेज़ी प्रभाव से हम कभी मुक्त नहीं हो सकेंगे-- और न हो तो स्वरूप ही होगा—हमें उसका परिष्कार कर अपने में समाहित करना है। अंग्रेज़ी से बहुत कुछ अनूदित करके हिन्दी को देना है जिससे उसका जो लाभ अभी तक कुछ थोड़े से लोग लेते रहे, उसे बहुत से लोग लें। तुम अभी ज़रूरी काम कर रहे हो। कुछ और अनुवादों

की दीर्घकालीन योजना बनाओ। कान्सटेन्स गारनेट ने अपना सारा जीवन चेखोव को अंग्रेज़ी में उपस्थित करने में लगा दिया। कोई संपूर्ण हार्डी के लिए ही ऐसा व्रत ले ले या डी. एच. लारेन्स के लिए। हिन्दी मस्तिष्क-मनीषा को भारतव्यापी और विश्वव्यापी होना है। अभी तो भारतीय भाषाओं से ही बहुत अनुवाद करना है। दक्षिणी भाषाओं को हम भूले बैठे हैं। कुछ हिन्दी के लेखक दक्षिणी भारतीय भाषाओं पर पूर्णाधिकार प्राप्त करें और उनके रत्नों का···प्रासाद प्रकाशित करें। मैं···प्रबंध होता तो एक दक्षिणी भाषा अवश्य सीखता।

यदि हार्डी में तुम्हें रुचि हो तो दस बरस तक उसका अध्ययन करो। पी-एच डी अंग्रेज़ी में करनी है तो इंग्लैंड की किसी युनि. से करना ठीक होगा। वहाँ मसाला काफ़ी मिलेगा। और पथ-प्रदर्शन भी योग्य लोग करेंगे। यहाँ तो प्राय: अन्धा अन्धे को राह दिखाता है। मैंने 47 वर्ष की अवस्था में डाक्टरेट ली। तुम्हारी उम्र क्या है? हौसला रक्खो, प्यारे! जीवन कुछ करने के लिए है।

यहाँ भी पहला पानी बरस गया। मेरा हर साल का नियम है कि पहला पानी बरसता है तो मैं जाँघिया पहनकर बाहर निकल पड़ता हूँ और खूब भीगता नहाता हूँ। इस बार अमित, प्रभात (मेरा भतीजा), अमित के एक मित्र सब घर पर थे। सबको मैंने बाहर निकाला, सबों ने खूब नहाया, पानी से भीगी धरती पर लोट लगाई। फिर गरम-गरम पकौड़े खाये और चाय पी। पहले पानी पर 'मिलन यामिनी' में मेरी एक कविता है—प्रयाग की पहली बरसात ही प्रेरणा रही होगी।

ओ पावस के पहले बादल मेरे मन प्राणों पर बरसो

कभी पानी बरस रहा हो तो यह गीत पढ़ना। मैं इसे बड़ी अच्छी धुन में गाता हूँ। कभी मिलना तो याद दिलाकर सुनना। अबकी बरसात पर भी एक गीत लिखना चाहता हूँ—किसी मादक लोकधुन पर आधारित।

मेरे पाषाण-चित्रण पर 25 जून के धर्मयुग में सचित्र लेख है। देखना।

प्रिय निर्मल के लिए मूली 'सजीवन मूरि' है, इसे न भूलना।

चि. अन्नू को और तुम्हें मेरा बहुत प्यार

तुम्हारा
बच्चन

31. श्री दिगम्बर देव, कैथावा को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 1.8.61

चिरंजीव दिगम्बर,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारी बीमारी का समाचार मुझे किसी ने दिया था। मैंने पत्र भी लिखा पर कोई उत्तर नहीं आया। तुम्हारे पत्र से जहाँ और चिन्ताएँ उठीं, वहाँ यह चिन्ता मिटी कि तुम अब पहले जैसे अस्वस्थ नहीं हो।

सुधा के ससुरालवालों के व्यवहार पर आश्चर्य हुआ, दुख भी। कितना पिछड़ा, पतित, घृणित है हमारा समाज। हमारा शिक्षित नवयुवक भी उसके विरुद्ध नहीं खड़ा होता। कैसी शिक्षा दी जा रही है इन युवकों को। क्या ऐसे ही नया भारत बनेगा या भारत को ये लोग फिर से पुराना बनायेंगे। सुधा का पति पढ़ा-लिखा है कालेज का—शहर का; उसे अपने दकियानूसी घरवालों को रोकना था। कहाँ

जा रहे हैं हमारे लोग, हमारे युवक; कहाँ जा रहा है हमारा देश, आचार, आदर्श, नैतिकता से दूर जाकर यह देश किस गड्ढे में गिरने की तैयारी में है। क्या गुलामी के गड्ढे से इसीलिए उसको निकाला गया था।

ईट्स ने कहीं लिखा है कि जातियाँ ऊपर से सड़नी शुरू होती हैं। आज हमारी जाति राष्ट्र में जो ऊपर हैं, वही सड़ रहे हैं। नीचेवालों को कौन सँभालेगा। यह सब देखकर मन बड़ा दुखी होता है। मैं तो अपने शब्दों से कुछ भी नहीं कर सका, पर दूसरा तो कुछ बस में भी नहीं। आँख मेरी खुली है...क़लम मेरा जब तक चलेगा, अपनी रीति से इसका विरोध करूँगा, इस जर्जर जाति को जो बल दे सकूँगा, दूँगा। गाँधी की तपस्या और उनका बलिदान भी जिस देश को उठा नहीं सका, वह अब भगवान के ही उठाये उठ सकता है—भगवान का उपाय सरल भी है कठोर भी—देखें वे क्या करते हैं, हम दो-चार आदर्शों में आशा रखकर उनकी आरती करनेवाली लौ को गरमाये रहें—और तो अपने सामर्थ्य से कुछ होता नज़र नहीं आता। सबको मेरे यथायोग्य

सस्नेह
बच्चन

32. श्री वीरेन्द्र कुमार जैन, बंबई को
विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली से : 20.1.62

भाई वीरेन्द्रजी,

मैं कल रात सकुशल पहुँच गया। बंबई के दो दिन के प्रवास में मिला तो बहुतों से, बातचीत भी बहुतों से हुई पर आत्मा का आदान-प्रदान आपसे ही हुआ। जो हुआ, जितना हुआ, उससे मुझे संतोष नहीं। इसकी आशा लगाए हूँ कि कभी हम निर्बन्ध समय में मिलकर एक-दूसरे को अधिक निकट से देख-जान सकेंगे। अपनी खोज में आप जिधर जा रहे हैं, शायद उधर ही मैं भी जा रहा हूँ—हम सहयात्री हैं। शायद एक-दूसरे के लिए कुछ संबल-सहारा बन सकें। यात्राएँ सभी कठिन होती हैं—एकाकी यात्राएँ और भी—प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समाहिं, पर उसमें अकेले भी नहीं जाया जा सकता। आप सहमत होंगे। कबीर से क्षमा-याचना सहित मेरी एक कविता है। कभी सुनाऊँगा। कभी एकांत में बैठकर आप मेरा आत्म-निवेदन सुनेंगे तो मुझे विश्वास है, बहुत-सी चीज़ों का अर्थ बदलता नज़र आएगा। मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानता हूँ जिसके समक्ष जब मैंने अपनी कोई रचना पढ़ी है तो मुझे लगा है कि मुझे ही अपनी कविता को फिर समझना है। दो के सान्निध्य से एक तीसरा जन्म लेता है। जिसके निकट जाकर मैं अपने से अपरिचित हो जाऊँ, ऐसे की खोज मुझे सदा रहती है।

'कवियों में सौम्य संत' देखने की इच्छा आपने प्रकट की थी। आज ही अपने प्रकाशक को लिख रहा हूँ कि वह आपको एक प्रति भेज दे।

चि. ज्योत्स्ना को मिलकर प्रसन्नता हुई। उसका शारीरिक विकास और स्वस्थ होना चाहिए। शरीर से उसे और सक्रिय होना चाहिए—दौड़ना-धूपना, खुली हवा में लंबी साँस खींचना-छोड़ना, तैरना।

यदा-कदा सुविधा और मन होने पर अपना समाचार देंगे।

मेरे शरीर के प्रति आप सबने बड़ी चिन्ता व्यक्त की। करुणा भी कैसे छद्म रूप में आई है कि सब कहते हैं, भागो! मैं कहीं भुलावे में न आ जाऊँ।

सप्रेम
बच्चन

33. श्री महेशशरण जौहरी 'ललित', संप्रति उज्जैन को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 17.1.62

प्रिय ललित,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारा निश्चय तुम्हें सफलता देगा।

आज ही 'ज्योत्स्ना' (पटना) जन. 62 में उग्रजी के संबंध में यह सब पढ़कर मन बड़ा दुखी हो गया है।

कुछ समझ में नहीं आता कि उनके लिए क्या किया जाय! मैं दूर-दूर से उग्रजी के प्रति आदर-भाव रखता पर निकट आने से डरता भी रहा हूँ। उनके जैसे स्वाभिमानी के लिए कुछ करते हुए भी डर ही लगता है।

क्या हिन्दी संसार ऐसे ही देखता रहेगा और सच्चाई और ईमानदारी के लिए यह एक और प्रतिभा बलि चढ़ जाएगी?

मैं भी बड़ी सीमाओं में हूँ—क्या हिन्दी का मानस सचमुच जड़ हो गया है। क्या पूँजीपतियों और राजनीतिज्ञों ने साहित्य का गला एकदम घोंट दिया है। क्या प्रजातंत्र में जनता की स्वतंत्रता बिलकुल बिक गई है। उग्र की यह मनोयातना पुकार-पुकारकर कह रही है कि युग-समाज में कहीं भारी गलती है।

और उसका निराकरण करनेवाला कोई नज़र नहीं आता। फ़िलहाल प्रश्न यह है कि उग्र की सहायता कैसे की जाय। क्या तुम उदयपुर जाना चाहोगे? खर्च सब मेरे ज़िम्मे रहेगा। और यह बात मेरे तुम्हारे बीच ही रहनी चाहिए। सोचकर मुझे फ़ौरन लिखो।

दिल्ली होते हुए जाओ और सारी परिस्थिति समझकर फिर दिल्ली आओ। मैं कुछ व्यक्तिगत रूप से ही कर सकता हूँ—कुछ एकदम निजी मित्रों के द्वारा। सार्वजनिक रूप से आगे आना मेरी परिस्थितियों में संभव नहीं। तुम स्वयं सब समझते हो। तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा करूँगा। मुझे सब निःसंकोच लिखना।

सप्रेम
बच्चन

34. सम्पादक, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', नई दिल्ली को प्रकाशनार्थ
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 7.4.62

प्रिय संपादक जी,

8 अप्रैल 1962 के 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में मेरे लेख 'यह मतवाला–निराला' के सम्बन्ध में श्री शिवसिंह सरोज और श्री मोहनदेव भट्टाचार्य की प्रतिक्रियाएँ

आपने प्रकाशित कीं, वे मैंने देखीं। उनके उत्तर में मुझे कुछ कहना है। यदि निम्नलिखित पंक्तियों को आप अपने पत्र में स्थान दे सकेंगे तो मैं आभारी हूँगा।

लेख का शीर्षक 'यह मतवाला—निराला' उनसे अपनी बेतकल्लुफ़ी प्रदर्शित करने को नहीं दिया गया था बल्कि 'मतवाला' के उस 'मोटो' का संकेत करने के लिए जिसे प्रसाद जी ने निराला के काव्य और व्यक्तित्व की कुंजी बतलाया था :

'अमिय गरल शशि सीकर रविकर राग विराग भरा प्याला,
पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है 'यह मतवाला'।

मैं अब भी समझता हूँ कि 'गुलाब' का संकेत पंत जी की ओर है। शोध का गुर है—तथ्य के आधार पर कल्पना। कल्पना की शक्ति मैं किसी को नहीं दे सकता पर तथ्यों के संबंध में कुछ ग़लतफ़हमियों को दूर करना चाहूँगा।

पंत जी की 'ग्राम्या' 1940 में प्रकाशित हुई जिसके प्रति निराला ने अपना असंतोष व्यक्त किया था (देखिए 'महाप्राण निराला'— पृ. 203)—"भला ये चीज़ें आज के लिखने की हैं।" पर प्रगतिवादियों के बीच इस कृति का स्वागत हुआ था।

'कुकुरमुत्ता' की प्रथम प्रेरणा निराला को 14-1-40 और 15-1-41 के बीच किसी समय हुई (देखिए अजितकुमार के पास सुरक्षित निराला की नोटबुक)।

'कुकुरमुत्ता' की रचना 3-4-41 को पूर्ण हुई और 4-6-42 को प्रकाशित हुई (देखिए युगमंदिर, उन्नाव द्वारा प्रकाशित उसका पहला संस्करण)।

'कुकुरमुत्ता' में जिनकी ओर मैंने संकेत किया है उनके अतिरिक्त और कई तथ्य हैं जो इस ओर इंगित करते हैं कि उसका एक व्यंग्य पंत की ओर है।

1941 में साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की ओर से 'आधुनिक कवि' ग्रंथमाला में महादेवी जी के बाद पंत को अपना संकलन प्रस्तुत करने का निमंत्रण दिया गया। इससे निराला की जो उपेक्षा हुई, उससे वे बड़े मर्माहत हुए (देखिए 'महाप्राण निराला', पृ. 200-202)। सम्मेलन का निमंत्रण स्वीकार करने के लिए निराला ने पंत को क्षमा नहीं किया। 'कुकुरमुत्ता' में ही जो पंत के लिए व्यंग्यात्मक संकेत है, उसे आँखवाले इन पंक्तियों में देख लें,

चली गोली आगे जैसे डिक्टेटर,
बहार उसके पीछे ज्यों भुक्खड़ फ़ालोवर,
उसके पीछे दुम हिलाता टेरियर—
[आधुनिक प्वेट (Poet)]

'आधुनिक प्वेट (poet)' यानी 'आधुनिक कवि'। टेरियर कुत्ते को कहते हैं। निराला की व्यंग्य शैली कालिदास की दिङ्नागानाम् वाली द्वयर्थक शैली है, जिसका उपयोग उन्होंने 'मेघदूत' में किया था।

प्रकाशन के पूर्व 'कुकुरमुत्ता' एक वर्ष तक उत्तर भारत के कवि सम्मेलनों में सुनाया जाता रहा। 1941 में ही पंत जी ने सदा के लिए कालाकाँकर छोड़ने का निश्चय किया। इन तथ्यों से शायद मेरी कल्पना को कुछ और बल मिल सके।

अब दो शब्द 'अनामिका' (1923) पर नज़रुल के प्रभाव के संबंध में। नज़रुल का प्रथम काव्य संग्रह 'ढोलन चाँपा' भी 1923 में प्रकाशित हुआ था। इसके कुछ वर्ष पूर्व ही वे बंगला की पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

वास्तव में रवीन्द्र काव्य के अतिशय माधुर्य के विरुद्ध नज़रुल की कविता ओज की प्रतिक्रिया थी और उसने सम्मुख आते ही बंगाली नवयुवकों का ध्यान आकृष्ट कर लिया। उससे निराला भी प्रभावित हुए हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अपने समकालीनों और समवयस्कों से भी कवि प्रभावित होते हैं। 'परिमल' में नज़रुल का प्रभाव मेरी समझ में अधिक स्पष्ट है।

शेष बातों के लिए श्री सरोज जी तथा श्री भट्टाचार्य महोदय को अपनी राय को ठीक मानने का वैसा ही अधिकार है, जैसे मुझे अपनी राय को।

सधन्यवाद

डा. हरिवंश राय बच्चन
7.4.62

पुनश्च :
मेरा अनुमान है 'गोली' का संकेत महादेवी वर्मा की ओर है। 'बहार' का संकेत गंगा प्रसाद पांडेय की ओर है जिन्हें महादेवी जी ने बसंत का नाम दिया था और जो महादेवीजी के भक्तों में थे।

'टेरियर' का संकेत पंत जी की ओर है। 'आधुनिक कवि' के टाइटिल पेज पर पंत जी का जो रेखाचित्र छपा था वह 'बुलटेरियर' जैसा लगता था।

35. श्री वीरेंद्र कुमार जैन, बंबई को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 16.5.62

भाई वीरेन्द्र,

आपका कार्ड मिल गया। धन्यवाद। मार्च की 'भारती' भी मिली और अब मैं उसे पढ़ भी गया हूँ।

सनातनी सूर्योदयी नूतन कविता की घोषणा से मन को बड़ा संतोष मिला।

आपने अंधकार के बीच प्रकाश की ध्वजा उठाई है। देखकर हम पिछली पीढ़ीवालों को यह आश्वासन मिलेगा कि हम ग़लत दिशा की ओर नहीं जा रहे थे और न इतने पिछड़े ही थे जितना हमारे कुछ छोटे भाइयों ने हमें घोषित कर दिया था। आपकी यह पताका जीवन के नव-नवोज्ज्वल पथों का शोध करती हुई आगे बढ़े—ऊँची रहे!

अब भी अधिक लिखने की क्षमता नहीं। विशेष उत्सुकता 'भारती' के नूतन कविता अंक तथा आपके नवीन कविता संग्रह के लिए रहेगी।

एक रचना भेज रहा हूँ। उचित समझें तो 'भारती' के उपर्युक्त या अन्य किसी अंक के लिए इसका उपयोग करें। शायद आपकी ललकार को इस छोटी सी रचना से कुछ बल मिले।

अपने लिए मेरी शत-शत मंगल कामनाएँ स्वीकार करें। मैं उन दिनों की बाट देख रहा हूँ जब आप कुछ दिन मेरे साथ बिता सकेंगे। स्नेहाभिवादन

बच्चन

36. श्री गौरीशंकर जोशी, लंदन को
विदेश मन्त्रालय, नई दिल्ली से : 19.6.62

प्रिय जोशी जी,

पंत जी जब अपनी यात्रा से लौटकर आए तो उनसे आपका, आपकी पत्नी और बच्चे का समाचार मिला था। हम लोगों को यह जानकर प्रसन्नता है कि आप लोग इंग्लैंड में सुखी हैं। अपनी यात्राओं में आप मुझे स्मरण करते रहते हैं जिसके लिए मैं बहुत आभारी हूं। एक विशेष कष्ट देने के लिए यह पत्र लिख रहा हूँ। शायद आपको पता होगा कि 1950 में मेरी 'मधुशाला' का अनुवाद 'हाउस आफ़ वाइन' के नाम से फ़ारचून प्रेस, लंडन से प्रकाशित हुआ था। उसकी अनुवादिका कुमारी मार्जरी बोल्टन हैं जो इंग्लैंड में ही रहती हैं। इंग्लैंड से लौटने के बाद मैंने मधुशाला की कुछ प्रतियाँ उनके द्वारा मँगाई थीं। उसका दाम मुझे भेजना है। लेकिन भारत से पौंड भेजने की अनेकों कठिनाइयाँ हैं जिनका आपको पता होगा। क्या यह संभव हो सकेगा कि आप उनको तीन पौंड अपनी तरफ़ से भिजवा दें? जब आप भारत आएंगे तो मैं आपको रुपए अदा कर दूँगा। आपकी स्वीकृति पाने पर मैं उनका पता आपको लिख दूंगा। मुझे उनके घर का ही पता मालूम है। शायद वह काम किसी और जगह करती हों। मेरी चिट्ठी पाने पर आप उनके घर के पते पर एक चिट्ठी लिख दें, वह रीडाएरेक्ट होकर उनको पहुंच जाएगी और वह जहां का पता लिखें वहीं तीन पौंड भेज दें। मैं चाहता हूं कि यह हिसाब जल्दी से जल्दी तय हो जाए। इसलिए इस बारे में जल्दी ही मुझे सूचित कीजिएगा। अगर आपको कोई विशेष कष्ट हो तो फिर मैं कोई दूसरा प्रबंध करूंगा। निःसंकोच लिखिएगा।

आशा है आप सपरिवार प्रसन्न हैं। हम लोग भी यहां सकुशल हैं।

आपका
हरिवंशराय बच्चन

37. श्री आनंद नारायण शर्मा, सम्प्रति बेगूसराय को
विदेश मन्त्रालय, नई दिल्ली से : 11.7.62

सम्मान्य बंधु,

5.7.62 के पत्र के लिए धन्यवाद।

आप मुझमें और मेरी यत्किंचित रचनाओं, क्रिया-कलापों में रुचि लेते रहते हैं, इसके लिए किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ। मुझे प्रसन्नता है कि 'त्रिभंगिमा' और 'नये पुराने झरोखे' से आपका कुछ मनोविनोद हुआ।

मुझे सन्तोष है कि कुकुरमुत्ता सम्बन्धी मेरी स्थापना से आप सहमत हैं। कुछ लोग नहीं भी हैं। निराला ने अहं के बढ़ाने को कवि-कर्म के रूप में स्वीकार किया था (देखिए 'चयन')। इसी से वे किसी को अपने से बड़ा या अपने बराबर नहीं समझते थे। पंत जी से उन्हें ईर्ष्या थी। एक बार पंत जी ने मुझसे कहा था कि अपने प्रति निराला के प्रेम का मैंने तो कभी कोई सबूत नहीं पाया। भीतर-भीतर पंत जी के महत्त्व से वे अनभिज्ञ भी नहीं थे। कुछ नहीं तो उनकी ईर्ष्या ही यह

बताने के लिए पर्याप्त है। निराला का ईर्ष्यापात्र बनना भी कम गौरव की बात नहीं है। इधर निराला-पंत के संबंध में बहुत-सी झूठी बातें कही-लिखी गई हैं। निराला ने पंत जी को जीवन-भर घृणा भी की हो तो वे अपने बड़प्पन से तिल भर भी नीचे नहीं गिरते। लोगों की बड़प्पन आदि की संकीर्ण धारणाएँ हैं। अपनी अहम्मन्यता से रिक्त निराला मुझे निराला नही लगेंगे। अपने को भुला कर निराला न किसी का आदर कर सकते थे, न किसी से प्रेम, न किसी को संवेदना दे सकते थे, न किसी को अपनी करुणा ही। अहं की निरंतर चेतना उनके व्यक्तित्व का अंग थी। लोगों ने किताबों में पढ़ रखा है कि अहं बुरी चीज है। इसलिए अपने आराध्य को उससे अलग दिखलाने की कोशिश कर रहे हैं। मैं कहता हूँ कि वे निराला के साथ अन्याय कर रहे हैं। निराला का अहं उनके व्यक्तित्व को संभालने के लिए आवश्यक था। भले ही वे किसी को प्रेम करने में असमर्थ रहे हों। निराला के व्यक्तित्व को साधारण मापदंड से तोला-मापा नहीं जा सकेगा।

निराला-संबंधी आपके लेखों को मैंने पढ़ा है। 'ज्योत्स्ना' में छपे मुक्तछन्द-सम्बन्धी आपके लेख से मैं पूरी तरह सहमत नहीं हो सका। मुझे लगा कि कुछ ऐसी कविताओं में आपने कवित्व-छंद का आधार देखा है, जिनमें वह नहीं है। निराला के मुक्त छंद पर मैं स्वयं कभी स्वतंत्र निबंध लिखना चाहता हूँ।

अब आपके प्रश्नों का उत्तर—

1. पहला गीत तो शायद 'महुआ के नीचे' था, पर 'डोंगा डोले' संभवतः उससे कुछ पूर्व मेरे दिमाग में आया था—शायद तब अंतिम पंक्ति भी मेरे कंठ से निकली थी, पर मैंने उसे गीत का रूप बाद में दिया था। 'महुआ' के गीत के लिए प्रेरणा मुझे मार्कण्डेय की एक कहानी से मिली, जिसका शीर्षक ही शायद महुआ है या 'महुए का पेड़'। बड़ा सजीव वर्णन है महुए के पेड़ का। मैंने इस विषय में मार्कण्डेय को लिखा भी था।
2. सबसे अधिक प्रिय गीत किसी एक को कहना कठिन है। विभिन्न मूडों में मैंने विभिन्न गीतों को गुनगुनाया है। महुआ के नीचे, सोनमछरी, जीवन के बिरवा मीत रे, डोंगा डोले—ये कुछ गीत मुझे विशेष प्रिय हैं।
3. आधुनिक अंग्रेजी कविता से प्रभावित वे ही जल्दी होते हैं, जिन्होंने अंग्रेजी कविता कम पढ़ी है। मैं अंग्रेजी कविता में इतना ऊबा-डूबा रहा हूँ कि नई अंग्रेजी कविता मेरे सामने कोई विशेष आकर्षण बनकर नहीं आ सकती थी—मैं अंग्रेजी और योरोपीय सभ्यता के विकास में उसकी अनिवार्यता समझता हूँ। हमारे देश का विकास अपनी रीति से हो रहा है और हम केवल साहित्य का अनुकरण करके आधुनिक योरोपीय न हो सकते हैं, न होने की आवश्यकता है। हमारी नई कविता भी हमारी पुरानी डालों से ही फूट सकती है। अंग्रेजी की नई कविता की जड़ें भी परंपरा में कम नहीं हैं। यह केवल संक्षेप में। इस पर विस्तार से लिखकर ही अपनी बात स्पष्ट कर सकता हूँ।

शेष समाचार सामान्य है। मेरा नया संग्रह प्रेस में चला गया है—'चार खेमे चौंसठ खूंटे', जो अक्टूबर तक प्रकाशित होगा। आशा है, आप सपरिवार प्रसन्न हैं।

सस्नेह
बच्चन

38. श्री मनोहर शर्मा 'रिपु', नई दिल्ली को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 11.5.63

प्रिय श्री,

'चीनी ! सावधान' कविता-संग्रह के लिए आभारी हूँ। कुछ कविताएँ पढ़ भी गया हूँ। मैं इनका प्रचार चाहता हूँ। आशा है देशवासियों को इनसे प्रेरणा मिलेगी। शब्द से ही यह आपत्ति न टलेगी। शब्द को कर्म में बदलना होगा। अपनी अभिव्यक्ति में और परिष्कार लाएँ---सम्यक स्वाध्याय और अभ्यास से यह संभव होगा।

मैं आपकी उन्नति प्रगति का अभिलाषी हूँ।

भ.
बच्चन

39. श्री राघवसिंह, लखनऊ को
विदेश मन्त्रालय, नई दिल्ली से : 26.8.63

सम्मान्य बंधु,

कुछ मास हुए आपने कुछ अंग्रेज़ी कविताओं का अनुवाद मेरे पास भेजा था और यह चाहा था कि जब ये पुस्तक रूप में प्रकाशित हों तो मैं इसकी भूमिका लिख दूं। मुझे खेद है कि अस्वस्थ तथा व्यस्त होने के कारण मैं इसके पूर्व आपकी पांडुलिपि के संबंध में अपना निर्णय न दे सका। आशा है असमर्थता के लिए आप क्षमा करेंगे। अब मैं आपकी पूरी पाडुलिपि को बड़े ध्यान से पढ़ गया हूँ। मुझे बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि दो-एक को छोड़कर मैं आपकी कविताओं से प्रायः निराश रहा। थोड़ी बहुत त्रुटियों की ओर मैंने पांडुलिपि की ओर स्थान-स्थान पर संकेत किए हैं। यदि आप इसके पृष्ठों को उलटने का कष्ट करेंगे तो अपने आप देखेंगे। अपनी भूमिका में जो स्थापनाएँ आपने बनाई हैं, वे तो बहुत अच्छी हैं पर बड़ा अफसोस है कि उनका पालन आपके अनुवाद में नहीं हो सका। अगर आप मेरी सच्ची राय पूछते हैं तो मैं यह कहना चाहूंगा कि इन कविताओं को आप प्रकाशित न करें। अंग्रेज़ी का आधार न लिया जाए तो इनमें से अधिकतर सुपाठ्य भी नहीं हैं और अपना भाव और अर्थगांभीर्य तो ये बिल्कुल ही नहीं प्रकट करतीं। हिंदी के आज बहुत से पाठक अंग्रेज़ी भी जानते हैं और तुलना का भाव बराबर बना रहता है। अंग्रेज़ी न जाननेवाले इन अनुवादों से अंग्रेज़ी काव्य की मार्मिकता तो हरगिज़ नहीं पहचान सकते। जाननेवालों की निराशा आप स्वयं समझ सकते हैं। मेरी अपनी राय यह है कि अनुवादक जब तक स्वयं मौलिक लेखक न हो तब तक वह अच्छा अनुवाद नहीं कर सकता। सफल कवि ही कविता का सफल अनुवाद कर सकता है। इन अनुवादों की भाषा में हिंदी का वह सौष्ठव नहीं जो आजकल की साधना से उपलब्ध कर चुकी है। मुझे खेद है कि मुझे यह सब लिखना पड़ता है। परन्तु जब पुस्तक छप गयी तो यह बातें आपके आलोचक लिखेंगे। अंग्रेज़ी कविता के भी बहुत से अनुवाद हो चुके हैं और उनमें इन अनुवादों से काफी ऊँचा स्तर प्राप्त किया जा चुका है। मैं आपके अनुवाद से उससे अधिक ऊंचे स्तर की प्रत्याशा करता हूं।

भूमिका में जो गद्य आपने लिखा है, वह मुझे पसन्द आया। मेरी राय है यदि आप गद्य लिखने की ओर ध्यान दें तो उसमें अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। शायद अनुवाद की दिशा में भी। पद्य में इस समय कम से कम मुझे आपकी गति नहीं दिखाई देती।

ऐसी हालत में भूमिका लिखने का प्रश्न नहीं उठता। यदि मैं भूमिका लिखूं और इन सब दोषों की ओर संकेत करूं तो वह आपके हित में नहीं होगा। और यदि मैं नहीं करता तो मैं अपने प्रति सच्चा नहीं रहूंगा। मुझे खेद है कि इससे पूर्व मैं आपको अपना निर्णय न दे सका। आपकी पांडुलिपि रजिस्ट्री डाक से वापस भिजवा रहा हूं। कृपया इसकी पहुँच दें।

शुभकामनाओं समेत,

भवदीय
बच्चन

40. श्री ओंकार नाथ श्रीवास्तव, संप्रति लंदन को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 23.11.63

प्रिय ओंकार,

मेरा पिछला पत्र मिल गया होगा। उत्तर देने को कुछ विशेष नहीं था।

ध. यु. के नये अंक में तुम्हारा लेख देखा। अध्यापक जीवन की बहुत सी बातें याद हो आईं। मुझे तो लेख रोचक और मनोरंजक लगा—पता नहीं औरों की प्रतिक्रिया क्या होगी। आभारी हूँ कि तुम मुझे समय-समय पर याद करते रहते हो। विलायत से लौटा तो तुमने मुझ पर लिखा, 50 का हुआ तब भी तुम्हीं ने लिखा, 56 का हुआ, तब भी तुम्हीं ने, 60 का हूँगा तो शायद तुम्हीं लिखोगे और काठ हो जाऊँगा तो भी शायद तुम्हीं।

पिछले दिनों कीर्ति की एक कहानी पढ़ी। कविता में तो उन्होंने तुम्हें मात दे ही दी थी—कहानी में भी न दे दें।

आशा है चि. तिम्मी और तुम दोनों स्वस्थ-प्रसन्न हो। हम लोग सकुशल हैं। अमितजी का पत्र जब-तब आता रहता है—आजकल कोयलों की खदानों का दौरा कर रहे हैं और अपने विविध अनुभव लिखते हैं। अजित दीवाली पर आए थे।

सबको मेरा प्यार

बच्चन

41. श्री त्रिभुवन नाथ श्रीवास्तव, सम्प्रति चण्डीगढ़ को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 17.6.64

प्रिय त्रिभुवन,

11/6 का तुम्हारा पत्र इलाहाबाद से लौटने पर मिला। हम लोग स्पेशल से नेहरूजी की अस्थियों को अंतिम श्रद्धांजलि देने के लिए इलाहाबाद गए थे। उधर

से अमित कलकत्ता से पहुँच गए थे। इस प्रकार हमारे पूरे परिवार ने नेहरूजी को अंतिम श्रद्धांजलि दी। उसी शाम को मैं स्पेशल ट्रेन से दिल्ली चला आया और अमित कलकत्ता वापस चले गए। नेहरूजी की कमी पूरी होने वाली नहीं और और उनका अभाव हमें अब सारे जीवन अखरेगा। शासन तो एक मशीन है और मशीन चलेगी लेकिन मशीन के बीच में एक सुन्दर सपना था वह सदा के लिए विलुप्त हो गया। यह जानकर कुछ चिन्ता है कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है। आशा है, उचित उपचार करा रहे हो। स्वास्थ्य तो मेरा भी विशेष अच्छा नहीं पर किसी तरह काम चलता है। बंटीजी अपने भाई के पास कलकत्ता गये हुए हैं। हम दोनों की ओर से शुभकामनाएँ और प्यार।

सप्रेम
बच्चन

42. श्री ओंकार नाथ श्रीवास्तव, संप्रति लंदन को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 18.8.64

प्रिय ओंकार,

तुम्हारा स्नेह-पत्र मिला। समाचार मिले। अजित से कभी-कभी तुम्हारा समाचार मिल जाता था। सुना कि तुम थीसिस लिखने में जुटे हो, इसीलिए छुट्टी भी ले रक्खी है तो मैंने तुम्हें disturb करना ठीक न समझा। वैसे बहुत बार तुम्हारी याद आई और तुम्हें लिखने को भी जी चाहा।

निकट भविष्य में मेरे बंबई आने की संभावना है। सरकारी काम तो बस 24 घंटे की नोटिस पर होता है। अगर पहले से पता लगा तो आने की सूचना तुम्हें अवश्य दूंगा। चाहूँगा कि तुम्हारे साथ कुछ समय गुज़ारूँ।

हमने तो सुना था कि तुमने मकान ही नहीं बदला बल्कि मकान ख़रीद लिया है और उससे मुझे तुमसे बड़ी ईर्ष्या हुई थी क्योंकि मैंने ऐसा कोई काम अब तक नहीं किया और कभी-कभी चिन्ता में पड़ जाता हूँ कि सरकारी नौकरी छूट गई और दिल्ली में ही रहना पड़ा और ज़िन्दगी बेहया साबित हुई तो कहाँ रहूँगा। पर तेजीजी बड़ी आशावादी हैं और कहती हैं कि तुम्हारे रिटायर होने तक मैं तुम्हें एक मकान दिल्ली में ही बनवाकर दूंगी। शायद plot उनका यह है कि मुझे रिटायर ही न होने देंगी यानी अगर इस जगह से काम छूटा तो कहेंगी, दूसरी जगह काम ले लो, और काम ही ढूँढने पर तुला तो इतना अयोग्य तो नहीं हूँ कि कोई मिले ही न! ख़ैर, इन बातों को सोच के घबराहट होती है। भविष्य अज्ञात रहना ही अच्छा है। और अच्छे का सपना देखने रहना भी बशर्ते कि इतनी ताक़त हो कि बुरा से बुरा भी आ पड़े तो उसे झेल जाय। Hope for the best and be prepared for the worst.

पंडितजी के देहावसान और उसके बाद यहाँ जो-जो हुआ, उसके हम बहुत निकट से साक्षी रहे हैं। इन महीनों में बड़ी मानसिक हलचलों से गुज़रना पड़ा। सर्जक बड़ा अभागा होता है। वह अपने द्वन्द्व दहन को जब तक सृजन में परिवर्तित नहीं कर डालता तब तक उसको शान्ति पाने का कोई दूसरा तरीक़ा नहीं सूझता। भीतरी और बाहरी परेशानियों के बीच कुछ लिखने का प्रयत्न किया है। लिखना

सरल कब होता है ?—दो एक चीजें धर्मयुग के द्वारा सामने आएँगी—कुछ अन्य पत्रों में भेज रहा हूँ।

तिम्मी तो अब बहुत बड़ी हो गई होंगी—पूरा लेक्चर दे देती होंगी। कीर्ति क्या लिख रही हैं ? उनकी नई रचना कब आ रही है ? 13 के रेडियो कवि सम्मेलन में सुमित्राजी दिल्ली आई थीं—14 को रिले हुआ था ! सुना ?

तेजीजी आजकल ठीक हैं—बंटी की पढ़ाई चल रही है। मैं 23 जू. से 27 जु. तक कलकत्ता था। अमित से भेंट हुई थी। स्वावलंबी तो हो गए हैं पर उसके साथ चिन्ताएँ भी आ गई हैं। घर हर दूसरे महीने बदलना पड़ता है। कहीं रहने की पक्की जगह नहीं—नौकर हर दूसरे हफ़्ते भाग जाता है और नई गिरिस्ती की सौ फ़िक्रें। नवंबर में एक महीने की earned leave पर घर आएँगे। उसके पहले शायद गले की गिल्टी का आपरेशन भी कराना पड़े। तेजी को या मुझे जाना होगा।

तिम्मी, कीर्ति और तुम्हें मेरा और तेजी का बहुत प्यार।

बच्चन

43. श्री ओंकार नाथ श्रीवास्तव, संप्रति लंदन को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 28.8.64

प्रिय ओंकार,

कल सुबह सकुशल पहुँचा। यहाँ भी अमित के सफल आपरेशन का समाचार आ गया था—तार से। बंबई से रवाना होने के पूर्व भी एक तार मुझे कलकत्ता से मिल गया था।

आज ट्रंक से बात भी हो गई—अमित का गले का ग्लैंड ट्यूमर निकला। उसका कुछ अंश डाक्टरी परीक्षा के लिए भेज दिया गया है। परिणाम ज्ञात होने पर तदनुसार उपचार किया जाएगा, अभी घाव को एक ट्यूब डालकर खुला रक्खा गया है। संतोष की बात है कि अमित को बुखार नहीं है। वह प्रसन्न है।

तिम्मी-कीर्ति और तुमसे मिलकर प्रसन्नता हुई। घर तुम्हारा सुंदर है—तुम्हारे और परिवार के सब सदस्यों के लिए वह मंगलमय सिद्ध हो। उसी में तुम्हारी डाक्टरेट की थीसिस लिखी जा रही है। उसी में कीर्ति की और तुम्हारी उत्तमोत्तम रचनाएँ हों। अब तुमको जमकर लेखन का कार्य करना चाहिए और किसी दिशा में अपना विशिष्ट स्थान बनाना चाहिए।

उस दिन कीर्ति ने जो काजू की बर्फियाँ खिलाईं और मलाईदार दूध पिलाया उसका स्वाद मेरी जीभ पर अब भी लगा है। इतना बढ़िया दूध मैंने बहुत दिनों के वाद पिया। तुम्हारा घर दूध-पूत से भरा-पूरा रहे।

पड़ोसी-दंपति को मेरा स्नेह-स्मरण। उन्होंने मेरी रचनाओं को बड़ी तन्मयता और सहृदयता से सुना। सहृदय श्रोता को मैं फ़ौरन पहचान जाता हूँ और उसके सामने मेरी वाणी उन्मुक्त प्रवाहित होती है। जैनजी भी बड़े सहृदय व्यक्ति हैं। अगली बार आऊँगा तो उनके साथ कुछ अधिक समय बिताने का कार्यक्रम बनाऊँगा। उन्होंने संकेत किया था कि वे मेरी सब रचनाएँ पढ़ना चाहते हैं। उपहारस्वरूप सब भेजना शायद ही संभव हो। मेरी कोई विशेष रचना वे

देखना चाहें तो भेंट-स्वरूप भेजकर प्रसन्नता होगी। 'चार खेमे' या 'त्रिभंगिमा', मैंने उन्हें भेजा था। अपना इतिहास उन्होंने मुझे भेजा था। दूसरी बार मैंने अकादमी पुरस्कार के लिए उसका नाम भेजा है। ऐसे विद्वान का किसी न किसी रूप में सत्कार होना चाहिए। मिलें तो उन्हें मेरा प्रणाम दे देना। शेष फिर।

सस्नेह

बच्चन

पुनश्च :
तिम्मी को उनके 'बच्चन चाचा' का प्यार। यह खूब लड़की है जो बाप को बाबा और बाबा को चाचा कहती है। उसकी यह बात मैं सबसे बता रहा हूँ।

44. श्री त्रिभुवननाथ श्रीवास्तव, सम्प्रति चण्डीगढ़ को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 9.2.65

प्रिय त्रिभुवन,

पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। इसके पूर्व मेरा संकलन 'अभिनव सोपान' तुम्हें मिल गया होगा। मेरा नया संग्रह 'सिसिफ़स बरक्स हनुमान' भी प्रेस चला गया है। अप्रैल तक प्रकाशित होगा और तुम्हें मिलेगा। मेरा स्वास्थ्य कहने भर को ठीक हो गया है पर बेहद कमज़ोरी मालूम होती है— दफ़्तर तो चला जाता हूँ पर लौटकर थका-थका सा अनुभव करता हूँ। जीवन को समेटकर शान्त होना चाहता हूँ पर यह कोई सरल काम नहीं है, जैसे-तैसे कर्त्तव्य को निभाते जाना है। संभव है समेटने का दायित्व शायद किसी और पर ही पड़े। मुझे भी अपना जीवन जितना इस समय बिखरा लगता है, उतना कभी नहीं था। कुछ विस्मरण का क्षण तभी होता है जब कुछ लिखने लगता हूँ। प्रेरणाएँ अब भी मुझे विवश करती हैं कि उन्हें कोई रूप दूँ। समझ नहीं पड़ता कि यह आदतन कर रहा हूँ या इनका कुछ मूल्य भी है—अपने या दूसरों के लिए।

मैंने अपने अनुभव से यही देखा कि जीवन से युद्ध जीवन की सही स्थिति नहीं है। उससे कहीं न कहीं समझौता करके ही चलना ठीक है। अपनी परिस्थिति से तुम आँखें नहीं मूंद सकते, वह यथार्थ है—सत्य है और हमारे बहुत से वायवी स्वप्नों से अधिक सबल है। अपनी क्षमता की सीमा तो माननी ही होगी नहीं तो हम अपनी दुनिया अपने मन के अनुरूप ही न बना लेते। पर कौन बना पाया है? इसलिए, इस विश्वास के साथ कि 'एक रास्ता अब भी है'। (मेरी कविता 'आरती और अंगारे' में) हमें उस रास्ते की खोज करना चाहिए। प्रयत्न करने से उसका मिलना असंभव नहीं है। प्रयत्न करते रहने के भी कुछ अर्थ हैं—रास्ता न मिले तो भी।

नेपाल आना मेरे लिए असंभव ही दीखता है। अब मुझमें गतिशीलता नहीं। अब तो प्यारे तुम्हीं को प्रयत्न कर जब-तब भेंट कर लेना है।

वैसे यह मेरे रिटायरमेंट का वर्ष है। 58 पूरे कर रहा हूँ। मुझे बड़ी प्रसन्नता होती यदि इस समय मैं रिटायर होकर कहीं बैठ सकता और समस्त अभिलाषाओं से विमुक्त जो कुछ मेरे मन में आता पढ़ता-लिखता। पर एक तो दो लड़कों का

दायित्व अभी मेरे ऊपर है—बंटी का और मेरे स्वर्गीय बंधु के पुत्र का। दूसरे तेजी शायद जिस स्थिति का मैं स्वप्न देखता हूँ उसके अनुकूल अपने को न बना पायें। इसलिए मैं भी यथार्थ को देखता अपना काम करता जा रहा हूँ। एक्सटेंशन एक वर्ष का अथवा दो वर्ष का शायद मुझे मिल जाय। पर अब तो काम को घसीटना नहीं, काम से घसिटना है और यह अच्छी स्थिति नहीं। पर दूसरा रास्ता नहीं तो इसी पर कुछ हिम्मत-साहस करके चला जाए। आशा है तुम मेरी मनस्थिति को समझोगे।

तेजी और बंटी अच्छी तरह हैं। अमित ने bird का काम छोड़कर blacks में काम ले लिया है, वे अपनी रीति से अपने को व्यवस्थित कर रहे हैं। उनका आत्मविश्वास मुझे अच्छा लगता है। वे अपने पैरों पर खड़े हैं, आगे शायद भाइयों को कुछ सहारा दे सकें। मैंने इतना तो प्रबंध कर ही लिया है कि जीवन के अंतिम भाग में किसी पर निर्भर न रहूँ। आज मेरे लिए क्या विधान है, मैं नहीं जानता। कौन जान सकता है ? सौ० सरलाजी को और तुम्हें मेरे आशीष

बच्चन

45. श्री भारतभूषण अग्रवाल, नई दिल्ली को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 8.4.65

देह से अकेला होकर भी
मैं दो हूँ
मेरे पेट में पिट्ठू है
जब मैं दफ़्तर में
साहब की घण्टी पर उठता-बैठता हूँ
मेरा पिट्ठू
नदी किनारे वंशी बजाता रहता है।

—अनुपस्थित लोग

अशोक दो हो गया है। एक अशोक ज़ोर-ज़ोर से हँस रहा है, बातें कर रहा है, खाना खा रहा है और मुकर्जीसाहब को अपने दफ़्तर के विवरण दे रहा है।

और दूसरा अशोक बीस साल पहले के लोक में पहुँच गया है, लान में खड़ा अमिता से बातें कर रहा है।

—लौटती लहरों की बाँसुरी

प्रिय भारतजी,

आपका उपन्यास समय से मिल गया था। उसे पढ़ भी गया हूँ। लगभग 30 दिन के अंदर मैंने आपका एक कविता-संग्रह और एक उपन्यास पढ़ा। दोनों ही मुझे रोचक और सप्राण लगे। आपका कवि और उपन्यासकार दोनों ही जीवन की एक ख़ास गाँठ से उलझ रहे हैं। शायद यह गाँठ आज सबके सामने है। अपने अस्तित्व को जीना इस युग में कठिन हो रहा है। इस कारण मनुष्य ने उसे दो या उससे अधिक में विभाजित कर दिया है और वह विभाजन की पीड़ा भी सह रहा है। इस दृष्टि से आपकी दोनों रचनाएँ युग का प्रतिनिधित्व करती हैं, यही उनकी

सजीवता है। मैं एक बात कहूँ तो आप बुरा नहीं मानेंगे कि इस विभाजन का जितना दर्द आपके उपन्यास में झलक उठा है उतना आपकी कविता में नहीं। कविता में मेरी दृष्टि में अधिक होना था। ख़ैर !

फिर भी मुझे लगा कि कविता में आप अधिक स्वाभाविकता से बोल रहे हैं। उपन्यास पढ़ने के बाद मुझे ऐसा लगा जैसे किताबी भाषा पढ़ी है, मैं उसमें जीवन के अधिक निकट की वाणी की प्रत्याशा कर रहा था। एक जगह 'प्रस्थानोद्यताओं' पड़ा था, वह तो जैसे गले में अटक गया है। 'प्रसन्न आश्चर्य' भी पढ़ने की याद है, मैं इसे pleasant surprise से अलग करके नहीं सोच सकता और यह कुछ अपने जीवन से उठा शब्द नहीं लगता। ख़ैर, ऐसी जगहें बहुत नहीं हैं फिर भी एक total impression में आपके किताबीपन की छाप ही मेरे ऊपर रह गई है।

बच्चन को भी एक जगह आपने याद किया है—

इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो।

उपन्यास के पात्र बहुत निकट के लगे और बहुत दिनों तक स्मरण रहेंगे। उपन्यासों की यह शैली नवीन तो नहीं है पर उस पर आपके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। पढ़ते समय कभी-कभी इस ओर भी ध्यान गया कि अशोक और भारत एक ही तो नहीं हैं किसी जगह। कहीं पढ़ा था कि लेखक जब अपना पहला उपन्यास लिखता है तो अपने को ही किसी पात्र के रूप में रख देता है। पर ऐसा हो भी तो बुरा क्या है ! आशा है, आगे और भी उपन्यास आपके पढ़ने को मिलेंगे।

चूंकि आपकी कविताओं से समय-समय पर परिचय होता रहा है इसलिए कोई एकदम नया impression संग्रह पढ़कर नहीं हुआ। नई कविता में आपका अपना स्थान है ही; उसे कोई विशिष्टता देने के लिए अभी बहुत समय है। नई कविता या किसी भी कविता की सफलता तभी है जब जीवन उसे खोजता हुआ अपना समझ अपना ले। आपकी कई कविताओं को एक बार पढ़कर भूलना संभव नहीं है। यह कम सफलता नहीं है।

दोनों पुस्तकों पर मेरी बधाई।

श्रीमती बिन्दु और आपके लिए अनेक शु. का.

सस्नेह
बच्चन

46. श्री शैवाल सत्यार्थी, ग्वालियर को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 27.9.65

सम्मान्य बन्धु,

आपके 24 के कृपा-पत्र के लिए धन्यवाद। आपकी हस्तलिपि बहुत सुन्दर है और आपका पत्र पाकर मुझे हमेशा खुशी होती है। अब तो लोग कुरूप में भी सौंदर्य देखने लगे हैं। मेरी प्रसन्नता का क्षेत्र बढ़ गया है।

'स्वप्न' पर जो बात आपने पूछी, उस पर मुझे बचपन की एक बात याद आ गई। तब—जब हम किसी से दोस्ती करते थे, तो एक पत्थर लेते थे और दोनों साथ

पकड़कर उसे कुएं में डाल देते थे। जब कोई किसी बात से नाराज होकर दोस्ती छोड़ना चाहता था—या खुट्टी करना चाहता था, तो उससे कहा जाता था कि कुएं में साथ फेंका पत्थर लाओ, तब दोस्ती टूटेगी। और न पत्थर वापस लाया जा सकता था और न दोस्ती टूट सकती थी। उस सपने को मेरी-अपनी दोस्ती के प्रतीक के रूप में विस्मृति के कुएं में फेंक दें।

हाँ, वह पंक्ति—'बदला दे दो सुख की घड़ियों'—नहीं है 'बदला ले लो सुख की घड़ियों'—है।

मेरी थीसिस 'W. B. Yeats and Occultism'—को इसी मास प्रकाशित हो जाना था, पर वही बहानेबाजी—और यहाँ एक कलम की स्याही खत्म हो गई है, तो दूसरी स्याही से लिख रहा हूं, क्योंकि भरने-भरने में मेरे विचारों की शृंखला टूट जाएगी—क्षमा कीजियेगा, यह बात है।

अब ईट्स के प्रति मेरी कविता के विषय में। मैं समझता हूं कि मेरी पंक्तियों से गुरुदेव का महत्व कम नहीं हुआ। गुरुदेव ने ठोस चांदी की प्रतिमा बनाई, उसे आकार-प्रकार दिया और ईट्स ने उस पर केवल सोने का पानी फेरा—जो मुलम्मा था, सतही था, बाह्य था, केवल आकर्षक था। शायद कोई जौहरी बता सकेगा कि चांदी की प्रतिमा का मूल्य अधिक होगा या सोने के पानी का? यह तो तथ्य है कि गुरुदेव के अंग्रेजी अनुवाद को ईट्स ने सुधारा था। गुरुदेव ने अपनी कविताओं का जो अनुवाद किया था, वह अच्छी अंग्रेजी में न था। ईट्स ने स्वयं लिखा है—"Tagore does not know English. No Indian Knows English". ईट्स ने गुरुदेव की कविताओं को जो आकर्षण दिया था, उसे तो स्वीकार ही करना था। मेरे मन में यही रूपक आया। ईट्स ने, यह मैं अपने स्वाध्याय के बल पर कह रहा हूँ—Alchemy (कीमियागीरी) का भी अध्ययन किया था। योरोप में इस विषय पर बड़ा साहित्य है—उसके दार्शनिक हैं, जो Alchemy को केवल प्रतीक मानते हैं, और उसकी आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं। सुवर्ण बनाने की क्रिया जानने का अर्थ है—आत्मा (लोहे) को परमात्मा (सुवर्ण) बना देना, आदि-आदि। इसीलिए वह प्रतीक केवल आकर्षक ही नहीं है, अर्थ भी देता है। किसी प्रतिमा पर सोने का पानी फेर देने से प्रतिमा का न तो मूल्य घटता है और न प्रतिमाकार के कौशल पर कोई आक्षेप आता है। मैं समझता हूं आपके मित्रों ने इस विषय पर निर्णय देने में जल्दबाजी की है। मेरे प्रतीक से गुरुदेव का महत्व कम नहीं हुआ—उनकी कविताओं को अंग्रेजी बाने में रखने में ईट्स ने जो महत्वपूर्ण कार्य किया है, उसकी उपेक्षा नहीं की गई—उसका ऋण स्वीकार किया गया है। बहुतों की ऐसी धारणा है और उसमें कुछ सत्य अवश्य है कि यदि ईट्स ने रवि ठाकुर की कविताओं को यहाँ सुगठित और मनोरम रूप न दिया होता (अंग्रेजी अभिव्यक्ति की दृष्टि से) तो शायद ही नोबेल-कमेटी का ध्यान उनकी ओर जाता। बुरा अनुवाद मौलिक कविता को जितना नीचे गिरा सकता है अच्छा अनुवाद उसको उतना ही ऊपर भी उठा सकता है। मैं थोड़ी बहुत बंगला समझने का दावा करता हूँ—थोड़ी बहुत अंग्रेजी समझने का भी और मेरी निश्चित धारणा है कि ईट्स के अनुवाद से रवि ठाकुर की कविता कुछ ऊपर उठी है। कभी टैगोर का अनुवाद और ईट्स का संशोधन साथ प्रकाश में आ सका तो इस तथ्य पर बड़ा प्रकाश पड़ेगा। ईट्स ने स्वयं यही लिखा है कि उन्होंने अनुवाद की पंक्ति-पंक्ति सुधारी थी। शायद मैं अपनी बात को इससे अधिक स्पष्ट नहीं कर सकता। आशा है आपके मित्र मेरा भी दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न करेंगे।

ग्वालियर से दिल्ली ज्यादा दूर नहीं, कभी आएँ तो आपसे मिलकर प्रसन्नता होगी।

साभिवादन
बच्चन

47. श्री दीनानाथ शरण, पटना को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 1.12.65

सम्मान्य बन्धु,
पत्र के लिए ध.।
सात रहस्यपूर्ण संख्या—सात रंग, सात स्वर, सप्तर्षि, सात फेरे, सात दिन आदि।
'संतप्त' 'तप्त' का वाची ही मेरे मन में होगा—
'परग'—पग—क़दम।
समुद्र खारा होने से, जैसे आँसुओं का सागर-तट, जैसे पृथ्वी का पाँव हो जो वह आँसुओं से धो रही है। आँसू से पाँव धोने में पृथ्वी की भावहीनता—शुष्कता।
'मरघट'-'अतीत का गीत' अपने अधूरे रूप में मेरे किन्हीं कागज़ों में पड़ी होंगी—वे किसी रूप में नहीं छपीं—मधुशाला काल के बाद की स्थिति को वाणी देने का प्रयत्न—शायद वह निशा निमंत्रण-एकांत संगीत से पूरा हुआ।
शेष समाचार साधारण है।

सादर
बच्चन

पुनश्च :
नये 'उत्तर बिहार' में ब्रजकिशोर नारायण ने मुझ पर एक कविता लिखी है—रुचि हो तो देखें।

48. श्री दीनानाथ शरण, पटना को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 22.3.66

सम्मान्य बन्धु,
पत्र के लिए धन्यवाद। 'बच्चन और हालावाद' पुस्तक प्रकाशित हो गई है। उसके लेखक हैं प्रो. दशरथ राज असनानी। प्रकाशक हैं— राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, पूना। प्रो. असनानी का पता है नेहरू रोड, धूलिया।
मेरे अनुवादों में इतनी विविधता है कि यदि उन पर कुछ कहना चाहेंगे तो पूरी पुस्तक ही लिखनी पड़ेगी। लेकिन मेरे अनुवादक के मूल्यांकन के बग़ैर मेरे सर्जक का मूल्यांकन अधूरा ही होगा। वैसे जैसे आपको सुविधाजनक प्रतीत हो।

'मंद' की जगह 'बंद' ही ठीक है।

जिस प्रकार सूर्य की किरणों से इंद्रधनुष बनता है उसी प्रकार चंद्र की किरणों से चंद्रधनु भी बनता है। मैंने यह स्वयं देखा है।

'शीलत' की जगह पर 'शीतल' ही ठीक है।

शेष समाचार साधारण है।

शुभकामनाओं समेत,

सादर
बच्चन

49. श्री रमेश कौशिक, दिल्ली को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 30.3.66

सम्मान्य बन्धु,

मार्च 1966 का 'आजकल'। आपकी मार्मिक कविता 'जीवन में लौट सकूँ' पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने को यह पत्र लिख रहा हूँ। ऐसी अभिव्यक्तियाँ ही नई कविता की स्वस्थ अभिव्यक्तियाँ हैं। मेरी बधाई स्वीकारें।

शु. का.

भ.
बच्चन

50. श्री सुरेश चंद्र त्यागी, हरिद्वार को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 13.10.66

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिये धन्यवाद।

'कविता' की प्रति के लिये आभारी हूं। मेरी सम्मति का क्या मूल्य ? मूल्य तो उसके जन-स्वीकृत होने का है।

राग की आग में जो अपने अहं को भस्म कर देता है उसी की वाणी में जन-साधारण अपनी वाणी पाते हैं।

कविता लिखने से बहुत पहले जीने की वस्तु है। कविता आपके जीवन विकास का माध्यम बने !

मेरी शु. का.

सादर
बच्चन

स्मृतिस्वरूप एक पंक्ति—

उर की आग, राग ही केवल
कंठ-स्थल में लेकर चलता

—प्रणय-पत्रिका से

ग्वालियर से दिल्ली ज्यादा दूर नहीं, कभी आएँ तो आपसे मिलकर प्रसन्नता होगी।

साभिवादन
बच्चन

47. श्री दीनानाथ शरण, पटना को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 1.12.65

सम्मान्य बन्धु,

पत्र के लिए ध.।

सात रहस्यपूर्ण संख्या—सात रंग, सात स्वर, सप्तर्षि, सात फेरे, सात दिन आदि।

'संतप्त' 'तप्त' का वाची ही मेरे मन में होगा—

'परग'—पग—क़दम।

समुद्र खारा होने से, जैसे आँसुओं का सागर-तट, जैसे पृथ्वी का पाँव हो जो वह आँसुओं से धो रही है। आँसू से पाँव धोने में पृथ्वी की भावहीनता—शुष्कता।

'मरघट'-'अतीत का गीत' अपने अधूरे रूप में मेरे किन्हीं कागज़ों में पड़ी होंगी—वे किसी रूप में नहीं छपीं—मधुशाला काल के बाद की स्थिति को वाणी देने का प्रयत्न—शायद वह निशा निमंत्रण-एकांत संगीत से पूरा हुआ।

शेष समाचार साधारण है।

सादर
बच्चन

पुनश्च :
नये 'उत्तर बिहार' में ब्रजकिशोर नारायण ने मुझ पर एक कविता लिखी है—रुचि हो तो देखें।

48. श्री दीनानाथ शरण, पटना को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 22.3.66

सम्मान्य बन्धु,

पत्र के लिए धन्यवाद। 'बच्चन और हालावाद' पुस्तक प्रकाशित हो गई है। उसके लेखक हैं प्रो. दशरथ राज असनानी। प्रकाशक हैं—राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, पूना। प्रो. असनानी का पता है नेहरू रोड, धूलिया।

मेरे अनुवादों में इतनी विविधता है कि यदि उन पर कुछ कहना चाहेंगे तो पूरी पुस्तक ही लिखनी पड़ेगी। लेकिन मेरे अनुवादक के मूल्यांकन के बग़ैर मेरे सर्जक का मूल्यांकन अधूरा ही होगा। वैसे जैसे आपको सुविधाजनक प्रतीत हो।

'मंद' की जगह 'बंद' ही ठीक है।

जिस प्रकार सूर्य की किरणों से इंद्रधनुष बनता है उसी प्रकार चंद्र की किरणों से चंद्रधनु भी बनता है। मैंने यह स्वयं देखा है।

'शीलत' की जगह पर 'शीतल' ही ठीक है।

शेष समाचार साधारण है।

शुभकामनाओं समेत,

सादर
बच्चन

49. श्री रमेश कौशिक, दिल्ली को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 30.3.66

सम्मान्य बन्धु,

मार्च 1966 का 'आजकल'। आपकी मार्मिक कविता 'जीवन में लौट सकूँ' पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने को यह पत्र लिख रहा हूँ। ऐसी अभिव्यक्तियाँ ही नई कविता की स्वस्थ अभिव्यक्तियाँ हैं। मेरी बधाई स्वीकारें।

शु. का.

भ.
बच्चन

50. श्री सुरेश चंद्र त्यागी, हरिद्वार को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 13.10.66

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिये धन्यवाद।

'कविता' की प्रति के लिये आभारी हूं। मेरी सम्मति का क्या मूल्य ? मूल्य तो उसके जन-स्वीकृत होने का है।

राग की आग में जो अपने अहं को भस्म कर देता है उसी की वाणी में जन-साधारण अपनी वाणी पाते हैं।

कविता लिखने से बहुत पहले जीने की वस्तु है। कविता आपके जीवन विकास का माध्यम बने !

मेरी शु. का.

सादर
बच्चन

स्मृतिस्वरूप एक पंक्ति—

उर की आग, राग ही केवल
कंठ-स्थल में लेकर चलता

—**प्रणय-पत्रिका से**

51. श्री चंद्रदेव सिंह, कलकत्ता को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 16.11.66

चंदू भैया,

राम राम !

पत्र मिला, समाचार मिला। जोधपुर ऐसोसियेशन के निमंत्रण के विषय में सोचूँगा। गोरखपुर में भी मेरे लिए कई प्रलोभन हैं, फिर तुम भी आ रहे हो।

भाई, साहित्यकार का, सच पूछो तो, सबसे बड़ा पुरस्कार जनता द्वारा अपनाया जाना है। हिंदी जनता ने मुझे इतना अपनाया है कि अब सब पुरस्कार थोथा लगता है। पैसा भी क्या है ! इससे अधिक पैसा हिंदी-जनता हर वर्ष मुझे (और मेरे प्रकाशक को भी) सालों से देती रही है। हाँ, रूस की यात्रा मैं अपने पैसों से नहीं कर सकता था। रूस मैं देखना चाहता था। सो भी जवानी में जाता तो कुछ मज़ा भी आता। बिचारी चली हज्ज करने जब चूहे खाने की ताक़त ही जाती रही। मेरे जीवन में सब चीज़ें देर से ही आती रहीं।

जिन चीज़ों की चाह मुझे थी
जिनकी कुछ परवाह मुझे थी
दीं न समय से तूने, असमय क्या ले उन्हें करूँगा।

गोपेश के 'धीरे बहो दोन' अनुवाद से मैं परिचित हूँ। उन्हें भविष्य में निश्चय किसी प्रकार का पुरस्कार इस योजना के अन्तर्गत मिलेगा।

शेष समाचार साधारण है।

बहुत प्यार

दा
बच्चन

52. श्री अशोक मिश्रा, कानपुर को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 22.11.66

सम्मान्य बन्धु,

पत्र के लिए ध.। पुरस्कार पर बधाई के लिए आभारी हूँ। सत्साहित्य में आपकी रुचि बढ़ती रहे। जीवन में कुछ बड़ा काम करने का ध्येय बनाएँ जिससे देश, समाज, भाषा को मान मिले। 'वंदनीय जेहि जग जस पावा।' याद करने के लिए सधन्यवाद—सादर

बच्चन

पुनश्च :

हमारे पुरखों ने सिखलाया
कि जब-जब बाढ़ आये
दो चीज़ बचाना—
छाती में विश्वास
और हांडी में दाना।

—दो चट्टानें से

53. श्री सत्यनारायण श्रीवास्तव, मुजफ़्फरपुर को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 5.3.67

*सम्मान्य बंधु,

पत्र और 'चिंतना' के लिए आभारी हूँ। 'चिंतना' मैंने पूरा पढ़ा। देखकर प्रसन्नता हुई कि आपको अच्छे लोगों का सहयोग मिल रहा है। सामग्री का चुनाव स्तरीय है। मेरा सुझाव है कि एकाध कविता का appreciation भी दिया जाय। नई कविता में क्या सौंदर्य देखें, क्या उसमें enjoy करें, कवि क्या संप्रेषित करना चाहता है, कहाँ तक सफल या असफल रहा है।

नई कविता के नए मानदंड भी बनाने होंगे। इस प्रकार के appreciation के द्वारा उसके बनने में सहायता मिलेगी। नई कविता के प्रति जनसाधारण की व्यापक सहानुभूति जगाने के और भी उपाय सोचे जाने चाहिए।

एक स्तंभ आरंभ कर सकते हैं---अंक की सर्वश्रेष्ठ कविता मुझे···लगी। क्यों ?

पाठकों को अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का अवसर दें। शु. का.

सादर
बच्चन

* मुझे अपने से छोटा नहीं दिखाई देता। मान्यता अपनत्व की विरोधी तो नहीं।

54. श्री सत्यनारायण श्रीवास्तव, मुजफ़्फ़रपुर को
राज्यसभा, नई दिल्ली से : 24.6.67

सम्मान्य बंधु,

पत्र मिला। श्री चौधरी के देहावसान का दुःखद समाचार मैंने रेडियो से सुना था। मुझे पता नहीं उनके परिवार में कौन-कौन है। संवेदना का पत्र लिखना चाहता था। पर किसको लिखता !

उन्होंने अपनी अंतिम कृति 'मुक्तिप्रसंग' मुझे भेजी थी, साथ एक छोटा-सा पत्र भी लिखा था।

वे स्वाभिमानी थे। मैंने उन्हें कुछ आर्थिक सहायता भेजना चाहा था। पर उन्होंने मेरे पत्र का उत्तर ही नहीं दिया। मैं समझ गया।

उनकी बीमारी में दिल्ली के कुछ साहित्यकारों ने उन्हें कुछ धन भेजा था। उसी में मैंने भी अपना यत्किंचित सहयोग दिया था।

उनमें बड़ी प्रतिभा थी। उसे ठीक दिशा में विकसित करने का सुयोग उन्हें न मिल सका। आशा है, उनके उत्तराधिकारी उनका अप्रकाशित साहित्य प्रकाश में लाएँगे। उनके साहित्य का सूक्ष्मता से अध्ययन होना चाहिए।

शु. का.

सादर
बच्चन

55. श्री प्रणव पुष्प कम्हान, शिवपुरी को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 24.6.67

प्रिय प्र.,

पत्र के लिए ध.। वह चित्र खुद मेरे पास नहीं है। ध. यु. को रूस से किसी ने भेजा था।

अब तुम्हारे प्रश्न का उत्तर। जीवन में एक समय मेरा अविश्वास ईश्वर की सत्ता तक पहुँच गया था। फिर अविश्वास के प्रति भी अविश्वास। यहीं से विश्वास का आरंभ। अब मैं अपने को आस्तिक कह सकता हूँ। मेरे 'आस्तिक' का अर्थ है अपने में विश्वास; यहीं से ईश्वर के प्रति विश्वास का आरंभ होता है। कृष्ण ने अर्जुन से कहा—'आत्मवान भव' यानी पहले अपने में विश्वास रक्खो।

ईश्वर में विश्वास करके भी प्रार्थना करना ज़रूरी नहीं। प्रार्थना करना तो माँगना है और माँगना ईश्वर से भी, बुरा है। माँगना एक प्रकार से ईश्वर के प्रति विश्वास से इन्कार करना है।

महाभारत में आया है :

'संतो दिग् जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम्'
संत ही दिशा हैं
जल ही आकाश है
अन्न ही पृथ्वी है
और प्रार्थना ही विष है।

मैंने उस कविता में इसी विष से दूर रहने को कहा है।

ईश्वर के प्रति अविश्वास शायद ही इससे साबित होता हो।

संक्षेप में कहा है। कभी उन पर बातचीत में ज़्यादा कह सकूँगा। विश्वास जीवन की आवश्यकता है। जो तर्क से सिद्ध न हो उसी में तो विश्वास करना होता है। $2+2=4$ इसमें विश्वास नहीं चाहिए। जीवन तर्क से अधिक भी बहुत कुछ है।

घर में सबको यथायोग्य।

सस्नेह
बच्चन

56. श्री दामोदर अग्रवाल, संप्रति नई दिल्ली को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 4.5.68

प्रिय दा.,

तुम्हारे पत्र ने उन भावों की यात्रा करने को मुझे फिर से विवश किया जिनसे मैं बहुत दिन हुए गुज़र चुका था।

तुमने मुझसे अपने विषय में कुछ नहीं कहा। पर दूसरों ने तुम्हारे बारे में मुझसे जो कहा उससे मुझे यही लगा कि आवेगों के जिस बिन्दु पर मैं रहता हूँ (या था) उसमें तुम्हीं मेरे साथी हो सकते हो। पर नियति ने कभी तुम्हारा एकांत

सान्निध्य मुझे नहीं दिया। शायद अच्छा ही किया क्योंकि उस स्थिति में या तो we should have committed suicied together or we should have killed each other happily if you were really that what—told me you were.

यह व्यथा, आग, बवंडर प्रोफ़ेसरी की कुर्सी पर जाकर ठंडा हो गया, मेरे लिए भी, तुम्हारे लिए भी।

मैंने अपने कवि को किसी रूप में जिया रखा, तुम्हारे अंदर भी वह आग बुझी तो नहीं, दबी भर है नहीं तो ऐसी स्मृतियाँ न जगाती। मैंने कवि की जो कल्पना की थी उसमें किसी बंधन के लिए स्थान नहीं था और दुनिया तो बंधन ही बंधन है—'नाम दूसरा जग का बंधन'। इतनी लंबी उम्र इन बंधनों में गुज़ारने पर अब मुक्ति तो मृत्यु के साथ ही मिलनी है। और अब तो बंधनों के प्रति आक्रोश-विद्रोह भी नहीं। अब उन्हें हमने स्वीकार कर लिया है।

तुम्हारा कहना ठीक है—कविता का कोई substitute नहीं—दोस्ती भी नहीं—अपने प्राणों की प्रतिध्वनि, प्रतिच्छाया दूसरी वह होती है। कविता उन्हीं की poor substitute भले ही बन सके।

'कविता कहकर जग ने मेरे क्रन्दन का उपहास किया।'

फिर भी जीवन-प्रगति के क्रम में हम कहीं पहुँचे हैं—जीवन की यह स्वाभाविक गति है—स्वाभाविक भी कम रहस्यपूर्ण नहीं—अस्वाभाविक तो हम हो भी नहीं सकते। अब भी मुझे जीवन रोचक है, अब भी उसे बहुत कुछ नया देना, दिखाना है, जो पहले न दिया जा सकता था, न देखा। यह 'मिट्टी का तन और मस्ती का मन' उससे पहले कब हार मानने को तैयार है, जहाँ जो शून्य है, वहीं पूर्ण भी है।

'है शेष आकर्षण अभी मेरे लिए अज्ञात में।'

To a sensitive soul **living** can never be stale though **life** be nothing but stale.

And now love & more love, still more love from one sensitive soul to another sensitive soul.

Excuse me if all this sounds folly or a professorial class.

Bachchan

57. श्री नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी, भोपाल को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 18.12.68

प्रिय न.,

तुम्हारा पत्र मिला। ध.।

मुझे याद नहीं तुमने मेरे जन्मदिन पर शुभकामनाएँ भेजी थीं या नहीं। भेजा हो तो भी धन्यवाद, न भेजा हो तो भी। मेरे दिमाग की हालत विचित्र है। मैं तुम्हारी सद्‌भावना का अधिकारी बनने का प्रयत्न करता रहता हूँ—'सद्‌भावना' मैंने जानबूझकर लिखा है—'प्यार' लिखना चाहता था, पर प्यार के लिए तो प्राण देना पड़ता है। उतना साहस अभी मुझमें कहाँ!

तुम अगर विश्वास कर सको तो मैं अपने स्वास्थ्य के प्रति एकदम अनासक्त हो गया हूँ। मैं अच्छा भी हूँ—बीमार भी हूँ और दोनों ही नहीं हूँ। होने न होने का कोई विशेष अर्थ नहीं। अगर मेरे अस्वस्थ होने से तुम्हें कभी चिन्ता होती हो तो तुम मुझे स्वस्थ समझो और मेरे लिए चिन्ता मत करो। मैं अपने लिए चिंतित नहीं हूँ। जो चिंतित हैं, कुछ भी नहीं कर सकते। जो कर सकता है, वह चिंतित नहीं होता।

यह तो खुशी की बात है कि तुम क़लम साधकर बैठ गए हो। तलवार से बड़ा हथियार है, कोई चला सके तो। कलम बड़ा कसाला माँगती है, तुम दे सको यही मैं चाहता हूँ। हाँ मैं चाहता हूँ कि तुम इसे भूल जाओ कि तुम कलम पकड़कर बैठे हो। कलम ही तुम्हें पकड़कर बैठ जाए। कलम जिसे पकड़ लेती है, उसे छोड़ती नहीं। बस, अब वह तुम्हें छोड़े ही नहीं! कलम छूटे कि प्राण छूटे, प्राण छूटे कि कलम छूटे, कुछ कराके छोड़ेगी तुम्हारी कलम।

तुमने विस्तार से नहीं लिखा कि मन्त्रीजी ने तुम्हारा गाल [गला—सं.] कैसे काट दिया। प्रजातंत्र में तो यह आज़ादी है कि अगर मंत्रीजी ने तुम्हारा गला काट दिया है तो तुम उनका गला भी काट दो।

'बच्चन निकट से' एक शीशों की नुमाइश है। जिस शीशे के सामने खड़ा होता हूँ, उसी में अपने को कुछ भिन्न देखता हूँ। मनुष्य बड़ा भारी रहस्य है। मित्रों की सद्भावना के लिए नतमस्तक पर मैं वैसा बिल्कुल नहीं हूँ जैसा उन्होंने मुझे समझा है। प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्ब है, न दर्पण, न दर्शक। बस इतना ही महत्व उस प्रकाशन का है। पढ़ मैं भी गया हूँ। सोचता हूँ, कुछ मैं भी उस पर लिखूँ; सोचता हूँ, कहाँ तक उचित होगा। लोग आत्मप्रचार न समझ लें जिसकी मुझे अब ज़रूरत नहीं। संक्षेप-प्रतिक्रिया तो तुम्हें लिख ही दी।

अब मेरे लिए समय कम है। उसका कुछ उपयोग करना चाहता हूँ। खत-वत न लिखूँ तो बुरा न मानना। सबकी याद मुझे है। सबकी मंगल कामना मैं करता हूँ।

घर में सबको मेरी याद। सबके प्रति मेरा आभार। मैं किसके प्रति ऋणी नहीं हूँ। अरि-मित्र-उदासी सबके प्रति।

'कटती प्रतिमाओं की आवाज़' निकल गई है। किसी दिन तुम्हें भेज दूँगा—ख़रीदना मत। बस अब समाप्त करता हूँ। और अंत में इस शुभकामना के साथ कि तुम्हारी क़लम तुम्हें पकड़ ले और तुम्हें चलाती ही जाए। लेखक को वह चलाती ही है, चलती दिखती भर है। तुम्हें मेरा प्यार

दा.
बच्चन

58. श्री सेवाराम त्रिपाठी व्यथित, सतना को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 30.3.69

सम्मान्य बन्धु,

पत्र के लिए ध.। 'चेतना' का स्वागत। 'चेतना' पढ़ने की चीज़ बनकर न रह जाए, वह जीवन को नव-निरूपित करने की प्रेरणा दे—सक्रिय रूप में। संग्रह मेरे

पास न भेजें। पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ छपाएँ— मान, स्थान बन जाने पर पुस्तक रूप दें—पुस्तक छपे तो देखना चाहूँगा। सम्मति, भूमिका आदि का आश्रय न लें। कविता को अपने बल पर जन-स्वीकृत होने दें। बल पाने के लिए साधना करें। शु. का.

सादर
बच्चन

59. श्री शैवाल सत्यार्थी, ग्वालियर को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 27.11.69

समुद्र से दो लहरें उठीं
देखने में अलग-अलग
पर कितनी अलग ?—

बच्चन

60. श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', पटना को
विलिंगडन क्रिसेण्ट, नई दिल्ली से : 7.12.69

प्रिय प्रफुल्ल,

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने 100 में 95 नं. दे दिया तो फ़र्स्ट क्लास तो मिल गया। 5 मानवी अपूर्णता के लिए क्षम्य होना चाहिए।

शेर के सम्बन्ध का सारा प्रसंग मैं भूल गया था। सिर्फ़ शेर याद था। अगले संस्करण में यह वाक्य जोड़ दूँगा—मुक्तजी के साझे में लिखी एक ग़ज़ल का एक शेर यों था। न जाने क्यों हास्य-विनोद के सारे प्रसंग मुझे भूल गए हैं—यह मेरी स्मृति का अभिशाप ही है। कहीं लिखा है—

जीवन में थे सुख के क्षण भी
जीवन में थे दुख के क्षण भी
पर हाय, हुआ ऐसा कैसे, सुख भूल गया, दुख याद रहा।
जीवन में शेष विषाद रहा।

वृद्धावस्था में स्मृति बड़े-बड़े करिश्मे दिखाती है। ठीक बातें भूल जाती हैं, ग़लत बातें ठीक की शक्ल में सामने आती हैं। अब तुम भी बूढ़े—मैं भी बूढ़ा। तुम्हारी दूसरी बात की स्मृति तुम्हें कैसे धोखा दे रही है। इसके सबूत में एक किताब भेज रहा हूँ। पुरस्कार प्रथम मुझे ही मिला था। प्रेमचन्द को दूसरी कहानी पसन्द थी, प्रतिवाद तुमने उनका ही किया होगा। ख़ैर, कितबिया देख लेना, फिर मुझे भेज देना।

चलो 50% तुम ग़लत 50% मैं ग़लत।

तुम्हारे बारे में मैं लिखता तो उन्हीं बातों को दुहराता जो तुम 'मधुशाला' की

भूमिका और 'बच्चन निकट से' वाले लेख में लिख चुके हो। मैंने अपने बारे में भी उन सब बातों को नहीं लिखा जिन्हें दूसरों ने लिख दिया है। या मैंने ही कहीं लिख दिया है। फिर अंत में जिन बातों ने मुझे अभिभूत कर दिया उसमें किसी और का ध्यान ही नहीं आया। प्रभाव की दृष्टि से भी मैं समझता हूँ, उसे न लाना था। तुम्हें 'तकलीफ़' पहुँची है तो अभी तो 700 पृष्ठ लिखने को हैं। किसी flash back से—और ऐसी प्रक्रिया मेरे लेखन में स्वाभाविक है—वह सब डाल दूँगा जिसकी तुम्हें स्मृति है और मुझे भी।

अभी तो उस पुस्तक को समाप्त करने का strain मुझ पर बहुत ज़्यादा है। शारीरिक से अधिक मानसिक—सारी बातों को फिर से याद करने में दिमाग़ को झिझोड़कर धर देना पड़ा। एक-दो महीने आराम करना चाहता हूँ—24 तक पार्लियामेंट है—वहाँ तो जाना पड़ता है। हाज़िरी भी आजकल ज़रूरी हो गई है। फिर तो बस खाना खाकर बैठकर 'घमाना' चाहता हूँ।

राजनाथ का भी पत्र आया है। बुरी हालत में सुलतानपुर पहुँचे। 6 को सागर गए होंगे। उन्होंने भी किताब की 'पकड़' की तारीफ़ की है। पर यह तो मित्रों की प्रशंसा हुई, अभी मैं आश्वस्त नहीं। मेरे साधारण पाठक भी मुझे अपनी प्रतिक्रिया देते हैं, देखूँ उन्हें क्या कहना है। मैं उनकी राय की बड़ी क़द्र करता हूँ। वे अपना धन, अपना समय ख़र्च करके पुस्तक पढ़ते हैं, मुझसे कुछ प्रत्याशा करके। उनकी प्रत्याशा पूरी हो तो मुझ पर धन-समय सर्फ़ करना मुझे सार्थक लगे। और प्रसन्नता तो मुझे तभी होगी जब मेरे शत्रु भी उसकी प्रशंसा करें। उसमें मैं तुलसी का ही मापदंड मानता हूँ—

सरल कवित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराय रिपु जो सुनि करहिं बखान।

कला में इतनी भी शक्ति न हुई कि उससे शत्रु शत्रुता भूलकर प्रशंसा करें तो कला क्या हुई!

दुबारा पढ़ने पर तुम्हें सुधार के लिए कुछ सूझे तो लिखने में संकोच मत करना। दूसरे संस्करण में मैं उसका लाभ उठाऊँगा।

शेष साधारण। अमित बंबई चले गए—घर में बस अब हम दोनों बूढ़े-बूढ़ी। अपना समाचार देना।

बच्चों को आशीष

सस्नेह
बच्चन

61. श्री रामस्वरूप आर्य, बिजनौर को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 2.10.70

सम्मान्य बंधु,

कृपापत्र के लिए ध.।

'क्या भूलूँ'···आपके पसंद आया, मेरा श्रम सफल हुआ।

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं···

आपकी गणना बुधों में न होगी तो किसकी होगी ?

भाषा और मुद्रण संबंधी जिन भूलों की ओर आपने संकेत किया है उनके लिए आपका हृदय से आभारी हूँ। अगले संस्करण में उनका निराकरण करने का प्रयास करूँगा। आपने कितने ध्यान से पढ़ा है और कितने श्रम से भूलों का कोश भेजा है !

आत्मचित्रण का दूसरा खंड—'नीड़ का निर्माण फिर' नवंबर में प्रकाशित होगा। देखें तो अपनी प्रतिक्रिया दें।

अपने मंगल कल्याण के लिए मेरी शु. का. स्वीकार करें।

सादर
बच्चन

पुनश्च :
'बच्चन : निकट से' की समीक्षा की प्रतिलिपि के लिए आभारी हूँ।

62. श्री शैवाल सत्यार्थी, ग्वालियर को

नई दिल्ली से : 27.11.70

बाहरी विभेदों की
अंदरूनी सतहों में
कहीं एकता भी है
यह देखने की नहीं
समझने की चीज़ है।

बच्चन

63. श्री जीवनप्रकाश जोशी, नई दिल्ली को

विलिंगडन, क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 27.1.71

प्रिय जोशीजी,

27.1.71 के पत्र के लिए ध.। प्रूफ़ बहुत होशियारी से पढ़ें—एक भी ग़लती न रहने पाए—बड़ा दायित्वपूर्ण कार्य आपको सौंपा है। यह भी देखें कि आपके संशोधन ठीक किए जाते हैं—हमारा प्रेस बड़ा अपरिपक्व है—अपनी ओर से ज़रा भी लापरवाही न हो, 3-4 बार प्रूफ़ देखें, मैं बहुत आभारी हूँगा। जब तक आपके द्वारा संकेतित हर ग़लती शुद्ध न कर दी जाए, आप प्रिंट आर्डर न दें। काम जल्दी भी होना चाहिए। यह पहली शर्त मैंने रक्खी थी।

आपका पहला पत्र मुझे नहीं मिला। कोई विशेष बात ? मैं परसों बंबई जा रहा हूँ 3-4 दिन को। शेष आने पर।

कार्य प्रगति की ख़बर दें।

घर में सबको मेरी याद।

सस्नेह
बच्चन

64. श्री हरिप्रसाद नायक, दर्लासिंहराय को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 27.9.71

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिए धन्यवाद। डायरी आपका कुछ मनोविनोद कर सकी। मेरा लेखन सफल हुआ।

मुजीब नाम का वहीं एक विद्यार्थी था—पाकिस्तान का—मुजीबुर्रहमान—बँगला देश नेता से उसका कोई संबंध नहीं।

'कुछ टूटे, कुछ साबित' से कुछ गीत 'प्रणय पत्रिका', 'आरती और अंगारे' में छपे, कुछ मुक्त छंद की रचनाएँ 'बुद्ध और नाचघर' में गईं।

कैम नदी पर कई छोटे-छोटे पुल हैं। शायद डायरी में यह स्पष्ट है।

'दोस्तों के सदमे'-1 और 2 आप पढ़ें (बुद्ध और नाचघर) मेरी प्रतिक्रिया स्वाभाविक है—ईमानदार है। औचित्य के प्रश्न पर जाएँगे तो बहुत बड़े-बड़े अनौचित्य के अपराधी होंगे—कालिदास से लेकर तुलसीदास तक।

फिर भी आपकी प्रतिक्रिया का स्वागत। दूसरों के अपराध को भुलाना देवत्व है, मैं तो साधारण मनुष्य हूँ—दंभ—विषयग्रस्त। शु. का.

सादर

बच्चन

65. श्री शिवमंगल सिंह सुमन, संप्रति लखनऊ को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 17.11.71

भाई सुमन,

तुम्हारा पत्र। ध.।

यथासुविधा व्यासजी को सूचित कर देना कि संबद्ध विषय में मैंने तुम्हें लिखा था। तुम्हारी सद्भावना के प्रति मैंने तुमसे सुनने के पूर्व ही उन्हें आश्वस्त कर दिया था, साथ ही मैंने तुम्हारी सीमाओं की ओर भी संकेत कर दिया था।

मिलने आने की बात तुमने लिखी तो एक बात कह दूँ—तुमसे मिलकर कभी नहीं आघाया।

रामकुमार अवस्थी हाल ही दिल्ली आये थे, तुम्हारे बारे में चर्चा चलनी स्वाभाविक थी; जानकर प्रसन्नता हुई कि तुम्हारा काम ठीक चल रहा है, और तुम स्थिति को कौशल से सँभालते हो।

शोध कविता की हो सकती है, हमारे-तुम्हारे संबंध की नहीं, जो साला उसके बीच अपनी टाँग अड़ाना चाहेगा, उसे कहूँगा—दाल-भात में मूसरचंद ! उसके लिए एक रुबाई—

जो पौधे प्रीति के बोए
तो तेरे बाप का क्या ?
किसी की याद में खोए
तो तेरे बाप का क्या ?

जो ताक - झाँक करे
उसको टके सा यह जवाब—
'सुमन' के साथ जो सोए
तो तेरे बाप का क्या ?

(सर्वेश्वर ने इस तर्ज़ की एक कविता लिखी थी। याद है ?)
प्यार।

दादा
बच्चन

पुनश्च :
'प्रवास की डायरी' अगर पढ़ गए हो तो अपनी प्रतिक्रिया संक्षेप में लिख देना। मुझे या प्रकाशक को।

66. श्री राजेन्द्रकुमार टोकी, खन्ना को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 7.2.72

सम्मान्य बन्धु,
पत्र के लिए ध.। आपने लिखा है, मेरी किताबें मँहगी हैं। सस्ती किसकी किताबें हैं ? फिर आज कौन चीज़ सस्ती है ? और किताब का मूल्य तो प्रकाशक लागत आदि का अनुमान कर निश्चित करता है। लेखक का उसमें कोई हाथ नहीं रहता।

मैं तो यही कहता हूँ कि जो न ख़रीद सकें, वे पुस्तकालय से लेकर पढ़ें—या कई लोग मिलकर अच्छी किताबें ख़रीदें और बारी-बारी से पढ़ें—इस प्रकार पुस्तक पाठक को बहुत मँहगी न पड़ेगी।

शु. का.

सादर
बच्चन

67. श्री शिवमोहनलाल श्रीवास्तव, दतिया को
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 18.3.72

प्रिय शिवमोहन,
तुम्हारा पत्र। धन्यवाद।
क्या स्कूल की नौकरी ख़त्म हो गई ? क्यों ?
अगर तुम्हारे पास कोई काम न हो तो क्या तुम मेरे पास आना चाहोगे ? एक प्रकार से मेरे निजी सहायक के रूप में। यदि तुमने इसके लिए इच्छा प्रकट की तो शेष बातें मिलने पर तै कर ली जायँगी।
मन को छोटा नहीं करना चाहिए और अपने में विश्वास रखना चाहिए।
शुभकामनाएँ

सस्नेह
बच्चन

68. श्री विष्णुकांत शास्त्री, कलकत्ता को
प्रेसीडेंसी सोसाइटी, बंबई से : 6.2.74

भैया,

चित्र तो हमारे यहाँ अमित-जया के ही खिंचते हैं। उन्हीं में हम सब हैं।

मेरी थकन की तुम्हें कल्पना नहीं, इसी से ऐसा कहते हो।

थका हुआ भी कुछ चल लेता है। आत्मचित्रण के दो खंड और लिखने का मोह कहीं मुझमें अब भी है गो प्रकाशन का नहीं; यदि उसमें कुछ ऐसा देखा गया कि दूसरों को सह्य न होगा तो उसे छपाया नहीं जायेगा—मेरे देहावसान के 20-25 वर्ष बाद मेरे उत्तराधिकारी चाहेंगे तो छपा देंगे—इस दृष्टि से लिखने में स्पष्टता के साथ विशेषता होगी, ऐसा मेरा अनुमान है, निःस्पृहता भी। न मुझे उसे प्रकाशित देखना, न उसकी प्रतिक्रिया जानना।

स्वास्थ्य अवस्थानुसार—तीन कम सत्तरवें में हूँ, एक शेर आजकल अकसर याद आता है—

मौत ने इस क़दर देर की
ज़िंदगी बेहया हो गई।

युगल नवदंपति सानंद हैं। अमित की इधर कोई फ़िल्म देखी—जंज़ीर, अभिमान, सौदागर और नमक हराम उनकी बहुत अच्छी फ़िल्में मानी गई हैं। कभी सुविधा हो तो देखना।

आजकल लिखने के नाम पर मैं केवल पत्र लिखता हूँ और पढ़ने के नाम पर कुछ पत्र-पत्रिकाएँ।

आशा है, परिवार में सब सकुशल होंगे। बिटिया कैसी है? आपके पिता की बहुत याद दिलाती है। कभी आप बंबई नहीं आते?

शु. का.

सस्नेह
बच्चन

69. श्री सुजानकुमार पंडित, राँची को
प्रेसीडेंसी सोसाइटी, बंबई से : 22.3.74

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिए ध.। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। आप अपनी इच्छा पूरी करें। चित्र अनावश्यक है। भेजने को कोई चित्र उपलब्ध भी नहीं। हमारे यहाँ केवल अमित-जया के चित्र भेजने को हैं। अब मैं दिल्ली छोड़ बंबई आ बसा हूँ। शुभकामनाएँ।

सादर
बच्चन

70. श्री सत्यनारायण श्रीवास्तव, मुज़फ़्फ़रपुर को
प्रेसीडेंसी सोसाइटी, बंबई से : 2.5.74

प्रिय स.,

पत्र के लिए धन्यवाद। मुझे खेद है कि तुम्हारी पुस्तक के प्रकाशन के संबंध में कुछ सहायता नहीं कर सकता।

छपाई के दाम कितने अधिक हो गए हैं—प्रकाशक ऐसे लोगों की पुस्तकों पर अपनी पूँजी लगाने को तैयार नहीं जिनके बिकने की संभावना नहीं। मेरी 5 किताबों के संस्करण समाप्त हो गए हैं और प्रकाशक उन्हें पुन: मुद्रित नहीं कर रहे हैं—वही रोना, पुस्तकों पर लगाई पूँजी के जल्दी लौटने की संभावना नहीं। स्थिति सुधरेगी तब कुछ सोचेंगे—सारी दुनिया में इस समय मँहगाई आ गई है।

आजकल दिनकर के देहावसान से बहुत विचलित हूँ—मरना तो कोई किसी का रोक नहीं सकता—काश वे इतने दुखी होकर न मरते। मैं 2 अप्रैल को दिल्ली में उनसे मिला था जब मैं केन्द्रीय हिन्दी समिति की बैठक के लिए वहाँ गया था—दिनकर अपने पारिवारिक कारणों से इतने दुखी थे कि साल भर से घर से भागे-भागे फिरते थे—अनिकेतन की हालत में।

भाग्य को कौन बदल सकता है! कालोपि दुरविक्रमः। जीवन में बहुत कुछ करके उनको दुखी रहना ही बदा था।

उनकी आत्मा अब तो शांति पाए!

यहाँ के समाचार सामान्य हैं। अमिताभ-जया की पुत्री का नाम श्वेताम्बरा रखा गया है। पुकारने का श्वेता—Shweta। चित्र उसका भेज रहा हूँ। बहुत सुंदर कन्या है।

शुभकामनाएँ

सस्नेह
बच्चन

71. श्री गणपत चन्द्र गुप्त, कुरुक्षेत्र को
प्रेसीडेंसी सोसाइटी, बंबई से : 3.5.74

सम्मान्य बन्धु,

पत्र के लिए ध.।

सद्‌भावना के लिए आभारी हूँ। मैं आपसे बिल्कुल सहमत हूँ, केवल फ़िल्म ही नहीं, रेडियो टेलीविज़न को भी साहित्य के व्यापक क्षेत्र में मानना स्वस्थ होगा। अपने इतिहास के नये संस्करण में इसका ज़ोरदार समर्थन करें। इन माध्यमों को गरिमा मिलेगी, साहित्य को जन-सम्पर्क की व्यापकता।

मेरा स्वास्थ्य विशेष अच्छा नहीं। कभी सुयोग बना तो आत्मचित्रण के दो खण्ड और पूरे करना चाहता हूँ। मेरा नया निबन्ध संग्रह शायद आपकी नज़रों से गुज़रा हो—टूटी-छूटी कड़ियाँ।

शुभकामनाएँ।

सादर
बच्चन

72. श्री ब्रह्मस्वरूप गुप्त, मेरठ को
4.12.74 को प्राप्त

प्यारे भाई,

जन्मदिन की बधाई मिली। तुम्हीं मिले गोया। आभार-प्यार-धन्यवाद। कोई शब्द मुझे व्यक्त नहीं करेगा। तुमसे गीताजी से कभी मिलने की आशा लगाये हूँ। तुम्हारे विनोदार्थ एक शेर :

इस मेरी ज़िन्दगी में बहुम काम लिखा था।
आख़ीर में कुछ थोड़ा सा आराम लिखा था।

तो प्यारे, वही आराम भोग रहा हूँ। भगवान अब फिर काम में न झोंके गो दो-चार लोग कहकर या पत्रों से रोज़ आग्रह करते हैं कि आत्मकथा का तीसरा खंड जल्दी दीजिए। काश, वे मेरी थकान समझते।

प्यार।

भाई
बच्चन

73. श्री आनंद नारायण शर्मा, बेगूसराय को
बम्बई से : 18.3.75

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिए धन्यवाद।

सद्भावना के लिए आभारी हूँ। आपकी उन्नति-प्रगति के समाचार से प्रसन्न हूँ—भविष्य में आप और आगे जाएँ, ऊपर उठें।

स्वास्थ्य अवस्थानुसार, लेखन शिथिल, कुछ संभव हुआ तो सामने आएगा—वादा कुछ भी नहीं—मुझे कुछ आराम करने का भी हक है।

पिछले साल 2 अप्रैल को दिल्ली था। दिनकर के घर मिलने गया। उनको अपना एक शेर सुनाया—

कुछ न अब जिंदगी में करने को,
खूब फ़ुरसत मिली है मरने को।

उन्होंने अपनी डायरी में लिख लिया। बोले, तुम्हारी बेफिक्री से मुझे ईर्ष्या है। वे तो चिंता में डूबे थे।

दिनकर चले गए। मुझसे साल भर छोटे थे। अब तो मुझे उनसे ईर्ष्या है। हाथ-पाँव चलते, बिना दूसरों पर निर्भर हुए शरीर-मुक्त हो जाना बहुत बड़ा सौभाग्य है। जर्जर तन-मन से जीवन की चुनौतियाँ स्वीकारना कठिन काम है। जीवन मुझे इस कठिन परीक्षा में न डाले, डाले तो उससे न भागूँ।

आपके मंगल-कल्याण के लिए शुभकामनाएँ।

सादर
बच्चन

74. **श्री किशनकुमार केन, बंबई को**

प्रेसीडेंसी सोसाइटी, बंबई से : 20.10.75

प्यारे किशन,

तुम्हारा पत्र वेदना में डुबा गया। प्रकृति जिसे भुलवाना चाहती है उसकी बार-बार याद दिलाती है। जिन्हें मैंने बहुत याद किया अब उन्हें···कब कितना याद करता हूँ ! समय प्रबल है।

आत्मा का अस्तित्व, आत्मा की मुक्ति, आत्मा की अमरता ऐसे प्रश्न हैं कि उनका उत्तर शायद ही मिल सके। अपने संतोष के लिए कुछ सही गलत मान लेना भी उपयोगी होता है।

उस दिन मुझे जानकर आश्चर्य हुआ कि तुम्हारे घर रामचरितमानस की प्रति नहीं—उसका पठन-पाठन इस समय तुम सब लोगों के घाव पर मरहम लगाएगा—ऐसा मेरा ख्याल है। मैंने तुम्हारे लिए मानस की एक प्रति मंगा ली है। जिस दिन सुविधा हो आकर दे जाऊं—मैं कुछ अंश पढ़कर सुनाना भी चाहता हूँ। रविवार को 10 बजे के बीच ठीक रहेगा। फोन या पत्र से सूचित करना—तुम अपने स्वास्थ्य में टाप इन्टरेस्ट लो।

शेष मिलने पर। घर में सबको मेरी याद।

प्यार

बच्चन

75. **श्रीमती कुंथा जैन, नई दिल्ली को**

प्रेसीडेंसी सोसाइटी, बंबई से : 4.5.76

प्रिय कुंथाजी,

आपकी ओर से भेजा वर्धमान-रूपायन मुझे समय से मिल गया था। बहुत आभारी हूँ। पढ़कर ही आपको पत्र लिखना चाहता था। इस कारण देरी हो गई। क्षमा करेंगी।

मैंने पूरी पुस्तक बहुत मनोयोग से पढ़ी। आपकी यह कृति महावीर के व्यक्तित्व और संदेश को जन-जन तक पहुँचाने में पूरी तरह सक्षम है, इसका मुझे विश्वास है। आपकी कला की प्रशंसा तो की ही जानी चाहिए, पर साथ ही ऐसी कृति बिना श्रद्धा के पूरी नहीं उतर सकती थी जो आपमें पूर्ण है—साथ ही भगवान की कृपा भी उसके पीछे है, इसी कारण तो यह कृति इतनी लोकप्रिय हुई है; मैंने औरों से भी इसकी प्रशंसा सुनी है— मंच पर अथवा रेडियो माध्यम से इसे देखने-सुनने का अवसर खेद है मुझे नहीं मिला। मेरी और तेजीजी की ओर से इस कृति पर बधाई स्वीकार करें।

नवीन समाचार भी दे दूं। आपको जानकर प्रसन्नता होगी कि अमिताभ अब एक पुत्र के भी पिता बन गए हैं— पहली पुत्री थी।

छोटे बेटे अजिताभ दो पुत्रियों के पिता बन गए हैं। परिवार में इन नवीन विभूतियों के आने से हमारे आनंद की ही वृद्धि हुई है।

तेजीजी तो दिल्ली ही हैं। मैं मई के अंत में आऊँगा। तब आप लोगों के दर्शन करूँगा।

आशा है लक्ष्मीचंद्र जी स्वस्थ-सानंद हैं और इन्दु जैन भी अपनी बच्चियों के साथ—आपके परिवार में उसकी याद मुझे सबसे पहले आती है। बेटी तो वैसे भी प्यारी होती है—कुछ कारण और भी हैं। उसने मुझे कई बार टेलिविज़न पर इंटरव्यू किया है और वह हमेशा मुझसे टेढ़े-मेढ़े सवाल करती है और मैं उससे बढ़-कर टेढ़ा उत्तर देता हूँ। हमारी यह शब्दों की लड़ाई बड़े प्यार की लड़ाई है और दोनों को आनंद आता है।

सबको मेरी याद

सस्नेह

बच्चन

76. श्री राजीवरंजन, आरा को

प्रेसीडेंसी सोसाइटी, बंबई से : 21.5.76

प्रिय श्री,

पत्र के लिए ध.। मेरे लड़के मुझे Dad कहते हैं। यह Tat का बिगड़ा रूप है। रामचंद्र अपने पिता को Tat कहते थे। 'तात' कोमल होकर डाड—डैड—डैडी।

Papa भी संस्कृत से आया है। वप्र—पप्र—पप—पापा। उसी का एक रूप बप्र—बप—बाप—बापू हुआ।

शुभकामनाएँ

बच्चन

77. श्री ब्रह्मस्वरूप गुप्त, मेरठ को

बंबई से : 12.7.76

प्यारे भाई,

मैं आठ रोज़ से खाट लगा हूँ। घबराना मत। पाँव में मोच आ गई थी। फ़िल्म स्टार के घर छोटी से छोटी बीमारी आए तो डॉ. लोग उसे दुहने की लंबी-चौड़ी योजना बनाते हैं। पहले family doctor ने देखा, इंजेक्शन-दवा दे दी। दूसरे दिन X-Ray हुआ। तीसरे दिन report आई। उसमें था—orthopaedic specialist को दिखाना चाहिए—फिर specialist आया, फिर लंबी-चौड़ी रिपोर्ट। अब चौथा डाक्टर diathecrmy की सेंक देने आता है—बिजली की मशीन से। अच्छे होने पर खास तरह का जूता पहनना होगा—जूता बनानेवाला नाप ले गया है।

क़िस्सा-कोताह जब तक अच्छा हूँगा, अमिताभजी को हज़ार-दो हज़ार का जूता लग जायेगा। गाँव होता तो कोई अहीर पाँव बैठा देता—चोट सज्जी लगा देता और पाँव ठीक हो जाता।

तेजीजी मकान मिलते ही मुझे बुलाएँगी—वहाँ वे ठीक हैं। यहाँ के समाचार सामान्य हैं। मेरे बारे में चिन्तित मत होना। मैं बड़े अच्छे mood में हूँ। दुनिया

को Through & Through देख रहा हूँ। बड़ा खोखला संसार है। पर अब देखने में दुख नहीं होता। मज़ा आता है। तुम दोनों को प्यार।

भाई
बच्चन

78. श्री ब्रह्मस्वरूप गुप्त, मेरठ को
प्रतीक्षा, बंबई से : 29.7.76

प्यारे भाई,

तुम्हारे 24 के पत्र के लिए धन्यवाद।

एक क़िस्सा सुनो। एक बार बिड़लाजी बीमार पड़े। डाक्टर को बुलाया गया, उन्होंने उसकी फ़ीस दे दी। दवा मँगा ली, उसका दाम दे दिया मगर दवा नहीं खाई। एक मित्र ने पूछा, 'आपने डॉक्टर को बुलाकर उसकी फ़ीस दे दी।'

बोले, 'फ़ीस दे दी क्योंकि डाक्टर को भी जीना है।'

'केमिस्ट से दाम देकर दवा मँगा ली।'

बोले, 'केमिस्ट को भी तो जीना है।'

'फिर आपने दवा क्यों नहीं खाई?'

बोले, 'मुझे भी तो जीना है।'

तुम्हारी बीमारी से मुझे चिन्ता हो तो ठीक, पर तुम अपनी बीमारी की चिन्ता छोड़ो। बुढ़ाई आ गई, कुछ न कुछ तो बीमारी-ईमारी आती रहेंगी :

'सब बलाएँ हो चुकीं ग़ालिब तमाम
एक मर्गे नागहानी और है।'

'मौत को भी कुछ बहाना चाहिए।' देखो, यह शेर की एक लाइन बन गई, इसके पहलेवाली लाइन जोड़कर भेजो, प्यारे।

गीताजी को और तुम्हें प्यार। यहाँ सब सामान्य। तेजी दिल्ली—ठीक हैं—कल जया दो-चार दिन के लिए उनके पास जा रही हैं। अभी 10 दिन रमू-बंटी माँ के पास रहकर आए।

भाई
बच्चन

79. श्री कमलकान्त बुधकर, हरिद्वार को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 17.9.76

प्रियवर,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिये आभारी हूँ।

सहसा मेरी spondilitis की तकलीफ़ बढ़ गई और डाक्टर ने मुझे मारिशस जाने की अनुमति नहीं दी।

स्वास्थ्य के संबंध में मैं गीता के समत्व की स्थिति पर पहुँच गया हूँ यानी—

न मेरी तबियत बहुत अच्छी है
न मेरी तबियत बहुत ख़राब है

वैसे इन दिनों मैंने एक झूठा शेर लिखा है, पहले शेर लिख दूँ, फिर बताऊँ कि इसे मैंने झूठा विशेषण क्यों दिया है

"अभी दर्द से मैं बनाता हूँ नग़मे
अभी मौत मुझसे बहुत दूर पर है।"

नग़मे अब मैं कहाँ बनाता हूँ ? है न झूठा शेर ?

पर नग़मे बनाने की जगह और बहुत कुछ करता हूँ, उन्हें भी नग़मा बनाना क्यों न कहूँ : जैसे अपने पोते-पोतियों के साथ खेलता हूँ, बाग़वानी करता हूँ, कभी-कभी रसोई में जाकर कुछ पकाने की कोशिश करता हूँ। उदाहरणार्थ हलुआ बनाना सीख गया हूँ और इतना स्वादिष्ट बनाता हूँ कि जो खाता है उँगली चाटता है।

तेजीजी दिल्ली ही हैं। यहाँ से कोई न कोई थोड़े-थोड़े दिनों के लिए जाकर उनके पास रह आता है। मैं भी जाता रहता हूँ पर मेरा जाना-लौटना अचानक होता है, गो मैं कुछ ज़्यादा दिनों के लिए जाकर दिल्ली रहना चाहता हूँ कि वहीं एकांत में अपने आत्मचित्रण का तीसरा भाग पूरा कर दूँ। पर यहाँ न बच्चे मुझे छोड़ते हैं न बड़े। फिर मैं भी लेखन के प्रति अब आग्रहशील नहीं, कभी लिख जायगा तो लिख जायगा तीसरा भाग, न लिखा जा सका तो उसका कोई मलाल भी नहीं। बहुत लिख चुका, अब तो जीवन की किताब को उलटना-पुलटना ही सहज लगता है।

शु. का.

बच्चन

80. श्री दामोदर अग्रवाल, संप्रति नई दिल्ली को
प्रतीक्षा, बंबई से : 23.9.76

प्रिय दा.,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्‌भावनाओं के लिए आभारी हूँ।

शायद एक बहस और हो कि वह शायर था या कवि।

शायर की दो रुबाइयाँ पेश हैं—

ज़िंदगी एक चूहेदानी है;
सब फँसों की महज़ कहानी है
एक जो राह है निकलने की
उसपे बिल्ली की हुक्मरानी है।

× ×

कमर में दर्द है मैं क्या करूँ
ज़माना सर्द है मैं क्या करूँ
हकीमों की चली हिकमत न कोई
ख़ुदा नाकर्द है मैं क्या करूँ।

↓

'यानी कुछ नहीं करता।'

शायर का एक शेर भी पेशे-ख़िदमत है

'अभी दर्द से मैं बनाता हूँ नग्में
अभी मौत मुझसे बहुत दूर है।'

प्यारे, जब तुमसे मिला था, उसके बाद दिल्ली गया ही नहीं, आऊँगा तो तुमसे मिले बग़ैर न लौटूंगा।

तुमने बच्चों के लिए कुछ बहुत अच्छी कविताएँ लिखी थीं, धर्मयुग में मैंने कहीं देखी थीं, अगर विशेष कष्ट न हो तो लिखकर मुझे भेज दो, मैं अपने पोते-पोतियों को सुनाऊँगा।

घर में सबको मेरी याद

सस्नेह
बच्चन

81. श्री ब्रह्मस्वरूप गुप्त, मेरठ को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 21.10.76

प्यारे भाई,

मेरा पिछला पत्र मिला होगा। उत्तर नहीं आया। आशा है, तुम दोनों स्वस्थ-सानन्द हो।

मेरी spondilities की तकलीफ़ किसी न किसी रूप में बनी हुई है, कभी गर्दन में, कभी कमर में, कभी पैर में—फिर भी बीमारी बड़ी मेहरबान है और जीवन के ज़रूरी काम हस्बमामूल चलते जाते हैं।

तेजी 8 अ. को आई थीं। रमोला का 9 को और अमित का 11 को ज. दि. मनाकर दिल्ली लौट गईं। आज या कल दिवाली मनाने को फिर आएँगी, शायद 24 को लौटें। तब मैं उनके साथ दिल्ली जाऊँगा। वहाँ घर shift करना है। B-191 ग्रेटर कैलाश से 13 विलिंगडन क्रिसेण्ट को। शायद इस बार कुछ अधिक समय दिल्ली में रुकना हो और तुम दोनों से मिलने की बड़ी इच्छा है कि तुम दिल्ली आओ कि मैं मेरठ आऊँ।

परिवार में सब लोग सानन्द हैं। तुम दोनों को दिवाली की बधाई, प्यार।

भाई
बच्चन

पुनश्च :

मेरी पंक्ति पर तुमने पहली पंक्ति लगाई थी—

'ज़ीस्त फिर भी ज़ीस्त है कैसे कटे
(मौत को भी एक बहाना चाहिए।)'

मैंने दूसरी पंक्ति लगाई है—

'ज़िंदगी में मर्ज़ का मतलब खुला
(मौत को भी एक बहाना चाहिए।)'

बताओ भैया, कौन अच्छी है? तुम न निर्णय कर सको तो मेरठ में किसी शायर से पूछो। सुना वहाँ कई हैं। —ब०

82. श्री रघुनाथप्रसाद विकल, पटना को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 17.8.77

प्रिय भाई,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। अभी तक तो यह नियम निभाता आया हूँ कि जो भी याद करता है, उसे मैं भी याद करता हूँ। बम्बई भेजे आपके पत्र मुझे नहीं मिले। वहाँ पत्रों का ग़ायब हो जाना साधारण बात है। अमिताभ का Fan-mail 400 पत्रों का रोज़ आता है और कई क्लर्क उसे निपटाते हैं—उस सैलाब में मेरे नाम की चिट्ठियाँ खो जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं।

गोरखपुर से आपका पत्र मिला था, उत्तर भी मैंने निश्चय दिया होगा।

आत्मकथा चार खण्डों में लिखने की योजना थी—अब मैंने तीसरे खंड पर समाप्त कर दी है—कारण पुस्तक में ही देखेंगे और खुश होंगे।

70वें में हूँ—लिखना कष्टकर लगता है। यह पुस्तक भी बड़े कष्ट से लिखी। अब तो छुट्टी चाहता हूँ।

जिस तरह की आत्मकथा मैंने आरम्भ की, वह हिन्दी में नया प्रयोग था—कुछ लोगों को पसन्द नहीं आया। सच्चाई बड़ी निर्मम होती है। इस पर नैतिकता की भी क़ीमत है कि दूसरों को दुखाया न जाय, अपने को चाहे जितना दुखाओ; तीसरे खंड में नाम बचाये हैं, देखूँ लोगों की प्रतिक्रिया क्या होती है! शुभकामनाएँ।

भाई

बच्चन

83. श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', पटना को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 27.10.77

प्रिय प्रफुल्ल,

तुम्हारा 24 का पत्र मिला। समाचार मिले। मन उदास है। काश मेरे पास साधन होते और उन पर मेरा पूर्ण अधिकार होता···तुम्हारी स्थिति मैं न समझूँगा तो कौन समझेगा। मैं यह सब भोग चुका हूँ। मैंने जवानी में भोग लिया। तुम्हें वृद्धावस्था में भोगना पड़ रहा है। यह और दुखद। प्रार्थना? कौन सुनता है? जीवन का अधिकतर अनुभव यही। कुछ अनिवार्यतः होता रहता है और हम उसे देखने-सहने को महज़ मजबूर हैं—रहेंगे।

भाई

बच्चन

84. श्री रमेशचन्द्र गुप्त, कुरुक्षेत्र को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 23.11.77

प्रिय रमेश,

तुम्हारा 12 का पत्र मिला। धन्यवाद। मैं आज तीन दिन चारपाई पर पड़े रहने के बाद टेबिल पर बैठा हूँ। दीपावली की बधाई के लिए आभारी, दीपावली से आरम्भ वर्ष तुम्हें सुखकर हो।

विश्वास है चोट के असर से अब एकदम मुक्त हो। मुझे 25 को इलाहाबाद जाना है लौटकर 30 या एक दि. को बम्बई भी जाना होगा। लौटना शायद मध्य दिसम्बर तक।

तुम मेरी सत्तरहवीं वर्षगाँठ पर मुझे 'बच्चन : निकष पर' भेंट करना चाहते थे। वह तो न 27 को तैयार होगी और न 2 दिसम्बर को। बस जिस दिन तुम पुस्तक भेंट करोगे उसी दिन मेरा सत्तरहवाँ जन्म दिन ! तारीख़ों में क्या धरा है, भावनाओं का कैलेन्डर अलग होता है।

मुझसे पूछो तो अपने बारे में कोई निर्णय नहीं लेता—दूसरे लेते हैं। भांजे ने 27 को अपनी बेटी की शादी रख दी। अमित अजित ने अपनी माँ को मना लिया कि डैड को लेकर आप बम्बई आ जायें। उनका आर्डर हो गया। मैं तैयार हो गया।

तुम्हारी और चि. शालिनी की भावनाओं का बड़ा कोमल स्थान मेरे हृदय में है भले ही उसका कोई स्थूल रूप न दिखाई दे। तुम दोनों जब भी मुझसे मिलोगे मुझे जन्मदिन सा ही सुख होगा। तुम भी उस दिन को मेरा जन्मदिन ही समझना—यह हम दोनों के बीच की बात रही—सबसे गुप्त ! ! !

मेरा प्यार

बच्चन

85. श्री जीवनप्रकाश जोशी, नई दिल्ली को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 23.1.78

'आओ, चलें एक साथ ऊबड़-खाबड़ भूमि पर'
(मज़ाक है, बुरा न मानना)

जीवन भाई,

20 के पत्र के लिए धन्यवाद। तुमने जो अभय मुझे दिया है, उससे मैं मगन हो उठा। तुम्हारा लेख पढ़ने को आतुर रहूँगा। साप्ताहिक के हर अंक में झाँकता। तुम अपने कंधे के दर्द को ज़्यादा ही दिन सेते जा रहे हो। एक रहस्य बताऊँ ? रोग को स्वीकार करने से उसका आधा बल घट जाता है। मेरे रोग की परिभाषा तुमने सुनी है ? बताऊँ ? 'रोग मनुष्य को जीवित रखने के लिए शरीर का अन्तिम प्रयास है।' मेरे तो सब रोग ही मुझे जिलाए चल रहे हैं। वर्ना मैं कबका मर चुका होता।

शेष सामान्य। घर में सबको नमस्ते।

काम अंजाम देने के लिए अब तो दिल्ली लौटने को उत्सुक

बच्चन

पुनश्च :

क्या पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अच्छी कविताओं को देखते रहे हैं? 76-77 में—यानी धर्मयुग, सा. हि. और एकाध मासिकों में—कादंबिनी—कल्पना और कुछ लघु पत्रिकाओं में ?

86. श्रीमती इंदु जैन, नई दिल्ली को
प्रतीक्षा, बंबई से : 28.1.78

बिटिया रानी,

पत्र और कविताओं के लिए धन्यवाद। कविताएँ मुझे पसन्द आईं। '76-77 की अवधि में प्रकाशित इससे और अच्छी कविताएँ भी तुम्हारे पास हों तो भेज सकती हो, तुम्हारी दो से अधिक कविताएँ भी जा सकती हैं।

कुछ और नाम सुझा सकती हो जिनके संग्रह 76-77 में आए हैं या जिन्होंने इस अवधि में बढ़िया चीज़ें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराई हैं।

मुझे मालूम है तुम 'बसेरे से दूर' को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ोगी क्योंकि शायद कभी तुम्हें मुझसे T.V. पर कुछ टेढ़े-मेढ़े सवाल पूछने पड़ें—मुझे तुम nervous करना चाहोगी। मैं जानता हूँ तुम्हें।

मैं फ़रवरी के मध्य तक दिल्ली लौटूँगा। तेजीजी तो वहीं हैं—कभी सुविधा हो तो फ़ोन कर उनका हाल-चाल पूछ लेना।

भाई लक्ष्मीचंद्र और कुंथाजी को मेरी याद। बच्चों को मेरा प्यार—पति-देव को नमस्ते। तुम्हें शुभकामनाएँ।

सस्नेह
बच्चन

पुनश्च :
कृष्णा सोबती का 'मित्रो मरजानी' मैंने कभी पढ़ी थी और बहुत पसंद किया था। उनकी किताब दिल्ली आकर ही देखूँगा। यहाँ तो मिलना मुश्किल है। निकट यहाँ कोई लाइब्रेरी भी नहीं। —**ब.**

87. श्री शिवमृदुल, चित्तौड़गढ़ को
कैम्प, विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 24.2.78

प्रिय श्री,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। मधुशाला प्रतीकात्मक काव्य है यानी Symbolic poetry। प्रतीक बहुअर्थी होते हैं। मधुशाला, मधुबाला, प्याला, हाला—प्रतीक हैं जिनके बहुत से अर्थ हैं—जो भी अर्थ पाठक की कल्पना-भावना उन पर आरोपित कर ले।

प्रतीकों की यही खूबी है कि शाब्दिक अर्थ देकर भी वे संकेत अन्य अर्थों का भी देते हैं।

'कितने अर्थों को संकेतों
से बदला जाता साक़ी' आदि।

आशा है आपका समाधान होगा।

शुभकामनाएँ।

भवदीय
बच्चन

88. श्री नरेन्द्र वसिष्ठ, नई दिल्ली को

बंबई से : 24.3.78

सम्मान्य बंधु,

22 के पत्र के लिए धन्यवाद। आपके पिछले पत्र का उत्तर दे चुका हूँ जो इससे पूर्व मिल गया होगा।

प्रसन्नता है कि आप मेरी कविताओं में आलोचनात्मक दृष्टि से रुचि ले रहे हैं। योजना अच्छी है। पता नहीं हिंदी का विद्वत् समाज उसका कितना और कैसा स्वागत करेगा। हिंदी में पाठ्य-पुस्तकिया समालोचकों के कारण कुछ रूढ़ियाँ बन चुकी हैं और उनको चुनौती देना सरल न होगा।

मैंने हमेशा ऐसा समझा है कि सृजन साहस का काम है, आलोचना कम साहस का काम नहीं है, क्योंकि यहाँ चुनौती साधारण समाज को नहीं अर्थात् जागरूक और धारणारूढ़ वर्ग को दी जाती है। हिन्दी की प्रायः शत-प्रतिशत आलोचना विद्यार्थी या अध्यापक वर्ग के लिए लिखी गई है जो विद्यार्थियों को परीक्षा के लिए तैयार करते हैं। साहित्य रसास्वादन और साहित्य-आलोचन के क्षेत्र में अभी सुधी-वर्ग आया ही नहीं। इस ओर मैंने अपनी किसी भूमिका में संकेत किया था। हिंदी को प्रचार के साथ सम्मान भी मिलना चाहिए जो केवल उसके सुधी वर्ग, प्रबुद्ध समाज में वांछित होने से मिलेगा। फ़िराक कभी कहा करते थे, हिन्दी तेली-तमोलियों, घसियारों की भाषा है और मैं जोड़ देता था—और मोदर्रिसों की। पाठकों का जब सुधीवर्ग आएगा तभी उस काव्यशास्त्र-विवेचन का मूल्य होगा जो केवल परीक्षार्थियों को cater नहीं करता।

आपकी चिंतन की दृष्टि सुधीवर्ग को लेकर है, आपका प्रयास शायद उसके स्वागत की तैयारी में कुछ योग दे सके।

मेरी कविताएँ मोदर्रिसी समालोचना से बच गईं क्योंकि वे कभी उच्च श्रेणी के पाठ्यक्रम में रखने योग्य नहीं समझी गईं। समालोचना के नाम से जो मुझ पर लिखा गया, वह प्रायः उस साधारण जनता को ध्यान में रखकर जो मेरी कविताओं की अन्धप्रेमी है। एक तो मैंने अपने पर ही लिखी समालोचनाओं को पढ़ा भी नहीं, और जब कभी पढ़ा तो कभी उनमें कोई अधिक अंतर्दृष्टि नहीं मिली। मैं आपको क्या पढ़ने की सिफ़ारिश करूँ?

आपका काम सरल भी हो सकता है क्योंकि आपको नये क्षेत्र खोलने होंगे। किसी के क्षेत्र पर जायज़ या नाजायज़ अधिकार करने का आरोप आप पर न लगेगा।

शेष सामान्य। घर में सबको होली की बधाई। शुभकामनाएँ।

सादर

बच्चन

89. श्रीमती कुंथा जैन, नई दिल्ली को

बंबई से : 15.5.78

प्रिय कुंथा जी,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। प्रसन्नता हुई कि 'बसेरे से दूर' में आपने रुचि ली। लेखक का श्रम सार्थक हो जाता है जब उसके

पाठक उससे कुछ सुख पाएँ।

भाई लक्ष्मीचंद्र के आदेश के पालनार्थ कविताएँ कुछ टेप पर रेकार्ड कर दी थीं।—मेरी आवाज़ तो जा चुकी है—आपने पुराने स्नेह के कारण इसे मान दिया! आभारी हूँ।

तेजीजी आजकल यहाँ हैं। अमिताभजी को Film Fair Award मिलने के अवसर पर आई थीं—जहाँ से 18 मई को कश्मीर जा रही हैं। जब वे लौटकर दिल्ली आएँगी, मैं भी यहाँ से दिल्ली पहुँच जाऊँगा। गर्मी से क्या डरना—हम तो गर्मी से सीझे हुए हैं एक जीवन के! आशा है दिल्ली आने पर आप और भाई के दर्शन होंगे।

इंदु का पत्र आता रहता है। और उससे आपके समाचार मिलते रहते हैं। उसकी कोई कविता की पुस्तक निकली है—भेजने को कहा था। मैंने तो अब मना कर दिया है—दिल्ली आऊँ तभी दें। आशा है, सपरिवार सानन्द हैं।

घर में सबको मेरे नमस्कार।

शुभकामनाएँ।

बच्चन

90. श्री कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, बम्बई को

विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 5.7.78

प्रिय कृष्ण किशोर,

तुम्हारा 21.6.78 का पत्र मुझे समय से मिल गया था। मैं बीमार पड़ गया था, इसी से उत्तर जल्दी न दे सका। कुछ नहीं, यही spondilities था, चक्कर आए, जी मचलाया, कै होने लगी, डा. करौली वक्त से आ गए और उनकी दवा से जल्दी लाभ हो गया, अब प्राय: ठीक हूँ।

विवाह की रजत-जयन्ती तो साल भर मनानी चाहिए। इसलिए बधाई और आशीष देने में अभी देरी नहीं हुई। तुम दोनों अपनी स्वर्ण जयन्ती भी मनाओ और एक-दूसरे के दुख-सुख-संघर्षों में एक साथ रहते हुए बहुत दिन जिओ।

अमिताभ सपरिवार सकुशल विदेश-यात्रा से लौट आए हैं, अजिताभ भी। दोनों परिवार वहाँ सकुशल हैं।

'धर्मयुग' में तुम्हारी 'टोपी' शीर्षक रचना देखी थी, कहानी मौलिक, व्यंग तीखा, बहुतों को यह टोपी अपने सिर पर फिट होती प्रतीत होगी।

बम्बई से लौटकर मैं एक दिन सत्येंद्र को देखने गया था—सारे परिवार से भेंट हो गई थी, सब लोग सकुशल थे—सत्येन्द्र का रोग तो अब जानेवाला नहीं, दवा मेरठ के किसी होमियोपैथ की करते जाते हैं; उससे शायद मर्ज़ जहाँ का तहाँ है; बढ़ा नहीं, इसको भी कम ग़नीमत नहीं मानना चाहिए। सत्येंद्र के चेहरे पर यह लिखा है कि जिस मर्ज से मैं कष्ट उठा रहा हूँ, वह अब जानेवाला नहीं। और इसने उनके सारे नज़रिये को बदल दिया है। वे दफ्तर को छोड़ शायद ही कहीं आते-जाते हों। कम से कम मेरे घर तो आए नहीं। शायद पिछली बार वे नवम्बर में मेरे जन्मदिन पर आए थे, सो भी बुलाने पर, मैं उनकी मन:स्थिति समझता हूँ इससे कोई शिकायत भी मुझे नहीं। जब फ़ुरसत होती है मैं जाकर उनको मिल आता हूँ। उनके बच्चे

स्वस्थ हैं और पढ़ाई में अच्छे हैं, उषा भी काम करती जाती है। जीवन का संघर्ष सारा परिवार संयम से झेल रहा है। मेरे मन में तो इन सब लोगों के लिए इज्ज़त है, प्यार है।

कन्हैयालाल नंदन से मैं नहीं मिला। मैं भी तो घर से बाहर कम ही निकलता हूँ, फिर यहाँ के लोगों को भी पता नहीं कि मैं दिल्ली हूँ कि बंबई, वैसे अब जीवन इतना व्यस्त है कि स्नेह-समादर के नाते कोई किसी के पास कहाँ आता-जाता है। तुम हो कि बंबई में संबंध निभाते जाते हो।

समाप्त करता हूँ। बहूरानी को मेरी बधाई-आशीष पहुँचा देना। शुभकामनाएँ।

सस्नेह

बच्चन

91. श्री रमेशचंद्र सिनहा, पटना को

कैंप, विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 27.7.78

सम्मान्य बन्धु,

25.7.78 के पत्र के लिए धन्यवाद। सद्‌भावना के लिए आभारी हूँ। पुस्तक आपकी अभी तेजी जी ही पढ़ रही हैं। कहती थीं, पुस्तक श्रम, शोधदृष्टि और विवेक से लिखी गई है। आशा है, आपकी शोधदृष्टि का लाभ हिन्दी को भी मिलेगा। सृजनशील साहित्यकार के लिए एकाधिक साहित्य से परिचित होना बड़ा उपयोगी होता है। मेरे अंग्रेज़ी ज्ञान ने मेरे हिन्दी लेखन को कहीं न कहीं किसी विशेष रीति से प्रभावित—निश्चित किया होगा।

देवेंद्रजी का पता भेजने के लिए आभारी हूँ; उन्हें भी आज ही पत्र दे रहा हूँ। श्री तृप्ति नारायण शर्मा को मेरे भी प्रणाम निवेदित कर दें। कार्य में सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएँ।

राजनीतिज्ञ के पड़ोस को कोई सौभाग्य तो नहीं मानता। कवि और राज-नीतिज्ञ का तो 36 का योग है।

> 'कबिरा तेरी झोंपड़ी गरकटियन के पास
> जैसी करेंगे भरेंगे, तू क्यों होत उदास।'

भाई, वृद्धावस्था में एक रोग अच्छा होता है तो दूसरा लगता है।

> 'जगह जगह से गागर फूटी
> राम, कहाँ तक ताऊँ रे!'

'ताऊँ' तो समझते हैं न ? मूँदने या ढकने के अर्थ में। शु. का.

सादर

बच्चन

92. श्री रामकुमार कृषक, दिल्ली को

कैम्प, विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 24.8.78

सम्मान्य बन्धु,

12 के पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। आपकी कृति मैंने यथासमय पढ़ ली थी, पर 'सुर्खियों के स्याह चेहरे' पर प्रकाशक ने ऐसी तमहीद गाँठ दी थी कि उसके आतंक में मैं यह सोच न सका कि अब मैं इस पर क्या कहूँ। आपकी पुस्तक बहुतों के लिए प्रेरक सिद्ध होगी, कम से कम मेरे लिए हुई, हाँ आपकी शैली में एक कविता लिख डाली। सेवा में प्रस्तुत है।

शोषको
होशियार !
क्रांति आ रही अब
कविता के बाने में।

बंदूक
तलवार
पुराने हथियार।
इसके हाथ में एटम बम है
गढ़ा शब्दों के कारख़ाने में।

शासको
होशियार !
पुलिस फ़ौज बेकार
उड़ी आ रही है यह चढ़ी
साँसों के विमानों में।

सड़ी सभ्यताओ
गली संस्कृतियो
सर्वहारों के लिए तुमने क्या किया ?
याद रखियो।
बदलने आती है यह तुम्हें
बियाबानों में।

संहार के बाद
सृजन की आधार
शिला रक्खेगा कल के कवियों का परिवार।
कल का राजनय होगा
लय में, छंदों में, गानों में,
गूँजता समानों में।

शुभकामनाएँ

बच्चन

93. **श्री रमेशचंद्र गुप्त, कुरुक्षेत्र को**
विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली से : 5.9.78

प्रिय रमेश,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। हम जिस जंगली सभ्यता में आ गये हैं वहाँ सरकारें हमारी रक्षा नहीं कर सकेंगी। हर नवयुवक नवयुवती को जूडो कराटे की शिक्षा लेनी चाहिए और कोई हथियार सदा अपने साथ रखना चाहिए। पिस्तौल न सही तो एक तेज़ छुरी।

निहत्थे गीता-संजय के हत्यारों से संघर्ष की कल्पना ने मेरी नींद हर ली है।

जब तक यह पत्र तुम्हारे पास पहुँचेगा मैं बम्बई पहुँच चुका हूँगा। वहाँ मैं अक्टूबर के अन्त तक रहूँगा। मेरे ट्रांज़िस्टर पर रोहतक मिला और मैं हवाई जहाज में न बैठा हुआ तो तुम्हारा नाटक सुनूंगा।

शेष शु. का.

सस्नेह
बच्चन

94. **श्री महाबीर प्रसाद गैरोला, टिहरी को**
प्रतीक्षा, बंबई से : 18.9.78

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिए धन्यवाद। 'हिमालय साक्षी है' की प्रति के लिए भी आभारी हूँ। मैं इसे पूरा पढ़ गया हूँ। रचना का लक्ष्य उदात्त है। रचना की रेंज भी लंबी है—समाज, राजनीति से लेकर अध्यात्म तक। वैसे ही कविता की श्रेणी में भी वैविध्य है, कविता से लेकर प्रवचन तक (प्रवचन यानी rhetoric) प्रवचन को काव्य की मैं बहुत ऊँची श्रेणी में नहीं मानता।

अभिव्यक्ति और संप्रेषण भरपूर है पर उद्बोधन यानी Evocation कहीं कहीं ही, और उद्बोधन ही कविता की उच्चतम उपलब्धि है। अपने कवि के उत्तरोत्तर विकास और अपने व्यक्तिगत मंगल-कल्याण के लिए मेरी शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

सादर
बच्चन

95. **श्री मधुर मोहन भल्ला, लखनऊ को**
प्रतीक्षा, बम्बई से : 24.1.79

प्रिय श्री,

आपके 22.1.79 के पत्र के लिए धन्यवाद।

साहित्य से जीवन बड़ा होता है।

जहाँ जीवनानुभवों को व्यक्त करने के लिए अभिधा असमर्थ होती है, वहाँ लक्षणा, व्यंजना एवं प्रतीकों से सहायता ली जाती है। तीव्रतम अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में—और कविता में तो तीव्रतम अनुभूतियाँ ही अभिव्यक्त की जाती हैं— अभिधा प्राय: असफल होती है। इस कारण कविता में प्रतीकों का प्रयोग अधिक होता है। भावों के अनुरूप प्रतीक चुनना कविता की कला है। प्रतीकों के अनेकानेक स्रोत हैं —धर्म, रूढ़ियाँ, लोकजीवन, लोक विश्वास, इतिहास, पुराण, परम्पराएँ, साहित्य आदि नये प्रतीक भी गढ़े जा सकते हैं, बशर्ते कि वे वांछित अर्थों को प्रक्षिप्त कर सकें। मान्यता ऐसे प्रतीकों को तब मिलती है जब अन्य कवि भी उन्हें स्वीकार करें और उनमें नए-नए अर्थ भरें। प्रतीक कविता में वही काम करते हैं जो इंजिन में बैटरी या डायनेमो करता है – कविता को ऊर्जा प्रदान करना···vitality, प्राणशक्ति, जीवंतता यानी शक्ति 'कवित्वं दुर्लभस्तत्र शक्ति-स्तत्र सुदुर्लभ:।'

कैक्टस दिल्ली में लगाये थे; यहाँ आने लगा तो एक मित्र को दे आया। कभी सुविधा से यहाँ भेज सकें तो उन्हें यहाँ लगाने का प्रयत्न करूँगा।

जिस क़लम से आपको यह पत्र लिख रहा हूँ वही आपके लिए भेज रहा हूँ। पीछे से उसकी टोपी घुमाने से—बाईं ओर को—स्याही भरने की पतली नाक निब से बाहर निकलती है—अब टोपी को ऊपर खींचें। भरी दावात में उसकी नाक डुबाकर टोपी को नीचे दबाएँ और दावात में जब तक बुलबुले उठते रहें उसकी नाक स्याही में ही रखें। टोपी को नीचे दबाए ही अब दाहनी ओर घुमाएँ, स्याही खींचनेवाली नाक निब में समा जाएगी। अब बाहर लगी स्याही को किसी मुलायम कपड़े से पोंछ दें और लिखना शुरू करें। इसकी निब बहुत smooth चलती है। स्याही खींचने वाला Vacuum रबर कभी ख़राब हो जाय तो किसी क़लम के अच्छे कारीगर से दूसरा रबर डला लें।

घर में सबको—विशेषकर आपकी माताजी को मेरी याद और शुभकामनाएँ।

भवदीय

बच्चन

पुनश्च :

इस पेन में पहले मैं Quink भरता था। अब Chelpark ink चलेगी। महीने में एक बार इसकी पतली नाक को बाहर करके गरम पानी में रख देना चाहिए — पानी मामूली गरम हो—उससे नाक में जमी dust निकल जाएगी। इस पेन को भरने के लिए दावात (inkpot) पूरा भरा रहना चाहिये—लंबी गर्दन का ink-pot हो तो ज़्यादा अच्छा। क़लम हमेशा ऊपर-ऊपर से भरना चाहिए— ink-pot भरा रखा हो। क़लम भरने के पूर्व inkpot को हिलाएँ बिलकुल नहीं जिससे स्याही में जो dust हो, नीचे बैठ जाए। यह क़लम dust बर्दाश्त नहीं करता।

96. श्री कमलकांत बुधकर, हरिद्वार को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 6.2.79

प्रियवर,

पत्र के लिये धन्यवाद। वसंत की बधाई के लिये आभारी हूँ।
आपकी पंक्तियों पर कुछ प्रतिक्रिया हुई—

वसंत पर
वृक्षों को देख कुछ निराश हुआ
पर, बावरे, वसंत वृक्षों पर न उतरे तो
मन में तो उतारा ही जा सकता है।
मैंने राग वासंती उठाया
और सुनकर वसंत
मेरी प्रिया के अंग-अंग पर उभर आया !

विनोदार्थ प्रस्तुत।
घर में सबके मंगल के लिये मेरी शुभकामनाएँ।

बच्चन

97. श्री रमेशचंद्र गुप्त, कुरुक्षेत्र को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 3.3.79

प्रिय रमेश,

1.3.79 के पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ।

इस देश में प्रसिद्ध होना और साथ समृद्ध होना भारी अभिशाप है। हमारे यहाँ गुमनाम चिट्ठियाँ आती हैं कि 2 लाख रुपये दो नहीं तो तुम्हारे बच्चे ग़ायब कर दिये जायेंगे। या तुम्हारे बच्चों को ग़ायब कर देने का प्लाट बन चुका है, हमें दो लाख दो तो हम उन्हें बचा सकते हैं। वग़ैरह वग़ैरह। ऐसी हालत में हम किस मानसिक तनाव में रहते हैं और बच्चों की किस क़दर देख-रेख रखते हैं, इसको तुम नहीं समझ सकते।

अब हम श्वेता और अभिषेक की तस्वीरें छापकर उनके लिए यह काम सरल कर दें—तस्वीरें कहां-कहां नहीं पहुँचेंगी ! तुम समझते हो 'माधुरी' में छपी तस्वीर हमने भेजी हैं ? किसी ने कभी ले ली। और हमसे बिना पूछे छाप दी। इस देश में इतनी कुरुचि, इतनी उच्छृंखलता है कि किसी की प्राइवेसी की फ़िकर नहीं रह गई। बस चले तो लोग अमिताभ के टट्टी फिरने की भी तस्वीर छापें। आज की बात है, अमिताभ के दाँत में दर्द था, वे डेंटिस्ट के यहाँ गये। जाहिर है कि डेंटिस्ट घर आकर ट्रीटमेण्ट नहीं कर सकता, 5-6 हज़ार आदमियों ने डेंटिस्ट की दूकान घेर ली और अमिताभ के लिए मुश्किल हो गया कि दूकान से उतरकर अपनी कार तक जा सकें। अन्त में पुलिस बुलायी गयी और तब वे किसी तरह घर पहुँचे। लोकप्रियता की यह क़ीमत माँगता है यह देश !

जहाँ तक मुझे मालूम है, इस घर में श्वेता की तस्वीरों का कोई एलबम नहीं है। कम से कम मैंने तो नहीं देखा। और तस्वीर तुम्हें भेजने की सिर्फ़ बात नहीं थी; हम जानते थे कि तस्वीर तुम किताब में छापोगे। और हम श्वेता का चित्र विज्ञापित करने से डरते हैं। और डरना हमारा अकारण नहीं है। हमें बच्चों की सुरक्षा का हर प्रकार से प्रयत्न करना है। कुछ लोग इससे नाराज होते हैं तो उन्हें नाराज करके भी।

मैंने वस्तुत: इस बात को पसन्द नहीं किया कि तुम अपना कहानी संग्रह श्वेता को समर्पित करो। श्वेता की उपलब्धि क्या है —यही न कि वह अमिताभ की बेटी है? और कल अजिताभ की बेटी के मन में यह काम्प्लेक्स होगा कि उसे किसी ने कोई कहानी संग्रह नहीं समर्पित किया। मैं अपने परिवार में इस प्रकार के काम्प्लेक्सेज बनने से रोकने का भरसक प्रयत्न करूंगा। मैंने एक बाल कविता-संग्रह श्वेता को समर्पित किया तो एक नीलिमा को भी। चित्र पहले संग्रह में दिया गया था। पर दूसरे संग्रह में जब इसका ख़तरा देखा गया, बच्चों का चित्र नहीं दिया गया।

मैंने स्थिति स्पष्ट करने की कोशिश की है। तुम समझो या न समझो।

बच्चन

98. श्री कमलकान्त बुधकर, हरिद्वार को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 7.3.79

प्रियवर,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्‌भावना के लिये आभारी हूँ।

प्रकाशन जगत में प्रवेश पाने के लिये पत्र-पत्रिकाओं की शरण लेनी ही पड़ती है। सम्पादकों को पटाना ही पड़ता है। विदेशों में भी लेखक को इस प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है।

शा ने कहीं लिखा था कि जब मैं सम्पादकों को अपने लेख भेजता था तो 10 में 9 चीज़ें वापस आ जाती थीं। तब मैंने सौ चीज़ें भेजनी शुरू कर दीं कि दस तो उनमें से छपेंगी—

शा की थोड़ी अतिशयोक्ति हो सकती है पर विधि यही है।

जब लेखक समझ ले कि उसकी चीज़ें छपने योग्य हैं तो वह सम्पादकों को लेखों-कविताओं-निबंधों से बम्बार्ड कर दे। लौटाते-लौटाते कम से कम नाम से तो परिचित होगा। फिर नाम से आई चीज़ों पर ध्यान देगा। और अगर उसके दिमाग़ में कूड़ा ही नहीं भरा हुआ तो अच्छी चीज़ों को कभी न कभी पसंद तो करेगा ही।

शेष सामान्य। तेजीजी आजकल चित्रकूट की तीर्थयात्रा पर हैं। होली के पूर्व लौटेंगी। परिवार में सब लोग सकुशल। बुधकर परिवार में सबको होली की बधाई।

सस्नेह
बच्चन

99. श्री रफत अधीर, शिवपुरी को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 11.4.79

प्रिय रफ़त,

पत्र के लिए धन्यवाद। सिद्धांतों का पालन तो करना चाहिए पर रूढ़ नहीं होना चाहिए।

यह बहुत सौभाग्य की बात है कि तुम्हारी जगह न मुसलमानों में है न हिन्दुओं में। तुम अच्छे इंसानों में अपनी जगह बनाओ।

भुट्टो की फाँसी से मुझे भी बड़ा धक्का लगा। राजनीति के क्षेत्र में मध्ययुगीन इस्लामी कट्टरता का सिर उठाना अच्छा लक्षण नहीं। शायद सामान्य मुस्लिम जनता का समर्थन इसे न मिले। पर धर्म के नाम पर मुसलमानों को बहकाना सदा आसान रहा है—मुहम्मद इब्न कासिम से लेकर मुहम्मद अली जिन्ना तक—पाकिस्तान कैसे बना ?

सृजनशील लेखन के नाम पर मैं आजकल कुछ नहीं कर रहा। कुछ बाल-कविताएँ लिखूँगा। उन्हें 5 फरवरी 1980 तक प्रकाशित करा दूँगा—अभिषेक के पाँचवें जन्मदिन पर—ऐसा संग्रह मैंने श्वेता और नीलिमा के लिए भी उनके पाँचवें जन्मदिवसों पर प्रकाशित कराया था।

शायद जीता रहा तो ऐसे संग्रह मुझे नम्रता और नयना के लिए भी बनाने पड़ें।

आत्मकथा के चौथे भाग के लिए बराबर आग्रह हो रहा है। प्राय: प्रतिदिन की डाक में एकाध चिट्ठी इस आशय की होती है। पर अभी मैंने आगे लिखने की कोई योजना नहीं बनाई। पता नहीं मेरा आराम करना लोगों को क्यों खल रहा है ! प्यार

दा.

बच्चन

100. श्री रमेशचंद्र गुप्त, कुरुक्षेत्र को
प्रतीक्षा, बंबई से : 15.7.79

प्रिय रमेश,

तुम्हारा 25 जून का पत्र मेरे सामने है। आभारी हूँ। ऊटी से लौटा था कि मुझे छठे ऐफ्रो-एशियन राइटर्स कान्फ्रेंस का निमन्त्रण मिल गया जो लुआंडा-अंगोला, अफ़्रीका में हो रहा था और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। 19 जून को बम्बई से रवाना हुआ था और 12 जुलाई को लौटा हूँ।

अंगोला 2-3 वर्ष हुए स्वतन्त्र हुआ है। पुर्तगालियों की पाँच सौ साल की गुलामी के बाद। एक उठती कौम को देखने का आकर्षण मुझे वहाँ खींच ले गया।

मैंने कभी लिखा था 'सब उठती चीज़ें मन मेरा हर लेती हैं', उनमें मैंने 'उठती कौमों' को भी गिनाया था। कविता शायद 'उभरते प्रतिमानों के रूप' में है। मुझे बड़ा सन्तोष है कि मैं एक उठती कौम को देख पाया।

अंगोला के राष्ट्रपति अगस्टीनो नेटो स्वयं कवि हैं जिन्होंने स्वतन्त्रता की लड़ाई में बन्दूक भी उठाई थी। मेरे लिए तो आदर्श पुरुष हैं। जैसे मेरी एक कविता है—

विवश जीविकोपार्जन के हित
हुआ न किस-किस पथ का राही
पर मेरा वश चलता तो मैं
होता **कवि के साथ सिपाही।**

नेटो कवि के साथ सिपाही भी हैं। अंगोला में उनसे व्यक्तिगत रूप से मिलने का अवसर मिला। वे महान प्रतिभा के व्यक्ति हैं—बहुमुखी प्रतिभा के। पेशे से वे डाक्टर थे।

अंगोलावासी अपने नये राष्ट्र के निर्माण में लगे हैं और उनके हर्ष, उल्लास, उनकी सक्रियता को देखना एक ऐसा अनुभव है जो मैं शायद ही कभी भूल सकूँ।

नेटो ने अपनी कविता का एक संग्रह भी मुझे भेंट किया। वे तो पुर्तगाली में लिखते हैं पर उस संग्रह का अनुवाद अंग्रेजी में हो चुका है, शायद शीघ्र ही उसका अनुवाद हिन्दी में भी प्रकाशित हो। शायद तुम्हें पता हो कि जिस वर्ष नेटो को अफ़्रो-एशियाई कान्फ़्रेन्स का लोटस पुरस्कार मिला था उसी वर्ष मुझे भी। 1970 में दिल्ली के सम्मेलन में।

बहुत थका लौटा हूँ। केवल रास्ते में रुकने का समय छोड़कर 21 घंटे की उड़ान थी। इधर अमिताभ अपनी एक फ़िल्म की शूटिंग के सिलसिले में इंगलैंड जा रहे हैं और तेजी को और मुझे भी ले जाना चाहते हैं। गये तो इस मास के अन्त में चले जाएंगे और अगस्त के अन्त में लौटेंगे।

शेष सामान्य। शुभकामनाएँ।

सप्रेम
बच्चन

101. श्री रघुनाथ प्रसाद विकल, पटना को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 28.9.79

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ।

ऐसा तो मैं नहीं मानता कि कहीं कुछ लिखा रखा है और सब कुछ उसी के अनुसार होगा। हमारे जीवन में जो कुछ घटित होता है उसके पीछे बहुत से जाने-अनजाने हाथ होते हैं। हमारे वश में इतना ही है कि एक हाथ हम अपना भी लगाएँ; उससे घटित कुछ जरूर बदलेगा; घटित, हो सकता है, न भी बदले; पर अपना हाथ लगाने से हम तो जरूर बदलेंगे—हम जो हैं, सिर्फ़ दूसरे हाथों की निर्मिति नहीं, कुछ अपने हाथों की भी निर्मिति हैं। हमारे बदलने से घटित भी किसी न किसी रूप में बदल जाता है—दृष्टि बदलने से दृश्य निश्चय बदल जाता है।

दुर्गा-पूजा का जैसा उत्साह बंगाल में होता है, वैसा यहाँ गणेशोत्सव पर देखा जाता है।

कभी सुना था—

पूरब में पारबती
पच्छिम में जय गनेस
दक्खिन में कार्तिकेय
उत्तर में जय महेस।

शिव का कुटुंब इस देश की चारों दिशाओं को थामे है। शुभकामनाएँ !

सादर
बच्चन

102. श्री मधुर मोहन भल्ला, लखनऊ को
प्रतीक्षा, बंबई से : 29.9.79

प्रिय श्री,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्‌भावना के लिए आभारी हूँ।

मैंने अपनी किसी कविता को 'आध्यात्मिक' नहीं कहा। मेरी दृष्टि में आध्यात्मिकता कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसके और लौकिकता के बीच में कोई दीवार उठी हो। लौकिकता के धरातल से उठी हुई आवाज़ें आध्यात्मिकता के आकाश को भी छू सकती हैं। आवाज़ों में बल होना चाहिए। सुनने के लिए कान होने चाहिए। अपनी कविताओं में कभी-कभी मैंने उस अज्ञात को भी संबोधित किया है जिसे प्रचलित शब्दावली में भगवान या परमात्मा कहा जाता है। पर मुझसे उनकी ओर संकेत करने को न कहें, आप स्वयं अपने विवेक से उन्हें पहचानें।

'दो चट्टानें' को मैं 'आख्यानक' कविता न कहना चाहूँगा। मेरे लिए 'सिसिफस' और 'हनुमान' दो प्रतीक हैं; आख्यान कविता में इतना ही है जितना प्रतीकों को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है। सिसिफस निरर्थक श्रम और हनुमान सार्थक श्रम के प्रतीक हैं। यह बात शायद उस छोटी-सी भूमिका से भी स्पष्ट होगी जो मैंने 'दो चट्टानें' कविता के पहले दी है।

शेष सामान्य। शुभकामनाएँ।

भवदीय
बच्चन

103. श्री गिरिजाकुमार माथुर, नई दिल्ली को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 14.10.79

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिए धन्यवाद। आपने बहुत महत्व का काम उठाया है। योजना की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएँ।

1950 में मधुशाला का अनुवाद The House of Wine के नाम से लंदन से प्रकाशित हुआ था। पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है।

फिर मेरी किसी पूरी पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद नहीं हुआ—फुटकर कविताओं

के अनुवाद कुछ लोगों ने किये हैं। 25-30 कविताओं का अनुवाद रघुवंश किशोर कपूर ने किये थे। उनके देहावसान के बाद पता नहीं उन अनुवादों का क्या हुआ। उनकी पत्नी का पता दे रहा हूँ। उचित समझें तो उनसे पूछ-ताछ करें।

Smt. Vimala Kapur,
Sangam W. A. G. G. G. S.
Alandi Road, Yervada—Poona-6.

निशा निमन्त्रण की कुछ कविताओं का अनुवाद प्रेमा जौहरी, महाराज कृष्ण रसगोत्र और अनंत कुमार पाषाण ने किए थे। उनके पते दे रहा हूँ :

(I) Mrs. Prema Johari
B-30, Nizamuddin East
New Delhi-13

(II) Shri M. Rasgotra
Ambassador of India in France,
Paris

(III) Shri Anant Kumar 'Pashan'
Chandan Niwas,
Kurla Road, Andheri (East)
Bombay-69

एक Anthology of Modern Hindi Poetry विद्या निवास और अज्ञेय के संपादकत्व में अमरीका में प्रकाशित हुई थी। उसमें मेरी एकाधिक कविताओं के अनुवाद हैं। साहित्य अकादमी की मैग्ज़ीन Indian Literature में भी कभी-कभी मेरी कविताओं के अनुवाद छपे हैं। सुना है श्री केशव मलिक ने भी मेरी कुछ कविताओं के अनुवाद अंग्रेज़ी में किये हैं। उनका पता है— 5/90, Connaught Circus, New Delhi-1

6th Afro-Asian Conference Luanda— Angola के अवसर पर मेरी कविता 'खून के छापे' का अनुवाद अंग्रेजी में डॉ. भीष्म साहनी ने किया था। उनका पता है : 8 20, East Patel Nagar, N. D. 8.

अपनी कविताओं के अंग्रेजी अनुवादों के बारे में इतनी ही सूचनाएँ मैं दे सकता हूँ—मेरे पास उन अनुवादों की प्रतियाँ नहीं हैं।

शेष सामान्य। शु. का.

सादर
बच्चन

पुनश्च :
आपके गद्य-पद्य की कोई नई पुस्तक इधर पिछले 7-8 वर्षों में प्रकाशित हुई हो तो कृपया प्रकाशक को लिख दें कि मुझे वी. पी. पी. से भेज दें।

अग्रिम धन्यवाद।

बच्चन

104. श्री के. बी. श्रीवास्तव, मुजफ्फरपुर को
प्रतीक्षा, बंबई से : 1.12.79

प्रिय श्री,

पत्र और कविताओं के लिए धन्यवाद। जन्मदिन पर बधाई के लिए हृदय से आभारी हूँ। कविताएँ आपकी देखीं। अभ्यास के लिए, मनोविनोद के लिए बुरी नहीं हैं। पर मैं उनको स्तरीय नहीं कह सकता। कविता में भाषा का सर्वश्रेष्ठ रूप आता है तो भाषा पर पूरा अधिकार होना चाहिए, जो अभी आपको नहीं है। फिर छन्द-ज्ञान भी आवश्यक है। छंदों-मात्राओं-गति-यति से आप पूरी तरह अनभिज्ञ हैं। आज कविता गद्य में भी लिखी जाती है पर उसमें भी एक लय होती है। कविता लिखने के पहले काव्य का स्वाध्याय सम्यक होना चाहिए। पुराने काव्य का भी—नये काव्य का भी। 100 पेज पढ़ें तो 1 पंक्ति लिखें। सौ-पचास अच्छी कविताएँ तो कवि को याद रहनी चाहिए। अरब में सुना है एक कहावत है कि जब तक एक लाख शेर याद न हों तब तक शायर को शेर न कहना चाहिए। इसमें अतिशयोक्ति हो पर कुछ तथ्य अवश्य है।

अपने कवि के विकास के लिए मेरी शुभकामनाएँ लें।

भवदीय
बच्चन

105. श्री धर्मपाल अकेला, श्रीगंगानगर को
प्रतीक्षा, बंबई से : 16.12.79

सम्मान्य बंधु,

पिछला पत्र मिला होगा।

'देखो यह पुरुष' मैं ध्यान से पढ़ गया। गहन स्वाध्याय, चिंतन-मनन के पश्चात रचना लिखी गई है। उच्च-स्तरीय है, मौलिक है, बधाई।

ईसा को आधुनिक सामाजिक-धार्मिक संदर्भ से जोड़ने में आप सफल हुए हैं। ईसा को बगैर मंच पर लाए उसकी उपस्थिति का पूर्णाभास आप नाटक में दे सके हैं।

मंच पर यह खेला जाय तो अधिक प्रभावी होगा, गो आप इसे पाठ्य नाटक तक ही सीमित रखना चाहते हैं। क्यों?

यहूदा के कथन में शक्ति भर काम और आवश्यकता भर दाम से ऐसा लगता है कि जैसे मार्क्स को ईसा पर आरोपित किया जा रहा है। इसके लिए काश आप दूसरी शब्दावली प्रयोग करते।

ईसा के देश-काल में धर्म, राजनीति जितने संबद्ध थे, उतने आज नहीं। गो आस्था के परिवर्तन से समाज, राजनीति सब प्रभावित होंगे। आचार्य रजनीश खुद इसी प्रकार की धारणा रखते हैं।

राजनीति में राइट एण्ड्स के लिए राइट मीन्स की बात गांधी पहले पहल लाए पर सिद्धांत बहुत पुराना है। अनीति का नैतिकता से विरोध भी। फिर भी ईसा का जिस रूप में आपने सामने रखा है उसकी व्यापक स्वीकृति में मुझे संदेह

है। कतिपय ऐतिहासिक कारणों से ईसा हमारे देश में शासकों, शोषक साम्राज्य-वादियों के देवता के रूप में आये। उग्र के महात्मा ईसा पर रामचन्द्र शुक्ल का रिमार्क इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए।

पर इससे यह न समझें कि मुझे आपके उद्देश्य से अ-सहमति है। आपका उद्देश्य ऊँचा है। प्रयत्न स्तुत्य है। फिर बधाई।

बहुत नहीं लिख सकता। काश कभी मिलना हो सकता तो बहुत सी बातें इस पर होतीं।

मैं अपने कुछ मित्रों को आपका नाटक पढ़ने की सलाह दे रहा हूँ।

शुभकामनाएँ।

सादर
बच्चन

106. श्रीमती इन्दु जैन, नई दिल्ली को
प्रतीक्षा, बंबई से : 27.12.79

प्रिय इंदु,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। इस बीच मैं छठी अफ़्रो-एशियन राइटर्स कान्फ्रेंस में भाग लेने के लिए लुआंडा-अंगोला (अफ्रीका) हो आया, लौटते वक्त मास्को, लेनिनग्राड होता आया—फिर अमित के साथ इंग्लैंड चला गया— वहाँ केम्ब्रिज में मैंने अपनी डाक्टरेट की रजत-जयंती मनाई। केम्ब्रिज की डाक्टरेट मुझे 1954 में मिली थी—25 वर्ष बाद फिर वहाँ गया। रोमांचक अनुभव था।

अब यह बताओ मुझे जापान कब बुला रही हो ?

"ख़ुदा जाने सनम आये न आये
भरोसा क्या है दम आए न आए
इसी दम सैर कर लो उस चमन की
दुबारा याँ कदम आए न आए।"

प्रसन्नता है कि तुम अपने काम में रुचि ले रही हो और ख़ुश हो। मेरे गद्य से कुछ लेना हो तो मैं तो सुझाव दूँगा कि 'प्रवास की डायरी' से लो। किसी दिन का विवरण --चिन्तन-मनन। आत्मकथा से कोई अंश—अपने आपमें पूर्ण—निकालना मुश्किल होगा। ख़ैर, इस विषय में तुम जैसा उचित समझो। मेरा कोई आग्रह नहीं।

मैं कुमारी मात्सुओका की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। सुन्दर हैं ?

मैं नारी में सबसे पहली चीज़ सुन्दरता देखता हूँ, फिर भावना—फिर योग्यता वग़ैरह—यानी पहले शरीर, फिर हृदय, फिर मस्तिष्क।

तुम पुरुष में क्या देखती हो ?

कुछ दिन हुए मैंने तुम्हारी किताब पढ़ी थी 'आँख से भी छोटी चिड़िया'। तुमने अपनी कविता में भाषा की सांकेतिकता बहुत बढ़ाई है।

"मुझे अब बसंत की हवा से
ठंड लगती है।"

दो पंक्तियों के बीच यौवन से वृद्धावस्था तक का समय तुमने बसा दिया है। जापानी भाषा ने इस कला को खूब निखारा है--जिसका बड़ा मनोज्ञ रूप हाइकू में व्यक्त होता है।

जापानी सीख रही हो ?

आशा है जापानी का यह गुण तुम हिन्दी में और सूक्ष्म और व्यापक रूप से लाओगी।

तुम्हें और तुम्हारे पतिदेव को मेरी शुभकामनाएँ--नये वर्ष की बधाई।

मैंने 27 नवबंर को 73वें [में--सं.]प्रवेश किया--परिवार में सब सकुशल। स्वास्थ्य अवस्थानुसार। तेजी भी ठीक।

शेष मात्सुओका से मिलने पर।

सस्नेह
बच्चन

107. श्री गिरिजाकुमार माथुर, नई दिल्ली को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 13.1.80

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिए धन्यवाद।

आप महत्त्वपूर्ण काम में लगे हैं।

बड़ा पत्र लिखकर आपका समय नष्ट न करूँगा।

मैं अपने पोते-पोतियों के लिए आधुनिक हिन्दी का एक प्रतिनिधि पुस्तकालय छोड़ जाना चाहता हूँ।

आपकी पुस्तकें निश्चित रूप से होंगी।

'छाया मत छूना मन', मैंने मंगा ली थी राधाकृष्ण प्रकाशन से--ध्यान से पढ़ी थी। भूमिका बहुत अच्छी लगी--कविताएँ तो प्रायः परिचित थीं। 'गीत-संगीत' का अच्छा अंतर किया।

ख़ैर, कृपा है आपने प्रकाशकों को अपनी रचनाएँ भेजने के लिए लिख दिया है।

मेरी कोई या किन्हीं कृतियों को देखना या पास रखना चाहें तो भिजवा कर प्रसन्नता होगी।

शेष सामान्य। घर में सबको मेरी याद। शुभकामनाएँ।

सादर
बच्चन

108. श्री शिवमोहनलाल श्रीवास्तव, दतिया को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 24.1.80

प्रिय श्री,

पत्र के लिए धन्यवाद।

शुभ समाचार से प्रसन्नता है। आप दोनों के रस-मंगलमय वैवाहिक जीवन के लिए शुभकामनाएँ।

सुखवर्षा-शिवमोहन ऐसा
मधुमय लोक बसाएँ
जिसे देखकर बच्चन जी की
मधुशाला शरमाए!

भवदीय
बच्चन

109. श्री कन्हैयालाल किंगर, राँची को

प्रतीक्षा, बंबई से : 28.1.80

प्रिय श्री,

पत्र के लिए धन्यवाद। मेरी कविताओं के अनुवाद की तीसरी पुस्तक रूसी भाषा में प्रकाशित हुई है, पर रूसी भाइयों ने न मुझे पुस्तक भेजी है और [न—सं.] मुझे पुस्तक का नाम बताया है, हाँ, उसकी रायल्टी मुझे जरूर भेज दी है!!!

मेरी अंतिम प्रकाशित कृति तो 'बसेरे से दूर' है—मेरी आत्मकथा का तीसरा खंड।

उसके पहले टूटी-छूटी कड़ियाँ (निबंध संग्रह), जाल समेटा (काव्य संग्रह)। अन्य प्रकाशनों के संबंध में जानने के लिए राजपाल एंड सन्ज़, पो. बा. नं. 1064, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6 से संपर्क करें।

मेरे जीवन के विषय में जानने को तो मेरी आत्मकथा ही देखना चाहिए : क्या भूलूँ क्या याद करूँ—पहला खंड, नीड़ का निर्माण फिर—दूसरा खंड।

केवल विशेष-विशेष घटनाएँ जाननी हों तो आज के लोकप्रिय कवि सीरीज़ में 'बच्चन' देखें—संपादक : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, प्रकाशक—राजपाल एंड सन्ज़। शेष कृपा

भवदीय
बच्चन

110. श्री अनंतकुमार पाषाण, बम्बई को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 2.2.80

प्रिय पाषाण,

अपभ्रंश की जिन पंक्तियों का ज़िक्र उस दिन आया था, वे हैं :

णहु रहइ बुहट्ट कुकवित्तरेसु
अबुहत्तणि अबुहट्ट बहु अवेसु।

जिन मुक्ख न पंडिय मज्झयार
तिहं पुरउ पढ़िब्बउ सव्वार।

(संदेशरासक—अद्दहमाण)

जो लोग पंडित हैं वे इस कुकवित्त के लिए क्यों ठहरेंगे। जो एकांत मूर्ख है उसका मूर्खता के कारण इसमें प्रवेश ही नहीं हो सकता इसलिए जो लोग न पंडित हैं न एकदम मूर्ख हैं मध्यवर्ग में आते हैं, उन्हीं को यह कविता प्रिय लगेगी।

मैंने यों पद्यबद्ध कर दिया—

बुध इस कविता के पास न आएँगे,
जो अबुध प्रवेश न इसमें पाएँगे,
जो बुध, न अबुध, जो मध्यवर्ग के हैं,
वे बार-बार इसके पद गाएँगे।

शु. का.

बच्चन

111. श्री विजयकुमार थडानी, मुजफ्फरपुर को
प्रतीक्षा, बंबई से : 3.3.80

प्रियवर,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। रेकार्ड HMV के आग्रह पर बना। वे अमित की आवाज़ से कुछ व्यापारिक लाभ उठाना चाहते थे। कविताएँ वही चुनी गईं जो पढ़ी जा सकती थीं—गाई नहीं। गाना अमित के लिए संभव न था। अमिताभ की आवाज़ का आकर्षण एक वर्ग में है ही। उसके फ़िल्मों के कथोपकथन के रेकार्ड भी ज़ोरों से बिक रहे हैं—कैसेट भी। प्रतिक्रिया देने के लिए आभारी हूँ। किसी भी काम से सबको सन्तुष्ट करना संभव नहीं। कुछ लोगों ने रेकार्ड पसन्द भी किया।

भविष्य की कल्पना सदा सच ही नहीं होती। मैंने कभी नहीं सोचा था कि वृद्धावस्था मुझे बम्बई में काटनी होगी। पर इतनी कल्पना अवश्य की कि यदि वृद्धावस्था तक पहुँचूँ तो किसी ऐसे के साथ बिताऊँ जिसके लिए मेरा भार सहन करना कठिन न हो। तुमने कभी आमन्त्रित किया होगा, तब मैंने शर्त वह रख दी होगी। ध्यान इतना ही कि उस स्थिति पर मैं तुम्हारे लिए भार न प्रतीत हूँगा—तुम्हारी आर्थिक समर्थता के कारण।

मेरा स्वास्थ्य अवस्थानुसार। 74वें में हूँ। परिवार में एक वृद्धि—अजिताभ अब एक पुत्र के पिता हैं—उनके तीन कन्याएँ पहले थीं। अमिताभ के एक पुत्र, एक पुत्री है। इस प्रकार मैं छः पौत्र-पौत्रियों का दादा हूँ। प्रेम-पुत्रों से मिले पौत्र-पौत्रियों की संख्या तो बहुत होगी। इनमें तुम्हारे पुत्र-पुत्रियाँ भी तो होंगी। कितने हैं ?

तुम्हारे परिवार के मंगल के लिए आशीष।

बच्चन

पुनश्च :
मुज़फ़्फ़रपुर में एक मेरे स्नेही हैं। पता है—श्री सत्यनारायण श्रीवास्तव, मिलनयामिनी, मोती झील, मुज़फ़्फ़रपुर। कभी सम्भव हो तो सुविधा से उनसे मिलना। साहित्य-प्रेमी सज्जन हैं—विशेषकर मेरी कृतियों के।

112. श्री गिरिजाकुमार माथुर, नई दिल्ली को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 18.3.80

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिए धन्यवाद।

'भीतरी नदी की यात्रा' मैंने हिन्दी बुक सेन्टर से मंगा ली है। नेशनल पब्लिशिंग को लिख दें कि अब वे न भेजें।

अभी मैं भी एक Project पर व्यस्त हूँ। बाद को आपको दोनों पुस्तकों पर अपनी विस्तृत प्रतिक्रिया दूंगा।

मेरी अब बहुत-सी पुस्तकें out of print हैं। आपके पास जो नहीं हैं और जो उनमें in stock हैं उन्हें शीघ्र भेजवाने का प्रयत्न करूँगा। मार्च में हिसाब आयेगा तो पता चलेगा कि मेरी पुस्तकों की स्थिति क्या है।

प्रथम संकलन मैंने 76-77 की कविताओं का किया था। वह 78 में प्रकाशित हुआ था। अब 78-79 का कर रहा हूँ। वह '80 में प्रकाशित होगा। प्रकाशक को लिखूंगा कि '78 वाला संकलन उपलब्ध हो तो आपको भेज दें।

मैं प्रेमचंद शती जयंती में सम्मिलित होने को दिल्ली आ रहा हूँ। अधिवेशनों में आप आएँगे? आशा है भेंट होगी।

शेष सामान्य। शुभकामनाएँ।

सादर
बच्चन

113. श्री दिविक रमेश, नई दिल्ली को
प्रतीक्षा, बंबई से : 5.4.80

सम्मान्य बंधु,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। आप भी दशक की प्रतिनिधि कविताएँ संकलित करने जा रहे हैं तो मुझे अपना संकलन तैयार करने के लिए दुबारा सोचना पड़ेगा।

ऐसे काम में दुहराहट नहीं होनी चाहिए। अगर आप किसी प्रकाशक से प्रतिबद्ध नहीं हैं तो क्यों न हम दोनों मिलकर यह काम करें। अजित को मैंने अपने साथ रखना चाहा था, उन्हें भी शामिल कर लें। संकलन हम तीनों के नाम से जाय। मैं किसी स्कूल-गुट-दल से आबद्ध नहीं, अजित भी नहीं है और शायद आप भी नहीं हैं। हम एक स्वस्थ मानदंड बनाकर दशक की कविताओं को परखें, हममें सहमति होना कठिन नहीं होनी चाहिए। प्रकाशन मैं अवश्य चाहूँगा कि 'सरस्वती विहार' से हो क्योंकि मैं उनसे प्रतिबद्ध हूँ, फिर भी यदि आपको किसी प्रकार का संकोच हो तो आप मेरे प्रस्ताव को अस्वीकार कर सकते हैं। कारण बताने को आप बाध्य नहीं। सहमत होने पर कार्य-प्रणाली के विषय में मैं आपको विस्तार से लिखूंगा। असहमत होने पर मैं अपना संकलन निकालने पर दुबारा अपने प्रकाशक से परामर्श करूँगा। कृपया इस संबंध में शीघ्र निर्णय लेकर मुझे सूचित करें।

शेष सामान्य। घर में सबको और घर को भी मेरा यथायोग्य।

सादर
बच्चन

पुनश्च :

आपके प्रश्नों का उत्तर

1. हमने ऐसा सोचा था कि हम दशक की समस्त कविताओं में से प्रतिनिधि-श्रेष्ठ कविताएँ चुनेंगे---चाहे वे पुरानों की लिखी हों चाहे नयों की।
2. मुख्यतया हम कविताएँ अवधि में प्रकाशित संग्रहों से लेंगे। अवधि 71 से 80 तक। कुल कविताओं की संख्या 100-101 या अधिक से अधिक 108 (परंपरा-पूजित संख्या)

114. श्री विष्णुकांत शास्त्री, कलकत्ता को

प्रतीक्षा, बंबई से : 25.9.80

सम्मान्य बंधु,

कलकत्ता में दरस-परस का अवसर मिला, प्रसन्नता हुई। पुस्तक दी, पहुँचाने आए, आभारी हूँ। थोड़ा लिखना बहुत समझना।

शु. का.

सादर

बच्चन

हाँ, वे पंक्तियाँ पीछे लिख रहा हूँ।

मैं जीवन के विदा-पौर पर
शिथिल प्राण-मन जर्जर काया
जिया जिस तरह गया जिलाया।

किये, अनकिये, बुरा किये पर
लेश न गर्व, खेद, पछतावा
अब न किसी के ऊपर मेरा
और न किसी का मुझ पर दावा।

निश्चित केवल मुझको जाना
और कहाँ फिर मिलना मेरा
पता-ठिकाना···

बच्चन

115. कुमारी विभा सक्सेना, सिरोही को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 12.2.81

प्रिय श्री,

पत्र के लिए धन्यवाद। प्रसन्नता है आपका शोध विषय स्वीकृत हुआ।

दर्शन से मेरा तात्पर्य ? मैंने तो अपनी कविताओं से 'दर्शन' नहीं दिया; मैंने जीवनानुभूतियाँ दीं---दर्शन आप निकालें।

जीवन के साथ अनुभूतियाँ बदलीं—अनुभूतियों के साथ अभिव्यक्तियाँ बदलीं—अगर पीछे कोई जीवन-दर्शन होगा तो बदला होगा।

'रूप और आवाज़'—'कटती प्रतिमाओं की आवाज़' और 'उभरते प्रतिमानों के रूप' का सम्मिलित रूप है। कोई नयी कृति नहीं।

'खैयाम के जाम' की भूमिका का विशेष महत्व नहीं। आप किन-किन पुस्तकों को खोजती फिरेंगी जिनकी भूमिकाएँ मैंने लिखी हैं।

शुभकामनाएँ।

भवदीय
बच्चन

116. श्री विनयकुमार मालवीय, इलाहाबाद को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 10.3.81

दीन क्या है
किसी कामिल की परस्तिश करना।
—चकबस्त

प्रिय श्री,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि सम्मान्य श्री गौरी महाराज की स्मृति को स्थायी बनाने के लिए एक ट्रस्ट क़ायम किया गया है और उससे जनसेवा का कार्य किया जाता है—कार्यकर्ताओं को मेरी बधाई और अभिवादन। ट्रस्ट की सफलता के लिए मेरी शुभ-कामनाएँ अपने साथ समझें।

25वीं पुण्य तिथि पर एक श्रद्धा सुमन मेरी ओर से भी उनके चित्र के सामने समर्पित कर दें।

भवदीय
बच्चन

117. श्रीमती प्रज्ञारश्मि, देहरादून को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 13.3.81

सुमन जो आज गया है सूख,
सकेगा वह न कभी फिर फूल।
—उ. खै.

प्रिय रश्मि,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। आँख अभी आपरेशन योग्य नहीं। चश्मा बदलवा दिया है। कुछ राहत है। फिर भी पढ़ना-लिखना सीमित रखना पड़ता है।

अमित प्रकृति से कलाकार है। फ़िल्म में न जाता तो शायद कवि होता या

चित्रकार, उसने कुछ पेंटिंग भी की थीं पर अपनी रुचि-विकास का उसे अवसर नहीं मिला और भाग्य ने उसे दूसरे ही क्षेत्र में पहुँचा दिया। ख़ैर एक प्रकार की कला का क्षेत्र यह भी है, उसमें वह कुछ मौलिक दे— मेरी कामना है।

शेष सामान्य। शुभकामनाएँ।

बच्चन

118. श्री सुरेश चन्द्र त्यागी, हरिद्वार को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 14.3.81

सम्मान्य बन्धु,

'प्रेमचन्द' की प्रति के लिए धन्यवाद। आपने प्रेमचन्द सम्बन्धी बहुत उपयोगी सामग्री एकत्र की है। प्रकाशन स्थायी महत्व का है और प्रेमचन्द साहित्य के विद्यार्थियों और प्रेमियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

बधाई। शुभकामनाएँ।

सादर
बच्चन

पुनश्च :

शमशेर बहादुर सिंह का संस्मरण मनोरंजक है। जिस व्याख्यान का हवाला उन्होंने दिया है उसमें मैं भी मौजूद था। व्याख्यान ईविंग क्रिश्चियन कालेज के टूकर हाल में हुआ था। प्रेमचन्द सरल भाषा की वकालत करते-करते अपनी रौ में बह, कह गये थे···हमें जो भाषा बोलनी लिखनी है उसमें बढ़चोद पाणिनी हमारी क्या मदद करेगा···"बढ़चोद" बहनचोद का संक्षिप्त रूप है जो और संक्षिप्त रूप में बढ़चो···कह दिया जाता है पर उत्तर प्रदेश की बोलचाल में अब यह गाली न रहकर हर उपेक्षणीय, नगण्य, घृण्य के लिए उपयुक्त होता है।

प्रेमचन्द शायद वही कह रहे थे जो कबीर 600 वर्ष पहले कह गये थे— संसकिरत गहरा कुँआ, भाखा बहता नीर!

मुहावरे से प्रेमचन्द के सर्वथा सरल निश्छल व्यक्तित्व पर कितना प्रकाश पड़ता है! बनावटीपन की कहीं छुअन तक नहीं! औपचारिक सभा में भी वे कितने बेतकल्लुफ़ाना ढंग से बोल सकते थे!···

119. श्री शिवमोहनलाल श्रीवास्तव, सम्प्रति भिलाई को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 16.3.81

प्रिय श्री,

पत्र के लिए ध.। सद्भावना के लिए आभारी हूँ।

'बच्चन व्यक्ति और कविता' अच्छा विषय हो सकता है अगर अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया जाए, पर उसके लिए पाँच वर्ष मनोविज्ञान में कौन सिर

खपाएगा। व्यक्तित्व और कृतित्व पर जोशीजी की किताब भी है—डा. जीवन-प्रकाश जोशी की (सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली की) उससे मिलती जुलती दो थीसिसें लिखी और छप चुकी हैं—शायद तीन। नाम आदि का लेखा-जोखा मैं नहीं रखता, प्रायः पढ़ता भी नहीं क्योंकि हिन्दी की थीसिसें बहुत नीरस और सतही होती हैं।

मेरी सभी किताबें राजपाल एण्ड सन्स से प्रकाशित हुई हैं। नेहरूजी के जीवन चरित्र का अनुवाद और मेरी थीसिस मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित की और प्रतिनिधि काव्य संकलन—दो हिन्द पाकेट बुक्स से निकले हैं। एक काव्य संग्रह भी—'रूप और आवाज' पर वह 'कटती प्रतिमाओं की आवाज' और 'उभरते प्रतिमानों के रूप' का सम्मिलित संस्करण है।

शोध का एक अच्छा विषय हो सकता है—'बच्चन की कविता में (या के) प्रतीक' उसके लिए बहुत कुछ मौलिक चिन्तन की आवश्यकता होगी पर विषय अछूता है। हिन्दी शोध निदेशक पता नहीं क्यों प्रायः घिसे-पिटे विषय ही पसन्द करते हैं। शायद उन्होंने भी मौलिक चिन्तन नहीं किया होता। ख़ैर शुभकामनाएँ।

भवदीय

बच्चन

पुनश्च :

जो मुझे आनन्द लेने के लिए पढ़ते हैं वे मुझे अधिक निकटता से समझते हैं बनिस्बत उन लोगों के जो मुझ पर शोध करते हैं।

120. श्री सुशील, नई दिल्ली को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 4.4.81

प्रिय श्री सुशीलजी,

पत्र के लिये धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ।

'अपनी ज़मीन पर' की प्रति के लिए भी जो मैं पढ़ भी चुका हूँ। कविताओं में ग्रामीण वातावरण की सरलता और भोलापन है जो शहरियों के लिये थोड़ा आकर्षक भी होगा। आपने कविता की बेंड़ लगाने के लिए अच्छी ज़मीन चुनी है, पर जब पौधा लग जाय तो उसे विस्तृत और खुले खेत-क्षेत्र—में ले जाना होगा। ग्रामीण वातावरण जीवन की सीमित समस्याओं को ही ले सकता है—यह अनुभूति मुझे लोकधुनों पर आधारित गीत लिखते समय भी हुई थी। वातावरण बदलने के लिए आपको शैली-शब्दावली-दृष्टिकोण सब कुछ बदलना पड़ेगा।

अगला संग्रह पिछले को न दुहराये।

एक कविता में तो मुझे ऐसा लगा जैसे आपने मेरे 'जाल समेटा' को ही संकेतित किया है—'विपर्यय' में। पढ़ते-पढ़ते उसी पृष्ठ पर मैंने उसका उत्तर भी लिख दिया। आपके विनोदार्थ दे दूँ?

हमें
गुमसुम बैठे देखकर
यह न समझ लेना
कि हम हो गये हैं
बेअसर
एक
आचार में ढला
उदाहरण
होता है
हज़ार कुशल उपदेशों से
बढ़कर।

शुभकामनाएँ।

भ०
बच्चन

121. श्री श्रीराम वर्मा, आजमगढ़ को
बम्बई से : 8.4.81

सम्मान्य बन्धु,
पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। 'तत्व' क्या बताऊँ।
जब मैंने कलम पकड़ी 'मैं' को हटा दिया। कोई लिखा रहा है, लिख रहा हूँ। जो अपने 'छोटेपन' के प्रति सचेत हैं वे ही बड़े हैं।

'सबहिं मानप्रद आप अमानी
भरत प्रान सम मम ते प्रानी'

अपने पिछले पत्र में आपने अपनी अस्वस्थता का ज़िक्र किया था। स्वास्थ्य की ओर ध्यान दें। शरीरमाद्यं···
शरीर की चादर जतन से ओढ़ने के लिए है। मेरी शुभकामनाएँ।

सादर
बच्चन

122. श्रीमती प्रज्ञारश्मि, देहरादून को
होटल ओबेराय पैलेस, श्रीनगर से : 26.5.81

प्रिय श्री,
पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। प्रसन्नता है, आपका घर बनकर तैयार है। शायद कोई चीनी कहावत है कि जब तक कोई घर नहीं बनवाता, तब तक वह बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता।

मैंने तो घर बनवाया नहीं। मैं तो शब्दों का ही घर बनाता रहा। देहरादून आकर कभी आपके घर में रहना तो शायद ही सम्भव हो सके। निमन्त्रण के लिए आभारी हूँ। मेरे नाम के कक्ष में मेरी कुछ किताबें रख दें। In spirit I will be there.

गृह-प्रवेश पर मेरी शुभकामनाएँ।

हम लोग 8 जून को दिल्ली होते बम्बई जाएँगे। परिवार में सभी लोग सकुशल। सभी यहाँ हैं। मेरे छोटे लड़के को छोड़। वो किसी निजी काम से आजकल उ. प्र. में हैं।

शेष सामान्य

भवदीय
बच्चन

123. श्री राजीव रंजन, आरा को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 14.6.81

प्रिय श्री,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। ऐसे पत्रों की संख्या मैंने गिनी नहीं। हर डाक से 5-6 पत्र ऐसे लोगों के आते हैं जिन्होंने मेरी कृतियों के द्वारा ही मुझे जाना है। कुछ केवल प्रशंसात्मक होते हैं, कुछ में रचनाओं के बारे में कुछ प्रश्न होते हैं, अब तो कुछ पत्रों में अमिताभ-जया की फ़िल्मों के बारे में भी लोग मुझसे पूछताछ करते हैं। मैं सभी को यथोचित उत्तर देने का प्रयत्न करता हूँ। शेष सामान्य। शुभकामनाएँ।

भवदीय
बच्चन

124. श्री अनन्तकुमार पाषाण, बम्बई को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 11.7.81

प्रिय पाषाण,

जन्म दिन पर लो
बारम्बार बधाई।
सपरिवार
यह दिन हो तुमको
मधुमय—मंगलदायी।
कविता पढ़ो
लिखो कविताएँ
और जिओ कविताएँ
कविता से
सत्कारो उनको
जो घर मिलने आएँ।...

बच्चन

125. श्री अनन्तकुमार पाषाण, बम्बई को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 22.8.81

पाजी,

19 का पत्र सामने है।

बुख़ार से उबरकर लम्बेगो में पड़ा हूँ।

'अमलतास' को 'सतालमअ' करके पढ़ा रहा हूँ, यानी कभी शुरू से आख़ीर तक और कभी आख़ीर से शुरू तक। तेजी पास बैठी होती हैं, कोई-कोई कविता उनको सुनाता हूँ। बात में क्रम नहीं···कहने लगीं पारसाल पाषाण जी जन्माष्टी के बाद आए थे, प्रसाद लाए थे, कहा था, खा लीजिए, सब रोग कट जाएँगे। साल तो कट ही गया···शायद इस साल भी आएँ और प्रसाद लाएँ।

अनुवादों पर बात तो मिलने पर ही होगी।

लेटे-लेटे कुछ पंक्तियाँ लिख दी कीं, वही भेजकर आज तो विदा लूंगा।

दूसरा पाजी

बच्चन

126. श्री कृष्ण किशोर श्रीवास्तव, सम्प्रति बम्बई को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 23.8.81

प्रिय कृष्ण किशोर,

आज तो तुम्हारा ही दिन है---यानी आज जन्मअष्टमी है, सो जय श्रीकृष्ण ! बम्बई में कृष्ण-जन्मोत्सव उतने उत्साह से नहीं मनाया जाता जितने उत्साह से गणेशोत्सव। सुना शहर में 'गोविन्दा आला' बड़े उछाह से मनाया जाता है जिसमें मराठे मल्ल मानव पिरामिड बनाकर ऊँचे टँगी दधि की हाँड़ी तोड़ते हैं, कभी देखा नहीं। अमिताभ ने सुना एक फ़िल्म में 'गोविन्दा आला' के दृश्य में भाग लिया और सिर से हाँडी तोड़ने के प्रयत्न में सिर में चोट लेकर आए। ख़ैर उस दिन तुमने साहित्यकारों के जो संस्मरण सुनाए वे इतने रोचक थे कि मुझे तुम्हें सुझाव देना पड़ा कि इन्हें तुम अपनी हल्की-फुल्की शैली में लिख ही डालो। आशा है तुमने काम शुरू कर दिया है और अगली बार जब आओगे तब मुझे सुनाने को कुछ अंश लाओगे। ये संस्मरण वेजोड़ होंगे यह मैं अभी से कह देता हूँ, किसी को उठाने-गिराने का प्रयत्न बिल्कुल न हो। मित्रता की घनिष्ठता में जैसे प्रिय बातें न फूल उठने देती हैं, न अप्रिय बातें बिदक उठने का मौक़ा देती हैं, वैसा ही माहौल बराबर बना रहे। बस ऐसा लगे जैसे ये संस्मरण दो मित्रों के बीच के किसी तीसरे मित्र को सुना रहे हो। ईट्स की गद्य-शैली के घरेलूपन की प्रशंसा करते हुए किसी समालोचक ने लिखा था कि ईट्स जब लिखते हैं तो ऐसा लगता है जैसे राइटिंग टेबिल के सामने बैठे किसी श्रोता को सम्बोधित करते हों। मैं चाहता हूँ ऐसा ही कुछ तुम्हार संस्मरणों के लिए भी कहा जा सके। आलस न करना, काल करे सो आज कर।

हाँ, माथुरवाली किताब देखी ? अगली बार जब आना, अगर पढ़ चुके हो तो साथ लेते आना। कब आओगे क्योंकि मैं संस्मरणों की पहली किश्त सुनने को आतुर

हूँ। ये किसी साप्ताहिक में Serialize भी हो सकते हैं। धर्मयुग या सा. हि. में। शेष सामान्य। शुभकामनाएँ।

सस्नेह
बच्चन

पुनश्च :
पुस्तक रूप में छपने पर किताब का नाम हो
साहित्यकार
बहुत
जिन्हें मैंने /\ निकट से जाना

'बहुत' उसी प्रकार छपे भी—उससे 'बहुत' पर Emphasis पड़ेगा। समझे ?

127. श्री कमलकांत बुधकर, हरिद्वार को
प्रतीक्षा, बम्बई : 28.8.81

कमल जी,

नमस्ते।

आपके 24 के पत्र के लिए धन्यवाद। बात यह त्रेता युग की है।

रामजी की पांवरी लेकर लौटे भरत राजधानी अयोध्या से दूर जाकर तापस जीवन बिता रहे थे—नन्दिग्राम में।

चरित्र-हनन, ऊपर उठे हुओं को गिराने का प्रयत्न तब भी होता था, अफ़वाहें भी उड़ती थीं।

रामजी तक ख़बर पहुँची—भरत का पतन हो गया। उन्हें तप-रत देख एक अप्सरा आई और भरत मोहासक्त हो गये।

दूसरी ख़बर आयी मोहासक्त भर नहीं हुए, उसके साथ रहने लगे···

तीसरी ख़बर आयी साथ ही नहीं रहने लगे, उससे विवाह कर लिया···

लक्ष्मणजी कान के कच्चे थे, फौरन विश्वास कर लिया। रामजी से बोले—भरत पाखण्डी है, अवश्य ही अप्सरा से विवाह कर लिया होगा, खोट तो उसके मन में पहले से थी, इसलिए नन्दिग्राम चला गया था—कि वहाँ जो कुछ करे उसकी ख़बर किसी को न लगे—"परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई।" माण्डवी भाभी तो अयोध्या-रनिवास में क़ैद हैं और भरत नन्दिग्राम में आनन्द कर रहा है—मौज ले रहा है···"प्रभुता पायी काहि मद नाहीं"। राजमद तो था ही अब नारि-मद का माता हो रहा है आदि आदि···

रामजी ने ख़बर सुनकर परम शान्त भाव से कहा—

"भरतहिं होइ न नारि-मद कोटि काम पद पाइ।
कबहुँ किइ काँजी सीकरनि छीर सिन्धु बिलगाइ॥"

लक्ष्मणजी को फिर भी विश्वास नहीं हुआ, तब उन्होंने अपने गुप्तचर हनुमान को भेजा और उन्होंने विप्ररूप में नन्दिग्राम जाकर वास्तविकता की शोध की और लक्ष्मणजी को रिपोर्ट दी कि अफ़वाह में रंचमात्र सत्य नहीं!

तब लक्ष्मणजी रामजी के सामने उपस्थित हुए और उन्होंने हाथ जोड़कर पूछा, "प्रभु, उन्नत गुणज्ञ प्रख्यात लोगों के प्रति संसारी ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं ?"

प्रभु ने कहा, "इसके मूल में ईर्ष्या-द्वेष है ! संसारी मनुष्यों को दूसरों की प्रसिद्धि-समृद्धि सहन नहीं होती और वे उनके विषय में तरह-तरह के अपवाद फैलाकर अपने मनोविकारों को शान्त करते हैं···"

आज जब पढ़े-लिखे लोग भी ऐसी अफ़वाहों को सच मानते हैं तब मुझे सोचना पड़ता है कि अर्द्ध-साक्षर देश में ग़लत प्रचार के लिए अख़बार कितने सशक्त माध्यम हो सकते हैं ! ···

शुभेच्छु
बच्चन

128. श्री धर्मपाल अकेला, हापुड़ को
बम्बई से : 29.6.82

प्रिय भाई,

आपका लम्बा पत्र मिला। धन्यवाद। अब तो मुझे बड़ा पत्र पढ़ने में भी कष्ट होता है। आप मेरी अवस्था, मेरी अस्वस्थता, मेरी मनःस्थिति का ठीक अनुमान नहीं कर पा रहे हैं। अब मैं कुछ नया लिखने, प्रकाशित कराने की वृत्ति से परे हूँ। मुझे क्षमा करें। नई प्रतिभाओं की खोज करें, उन्हें प्रकाश में लाएँ।

शुभकामनाएँ।

भवदीय
बच्चन

129. श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', पटना को
बम्बई से : 29.9.82

प्रिय प्र०,

भगवान की कृपा से चि. अमिताभ अस्पताल से मुक्त होकर घर आ गये हैं। सामान्य होने में समय लगेगा। इन कठिन घड़ियों में तुम जैसे आत्मीयों से जो संवेदना, शुभकामना, सान्त्वना मिली उसके लिए हम सपरिवार आभारी और नतमस्तक हैं। तुम इतने अपने हो कि तुम्हारे प्रति आभार प्रकट करना औपचारिकता लगती है पर मेरा मन कुछ हल्का होता है।

अन्त में सब आभार प्रभु के हित ही आभार है जैसे 'सर्व देव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।'

भाई
बच्चन

130. श्री दिनकर सोनवलकर, जावरा को
बम्बई से : 9.10.82

सम्मान्य बन्धु,

याद पड़ता है आपकी पुस्तक 'रक्त में जलते हुए अनगिनत सूर्य' की पहुँच दी थी। अब चि. अमिताभ रोगमुक्त हुए हैं और हम कुछ सुस्थिर तो मैंने आपकी पुस्तक पढ़ने के लिए निकाली।

हिन्दी भाषियों को मराठी दलित कविता से परिचित कराने के लिए आपको बधाई। बम्बई रहते हुए और 'महाराष्ट्र मानस' के कुछ लेखों से मैं दलित कविता से बिल्कुल अपरिचित तो नहीं ही था पर स्थूल रूप से इतनी दलित कविताएँ पढ़ने का अवसर पहली बार मुझे मिला। वैसे मैं आपको बता दूँ कि श्री नारायण सुर्वी से मेरा व्यक्तिगत परिचय है, उनसे मैं पहली बार 1973 में अलामारा (रूस) में हुई एफ्रोएशियन कन्फ्रेंस में मिला था और उनकी कुछ कविताएँ भी सुनी थीं।

इन कविताओं में दर्द है, विद्रोह है, क्रान्ति है और उच्चकोटि की कविताओं में वह चीज़ भी है, जिसे वैदिक शब्दावली में 'मन्यु' कहते हैं—'मन्युरपि मन्युं मयि धेहि'—Anger, warth, resentment etc.

भावनाओं के वर्गीकरण में 'मन्यु' को बहुत ऊँचा स्थान देता हूँ—फिर भी ऐसा मानता हूँ कि काव्य-संयम में उसे 'मनोनुकूलं, सुपदं, महार्थवत्' (महाभारत में सावित्री-सत्यवान प्रसंग) भी हो जाना चाहिए।

मेरी बहुत दिनों से इच्छा है कि हिन्दी में एक ऐसा मासिक निकले जो अनुवादों के द्वारा मराठी के वर्तमान-वर्धमान साहित्य से हिन्दी भाषियों को परिचित कराता रहे। वास्तव में मेरी इच्छा कई ऐसे मासिकों की है जो भारत के विभिन्न भाषा-साहित्य को अनुवादों द्वारा हिन्दी में प्रस्तुत करते रहें, जैसे मराठी हिन्दी दर्पण, गुजराती हिन्दी दर्पण, तमिल हिन्दी दर्पण आदि। जब मैं दिल्ली में केन्द्रीय भाषा समिति का सदस्य था, उस समय मैंने एक प्रस्ताव रखा भी था कि सरकार 'आजकल' हिन्दी-उर्दू, बन्द करके ऐसी पत्रिकाओं का श्रीगणेश करे—पर दुर्भाग्य की बात है कि सरकार दूरदर्शी उपयोगी प्रस्तावों की ओर ध्यान नहीं देती और पहला विरोध तो 'आजकल' विभाग के कार्यकर्ताओं द्वारा ही हुआ क्योंकि उससे उनकी रोजी-रोटी का प्रश्न जुड़ा था। ऐसी पत्रिकाओं से भारत के अन्य भाषा-भाषियों का विश्वास जगता कि उनके प्रति हिन्दीभाषियों की कितनी सद्‌भावना है और यह तो निश्चय है कि उससे हिन्दी के विकास में बहुत बड़ी सहायता मिलती।

अपने बहुत से अपूर्ण स्वप्नों की सूची में इसे भी मैं अपने हृदय में रखे हुए हूँ।

'रक्त' में···सूर्य, के लिए एक बार फिर आपको बधाई। परिवार में सबके मंगल के लिए मेरी शुभकामनाएँ।

सादर
बच्चन

131. श्रीमती स्नेहमयी चौधरी, दिल्ली को

प्रतीक्षा, बम्बई से : 15.10.82

प्रिय स्नेह,

राजकमल द्वारा भेजा हुआ तुम्हारा नया काव्य-संग्रह 'अपने खिलाफ़' मिला। तुमने मुझे भेजने के लिए आदेश दिया होगा। बहुत-बहुत धन्यवाद।

संग्रह को मैं शुरू से आख़ीर तक और आख़ीर से शुरू तक पढ़ गया।

मेरी आदत है कि हाथ में पेंसिल लेकर कोई नई किताब पढ़ता हूँ—काव्य-संग्रह भी—और जो कविताएँ मुझे अच्छी लगती हैं, उन पर निशान लगा देता हूँ। 8वें दशक की प्रतिनिधि-श्रेष्ठ कविताओं का चुनाव करने के सिलसिले में दशक में प्रकाशित मैंने प्रायः सभी संग्रह पढ़े होंगे। पर किसी पर, मेरा मतलब है—उनकी अच्छी कविताओं पर मैंने इतने निशान नहीं लगाए, जितने तुम्हारे संग्रह की कविताओं पर। इस संग्रह के साथ तुम नये कवियों की प्रथम पंक्ति में साधिकार आ खड़ी हुई हो। मेरी बहुत-बहुत बधाई लो।

कविताओं में अनुभूतियों की सच्चाई और गहराई को तुमने परिचित प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति दी है, कविताएँ कहे से अधिक अनकहे का जो संकेत करती हैं, वह हर कविता के पढ़ने के बाद थोड़ा रुकने और सोचने को विवश करती है। यह बहुत बड़ी उपलब्धि है।

फ़्लैप पर अजित द्वारा दी गई टिप्पणी से बहुत अंशों में सहमत होते हुए भी, मैं सोचता हूँ कि तुम्हारी कविताओं में जो समस्याएँ उठायी गयी हैं, वे केवल मध्यवर्गीय आधुनिक नारी की ही नहीं हैं—कुछ कविताओं में ऐसा ज़रूर है—पर बहुत-सी कविताओं में पुरुष भी अपनी समस्याओं की अभिव्यक्ति पाएँगे। मेरी राय पूछो तो मैं कहना चाहूँगा कि कविताएँ पुरुष या नारी के लिए नहीं लिखी जातीं।

कवि को भी मैं पुरुष या नारी के रूप में सीमित न कर केवल कवि के रूप में देखना चाहता हूँ।

मेरी दृष्टि में तुम मुख्यतया कवि हो और तुम्हारी कविताएँ सहृदयों के लिए, आज के मानव की समस्याओं पर चिन्तन करनेवाले लोगों के लिए, लिखी गई हैं।

उनमें अभिव्यक्ति सम्प्रेषण के ऊपर उद्बोधन भी है—मेरा मतलब 'इवोकेशन' से है—जो कविता का सबसे बड़ा गुण है।

एक बार मैं तुम्हें फिर बधाई देता हूँ।

आशा है, अजित और पवन और तुम सकुशल हो। यहाँ अमित के स्वास्थ्य में बहुत धीरे-धीरे सुधार हो रहा है—हालाँकि घर आए आज उन्हें पूरा एक महीना हो गया। हम लोग भी अब चिन्तामुक्त हो सुस्थिर हो रहे हैं। अमित की इस गम्भीर बीमारी ने परिवार को बुरी तरह हिला दिया था।

सबको मेरा प्यार—शुभकामनाएँ।

पत्र की पहुँच दोगी ?

सस्नेह

बच्चन

132. कुमारी विभा सक्सेना, सिरोही को
प्रतीक्षा, बम्बई से : 23.1.83

प्रिय श्री,

हम 16 नव. से 4 जन. तक दिल्ली थे। अब लौटकर पिछली डाक देख रहा हूँ। आपका पत्र आज हाथ आया। विलम्ब से उत्तर के लिए क्षमा याचना। दीपावली की बधाई के लिए धन्यवाद, दीपावली से आरम्भ होने वाला वर्ष आपके लिए भी मंगलमय हो।

शोधकार्य में सफलता के लिए शुभकामनाएँ।

अब आपके प्रश्नों का उत्तर

(1) जो निराशा से होकर नहीं गुज़रा उसका आशावाद थोथा होगा—मैं अन्धकार से प्रकाश की ओर गया हूँ।

(2) नियति को कई नामों से अभिहित किया जाता है। भाग्य, कर्मगति, काल—उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता—'कालोति दुरतिक्रमः' पर कर्म करने से मनुष्य को पीछे नहीं हटना चाहिए।

'निश्चय था गिर मर जाएगा
चलता किन्तु रहा जीवन भर'

(3) कोई नई रचना पुस्तक रूप में नहीं आई—स्फुट कविताएँ पत्रों में आयी हैं—सा. हि., धर्मयुग, नवनीत में।

स्वास्थ्य अवस्थानुसार। आपको जानकर प्रसन्नता होगी मेरी सम्पूर्ण ग्रन्थावली राजकमल, दिल्ली, से प्रकाशित हो रही है—शोधार्थियों के बड़े काम की होगी।

शुभकामनाएँ।

बच्चन

133. श्री जयन्त वसोया, उपलेटा को
सोपान, नई दिल्ली से : 23.3.83

प्रिय श्री,

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मेरी सम्पूर्ण ग्रन्थावली प्रकाशित कर रहा है। उसी सिलसिले में यहाँ। बम्बई होकर आपका पत्र यहाँ मिला, धन्यवाद। कटिंग के लिए भी। पारिश्रमिक भेजने की आवश्यकता नहीं। अनुवादक के रूप में आप पारिश्रमिक अपने पास रखें। शेष कृपा। शुभकामनाएँ।

भवदीय
बच्चन

134. श्री शिवमंगल सिंह सुमन, सम्प्रति लखनऊ को
सोपान, नई दिल्ली से : 24.3.83

प्रिय सुमन,

पत्र के लिए ध.। तुम मेरी उम्र कम क्यों करना चाहते हो! मैं तो तुम्हारी जन्मशती मनाने तक जीना चाहता हूँ।

सस्नेह
बच्चन

135. श्री महेश शर्मा, दुर्गापुर को
सोपान, नई दिल्ली से : 1.4.83

प्रिय श्री,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ। ग्रन्थावली के सम्बन्ध में आपके सुझावों पर विचार करूँगा। दूसरों ने जो पत्र मुझे लिखे हैं उन्हें रचनावली में देना शायद ही उपयुक्त हो। ग्रन्थावली में चित्रों को देने की व्यवस्था है— मेरी विभिन्न अवस्थाओं के, परिवार के, जिन मकानों में मैं रहा हूँ, जिन कमरों में मैंने काम किया है, उनके चित्र देने का आपका सुझाव मुझे अच्छा लगा, प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा।

डाकूमेन्ट्री मुझ पर नहीं बनी, और बनाने का सुझाव-संकेत मैं तो देने से रहा। मेरा संकोच समझेंगे।

शमशेर ने मुझे बड़ी सहृदयता और उदारता से याद किया है; साहित्य-संसार में ऐसी सद्भावना विरल है।

शुभकामनाएँ।

भवदीय
बच्चन

136. श्री दीनानाथशरण, पटना को
सोपान, नई दिल्ली से : 12.5.83

सम्मान्य बन्धु,

पत्र के लिए धन्यवाद। सद्भावना के लिए आभारी हूँ।

ग्रन्थावली में मेरे कुछ पत्र भी दिये जा रहे हैं। क्या आप सहयोग देना चाहेंगे? आपको लिखे मेरे पत्र यदि आपके पास सुरक्षित हों तो उनमें से 5-7 चुनकर आप श्री अजित कुमार, जी-6 माडल टाउन, दिल्ली-9 को भेज दें; पत्र ऐसे हों जिनसे मेरे जीवन अथवा लेखन पर कुछ प्रकाश पड़ता हो। आशा है, वे आपके पत्रों को अवश्य ही ग्रन्थावली में स्थान देंगे।

कालेज में अपनी स्थिति के बारे में आपने मुझे लिखा था; पत्रों में भी कुछ छपाया था, वह मैंने सम्बद्ध अधिकारी के पास भेज दिया था; शायद कोई कार्य-वाही नहीं की गयी।

पर अन्याय के विरुद्ध आप अपनी लड़ाई जारी रखें, परिणाम कुछ भी हो।

मेरी शुभकामनाएँ।

सादर

बच्चन

'राह रोक है खड़ा हिमालय
यदि तुममें दम, यदि तुम निर्भय
खिसक जायेगा कुछ, निश्चय है,
घूँसा एक लगाओ—
तन में ताकत हो तो आओ।'

—आकुल अन्तर से

०००

बच्चन की जीवन क्रमणिका

1907 (27 नवम्बर)
इलाहाबाद में जन्म

1925
हाई स्कूल परीक्षा पास की

1927
इन्टर परीक्षा पास की, श्यामाजी से विवाह

1929
इलाहाबाद युनिवर्सिटी से बी. ए. परीक्षा पास की

1930
एम. ए. (प्रीवियस) कर, पढ़ाई छोड़ सत्याग्रह आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया

1930-32
व्यवस्थित होने के संघर्ष में चाँद प्रेस, इलाहाबाद स्कूल, प्रयाग-महिला विद्यापीठ, पायोनियर प्रेस (लखनऊ), अभ्युदय प्रेस में काम किया

1934
अग्रवाल विद्यालय में हिन्दी शिक्षक नियुक्त

1936 (17 नवम्बर)
श्यामाजी का देहावसान

1938
नौकरी छोड़, फिर से युनिवर्सिटी में नाम लिखा, अंग्रेजी से एम. ए. परीक्षा पास की

1939
ट्रेनिंग कालेज, बनारस से बी. टी. परीक्षा पास की

1939-41
इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेजी के अस्थायी लेक्चरर के रूप में काम करते हुए डब्ल्यू. बी. ईट्स पर शोध कार्य

1941
स्थायी लेक्चरर नियुक्त

1942 (24 जनवरी)
तेजीजी से विवाह

(11 अक्तूबर)
प्रथम पुत्र प्राप्ति (अमिताभ का जन्म)

1947 (18 मई)
द्वितीय पुत्र प्राप्ति (अजिताभ का जन्म)

1952-54
केम्ब्रिज युनिवर्सिटी में डब्ल्यू. बी. ईट्स पर शोधकार्य पूर्ण कर पी-एच. डी. की डिग्री प्राप्त की

1955 (सितम्बर)
आकाशवाणी, इलाहाबाद में हिन्दी प्रोड्यूसर नियुक्त

1955 (दिसम्बर)
विदेश मन्त्रालय, दिल्ली में हिन्दी विशेषज्ञ पद पर नियुक्त

1959 (अगस्त)
पोयट्री बाडनियल में भाग लेने के लिए भारतीय शिष्ट मण्डल के सदस्य के रूप में बेल्जियम की यात्रा की; व्यक्तिगत रूप से फ्रांस, इटली, हालैण्ड की भी यात्रा की

1966
सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण : राष्ट्रपति द्वारा राज्य-सभा के सदस्य मनोनीत
'चौंसठ रूसी कविताएँ' (अनुवाद) पर सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित

1967
शिक्षा मन्त्रालय की ओर से रूस, मंगोलिया, पूर्व जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया की सद्भावना यात्रा
'दो चट्टानें' (काव्य संग्रह) पर साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित

1968

भारतीय शिष्ट मण्डल के नेता के रूप में अफ्रो-एशियन-राइटर्स कान्फ्रेंस, बेरूत, में भाग लिया

सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार विजेता के रूप में एक पखवारे की रूस-यात्रा

गोर्की नगर में गोर्की जन्म शताब्दी समारोहों में भाग लिया

1969

दिल्ली प्रशासन साहित्य कला परिषद द्वारा सम्मानित और पुरस्कृत

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से सम्मानित

1970

अफ्रो-एशियन-राइटर्स कान्फ्रेंस, दिल्ली, के अवसर पर 'लोटस पुरस्कार' से सम्मानित

1972 (अप्रैल)

राज्य सभा, सदस्यता-अवधि की समाप्ति पर बम्बई के लिए प्रस्थान जहाँ अमिताभ फिल्म अभिनेता के रूप में व्यवस्थित हो रहे थे और अजिताभ अपना लघु उद्योग स्थापित करने के प्रयत्न में थे

1973 (जून)

अमिताभ का विवाह

(अगस्त)

अफ्रो-एशियन-राइटर्स कान्फ्रेंस, अलामाटा, में भाग लिया, ताशकन्द, समरकन्द, बोखारा की यात्रा

(दिसम्बर)

अजिताभ का विवाह

बम्बई की आबोहवा में तेजी के स्वास्थ्य में भीषण गिरावट

1974

स्वतन्त्र रूप से व्यवस्थित होने को सपत्नीक दिल्ली वापस

1976

राष्ट्रपति द्वारा पद्मभूषण से अलंकृत

1978 (जून)

वर्ष के अन्त में जनता सरकार द्वारा सरकारी मकान छोड़ने को विवश किये जाने पर फिर बम्बई वापस

1979 (जून)

अफ्रो-एशियन-राइटर्स कान्फ्रेंस लुआंडा (अंगोला) में भाग लिया

(अगस्त)

तेजी, अमिताभ, अजिताभ के साथ इंग्लैण्ड की यात्रा

केम्ब्रिज में अपनी डाक्टरेट की रजत-जयन्ती मनायी

1982

दुर्भाग्यपूर्ण वर्ष। पूर्वार्ध में स्वयं अस्वस्थ, उत्तरार्ध में शूटिंग के दौरान अमिताभ दुर्घटनाग्रस्त। वर्षान्त में दोनों सामान्य

1983

जनवरी में नयी दिल्ली के गुलमोहर पार्क में अपने नवनिर्मित 'सोपान' में सपत्नीक गृह-प्रवेश

ooo

बच्चन की रचनाओं के प्रथम संस्करण

तेरा हार—रामनारायण बुकसेलर, इलाहाबाद—1932
बच्चनजी के साथ क्षण भर (संकलन)—तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस—1934
मधुशाला—सुषमा निकुंज, इलाहाबाद—1935
ख़ैयाम की मधुशाला (अनुवाद)—सुषमा निकुंज, इलाहाबाद—1935
मधुबाला—सुषमा निकुंज, इलाहाबाद—1936
मधुकलश—सुषमा निकुंज, इलाहाबाद—1937
निशा निमंत्रण—सुषमा निकुंज, इलाहाबाद—1938
एकान्त संगीत—सुषमा निकुंज, इलाहाबाद—1939
आकुल अन्तर—भारती भण्डार, इलाहाबाद—1943
प्रारम्भिक रचनाएँ (कविताएँ) भाग-1—भारती भण्डार, इलाहाबाद—1943
प्रारम्भिक रचनाएँ (कविताएँ) भाग-2—भारती भण्डार, इलाहाबाद—1943
सतरंगिनी—भारती भण्डार, इलाहाबाद—1945
प्रारम्भिक रचनाएँ (कहानियाँ) भाग-3—भारती भण्डार, इलाहाबाद—1946
हलाहल—भारती भण्डार, इलाहाबाद—1946
बंगाल का काल—भारती भण्डार, इलाहाबाद—1946
खादी के फूल (सह-लेखक सुमित्रानन्दन पन्त)—भारती भण्डार,
इलाहाबाद—1948
सूत की माला—सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद—1948
मिलन यामिनी—भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस—1950
सोपान (संकलन)—भारती भण्डार, इलाहाबाद—1953
प्रणय पत्रिका—सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद—1955
धार के इधर-उधर—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1957
मैकबेथ (अनुवाद)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1957
आरती और अंगारे—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1958
बुद्ध और नाचघर—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1958
जन गीता (अनुवाद)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1958
ओथेलो (अनुवाद)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1959
कवियों में सौम्य सन्त—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1960

आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : बच्चन (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा संपादित संकलन)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1960

आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : सुमित्रानन्दन पन्त (सम्पादित संकलन)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1960

आधुनिक कवि (7) बच्चन (संकलन)—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग—1961

नेहरू : राजनीतिक जीवन चरित (अनुवाद)—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली—1961

त्रिभंगिमा—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1961

नये-पुराने झरोखे (निबन्ध-संग्रह)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1962

चार खेमे चौंसठ खूँटे—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1962

चौंसठ रूसी कविताएँ—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1964

अभिनव सोपान (संकलन)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1934

डब्ल्यू. बी. ईट्स एण्ड ओकल्टिज़्म (अंग्रेजी शोध प्रबन्ध)—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली—1965

मरकत द्वीप का स्वर (अनुवाद)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1965

दो चट्टानें—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1965

नागर गीता (अनुवाद)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1966

बहुत दिन बीते—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1967

बच्चन के लोकप्रिय गीत (संचयन)—हिन्द पाकेट बुक्स—1967

कटती प्रतिमाओं की आवाज़—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1968

उभरते प्रतिमानों के रूप—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1969

क्या भूलूँ क्या याद करूँ (आत्मकथा-1)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1969

हैमलेट (अनुवाद)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1969

कविश्री : बच्चन (सम्पा. दुर्गा प्रसाद झाला)—सेतु प्रकाशन, झाँसी—1969

नीड़ का निर्माण फिर (आत्मकथा-2)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1970

भाषा अपनी भाव पराये (अनुवाद)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1970

पन्त के सौ पत्र (सम्पादित)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1970

बच्चन : पत्रों में (सम्पा. जीवनप्रकाश जोशी)—सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली—1970

प्रवास की डायरी—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1971

पन्त के दो सौ पत्र (सम्पादित)—सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली—1971

बच्चन के पत्र (सम्पा. निरंकार देव सेवक)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1972

किंग लियर (अनुवाद)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1972

जाल समेटा—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1973

टूटी-छूटी कड़ियाँ (निबन्ध संग्रह)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1973

बसेरे से दूर (आत्मकथा-3)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1977

जन्मदिन की भेंट (बाल कविताएँ)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1978

नीली चिड़िया (बाल कविताएँ)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1979
बन्दर बाँट (बाल कविताएँ)—राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1980
मेरी कविताई की आधी सदी (संचयन)–राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–1981
हिन्दी काव्य परिचय (सम्पादित) – हिन्दी प्रेस, प्रयाग—1943
हिन्दी पत्रकारिता के गौरव : बाँके बिहारी भटनागर (सम्पादित)
—आत्माराम एण्ड संज़, दिल्ली –1967
सम-सामयिक हिन्दी साहित्य (सम्पादित-सह सम्पादक डॉ. नगेन्द्र,
भारत भूषण अग्रवाल)—साहित्य अकादमी, नई दिल्ली—1967
सोऽहं हंसः (संकलन)— राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली—1981
प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ–पहली पंखुरी (सम्पादित)
—सरस्वती बिहार, नई दिल्ली—1978
प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ–दूसरी पंखुरी (सम्पादित)
—सरस्वती बिहार, नई दिल्ली—1980
आठवें दशक की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ (सम्पादित-
सह-सम्पादक अजितकुमार)—सरस्वती बिहार, नई दिल्ली—1982

ooo

कविताओं की प्रथम पंक्तियों का अकारादि क्रम

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
अधीर है समीर अन्तरिक्ष में	2	74
अर्धरात्रि के सन्नाटे में संसद-पथ से	3	359
अनगिनत बसन्ती फूलों के गुच्छों में	2	46
अनमिल तार सभी बाहर के	2	225
अनादि अतीत से जो लहरें उठ	3	396
अनेक बार रेडियो सुना चुका	1	505
अनेक रंग से रँगा हुआ गगन	2	72
अपत्र डाल-डाल है खड़ी हुई	2	70
अपने अंगूरों-से तन में हमने भर ली है हाला	1	55
अपने ईश्वर पर उसको बड़ा भरोसा था	1	480
अपने बल पर वे बने देवता मानव से	1	520
अपने युग में सबको अनुपम ज्ञात हुई अपनी हाला	1	62
अर्पित तुमको मेरी आशा और निराशा, और पिपासा	2	98
अब अर्द्धरात्रि है और अर्द्ध जल बेला	1	530
अब कहीं स्तम्भ की कहीं स्तूप की तैयारी	1	544
अब क्या होगा मेरा सुधार	1	250
अब खँडहर भी टूट रहा है	1	253
अब गाँवों में घर-घर शोर कि जामुन चूती है	2	502
अब घन-गर्जन गान कहाँ हैं	1	192
अब तुमको अर्पित करने को मेरे पास बचा ही क्या है	2	397
अब तो दुख के दिवस हमारे	1	222
अब दिन बदले, घड़ियाँ बदलीं	2	245
अब नहीं उर में रही कुछ चाह है	3	444
अब निशा देती निमन्त्रण	1	167
अब निशा नभ से उतरती	1	164
अब बिखर गयी बापू की हड्डी-हड्डी	1	538
अब भीड़ बना तुम किसे देखने आये हो	1	526
अब मत मेरा निर्माण करो	1	215
अब मत सोचो किसने अपनी मति खोयी	1	522
अब मेरी शिरा-शिरा ने यह अनुभव कर लिया है	3	272
अब वे मेरे गान कहाँ हैं	1	188
अब समाप्त हो चुका मेरा काम	3	407
अब हेमन्त अन्त नियराया,	2	119
अब्बर देवी, जब्बर बकरा	3	335
अभी कल ही पंचमहले पर कलश था	2	541
अभी तो हो न सकी थी पूर्ण	1	381
अमर हैं तो है अमरण, हाय, हमारी दुर्बलता का दाग	1	397
अमित को बारम्बार बधाई	2	170
अरारात से उतर चुका है दिवस	3	312
अरी, न तू मुझसे भय मान	3	503

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
ओ सरोजिनी वह तेरी ओज-भरी वाणी	1	456
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की	2	207
औरंगज़ेब ने जब सूफ़ी साधू सरमद	1	524
और अन्धा युग अगर आया हुआ है	2	463
और इस मिट्टी के तो साथ बढ़ाया तूने इतना प्यार	1	401
और इस मिट्टी के तो साथ बढ़ाया तूने ऐसा प्यार	1	401
और उनका वह 'महल-जहाज़' चतुर्दिक जिसके बाग-तड़ाग	1	393
और उसकी चेतना जब जगी	3	208
और चिता पर जाय उँडेला पात्र न घृत का पर प्याला	1	57
और छाती वज्र करके	2	420
और जब कान्तार कण्टक-जाल में	2	543
और ज़रा-सा ग़ौर करें तो साल पुराना	2	550
और जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी, पैठ तू गहरे गँभीरे	2	250
और जो होना यही है, हो	2	547
और तुमको खोकर भी आज गीत ही लिखता हूँ मैं एक	1	395
और मानव का धन्य स्वभाव कि इन सब परितापों के बीच	1	388
···और मैं ऐसा कहाँ का हूँ कि मुझको	2	554
और मैं ऐसी मन:स्थिति से नहीं सन्तुष्ट	2	538
और मैं लेकर बैठा आस कि फिर तुम आओगे इस पार	1	392
और यह तो बहुत पहले सुन चुका था	2	559
और यह मिट्टी है हैरान देखकर तेरे अमित प्रयोग	1	400
और रसों में स्वाद तभी तक, दूर जभी तक है हाला	1	52
कई साल हो गये किया था निश्चय मैंने	3	193
कटक सँवार शत्रु देश पर चढ़ा	2	160
कटी न थी गुलाम लौह श्रृंखला	2	159
कठिन काव्य के प्रेत, न डालो मुझ पर अपनी छाया	2	200
कठोर सत्य है, नहीं कहानियाँ	2	160
क़दम कलुष निशीथ के उखड़ चुके	2	156
कह कहता हूँ लौटा लाओ मेरे जीवन की दीवाली	1	357
कब, कहाँ पाप इतने छल-बल से व्याप्त हुआ	1	508
कभी नहीं सुन पड़ता, "इसने, हा, छू दी मेरी हाला"	1	53
कभी निराशा का तम घिरता, छिप जाता मधु का प्याला	1	58
कभी, मन अपने को भी जाँच	1	285
कम हैं, बिरले हैं, शायद सौभाग्यवान भी	3	178
कर रहा हूँ आज मैं आज़ाद हिन्दुस्तान का आह्वान	2	151
कर ले, कर ले कंजूसी तू मुझको देने में हाला	1	55
करुण अति मानव का रोदन	1	288
करुण पुकार, करुण पुकार	2	145
करुणा के फैला अंचल आशा की बनकर प्रतिमा	3	535
कल अनिश्चित सर्वदा से ही रहा है	3	303

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
कौन हंसिनियाँ लुभाये हैं तुझे	2	120
क्या आज तुम्हारे आँगन में भी घन छाये	2	105
क्या कंकड़-पत्थर चुन लाऊँ	1	195
क्या करूँ संवेदना लेकर तुम्हारी	1	289
क्या कहता है, रह न गयी अब तेरे भाजन में हाला	1	54
क्या कहूँ कितने दुखों का भार हूँ	3	446
क्या गाऊँ जो मैं तेरे मन को भा जाऊँ	2	93
क्या जीवन है ? क्या कविता है ?	2	345
क्या तुझ तक ही जीवन समाप्त	1	287
क्या तुझ पर गुज़रा है ऐसा वक्त	2	312
क्या दण्ड के मैं योग्य था	1	223
क्या दिया मैंने कथन बेकार है	3	449
क्या ध्येय निहित मुझमें तेरा	1	229
क्या पीना, निर्द्वन्द्व न जब तक ढाला प्यालों पर प्याला	1	54
क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं	1	197
क्या मुझको आवश्यकता है साक़ी से माँगू हाला	1	60
क्या मेरा है जो आज तुम्हें दे डालूँ	2	57
क्या मेरा है जो आज नहीं है तेरा	2	99
क्या मैं जीवन से भागा था	1	186
क्या सब कुछ पोथी से ही सीखा जायेगा, ओ मतवाले	2	392
क्या साल पिछला दे गया	1	227
क्या है मेरी बारी में	1	272
क्यों रोता है जड़ तकियों पर	1	182
क्षण भर को क्यों प्यार किया था	1	184
क्षत शीश मगर नत शीश नहीं	1	238
क्षीण कितना शब्द का आधार	1	270
क्षीण, क्षुद्र, क्षण भंगुर, दुर्बल मानव मिट्टी का प्याला	1	55
खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला में नाम तुम्हारा	2	209
खड़े कुछ ऐसे भी प्रासाद नये से जो लगते हैं आज	1	393
खलों की (अ)स्तुति हमारे पूर्वजन करते रहे हैं	3	24
ख़स की टट्टियाँ गरमी में	3	237
खिड़की से झाँक रहे तारे	1	217
खिली सहास एक-एक पंखुरी	2	157
खींचती तुम कौन ऐसे बन्धनों से जो कि रुक सकता नहीं मैं	2	54
खींचती मुझको न अब आशा कहीं	3	445
खुशियों की क़ीमत पहले भी देनी पड़ती थी	3	279
खूब जगे रे तेरे भाग	3	476
खेत हरियाए तो मन हरियाए	2	378
खेल चुके हम फाग समय से	1	180
खोकर अपने हाथों से दौलत गांधी-सी	1	474

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
जीवन-सावन में जब-जब मन के घन उमड़े	3	291
जुए के नीचे गर्दन डाल	1	242
जेल कोठरी के मैं द्वार	3	460
जेल-दण्ड का तेरे काल	3	477
जैसा गाना था गा न सका	1	224
जो काम ज़रूरी थे	3	193
जो कुछ भी अस्तित्ववान है	3	252
जो खड़ा है तोड़ कारागार की दीवार, मेरा देश है	2	165
जो गोली खाकर गिरी, मरी, वह थी छाया	1	462
जो जीवन भर केवल शूलों से खेला	1	531
जो बीत गयी सो बात गयी	1	343
जो मन्त्र जपा था उसने अपने जीवन भर	1	532
जो रहीम ओछो बढ़ै	3	337
जो सुन्दर थी, सरल थी, कमनीय थी	3	339
जो हमारे साथ क़दम नहीं बढ़ा सकते थे	3	185
जो हाला मैं चाह रहा था, वह न मिली मुझको हाला	1	57
ज्ञात हुआ यम आने को है ले अपनी काली हाला	1	57
झलक तुम्हारी मैंने पायी सुख-दुख दोनों की सीमा पर	2	123
झुरमुट में अटका चाँद, कहीं अटका मन मेरा भी	2	101
ठहरा-सा लगता है जीवन	1	277
ठोस धरा पर लिये ठोस माटी की काया	3	215
डाल दी मेरे गले में आँसुओं की माल तुमने	1	356
डालें पलाश की फूट पड़ीं, प्रिय छूट गया धीरज मेरा	2	45
डूबता अवसाद में मन	1	241
डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल	2	292
डोंगा डोले, नित गंग-जमुन के तीर	2	366
ढलक रही हो तन के घट से, संगिनि, जब जीवन-हाला	1	56
ढोलक-लय से ही बँधा-सधा है गाँव रे	2	373
तट पर है तरुवर एकाकी	1	214
तन के सौ सुख, सौ सुविधा में मेरा मन बनवास दिया सा	2	128
तन तजने पर मेरी सत्ता का जो कुछ भी बचना है	3	451
तन त्रस्त कहीं, मन मस्त वहीं	2	64
तन में ताक़त हो तो आओ	1	294
तब तक समझूँ कैसे प्यार	1	284
तब मेरे घाव ताज़े थे	3	416
तब रोक न पाया मैं आँसू	1	230
तम ने जीवन-तरु को घेरा	1	168
तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ	2	192
तमाम साल जानता कि तुम चले	2	154
तरणि छिपा कि आँधियाँ झपट पड़ीं	2	75

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
तारक-दल छिपता जाता है	1	190
तारक मणियों से सज्जित नभ बन जाये मधु का प्याला	1	49
तारों का सारा नभ मण्डल, आँसू का नयनों का घेरा	2	251
ताशकन्द से एक खबर आयी थी	3	310
तिल में किसने ताड़ छिपाया	1	275
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमन्त्रण	1	140
तीर्थाधिराज श्री जगन्नाथजी के मन्दिर	3	393
तुझसा कौन कुटिल, खल, कामी	3	337
तुम अचानक उठ चले किस ओर को	3	447
तुम अपने जीवन की गाँठें खोलो, संगिनि, मैं भी खोलूँ	2	113
तुम अपने रँग में रँग लो तो होली है	2	100
तुम आओगी जिस दिन होगी उस रात हमारी दीवाली	2	51
तुम आये तो मैं न कहूँगा बे-मौक़े तुम आये हो	3	450
तुम इसे कल्पना कहो, स्वप्न की बात कहो	3	42
तुम उठा, लुकाठी खड़े हुए चौराहे पर	1	488
तुम कभी नहीं मुड़कर पीछे देखा करते	2	221
तुम कहते हो मन्द अनिल भारत के मन में आने दो	3	526
तुमको अपना स्वप्न सुनाऊँ	3	153
तुमको छोड़ कहीं जाने को आज हृदय स्वच्छन्द नहीं है	2	128
तुमको मेरे प्रिय प्राण निमन्त्रण देते	2	55
तुम गये झकझोर	1	255
तुम गये थे सोख जिस सरसा रसा को	2	409
तुम गये, भाग्य ही हमने समझा अस्त हुआ	1	483
तुम गये, संगिनि तुम्हारी भी गयी	3	447
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये	1	355
तुम छेड़ो मेरी बीन कसी, रस राती	2	94
तुम तूफ़ान समझ पाओगे	1	164
तुम न समझोगे, शहर से आ रहे हो	2	333
तुम नहीं अब मृत्तिका के पाश में	3	448
तुमने उस दिन शब्दों का जाल समेट	3	419
तुमने कहा, मैंने माना	3	254
तुमने गुलाम हिन्दोस्तान में जन्म लिया	1	467
तुमने तोड़ा हमें, स्पष्ट है	3	290
तुमने प्रतिमा का सर काट लिया	3	369
तुमने हमने जीवन जिया	3	402
तुमने हमें पूज-पूजकर पत्थर कर डाला है	3	256
तुम पिये पड़े हो कहाँ, 'शायरे इन्कलाब'	1	454
तुम प्रतीक्षा में हमेशा से खड़े थे	2	394
तुम बड़ा उसे आदर दिखलाने आये	1	534
तुम बढ़े चिता की ओर चले जाते हो	1	534

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
बसन्त दूर कुंज-कुंज कूकता	2	71
बस दिल्ली पर ही बरस न, ओ घन कजरारे	2	339
बह उठो ग्रीष्म की हे बयार	3	538
बहती हाला देखी, देखो लपट उठाती अब हाला	1	47
बहती है मधुबन में अब पतझर की बयार	2	43
बहती है वासन्ती बयार	1	345
बहुत ऊँची एक मीनारी जगह पर	3	56
बहुत दिन बीते टहलते अनमने-से	3	191
बहुत दिन बीते, भाँति-भाँति की गद्दियों	3	248
बहुत दिये हैं, किस-किस पर तू वारेगा पर, हे परवाने	2	230
बहुत दूर···सुन्दरता मुझको	3	190
बहुत प्रसिद्ध खेल हैं कृपाण के	2	161
बहुतेरे मदिरालय देखे, बहुतेरी देखी हाला	1	60
बहुतों के सिर चार दिनों तक चढ़कर उतर गयी हाला	1	66
बाँध दो बिखरे सुरों को गान में तुम	2	28
बाढ़ आ गयी है, बाढ़	3	151
बाणबिद्ध मराल सा मैं आ गिरा हूँ अब तुम्हारी ही शरण में	2	122
बात जो मन मथ रही थी बहुत दिन से	3	166
बादल घिर आये, गीत की बेला आयी	2	105
बापू, कितने ही तेरे एक इशारे पर	1	469
बापू की पावन छाती से जो खून बहा	1	493
बापू की हत्या के चालिस दिन बाद गया	1	546
बापू के अवसान पर जब मन दुखित-उदास	1	473
बापू के तन से बेजुबान लोहू बहकर	1	471
बापू के बलिदानी शव पर नेता, लायक	1	491
बापू के मरने पर यह शब्द जिना के थे	1	482
बापूजी अपनी चिता सेज पर लेटे	1	535
बापूजी के जीवन का था हर एक श्वास	1	510
बापू तुमसे जो सत्य प्रवाहित होते थे	1	485
बापू था ऐसा वातावरण विषाक्त बना	1	484
बापू दुनिया का कीचड़-काँदो झेल गये	1	545
बापू-बापू तुमको कहना है बहुत सरल	1	484
बाबा, अब तो मेरी बीती	2	400
बाबा उसको कविता समझते थे	3	265
बाबा के सँग दादी की भी याद जगाना समुचित होगा	2	213
बाबा जब उस हवेली के सामने से गुज़रते थे	3	268
बारम्बार प्रणाम तुम्हें है, रामचरित के अमित पुजारी	2	198
बार-बार मैंने आगे बढ़ आज नहीं माँगी हाला	1	53
बाल सिर के सफ़ेद हो चले आपके	3	406
बाल सूर्य बोलगा किनारे उदय हुआ है	3	332

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
बावली सी घूमती थी वह, उसे मैं देखते ही हो गया आसक्त	2	233
बिंध गये गोलियों से गाँधीजी महाराज	1	516
बिखर हुई विलुप्त अभ्र अर्गला	2	77
बिठायेगी अमरों के साथ सुरा का दावा था किस काल	1	396
बिताऊँगा मैं अबके तो सावन बीकानेर में	2	508
बिना पिये जो मधुशाला को बुरा कहे वह मतवाला	1	48
बिना बुलाये, बिना बताये, सबके द्वारे आते हो	3	450
बिन्नो-टिन्नो, बच्चू-कच्चू, लल्ला-टल्ला	3	164
बिरला-घर से मैं उसी पन्थ पर जाता हूँ	1	547
बिल में जाकर बिलम गये हो	3	368
बिसरा दो, माना मेरी थी नादानी	2	117
बीत चली सन्ध्या की वेला	1	162
बीतती जब रात करवट पवन लेता	3	51
बीता इकतीस बरस जीवन	1	225
बीते दिन कब आने वाले	1	188
बीन, आ छेड़ूँ तुझे, मन में उदासी छा रही है	2	96
बुझ गयी ज्योति जो हमको पथ दिखलाती थी	1	511
बुद्धं सरणं गच्छामि	2	348
बुद्ध जयन्ती पार्क में	3	342
बुरा सदा कहलाया जग में बाँका, मद चंचल प्याला	1	48
बुलबुल जा रही है आज	1	233
बुलाऊँ क्यों मैं तुम्हें पुकार	3	457
बूँद बूँद के हेतु कभी तुझको तरसायेगी हाला	1	61
"बूड़ा बंस कबीर का उपजा पूत कमाल"	3	253
बेशक वह सबसे ऊँचे पद का अधिकारी	1	533
बैल राम, हे, अब मत इतना ज़ोर दिखाओ	3	203
बोया तो बासमती	3	355
बोलकर जो जय उठाते हाथ	2	149
बौरे आमों पर बौराये और न आये, कैसे समझूँ मधुऋतु आयी	2	244
ब्रह्मा के मुख चार	3	263
भतीजे, भतीजे, भतीजे	3	238
भाग्य था वे थे हमारे पथ-प्रदर्शक	1	472
भारत का यह सिद्ध तपोधन	1	539
भारत की यह परम्परा है	2	432
भारत के आँगन में जो आग सुलगती थी	1	466
भारत के कोने कोने से हम सब बच्चे आये हैं	2	403
भारत के शिक्षा मन्त्री ने विद्यालय के शिक्षण-क्रम में	3	156
भारत के सब प्रसिद्ध तीर्थों से, नगरों से	1	540
भारत के हाथों पाप हुआ ऐसा भारी	1	471
भारत के हे गम्भीर-धीर स्वर-साधक	2	193

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
भारत पर आकर टूटी है क्या आधि-व्याधि	1	458
भारत माता का सबसे प्यारा बड़ा पूत	1	460
भारत माता की युग-युग उर्वर धरती पर	1	490
भारत माता के बेटे हम चलते सीना तान के (1)	2	174
भारत माता के बेटे हम चलते सीना तान के (2)	2	175
भारती की सुप्त वीणा को तुम्हीं ने फिर जगाया और गाया	2	205
भावनाएँ किसी विवशता में	3	413
भावना तुमने उभारी थी कभी मेरी, इसे भूला नहीं मैं	2	109
भावाकुल मन की कौन कहे मजबूरी	2	93
भावुकता अंगूर लता से खींच कल्पना की हाला	1	45
भावुकता की हरियाली में हरे रहो, जीवन के तरुवर	1	100
भिखमंगे के लड़कों ने अपने बाप से नाराज़ होकर	3	411
भिखारी, कैसे तेरे गान	3	549
भीग चुकी अब जब सब सारी, जितना चाह भिगाए जा रे	3	86
भीग रहा है भुवि का आँगन	1	293
भीगी रात विदा अब होती	1	192
भीड़ करके सब किवाड़े, खिड़कियाँ भी बन्द करके	3	165
भुवनेश्वर की प्रणय पत्रिका लिखने वाली ओ पाषाणी	2	210
भूमि करे आतंकित भी तो नभमण्डल भयत्राता है	2	492
भूल गया है क्यों इन्सान	2	142
भूल तब जाता दुःख अनन्त	3	458
भूल नहीं, शूल नहीं, चिन्ता की मूल नहीं	1	361
भूले से भी तुमने यह दावा नहीं किया	1	485
भेंट सबकुछ कर दिया था प्यार को	3	445
भेद अतीत एक स्वर उठता	1	536
भ्रष्टाचारी पकड़ गयी है ?	3	342
मंद झकोरों के प्यालों में मधुऋतु सौरभ की हाला	1	50
मंदोदरी, अहल्या, तारा, कुन्ती औ' द्रौपदी	3	353
मंत्री बनने को तु···तु···आ···ऊँ, क्या कुत्ते ने काटा है	3	270
मगर अन्तर है केवल एक, प्रथम हालाहल युग था मौन	1	382
मगर मन की दुर्बलता हाय बुद्धि के बल पर पाती जीत	1	383
मणियाँ बेच रहा हूँ आओ	3	530
मत डरो, ओ शैल की सुन्दर मुखर सुखकर विहंगिनि	2	317
मत मेरा संसार मुझे दो	1	232
मत रोओ, कबीर, मत रोओ	3	206
मतवालापन हाला से ले मैंने तज दी है हाला	1	62
मद, मदिरा, मधु, हाला, सुन-सुनकर ही जब हूँ मतवाला	1	60
मदिरा पीने की अभिलाषा ही बन जाये जब हाला	1	46
मदिरालय के द्वार ठोंकता क़िस्मत का छूँछा प्याला	1	62
मदिरालय जाने को घर से चलता है पीनेवाला	1	45

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
मदिरालय में कब से बैठा पी न सका अब तक हाला	1	58
मधुघट से प्यालों में गिरनेवाली मधु की धार विदा	3	451
मधुप दल का करती आह्वान रही खिल वन में पाटल-माल	1	104
मधुप, नहीं अब मधुवन तेरा	1	194
मधु पी लो, मौसम आज बड़ा प्यारा है	2	58
मधु-प्यास बुझाने आये हम, मधु-प्यास बुझाने हम आये	1	87
मधुर कितना मदिरा का नाम, मदिर कितना मदिरा का ध्यान	1	382
मधुर प्रतीक्षा ही जब इतनी, प्रिय, तुम आते, तब क्या होता	2	124
मधुर भावनाओं की सुमधुर नित्य बनाता हूँ हाला	1	45
मधुर-मधुर मैं	3	277
मधुवर्षिणी, मधु बरसाती चल	1	80
मध्य निशा में पंछी बोला	1	219
मन रोक न जो मुझको रखता, जीवन से निर्झर शरमाता	2	53
मनोहर गुड़ियों का घर टूट गया, माना यह दुख की बात	1	395
मयूरी, नाच, मगन-मन नाच	1	337
मरघट, तुझको भूल न मैंने जीने का सामान किया	3	450
मरा, मैंने गरुड़ देखा	2	560
महल, मन्दिर, गुम्बद, मीनार, मकबरे, गढ़, खम्भे, दरबार	1	395
महादेवी और पन्त छत पर से पुकार-पुकारकर	3	236
महानगर यह महाराक्षस की आँतों-सा	3	344
महुआ के नीचे मोती झरे	2	383
माँ तेरे विशाल मन्दिर में	3	550
मानव का दुर्भाग्य बहुत रूपों में उसके आगे आता	3	251
माना कि नाना ने जो कुआँ खोदाया था	3	264
माना मैंने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा	2	253
मानी, देख न कर नादानी	1	348
मालिक को विश्वास नहीं है	3	341
माली, उपवन का खोल द्वार	3	536
मिटा ज्यों ही रजनीपति चन्द्र अमित हिम किरणों का आगार	1	391
मिटा सब जिसके मन का मोह, गया सब जिसके मन से राग	1	386
मिट्टी का तन, मस्ती का मन, क्षण भर जीवन—मेरा परिचय	1	95
मिट्टी दीन कितनी, हाय	1	234
मिट्टी से व्यर्थ लड़ाई है	1	280
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे अमृतमय बोल सुहावन	2	196
मिल गया माँगा बहुत कुछ पर कहाँ सन्तोष मन में	1	364
मिला जब किरणों को अधिकार, वहाँ वे धँस जायें नि:शंक	1	398
मिला जब तारों को यह शाप कि सोयेगा जब सब संसार	1	398
मिलने पर ललचा-ललचा क्यों आकुल करती है हाला	1	58
मीरा, मेरे मन का मन्दिर करता है तेरी अगवानी	2	199
मुंशीजी तन्नाये	3	267

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
मेरे अग्रज स्वप्न-भंग पर सिर धुनते थे	3	265
मेरे अधरों पर हो अन्तिम वस्तु न तुलसी-दल, प्याला	1	56
मेरे आँगने खड़ा है छतनार बिरवा	2	375
मेरे इस लघु जीवन में उल्लास अचानक आया	3	532
मेरे उर की पीर पुरातन तुम न हरोगे, कौन हरेगा	2	125
मेरे उर पर पत्थर धर दो	1	215
मेरे जीवन का, एक ताज़े सपने-सी है उसकी याद	2	288
मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ	2	495
मेरे बाग में एक गुलाब है	3	341
मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है	2	236
मेरे मन का उन्माद गगन बदराया	2	104
मेरे युग के दीप, कहाँ हो	2	402
मेरे यौवन के साथी, तुम एक बार जो फिर मिल पाते	2	167
मेरे शव पर वह रोये, हो जिसके आँसू में हाला	1	56
मेरे साथ अत्याचार	1	267
मेरे हाथ छोटे ही छोटे रह गये	3	401
मेले में खोयी गुजरिया, जिसे मिले मुझसे मिलाए	2	380
मैं अपने से पूछा करता	1	271
मैं अभी ज़िन्दा, अभी यह शव परीक्षा मैं तुम्हें करने न दूँगा	2	259
मैं आया हूँ हिन्दुस्तान से	2	295
मैं उसे फिर पा गया था	1	193
मैं एक जगत को भूला मैं भूला एक जमाना	3	555
मैं एक सुराही हाला की, मैं एक सुराही मदिरा की	1	92
मैं कल रात नहीं रोया था	1	192
मैं कहाँ पर, रागिनी मेरी कहाँ पर	2	24
मैं कायस्थ कुलोद्भव मेरे पुरखों ने इतना ढाला	1	65
मैं किसी उन्माद का अवशेष हूँ	3	455
'मैं' को करके शुद्ध दिया अब नाम गया उसको 'हाला'	1	63
मैं क्या कर सकने में समर्थ	1	229
मैं क्यों अपनी बात सुनाऊँ	1	218
मैं गाता, शून्य सुना करता	1	194
मैं गाता हूँ, इसलिए कि पूरब से सुरभित	2	39
मैं गाता हूँ मैं गाता हूँ इसलिए जवानी मेरी है	2	65
मैं चाँद से प्यार चाहूँ	2	540
मैं चोट, चोट पर चोट दिये ही गया	3	366
मैं जग-जीवन का भार लिये फिरता हूँ	1	111
मैं जग से कुछ सीख न पाया	1	189
मैं जीवन की शंका महान	1	294
मैं जीवन की हर हलचल से	3	390
मैं जीवन में कुछ कर न सका	1	223

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
मैं वेदों और उपनिषदों के संस्कारों का	3	383
मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ	2	249
मैं समय बर्बाद करता	1	273
मैं सुख पर सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नहीं है	2	246
मैं सौ सीमाएँ लाँघ तुम्हें मिल जाऊँगा	3	320
मैं ही मधुशाला का मालिक, मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ	1	84
मैं हूँ उनका पौत्र पड़ा था जिनके पाँव गदर का गोला	2	212
मैं हूँ उनके साथ खड़ी जो सीधी रखते अपनी रीढ़	2	150
मैथिलीशरण थे हिन्दी के हित आये	2	202
मोतियों की मालिका मैंने कहीं	3	447
मोती का लगाये मोल, ऐसा कौन यहाँ	2	381
मौन यामिनी मुखरित मेरी मधुर तुम्हारी पग पायल से	2	57
यज्ञ अग्नि-सी धधक रही है मधु की भट्ठी की ज्वाला	1	52
यदि इन अधरों से दो बातें प्रेम-भरी करती हाला	1	56
यदि जीवन पुनः बना पाता	1	279
यदि मुझे विश्वास होता	2	545
यदि मौत बदी थी बापू की गोली खाकर	1	550
यदि होते बीच हमारे श्री गुरुदेव आज	1	457
यम आयेगा लेने जब, तब खूब चलूँगा पी हाला	1	55
यम आयेगा साक़ी बनकर साथ लिये काली हाला	1	56
यम ले चलता है मुझको तो चलने दे लेकर हाला	1	57
यह अनुचित माँग तुम्हारी है	1	229
यह अरुण चूड़ का तरुण राग	1	190
यह एक रश्मि पर छिपा हुआ है इसमें ही	1	298
यह कमल का वास है, दादुर	2	247
यह काम कठिन तेरा ही था, यह काम कठिन तेरा ही है	1	297
यह कि तुम जिस ओर जाओ, चलूँ मैं भी	2	554
यह कौन चाहता है बापूजी की काया	1	529
यह गांधी मरकर पड़ा नहीं है धरती पर	1	461
यह घड़ी है, बन्धु, दिल को कड़ा करने की	3	80
यह चाँद नया है नाव नयी आशा की	2	107
यह जग अपना मग भूला हुआ मुसाफिर है	1	466
यह जानी-मानी बात है	3	249
यह जीवन और संसार अधूरा इतना है	2	259
यह जो हमने व्यंग्य किये हैं	3	365
यह ठीक कि गाँवों-नगरों का संहार हुआ	1	518
यह ठौर प्रतीक्षा की घड़ियों का साखी	2	124
यह तितली है, यह बिस्तुइया	1	286
यह दर्पण-सा शान्त जल का फैलाव	3	416
यह दिल्ली कौरव-पाण्डव के बल-तेजों की	1	549

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
यह दीपक है, यह परवाना	1	286
यह धन-राशि दाँत निपोर कर माँगी	3	356
यह नभ कम्पनकारी समीर	1	276
यह न समझना, पिया हलाहल मैंने, जब न मिली हाला	1	61
यह नारीपन, तू बन्द किये अपने किवाड़	1	291
यह पपीहे की रटन है	1	176
यह पावस की साँझ रँगीली	1	166
यह बापूजी की उज्ज्वल निर्मल चादर है	1	531
यह मत्स्याकार सुराही मिट्टी की	3	395
यह मदिरालय के आँसू हैं, नहीं-नहीं मादक हाला	1	63
यह मानव की अग्नि-परीक्षा	2	139
यह मिट्टी की चतुराई है, रूप अलग औ' रंग अलग	2	169
यह रात देश की सब रातों से काली	1	525
यह लम्बी-चौड़ी धरा, बड़ा-सा चन्दा-सूरज	2	549
यह वर्षा ऋतु की सन्ध्या है मैं बरामदे में कुर्सी पर	1	285
यह विखण्डित मूर्ति मथुरा की सड़क पर	3	370
यह व्यंग्य नहीं देखा जाता	1	244
यह सच है, नाथू ने बापूजी को मारा	1	483
यह समय का भार फेंक उतार, फिर से फूल चुन	2	390
यह समय नहीं है गाने, गान सुनाने का	1	494
यह समस्या नहीं पहली बार मेरी	2	558
यह हमने माना कि कुछ लोगों ने मिलकर	3	412
यहाँ अजीब-अजीब नेता आते हैं	3	45
यहाँ पर देश अनादि अनन्त, यहाँ पर काल अनादि अनन्त	1	390
यहाँ यदि हम हँसते, नादान, यहाँ यदि हम रोते, अज्ञान	1	387
यहाँ हम पाते भी यदि स्नेह बनाते कागज़ का संसार	1	386
यही प्रसिद्ध लौह का पुरुष प्रबल	2	158
यातना जीवन की भारी	1	238
यातनाएँ, हाय, जीवन भर सहीं	3	444
यात्री, वह मंजिल यात्रारम्भ से	3	289
याद आते हो मुझे तुम, औ' लड़कपन के सबेरों के भिखारी	2	217
याद तुम्हारी लेकर सोया, याद तुम्हारी लेकर जागा	2	108
याद न आये दुखमय जीवन इससे पी लेता हाला	1	56
याद मुझे वह दिन जब तेरे-मेरे आँसू एक हुए	1	325
याद मुझे है वह दिन पहले जिस दिन तुझको प्यार किया	3	467
याद-याद सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा	2	233
युग के युवा, मत देख दायें और बायें	2	328
युद्ध की ज्वाला जगी है	2	141
ये नियति-प्रकृति मुझको भरमाती जायेंगी	2	393
ये संस्थाएँ हैं	3	238

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
विजय की बस चम्पा भर भूमि किया उसपर कितना अभिमान	1	394
विदग्ध भूमि व्योम को निहारती	2	71
विदा ले स्वप्न गये उस देश जहाँ से आये थे साह्लाद	1	384
विदेश की कुनीति हो गयी सफल	2	163
विनम्र हो ब्रिटेन गर्व जो हरे	2	163
विरह दुख से सर्वदा भरपूर हूँ	3	445
विशुद्ध कविता की परिभाषा की	2	411
विश्व को उपहार मेरा	1	200
विश्व, तुम्हारे विषमय जीवन में ला पायेगी हाला	1	64
विश्व मन्दिर में विशाल, विराट	2	278
विश्व मनायेगा कल होली	1	180
विश्व में आते सभी क्रीड़ा लिये	3	448
विश्व में उपहास जिसका वह कभी थी आह मेरी	1	137
विश्व सारा सो रहा है	1	174
विष का स्वाद बताना होगा	1	252
विसुध अपने जीवन की डोर	3	534
विहंग माल डाल पर उतर पड़ी	2	76
वीभत्स वदन सबका मरने पर हो जाता	1	527
वे अग्निपताका ले दुनिया में आये थे	1	468
वे आत्माजीवी थे काया से कहीं परे	1	475
वे कहते थे, दुश्मन को बस बह जीत सका	1	482
वे कौन जाति का तत्व दबाये थे तन में	1	523
वे गगन को अग्नि-शर से बेधते हैं	2	391
वे झण्डों से सजी राजधानी के अन्दर	3	29
वे तप का तेज लिये थे अपने आनन पर	1	469
वे तो भारतमाता की पावन वेदी पर	1	461
वेदना का गीत गाकर वेदना तुमने बँटा ली	1	355
वेदना की बाहुओं में ग्रस्त हूँ	3	445
वेदना भगा, जो उर के अन्दर आते ही	1	292
वेदने, आ मुझको कर प्यार	3	528
वे दिन गये जब दुनिया पोपले मुख से	3	214
वे धन्य हैं जिन्हें यह अनुभूति हो गयी है	3	179
वे भारत की दुर्दशा देखकर रोये	1	526
वे हमें पददलित करके चले गये	3	29
वो···ऽ जो छोटे से पोखर में	3	282
व्यर्थ गया क्या जीवन मेरा	1	217
व्यर्थ ही मैंने हृदय अपना मथा	3	447
व्याकुल आज तन-मन प्राण	1	235
व्याकुल आज है संसार	2	144
व्योम पर छाया हुआ तम तोम, हे हिम हंस, तू जाता कहाँ है	2	117

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
हम कब अपनी बात छिपाते	1	181
हम गाँधी की प्रतिभा के इतने पास खड़े	1	492
हम घृणा-क्रोध-कटुता जितनी फैलाते थे	1	467
हम देश विभाजन मूल्य चुकाने बैठे हैं	1	517
हमने माना कि रेगिस्तान के उस पार है बहरिस्तान	2	300
हम सदा जवान	2	405
हम सब अपने पापी हाथों को मलते हैं	1	472
हम सब नपुंसक हैं	3	65
हमारी तो कभी शादी ही न हुई	3	85
हमारी लघुता का यह ज्ञान, नहीं लघुतर पर जाता ध्यान	1	397
हमारी स्नेह-मूर्ति, कुछ बोल !	3	469
हमारे परितापों का ज्ञात हमें है उत्तरदायी कौन	1	399
हर आग यहाँ जो जलती है, बुझ जाती है	1	539
हर खुशी में, हर मुसीबत में मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते	2	214
हर जगह जीवन विकल है	1	245
हर जिह्वा पर देखी जायेगी मेरी मादक हाला	1	63
हर तारे को मैंने दी है अपने उर की आग	3	547
हर रात तुम्हारे पास चला मैं आता हूँ	2	108
हरा भरा रहता मदिरालय जग पर पड़ जाये पाला	1	48
हल के हत्थे	2	515
हलाहल और अमिय, मद एक, एक रस के ही तीनों नाम	1	396
हलाहल को पाकर अविराम प्रवाहित होते अपनी ओर	1	385
हलाहल जीवन में क्षय रूप करेगा पल-पल जीवन क्षीण	1	385
हलाहल तो है ऐसा तत्त्व कि इससे डरते हैं सुर लोग	1	399
हलाहल पीकर लेगा जान स्वयं निज सीमा का विस्तार	1	401
हलाहल पीकर लेगा जान कि तू है कितना महिमावान	1	400
हलाहल पीना है तो देख न आगे क्या होगा परिणाम	1	383
हलाहल में न बँटाया भाग—नहीं मैं इस पर धुनता माथ	1	384
हस्तरेखाविदो, तुमने देखकर मेरी हथेली	3	392
हाँ, जाल, बहुत बड़ा जाल	3	269
हाँ, थके हो	2	336
हाँऽ हाँऽ एकाएक क्या हो गया है तुझको	3	162
हाथों में आने आने में हाय फिसल जाता है प्याला	1	58
हाथों में आने से पहले नाज़ दिखायेगा प्याला	1	46
हा, मुझे जीना न आया	1	250
हाय, कवि यह देखकर कैसे जिये	3	446
हाय, क्या जीवन यही था	1	277
हाय, क्यों कवि न हुआ संसार	3	529
हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी	2	217
हास में तेरे नहाई यह जुन्हाई	2	31

प्रथम पंक्ति	खण्ड	पृष्ठ
हिंदी का एक और महारथी	3	76
हिंदू जनता को रहा सदा वह धर्म-प्राण	1	476
हिंसा जो उसको चाल रुचे चल सकती है	1	480
हिचकते औ' होते भयभीत सुरा को जो करते स्वीकार	1	385
हिम श्रेणी अंगूर लता-सी फैली, हिम जल है हाला	1	51
हुआ था मुझको जब सन्देह कि आता मेरा अन्तिम याम	1	392
हुई गुलाल मेघमाल अस्त जब	2	74
हुई थी मदिरा मुझको प्राप्त न थी वह भेंट, न थी वह दान	1	385
हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी	2	215
हूँ उसी का मैं भला या दुष्ट हूँ	3	444
हूँ जैसा तुमने कर डाला	1	194
हूक है, जग, यह न हृदय-हुलास है	3	443
हृदय भविष्य के सिंगार में लगे	2	155
हृदय सोच, यह बात भर गया	1	288
हृदय हमारा करके गद्‌गद भाव अनेक उठाता है	3	459
हे जीवन उपवन के माली	3	551
हे भगवान ! इस देश में काव्यकला का विकास हो	3	145
हे मन के अंगार, अगर तुम लौ न बनोगे, क्षार बनोगे	2	127
हे महात्मन, हे महारथ, हे महा सम्राट	2	525
हे राम खचित यह वही चौतरा भाई	1	548
हैं कुपथ पर पाँव मेरे आज दुनिया की नजर में !	1	135
है अँधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है	1	339
है आज अठारह मई, अजित का जन्म दिवस	1	553
है आज भरा जीवन मुझमें, है आज भरी मेरी गागर !	1	125
है गाँधी हिन्दू जनता का दुश्मन भारी	1	476
है तीर्थराज की सारी जनता उमड़ पड़ी	1	541
है पावस की रात अँधेरी	1	177
है बनकर भेंट हमारी, ऐ सुमनों, तुमको जाना	3	128
है यह पतझड़ की शाम, सखे	1	165
है रुपहली रात, हैं सपने सुनहले	2	31
है हार नहीं यह जीवन में	1	231
हो गया क्या देश के सबसे सुनहले दीप का निर्माण	1	451
हो गया गर्व भारतमाता का आज चूर	1	459
हो गया चिता में भस्म पिता का चोला	1	513
हो गयी मौन बुलबुले हिन्द	2	166
होगी जिसकी होगी कामर भीगी-भीगी	3	406
हो चाहे जितनी बड़ी विपद, कहना पड़ता	1	550
हो चुका है चार दिन मेरा तुम्हारा	2	121
हो मधुर सपना तुम्हारा	1	170
हो रात बज्र की, तो भी कट जाती है	1	531

स्फुट लेखों-वार्ताओं के शीर्षकों का अकारादिक्रम

ooo